पं० शिवकुमार शास्त्री

श्रुति-सौरभ

पं० शिवकुमार शास्त्री
भूतपूर्व संसद्-सदस्य

गोविन्दराम हासानन्द

ओ३म्

समर्पण

अपनी जन्मदात्री

स्वर्गीया माता गायत्री देवी

को

जिनकी असीम कृपा और तपस्या से

मैं देववाणी का रसास्वादन कर

सका और जो अब से कुछ

समय पूर्व ही ९ अप्रैल

सन् १९८३ को दिवंगत

हो गईं,

सादर समर्पित

विनीत पुत्र

शिवकुमार शास्त्री

चतुर्थ संस्करण के विषय में

हमें अत्यन्त हर्ष है कि स्वर्गीय पं० शिवकुमार जी शास्त्री की कृति 'श्रुति सौरभ' का चतुर्थ संस्करण प्रकाशित किया जा रहा है। खेद है तो इस बात का कि लेखक ग्रन्थ के इस संस्करण के प्रकाशन को न देख पाएँगे और न ग्रन्थ में परिवर्तन, परिवर्धन ही कर पाएँगे। द्वितीय संस्करण के प्रकाशन के अवसर पर भी हमने मान्य शास्त्री जी से साग्रह प्रार्थना की थी कि ग्रन्थ का संशोधन, परिवर्तन, परिवर्धन करें, परन्तु उस समय भी स्वास्थ्य ठीक न होने से नहीं कर पाए थे। मेरा यह आग्रह इसलिये भी था कि प्रथम संस्करण की भूमिका में स्वयं उन्होंने इसका सङ्केत भी किया था, तद्यथा—"मेरे द्वारा पच्चीस मन्त्रों की की-कराई विस्तृत व्याख्या मुग़लसराय स्टेशन पर अटैची के उठ जाने से गुम हो गई; उधर स्वामी दीक्षानन्द जी की प्रबल इच्छा थी कि 'ऋषि निर्वाण शताब्दी' पर यह ग्रन्थ अवश्य छपे, अत: आगे के कुछ मन्त्रों की व्याख्या संक्षिप्त कर दी है; दूसरे संस्करण में, यदि जीवन शेष रहा और प्रस्तुत व्याख्या पाठकों को रुचिकर लगी तो उनका भी विस्तार कर दूँगा।" दोनों शर्तों में से एक शर्त तो पूरी हुई कि पाठकों को ये व्याख्याएँ रुचिकर ही नहीं लगीं, अपितु कितने ही इन व्याख्याओं को रटकर व्याख्याता बन गए। वे प्रतीक्षा ही करते रहे कि कब इन मन्त्रों की विस्तृत व्याख्याएँ पढ़ने को मिलेंगी। उधर ईश्वर को कुछ और ही स्वीकार था—वह उन्हें कहीं अन्यत्र वेद-प्रचारार्थ ले-जाना चाहता था और ले गया; लेखक भी उसकी इच्छा पूर्ण करने के निमित्त हमें छोड़ चले गए। अब तो यही मार्ग है कि जो निधि छोड़ गए, हम उसकी रक्षा कर लें। अपने ग्रन्थ की भूमिका में उनके द्वारा लिखित कुछ पङ्क्तियाँ मुझे प्रेरित और उत्साहित करती रहती हैं कि "पूज्य स्वामी दीक्षानन्द जी सरस्वती का हृदय से धन्यवाद करता हूँ, जिन्होंने मेरे जैसे व्यक्ति के पीछे पड़कर कुछ लिखवाकर ही छोड़ा", अत: हम भी एक के बाद एक संस्करण निकालते रहेंगे।

❑❑

प्रकाशकीय

दयानन्द नाम की याद आते ही उसके साथ एक और नाम की याद स्वत: हो आती है, वह नाम है **'वेद'**। दयानन्द यदि **देह** है, तो वेद उसका **आत्मा** है। यह सब मैं इसलिये कह रहा हूँ कि—दयानन्द से पूर्व वेदों की वह स्थिति न थी जो आज है। वेद संस्कृत-साहित्य के विशाल अम्बार की सबसे निचली तह में पड़े थे। जीवन-लीला समाप्त हो जाती थी, उस तक किसी की पहुँच ही न हो पाती थी। इस स्थिति को दयानन्द ने एक ही दृष्टि में भाँप लिया। दयानन्द का वर्चस् जागा और उसने एक ही झटके में सब स्थिति को पलट दिया। जो ऊपर था, वह नीचे हो गया और जो नीचे था, वह ऊपर आ गया। परिणामत: दयानन्द के हाथ सर्वप्रथम वेद लगे। वेद क्या हाथ लगे मानो सच-झूठ की कसौटी हाथ लग गई। दयानन्द ने उद्घोष दिया कि—**'वेद सब सत्यविद्याओं का पुस्तक है**, जो इस पर खरा उतरे, उसे ले-लो, शेष सब छोड़ दो। व्यर्थ के व्यामोह में न पड़ो।' इस प्रकार का कथन दयानन्द के ज्ञान का मथा हुआ मक्खन था। सवा सौ वर्ष पूर्व इस प्रकार की उक्ति के लिए अत्यन्त साहसपूर्ण चिन्तन और आत्मविश्वास की आवश्यकता थी। ऋषि दयानन्द ने वेद के लिए जो कुछ किया है, उस ऋण से अनृण होना सम्भव नहीं। वेद नाम में जो इतनी शक्ति भर गई है, उसे जो गौरव प्राप्त हुआ है, जो तेजस्विता राष्ट्रिय मानस में पुन: प्रतिष्ठित हुई है, उस सब का श्रेय महर्षि दयानन्द को है।

वेदों का अस्तित्व तो दयानन्द से पूर्व भी था, परन्तु उस तक पहुँच किसी की न थी। मध्यकालीन आचार्यों में एक भी ऐसा न था, जो वेदों तक पहुँचा हो। चाहे आचार्य शङ्कर हो, मध्व हो, निम्बार्क हो या रामानुज, सबकी पहुँच उपनिषद्, गीता और वेदान्तदर्शन तक थी। उनके मतों का आधार ये ही तीन ग्रन्थ रहे, जिन्हें प्रस्थानत्रयी के नाम से स्मरण किया जाता है। उन्होंने वेदत्रयी को छोड़कर प्रस्थानत्रयी को अपनाया; दयानन्द ने **प्रस्थानत्रयी** को छोड़कर **वेदत्रयी** को अपनाया। यही आर्ष-परम्परा थी। इसी कारण दयानन्द को **वेदोद्धारक** अथवा **वेदोंवाला** उपाधि से याद किया जाने लगा। **वेदोंवाला** कहते ही एकमात्र जो व्यक्तित्व उभरकर सामने आता है, वह है—**दयानन्द**।

प्रस्थानत्रयी के भी उस पार जो वेदों का लहराता हुआ समुद्र है, वहाँ तक पहुँचने के लिए जो बीच की खाई थी, उसके पार जाने का कौशल और आग्रह दयानन्द ने ही किया। वसिष्ठ, विश्वामित्र, वामदेव, गोतम, भरद्वाज, भृगु, अङ्गिरा आदि महर्षियों और याज्ञवल्क्य, जैमिनि, शौनक, यास्क आदि आचार्यों की तेजस्वी परम्परा में सहस्रों वर्षों के बाद महर्षि दयानन्द हुए। आज हम परम्परा के विषय में **ब्रह्मा से दयानन्द पर्यन्त** कहने का

साहस कर सकते हैं। कोई कारण नहीं कि जैमिनि पर ही रुका जाए।

महर्षि दयानन्द की निर्वाण-शताब्दी के समय स्वाभाविक था कि वेदों की याद आए। ऐसे समय दयानन्द के प्रति सबसे उत्तम श्रद्धाञ्जलि क्या हो सकती थी? वही वेद, जो दयानन्द को अपने प्राणों से भी प्रिय थे; तो दयानन्द के प्रति वेद से उत्तम उपहार हो भी क्या सकता था! अत: संस्थान ने वेदत्रयी की भाँति उपहारत्रयी अर्पित करने का निश्चय किया। इस उपहारत्रयी में तीन प्रकार के संग्रह प्रस्तुत किये जा रहे हैं, प्रथम—**वैदिक उपदेशमाला** जिसमें वर्ष के हर महीने आचरण में लाए जाने योग्य बारह उपदेशों का संग्रह है; दूसरा—**वेदमञ्जरी**, वर्ष के हर दिन स्वाध्याय के लिए उपयोग में आनेवाले ३६५ मन्त्रों का संग्रह है; तीसरा—**श्रुति-सौरभ**, वर्ष के प्रति सप्ताह काम में आनेवाले ५३ वैदिक प्रवचनों का संग्रह है जो आपके कर-कमलों की शोभा है। इसके लेखक आर्यसमाज के लब्धप्रतिष्ठित विद्वद्वर्य श्री पण्डित शिवकुमार जी शास्त्री हैं। कौन आर्यसमाजी है जो उनके नाम से परिचित नहीं! आर्यसमाज के मञ्च से उनके द्वारा की गई वेद-मन्त्रों की व्याख्याएँ जिसने भी सुनी हैं, वह मन्त्रमुग्ध हुए बिना नहीं रहा। वे व्याख्याएँ इतनी सरल, सरस और सुबोध होती हैं कि प्रत्येक श्रोता और पाठक श्रुति-सरस्वती में स्नान करने लगता है, जिससे व्यक्ति के समस्त कलुष धुलने लगते हैं। मुझे भी श्री शास्त्री जी द्वारा प्रवाहित इस वाक्सरिता में स्नान करने का सौभाग्य मिला है। मैंने जब-जब इस सरिता में डुबकी लगाई है, तब-तब आनन्द की अनुभूति की है। इन व्याख्याओं को सुनकर सदा यही इच्छा होती थी कि इनका प्रकाशन होना भी अत्यन्त आवश्यक है। मैं इस इच्छा को वर्षों अपने मन में सँजोए हुए अवसर की तलाश करता रहा कि कभी तो अवसर आएगा ही कि जब यह व्याख्या जनता-जनार्दन के हाथों में होगी। अन्तत: वह अवसर आ ही गया महर्षि दयानन्द-शताब्दी का। मैंने पूज्य पण्डित शिवकुमार जी से साग्रह निवेदन किया कि आप ५३ मन्त्रों की ऐसी व्याख्या तैयार कर दें कि जैसी आर्यसमाज के मञ्च से सुनाते हैं। मेरे स्नेहपूर्वक आग्रह को वे टाल न सके जिसका सुपरिणाम **श्रुति-सौरभ** नामक यह ग्रन्थ आपके सामने है। इससे एक बहुत बड़ी समस्या हल हो गई जो प्राय: उन आर्यसमाजों के सामने आती है, जहाँ कोई उपदेशक महानुभाव नहीं पहुँच पाता। वहाँ यह ग्रन्थरत्न वेद-व्याख्याता का काम करेगा, साथ ही सभी वेद-व्याख्याता व्यक्तियों के लिए भी अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगा; उन्हें अनायास घर-बैठे वेद-व्याख्याएँ मिल गईं। इन्हें आत्मसात् करते ही हर आर्यसमाजी वेद-व्याख्याता की पीठ पर शोभायमान होगा। मैं आदरणीय श्री पण्डित शिवकुमार जी का अत्यन्त आभारी हूँ कि उन्होंने मेरे आग्रह को शिरोधार्य कर ऋषि-चरणों में अमूल्य उपहार अर्पित किया। संस्थान सदैव उनका आभारी रहेगा।

□□

प्राक्कथन

लगभग सन् १९७७ से, जब श्री स्वामी दीक्षानन्द जी सरस्वती वैदिक-धर्म के प्रचारार्थ दक्षिण अफ्रीका जा रहे थे, मुझसे वेद-मन्त्रों की ऐसी व्याख्या लिखने का अनुरोध करते रहे हैं, जैसी व्याख्या मैं आर्यसमाजों में करता रहता हूँ और श्रोतृवृन्द जिसे रुचि से सुनता है। इस प्रेरणा से मेरे मन में भी तरङ्ग-सी उठती थी कि मुझे अपने सुविचारित कुछ मन्त्रों पर लिख देना चाहिए। अब मैं भी सत्तर के लपेटे में हूँ, पता नहीं कब कूच का नक्कारा बज उठे! इस माध्यम से ही सही, आर्यसमाज में कुछ वेद के श्रद्धालु याद तो कर लिया करेंगे! क्योंकि विशेषरूप से हिन्दूसमाज में और आंशिक रूप से आर्यसमाज में भी, किसी के दिवंगत होने पर ही जब शोक-सभाओं में गुण बखाने जाते हैं, तो सुननेवालों पर यह प्रतिक्रिया होती है कि—"यह तो बहुत बड़ा आदमी निकला! जीवनकाल में तो पता ही नहीं चला कि यह भी कोई महत्त्वपूर्ण व्यक्ति है!"

पूछा न ज़िन्दगी में यूँ तो किसी ने आकर,
मरने के बाद जो था वो मुझको पूछता था।

अस्तु, मैंने लिखना प्रारम्भ कर दिया। इस व्याख्या को लिखने का उद्देश्य इतना-भर है कि आर्यसमाज के साप्ताहिक सत्सङ्गों के प्रवचनों में वक्ताओं को सहायता मिले और जहाँ कोई वक्ता न भी हो, वहाँ कोई भी सदस्य इस व्याख्या को पढ़ दे तो प्रवचन की काम-चलाऊ पूर्त्ति हो सके। मैं कोई वेद का विद्वान् नहीं हूँ, न बोलते और लिखते समय गहरी डुबकी लगाने की प्रवृत्ति है। केवल इस ओर ध्यान रहता है कि अपनी बात को सरल करके रोचक ढङ्ग से उपस्थित किया जावे ताकि श्रोता उत्सुकता से सुनें और विचार करें। मेरी रुचि साहित्यिक है, अतः विषय के पोषक संस्कृत के श्लोक, हिन्दी के दोहे, उर्दू के शे'र और अंग्रेजी के उद्धरण भी मैं चुन-चुन के जड़ता हूँ। विषय के पोषक चुटकुले और कहानी सुनाने में भी मुझे कोई संकोच नहीं होता।

ऋषि दयानन्द की भाषण-शैली के विषय में 'श्रीमद्दयानन्दप्रकाश' में लिखा है कि—"हर १५-२० मिनट के बाद ऋषि कोई ऐसी बात कह देते थे कि श्रोता हँसी से लोटपोट हो जाते थे।" मैंने ऋषिवर की इसी शैली का अनुसरण किया है।

मैं कभी न प्रखर वक्ता समझा गया हूँ और न गम्भीर विद्वान्। हाँ, पाँचवें सवार की गिनती में से तो कोई हटा नहीं सकता। मैं उसी

से सन्तुष्ट हूँ। पाँचवें सवार की कहानी आपने सुन ही रखी होगी। नहीं, तो फिर मन बहलाते चलिए। अच्छे कद्दावर घोड़ों पर चार लम्बे-चौड़े डीलडौलवाले ओजस्वी सवार चढ़े जा रहे थे। इनके पीछे साधारण-सी वेशभूषा पहने एक मझोले कद का व्यक्ति गधे पर चढ़ा चला जा रहा था। दर्शकों का साहस अगले सवारों से पूछने का तो होता नहीं था, हाँ, उनके पीछे जो यह पाँचवाँ आ रहा था, उससे पूछते थे—"भाई! ये घुड़सवार कहाँ जा रहे हैं?" तो यह गधेवाला अपने-आपको उनके साथ नत्थी करके बड़े गम्भीर भाव से उत्तर देता था—"हम पाँचों सवार दिल्ली जा रहे हैं।"

अतः मैं वैदिक विद्वानों की सेवा में निवेदन करता हूँ कि आप पण्डितराज जगन्नाथ के शब्दों में मुझे 'असमशीलाः खलु मृगाः' समझ लीजिये।

मुझे इस शैली की प्रेरणा बचपन में ही मिल गई थी। श्री स्वामी सर्वदानन्द जी महाराज के आश्रम में संस्कृत पढ़ता था। स्वामी जी महाराज का आर्य संन्यासियों में बड़ा आदर था। आश्रम के उत्सव पर अनेक संन्यासी आते थे। स्वामी जी के प्रवचन के समय चारों ओर से घेरकर यह परिव्राजक-मण्डल बैठ जाता था। स्वामी जी की आवाज़ मीठी थी। वेद-मन्त्र तरन्नुम में गुनगुनाते और पदच्छेद-सा करते बोलते थे। मैं उस समय संस्कृत कुछ भी नहीं जानता था; किन्तु उस समय श्री स्वामी जी के मुख से अनेक बार सुना हुआ यह मन्त्र अभी तक मुझे स्मरण है—

विश्वकर्मा विमना आद्विहाया धाता विधाता परमोत संदृक्। आदि.........

श्री स्वामी जी कहानी भी बड़ी रुचि से सुनाते थे और व्याख्या के प्रसङ्ग में जब उर्दू-फ़ारसी के शे'र बोलते थे, तो स्वामी लक्ष्मणानन्द जी अमृतसरवाले, स्वामी परमानन्द जी आगरावाले और स्वामी विज्ञानभिक्षु आदि फड़क उठते थे। यह दृश्य मुझे बहुत प्रिय लगता था। तब अपनी अबोध अवस्था में साथियों में बैठकर स्वामी जी के प्रवचन की मैं नकल उतारा करता था।

एक बार स्वामी जी ने मौज में आकर हमें कुछ उर्दू के शे'र लिखाए और बोलने का ढङ्ग भी बताया। वे शे'र मुझे अभी तक स्मरण हैं—

ढूँढता किस वास्ते ग़ाफ़िल ये घर घर देखता।
पहले ही ज़ेरे-बग़ल गर अपना दिलबर देखता॥

साफ़ कर देता अगर सीने के आईने का ज़ंग।
चेहरा-ए-तस्वीर से शक्ले-मुनव्वर देखता॥
सैकड़ों पर्दों से वो पर्दानशीं आता नज़र।
पर्दा आँखों का अगर ग़ाफ़िल उठाकर देखता॥

अस्तु, लगभग ६० वर्ष पुराने संस्मरण मुझे उधर उड़ा ले गए। तभी से वेद-प्रवचन के विषय में मेरी मान्यता है कि विषय को समझकर सरल-से-सरल शब्दों में श्रोताओं के सम्मुख उपस्थित करना चाहिए।

गम्भीर विषय के प्रतिपादक मन्त्र का व्याख्यान भी स्वाभाविक रूप से गम्भीर हो जाता है। भाषा तो भावानुगामिनी होती है। गम्भीर भाव की अभिव्यक्ति के लिए भाषा भी गम्भीर हो ही जाएगी। फिर भी शैली में प्रसाद-गुण रहे तो कथ्य पाठकों को बोझिल नहीं लगता।

संस्कृत-साहित्य से अपरिचित महानुभावों के लिए कहानी के विषय में भी कुछ लिखना आवश्यक समझता हूँ। मथुरा में जब गुरु 'विरजानन्द कुटी' बनी, तो उस कुटिया का जनता के लिए क्या उपयोग हो सकता है—यह विचारने का दायित्व श्री प्रकाशवीर शास्त्री ने श्री के० नरेन्द्र जी पर डाला। कुछ दिनों के बाद वे उन्हें मथुरावाली कुटिया पर ले गए। एक बार हम कार में मथुरा से दिल्ली लौट रहे थे, तो आर्यसमाज की प्रचारशैली पर चर्चा होने लगी। उसी प्रसङ्ग में तुनककर नरेन्द्र जी ने कहा कि हम तो आर्यसमाज के उपदेशकों की कहानियों से बहुत तङ्ग हैं। उन्होंने बताया कि किसी परिवार में एक शोक-सभा थी और उसमें भी उपदेशक महोदय कहानी सुनाने लगे। 'कहानी' शब्द सुनते ही लोग बड़ी हल्की-फुल्की स्तरहीन बात की कल्पना करने लगते हैं। मैं ऐसे महानुभावों से कहना चाहता हूँ कि प्राचीनकाल में गम्भीर-से-गम्भीर बात को कहानी और उपाख्यान के रूप में अभिव्यक्त करने की बहुत सशक्त परम्परा थी। उपनिषद्, आरण्यक और ब्राह्मणग्रन्थ कहानियों से भरे पड़े हैं। नीतिशास्त्र की उलझन-भरी दाव-पेच की सब बातें कहानियों में हैं। क्या महाभारत की मार्जार, मूषक, नकुल और उलूक की अनुपम और उत्कृष्ट नीति-प्रतिपादक कहानी को कोई साधारण बात कहकर उपेक्षित कर सकता है? नीति के महान् पण्डित विष्णु शर्मा का पञ्चतन्त्र कहानियों में ही है। इस नीतिग्रन्थ का अनुवाद संसार की प्रायः सभी भाषाओं में हो चुका है।

अतः कहानी बात को कहने का रोचक और एक सशक्त माध्यम रहा है। इसका यथेष्ट उपयोग यथावसर होना चाहिए। वेद-मन्त्रों की व्याख्या में विषय की पोषक ऐतिहासिक घटनाओं की चर्चा भी

सर्वसाधारण जनता में अवश्य होनी चाहिए।

इन विचारों के अनुसार ही मैंने वर्ष-भर के सप्ताहों के हिसाब से ५३ मन्त्रों की व्याख्या लिखी है। अपनी परिस्थितियों के कारण लिखने में मुझे समय बहुत लग गया। दो बार तो लिखे-लिखाए १०-१५ मन्त्रों की कापियाँ ही गुम हो गईं। लोकसभा की सदस्यता समाप्त होने पर ३१ कैनिंग लेन, नई दिल्ली का सरकारी बङ्गला छोड़के जब मलकागंज, दिल्ली के मकान में सामान ढोकर ले गए तो १० मन्त्रों की लगभग १५० पृष्ठों में व्याख्या की एक कापी गुम हो गई। इसी १६ मई को बिहार से लौटते हुए मुगलसराय स्टेशन पर कोई मेरी अटैची उठा ले गया। उसमें १५ मन्त्रों की व्याख्या भी चली गई। उधर श्री स्वामी दीक्षानन्द जी महाराज की इच्छा है कि ऋषि-निर्वाण-शताब्दी पर यह पुस्तक अवश्य छपे, अतः आगे के कुछ मन्त्र मैंने संक्षिप्त कर दिये हैं। दूसरे संस्करण में, यदि जीवन रहा और प्रस्तुत व्याख्या पाठकों को रुचिकर लगी, तो उनका भी विस्तार कर दूँगा।

अन्त में विद्वानों से पुनः विनयपूर्वक क्षमायाचना करता हुआ स्वर्गीय पं० गङ्गाप्रसाद उपाध्याय जी का शे'र लिखकर समाप्त करता हूँ—

हमारा नाम भी है आलिमों की दुनिया में।
किसी तरह से जहालत छिपाए बैठे हैं॥

पुनश्च—पूज्य श्री स्वामी दीक्षानन्द जी सरस्वती का हृदय से धन्यवाद करता हूँ, जिन्होंने मेरे-जैसे व्यक्ति के पीछे पड़कर कुछ लिखाकर ही छोड़ा।

व्याख्यानुसार मन्त्रों के शीर्षक प्रदान करने, या कहीं परिवर्तन-परिमार्जन अपेक्षित हो, तो इसके लिए मैंने अपने अभिन्नहृदय मित्र श्री क्षितीश वेदालङ्कार जी से प्रार्थना की और यह भी अनुरोध किया कि एक बार इस व्याख्या को पढ़कर वे मुझे अपने सत्परामर्श से भी अनुगृहीत करें। अत्यन्त व्यस्त होने पर भी उन्होंने समय निकालकर मेरी प्रार्थना को स्वीकार किया। मैं विनीतभाव से उनका भी धन्यवाद कर रहा हूँ।

२४ जुलाई, सन् १९८३ विदुषां भृशं वशंवदः

शिवकुमार शास्त्री काव्य-व्याकरणतीर्थ

एम-८७ साकेत,
नई दिल्ली-११००१७

दो शब्द

श्री पं० शिवकुमार जी शास्त्री आर्यसमाज की स्पृहणीय विमल विभूति हैं। उनके व्यक्तित्व में इतने गुणों का समावेश है कि उनके सम्पर्क में आनेवाला कोई भी व्यक्ति उनका प्रशंसक बने बिना नहीं रह सकता। शास्त्री ज़ी ने 'सत्यं ब्रूयात्' और 'प्रियं ब्रूयात्' का अपने जीवन में ऐसा समन्वय किया है कि आजकल के असूया-प्रवण समाज में भी वे 'अजातशत्रु' ही दिखाई देते हैं।

शास्त्री जी संसत्सदस्य के रूप में राजनीति में भी रहे, पर नीति-विहीन राजनीति कभी उनको रास नहीं आई और वे सदा 'पद्मपत्रमिवाम्भसा' राजनीति के पङ्क से अलिप्त ही रहे। कितनी ही सरकारी समितियों के सदस्य रहे, आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तरप्रदेश के प्रधान रहे, गुरुकुल महाविद्यालय ज्वालापुर के आचार्य और मुख्याधिष्ठाता रहे तथा अन्य अनेक उच्च पदों पर रहे, पर सत्ता के मद या मोह ने कभी उनका स्पर्श नहीं किया।

औदार्य, सहृदयता, अनुशासनप्रियता, व्यवहार की शुचिता और आपादमस्तक सौजन्य की प्रतिमूर्त्ति शास्त्री जी के जीवन का अधिकांश भाग आर्यसमाज के उपदेशक के रूप में व्यतीत हुआ है। आदर्श उपदेशक के सब गुण उनमें विद्यमान हैं। विद्वत्ता और वाग्मिता का उनमें अद्भुत समन्वय है। यही कारण है कि सुवक्ता और सर्वोत्तम उपदेशक के रूप में उनकी ख्याति अद्यावधि किंचित् भी न्यून नहीं हुई। उनके भाषण 'अखबारी' नहीं होते, उनमें लफ़्फ़ाज़ी या भाषा का आडम्बर भी नहीं होता, पर विषय की गम्भीरता, तर्कशुद्धता तथा सिद्धान्तप्रियता के साथ-साथ उसमें साहित्य-रस इतना अधिक होता है कि हज़ारों की संख्या में श्रोता मन्त्रमुग्ध होकर सुनते हैं।

चिरकाल से शास्त्री जी अपने भाषणों के आवश्यक अंश अङ्कित करते रहे हैं। यह बहुत अच्छी आदत है। जो ऐसा नहीं करते, वे कदाचित् आवश्यकता से अधिक आत्मविश्वास के वशीभूत होते हैं। पर ऐसा आत्मविश्वास सदा काम नहीं आता, यह भुक्तभोगी लोग जानते हैं।

शास्त्री जी ने वेद-मन्त्रों की व्याख्या के रूप में अपने कुछ भाषणों को इस पुस्तक में सङ्कलित करके अपनी समकालीन वर्त्तमान पीढ़ी और आगामी पीढ़ी पर जो उपकार किया है, उसे पुस्तक को पढ़नेवाले ही जान सकेंगे। प्रारम्भ में वेद-मन्त्र देकर उसका अन्वय, फिर शब्दार्थ,

फिर मन्त्र में कही गई मुख्य बातों का वर्गीकरण करके एक-एक की क्रमशः व्याख्या—इसी शैली को शास्त्री जी व्याख्याता के रूप में भी अपनाते हैं। इस शैली में जहाँ विषय अत्यन्त सरल हो जाता है, वहाँ श्रोता (और यहाँ पाठक) के सामने मन्त्र का पूरा अर्थ इस प्रकार उद्भासित हो जाता है कि फिर वह उसे नहीं भूल सकता।

इस व्याख्या में ही लेखक की विद्वत्ता, बहुज्ञता, शास्त्र-परायणता और सुलझे हुए विचारों की ऐसी अटूट शृङ्खला मिलती है कि पाठक भावविभोर हो जाता है। वेद-मन्त्र की व्याख्या भी इतनी सरस हो सकती है, यह देखकर आश्चर्य होता है। विशेषता यह है कि इस व्याख्या में कहीं स्तर-हीनता नहीं, केवल मनोरञ्जन के लिए कहीं चुटकुलेबाज़ी नहीं, कहीं काल्पनिक कथाओं का आश्रय नहीं। कभी-कभी तो ऐसा लगता है कि हम किसी वेद-मन्त्र की व्याख्या नहीं, प्रत्युत साहित्य के रस से सराबोर कोई सरस निबन्ध पढ़ रहे हैं।

शास्त्री जी संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित हैं। संस्कृत के पण्डितों से शे'रो-शायरी की आशा नहीं की जाती। पर संस्कृत के काव्यों के उद्धरणों के साथ-साथ उर्दू के शे'र स्थान-स्थान पर ऐसे फ़िट होते हैं कि पाठक या श्रोता बिना वाह-वाह किये नहीं रह सकते।

लेखक ने कहीं-कहीं प्रसङ्ग के अनुरूप, वाल्मीकि रामायण और महाभारत में से ऐसे अछूते सन्दर्भ निकालकर रखे हैं, जिनसे प्रायः विद्वान् लोग भी अपरिचित हैं। उदाहरण के लिए, दूसरे ही मन्त्र की व्याख्या में, लेखक ने संसार में सर्वथा बदनाम दुर्योधन और कर्ण के जिन गुणों का सप्रमाण वर्णन किया है, उनसे सुधीजन भी अल्प परिचित ही होंगे। योगेश्वर कृष्ण महारथी कर्ण के पास जाकर कहते हैं (संस्कृत के श्लोक जान-बूझकर छोड़ रहे हैं)—

"हे कर्ण! तू वेद और शास्त्रों को जानता है। धर्मशास्त्रों में तेरी अच्छी गति है। तू धर्मानुसार पाण्डु का ही पुत्र है, इसलिए धर्मशास्त्र की मर्यादा के अनुसार तुझे दुर्योधन को छोड़कर पाण्डवों का ही साथ देना चाहिए। युधिष्ठिर आदि पाँचों तेरे भाई हैं। तेरी ननिहाल में हम वृष्णि और अन्धक कुल के लोग हैं। इन दोनों पक्षों के महत्त्व को समझ ले। जब तू मेरे साथ पाण्डव-पक्ष में जाएगा, तो युधिष्ठिर तुझे बड़े भाई के रूप में पहचानेंगे। पाँचों पाण्डव तुझसे छोटे होने के कारण अपने बड़े भाई के चरण छुएँगे, द्रौपदी के पुत्र और अभिमन्यु तेरे चरणों में मस्तक नवाएँगे। पाण्डव-पक्ष में एकत्र हुए अन्य सब लोग तेरे वशंवद होंगे। मैं स्वयं राजा के रूप में तेरा अभिषेक करूँगा। धर्मराज युधिष्ठिर तेरे पीछे श्वेत व्यजन लेकर खड़ा होगा। गदाधारी भीम चँवर डुलाएगा।

गाण्डीवधारी अर्जुन सफेद घोड़ोंवाले तेरे रथ को हाँकेगा। नकुल, सहदेव, अभिमन्यु, पाञ्चाल आदि सब, और मैं भी, तेरे पीछे-पीछे चलेंगे। तू पाँचों पाण्डवों के बीच में ऐसे ही शोभित होगा जैसे नक्षत्रों के बीच में चन्द्रमा।''

इसके उत्तर में कर्ण ने कहा—

''हे केशव! निस्सन्देह स्नेह और सौहार्द के वशीभूत होकर मेरे कल्याण की कामना से ही आपने ये बातें कही हैं। मैं यह भी जानता हूँ कि धर्मशास्त्र की मर्यादा के अनुसार मैं पाण्डु का ही पुत्र हूँ, किन्तु जब पैदा होते ही कुन्ती ने लोक-लाजवश मुझे त्याग दिया था, तब अधिरथ सूत मुझे उठाकर लाए थे और उनकी पत्नी राधा ने अपना दूध पिलाकर मुझे पाला था और मेरा मल-मूत्र साफ किया था। मैं उस राधा के उपकार को कैसे भूल सकता हूँ? जिस अधिरथ ने शास्त्रों के अनुसार मेरे समस्त संस्कार करवाए हैं और जिसे मैं अपना पिता मानता हूँ, जिसने युवा होने पर मेरा विवाह करवाया और अब मेरे पुत्र और पौत्र हैं, जिनसे मैं आत्मीयता के सूत्र में बँधा हूँ, हे कृष्ण! समस्त पृथिवी के शासन और अपार सोने के भण्डार से भी मैं इन सम्बन्धों को नहीं झुठला सकता। इसके अतिरिक्त, हे कृष्ण! जिस दुर्योधन के कारण मैंने १३ वर्ष तक निष्कंटक राज्य-सुख भोगा है और जिस दुर्योधन ने मेरे ही भरोसे पर पाण्डवों से यह युद्ध रोपा है और अर्जुन से लोहा लेने के लिए मुझे चुना है, मैं मृत्यु-भय से या किसी भी प्रलोभन के कारण उस दुर्योधन के साथ विश्वासघात करने को तैयार नहीं हूँ। इसलिए हे जानार्दन! मेरे इस जन्म के रहस्य को और पाण्डवों का बड़ा भाई होने के भेद को आप अपने तक ही गुप्त रखें। इसी में सबका भला है। यदि धर्मात्मा युधिष्ठिर को पता लगेगा कि मैं कुन्ती का ज्येष्ठ पुत्र हूँ, तो वह राज्य लेना स्वीकार नहीं करेगा और राज्य मुझे सौंप देगा। युधिष्ठिर द्वारा दिये गए राज्य को दुर्योधन के प्रति कृतज्ञता प्रकट करने के लिए मैं दुर्योधन को दे दूँगा। तब महाभारत का यह सारा युद्ध ही व्यर्थ हो जाएगा। इसलिए मेरी कामना यही है कि जिसका नेता कृष्ण है और योद्धा अर्जुन है, वह राजा युधिष्ठिर ही सदा राजा बना रहे।''

कर्ण के लोकोत्तर चरित्र की यह कैसी मनोरम झाँकी!

अब ज़रा दुर्योधन के चरित्र की भी एक झाँकी देखिये—

कर्ण के सेनापति बनने पर अश्वत्थामा ने यह प्रतिज्ञा की थी कि वह उसके सेनापतित्व में शस्त्र नहीं उठाएगा। जब युद्ध में अर्जुन ने

कर्ण को समाप्त कर दिया, तब अश्वत्थामा हर्ष-विभोर हो दुर्योधन के पास पहुँचा और बोला—"राजन्! जिस कर्ण पर तुमने पाण्डवों को परास्त करने की आशा बाँध रखी थी, वह उनका बाल भी बाँका नहीं कर सका। अब तुम मेरा जौहर देखना! मैं एक दिन में ही '**निष्पाण्डवा मेदिनी**'—इस धरती से पाण्डवों को समाप्त कर दूँगा।"

जहाँ तक राजनीति का सम्बन्ध है, दुर्योधन को अश्वत्थामा की इस बात को परखना और उसका लाभ उठाना चाहिए था। पर दुर्योधन की नैतिकता देखिये। उसने कहा—"गुरु-पुत्र! पहले तुमने यह प्रतिज्ञा की थी कि जब तक कर्ण जीवित है, तब तक शस्त्र नहीं उठाऊँगा। अब तुम यह प्रतिज्ञा और कर लो कि जब तक दुर्योधन नहीं मर जाता, तब तक शस्त्र नहीं उठाऊँगा। मेरी दृष्टि में तुम और अर्जुन दोनों एक-समान हो। एक ने मेरे मित्र कर्ण का भौतिक शरीर समाप्त किया है और तुम उसके मरने पर कटु वचन कहकर उसके यशःरूपी शरीर को नष्ट कर रहे हो। जैसे मैं अपने मित्र के शत्रु अर्जुन द्वारा दी हुई राज्य-लक्ष्मी को स्वीकार नहीं कर सकता, वैसे ही तुम्हारे शौर्य से लाभ उठाना भी मैं नीच-कर्म समझता हूँ।" आज के राजनीतिज्ञ ऐसी नैतिकता की बात स्वप्न में भी नहीं सोच सकते।

इसी प्रकार जब भीम ने दुर्योधन से युद्ध करते हुए, युद्ध के नियमों के विपरीत कमर के नीचे वार करके उसकी जाँघें चूर-चूर कर दीं, तब बलराम ने क्रुद्ध होकर कहा—"अब इस अनर्थकारी भीम का वध मैं करूँगा!" तब अर्धमृत अवस्था में केवल अपनी भुजाओं के सहारे किसी प्रकार भूमि पर घिसटते हुए दुर्योधन ने कहा—"हे बलराम! अब आप ऐसा करके पाण्डवों के रङ्ग में भङ्ग मत डालिये! कुरुकुल के दावानल को समाप्त करनेवाला पाण्डव-कुल का एक मेघ सही-सलामत रहे! अब तो वैर और विग्रह की जड़ मैं और मेरे सब साथी समाप्त हो गए। यदि मुझपर भीम के प्रहार को आप नियमविरुद्ध समझते हैं, तो मेरी वीरता के लिए आपका इतना प्रमाणपत्र ही काफी है कि छल से हराकर भी भीम मुझे जीत नहीं सका।"

जब दुर्योधन के क्षत-विक्षत होने का समाचार सुनकर उसकी पत्नी भानुमती आई और अपने पति की मरण-वेला निकट जानकर करुण विलाप करने लगी, तब दुर्योधन की वीरवाणी सुनिये—

"भीम के गदा-प्रहारों से मेरी भौंहें विदीर्ण हो गई हैं। छाती पर इतने प्रहार लगे हैं कि अब मुझे हीरे-मोतियों के हारों की भी आवश्यकता नहीं रही। दोनों भुजाएँ भी स्थान-स्थान पर घावों के कारण सोने के बाजूबन्दों से भी अधिक शोभित हो रही हैं। हे क्षत्राणी! तेरा

पति युद्ध में पीठ दिखाकर नहीं मर रहा है, फिर तू रोती क्यों है? रोने की बात तो तब होती, जब मैंने युद्ध में पीठ दिखाई होती!"

कर्ण और दुर्योधन के चरित्र पर यह सर्वथा नया प्रकाश है और इस बात का प्रतीक है कि पतित-से-पतित व्यक्ति में भी कुछ ऐसे गुण छिपे होते हैं, जो प्रायः दुनिया की आँखों से ओझल रहते हैं।

'जैसा करोगे, वैसा भरोगे' शीर्षक चौथे लेख में शास्त्री जी ने भर्तृहरि का एक श्लोक उद्धृत किया है—

गन्धं सुवर्णे फलमिक्षुदण्डे,
नाकारि पुष्पं खलु चन्दनस्य।
विद्वान् धनी भूपतिर् दीर्घजीवी,
धातुः पुरा कोऽपि न बुद्धिदोऽभूत्॥

कोई नास्तिक परमात्मा पर आक्षेप करता हुआ कहता है—'सोने में सुगन्ध नहीं, ईख पर फल नहीं, चन्दन के पेड़ पर फूल नहीं, विद्वान् धनी नहीं, राजा दीर्घजीवी नहीं, यह परमात्मा का कैसा बुद्धिहीन विधान है! क्या उसे अक्ल सिखानेवाला कोई नहीं मिला?'

इन आरोपों का जैसा युक्तियुक्त उत्तर इस लेख में दिया गया है, उसे पढ़कर बड़े-से-बड़ा नास्तिक भी परमात्मा की बुद्धिमत्ता का कायल हुए बिना नहीं रह सकता।

सातवें लेख का शीर्षक है—'ईश्वरीय ज्ञान वेद और उसका स्वरूप'। इस लेख में मानवीय भाषा की और ज्ञान की उत्पत्ति कैसे होती है, इस पर वैज्ञानिकों के उद्धरणों से विषय पर सर्वथा नए ढङ्ग से प्रकाश डाला गया है। सभ्यता के विकास के इतिहास का पर्यालोचन करते हुए लेखक ने पते की बात कही है। युरोप में सभ्यता का विकास रोम के सम्पर्क से हुआ। यूनान में सभ्यता का नवोन्मेष मिश्र के सम्पर्क से हुआ। मिश्र को सभ्यता का पाठ भारत ने पढ़ाया। इस प्रकार सारे संसार के ज्ञान-विज्ञान के विकास का मूल खोजते-खोजते हम भारत, अर्थात् आर्यावर्त तक पहुँच जाते हैं। अब मूल प्रश्न यह रह गया कि भारत में ज्ञान-विज्ञान का मूल आधार क्या है? निस्सन्देह इस प्रश्न का केवल एक ही उत्तर हो सकता है और वह उत्तर यह है कि भारत के ऋषि-महर्षियों ने परम गुरु परमात्मा से ज्ञान प्राप्त करके अपनी वाणी से उसका प्रचार और प्रसार किया। धीरे-धीरे सारे संसार में सभ्यता और संस्कृति का वही उच्चतम कीर्तिमान बन गया। इस लेख में विकासवाद के प्रचलित सिद्धान्तों का जिस युक्तियुक्त ढङ्ग से खण्डन किया गया है, वह लेखक के गहन अध्ययन का परिचायक है। अन्त

में सिसरो का यह उद्धरण भी स्मरणीय है—''प्रकृति ने हमें ज्ञान के केवल छोटे-छोटे दीपक प्रदान किये हैं, पर उन्हें भी हम अपनी अनैतिकताओं, भ्रष्ट आचरणों और भूलों से बुझा देते हैं। उसका परिणाम यह होता है कि प्रकृति का वह आलोक कहीं भी अपनी पूर्ण दीप्ति और पवित्रता में प्रकाशित नहीं हो पाता।''

हमने केवल बानगी के तौर पर कुछ लेखों की कुछ विशेषताओं की ओर सङ्केत किया है। इसी प्रकार प्रत्येक लेख में कोई-न-कोई ऐसी विशेषता है, जिसके कारण वह सामान्य न रहकर असामान्य बन जाता है। सभी लेखों में से इस प्रकार के उदाहरण दिये जा सकते हैं, परन्तु तब सारी पुस्तक ही उद्धृत करनी पड़ेगी।

जिस तरह आचार्य विष्णु शर्मा ने पञ्चतन्त्र में वर्णित पशु-पक्षियों की कथाओं द्वारा राजपुत्रों को राजनीति में निपुण बना दिया था, उसी प्रकार इन लेखों से सामान्य व्यक्ति भी अच्छा पण्डित, व्याख्याता और उपदेशक बन सकता है। यह पुस्तक गुरुकुलों, उपदेशक-विद्यालयों तथा अन्य आर्य शिक्षण-संस्थाओं में पाठ्य-पुस्तक के रूप में निर्धारित हो सके, तो जहाँ छात्रों को वेद-मन्त्रों का सही अर्थ, उनका महत्त्व और आर्य-सिद्धान्तों का परिचय प्राप्त होगा, वहाँ उनके लिए ज्ञानवर्द्धन भी कम नहीं होगा। सामान्य पाठक को तो साहित्य-रस के आस्वादन के लिए ही इन लेखों को बार-बार पढ़ने की इच्छा होगी।

छपने से पहले मेरे आदरास्पद अग्रज-बन्धु ने इस पुस्तक के सम्बन्ध में मुझे दो शब्द लिखने का अवसर देकर जो गौरव प्रदान किया है, वह उनके स्नेहाधिक्य का ही परिणाम है। अन्यथा पुस्तक का प्रत्येक लेख स्वयं बोलता है, अपना परिचय आप देता है। इन लेखों को पढ़कर मुझे जो हार्दिक आनन्द की अनुभूति हुई है, वही आनन्द अन्य पाठकों को भी प्राप्त हो, यही कामना करता हूँ।

क्षितीश वेदालङ्कार

(सम्पादक 'आर्यजगत्')

१६ जुलाई, १९८३

□□

श्रुति-सौरभ ग्रन्थ का द्वितीय संस्करण

एवं

कृतज्ञता-ज्ञापन

समर्पण शोध-संस्थान साहिबाबाद (ग़ाज़ियाबाद) उत्तरप्रदेश के हितैषी कृपालु गुणी भाई-बहनों का धन्यवाद करते हुए चित्त हर्ष-विभोर हो रहा है कि जिनके अपरिमित स्नेह और श्रुति-स्वाध्याय-स्नेह के कारण श्रुति-सौरभ का प्रथम संस्करण इतने अल्पकाल में ही समाप्त हो गया। पाठकों की श्रद्धा और औत्सुक्य को देखते हुए हमने द्वितीय संस्करण के प्रकाशन में विलम्ब नहीं होने दिया।

यद्यपि प्रथम संस्करण की कुछ न्यूनताएँ ग्रन्थ के लेखक श्री शिवकुमार जी शास्त्री के ध्यान में थीं और वे उनका परिमार्जन दूसरे संस्करण में करने के इच्छुक थे, किन्तु लगभग दो वर्ष से उनका स्वास्थ्य ऐसा विकृत हुआ है कि वे किसी श्रम के योग्य नहीं हो पाए। इधर सहृदय पाठकों की शीघ्र ग्रन्थ-प्रकाशन के लिए तीव्र इच्छा थी, अतः हमने कुछ विचारानन्तर इसको इसी रूप में ही छापना उचित समझा। अब यह श्रुति-सौरभ का द्वितीय संस्करण आपकी सेवा में समर्पित है। हमें पूर्ण विश्वास है कि आप इस संस्करण का पहले की भाँति स्वागत करेंगे।

मैं संस्थान की ओर से कृपालु पाठकों का हार्दिक धन्यवाद करता हूँ।

—दीक्षानन्द सरस्वती
संस्थापक तथा सञ्चालक
समर्पण शोध संस्थान

❑❑

पाठकों के प्रति

उपयोगी साहित्य को आप तक पहुँचाने में संस्थान संलग्न है। हमारा पूर्ण प्रयास है कि प्रति वर्ष कोई-न-कोई ग्रन्थ आपकी सेवा में भेंट करते रहें। यद्यपि कागज एवं छपाई के रेट सीमातीत गति से प्रतिमास बढ़ रहे हैं तथापि हम इस वर्ष के अन्त तक दो ग्रन्थ आपको भेंट कर देने के लिए यत्नशील हैं। इनमें एक बड़ा ग्रन्थ होगा तथा दूसरा लघु ग्रन्थ 'प्रणव सर्वस्व' होगा। संस्थान के साहित्य की उत्कृष्टता एवं उपयोगिता से सभी महानुभाव भली-भाँति परिचित हैं। हम केवल शोधपूर्ण तथा उच्चस्तरीय साहित्य का ही प्रकाशन करते हैं। हमारे लिए पूज्य गुरुदेव स्वामी समर्पणानन्द जी के हृदय से निकले ये शब्द ध्येयरूप हैं, जिनमें कहा है—

"जीवन शेष रहा तो चारों वेदों का भाष्य लिखेंगे, नहीं तो यह कार्य शिष्य-परम्परा में कोई पूरा करेगा।" हम अपने ध्येय को प्राप्त करने के लिए प्राणपण से जुटे हैं। आपका सहयोग ही हमारी सफलता का हेतु है।

मन्त्र-सूची

❑❑

मन्त्रानुक्रमणिका

□□

विषय-सूची

❑❑

(१)

उसके मित्र कभी दुःख नहीं पाते

३ २उ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

इमं स्तोममर्हते जातवेदसे रथमिव सं महेमा मनीषया।

३ २उ ३ १ २ ३ १ २र ३ १ २र ३ १ २र

भद्रा हि नः प्रमतिरस्य संसद्यग्ने सख्ये मा रिषामा वयं तव॥

—साम० ६६

ऋषिः—कुत्सः॥ **देवता**—अग्निः॥ **छन्दः**—जगती॥ **स्वरः**—निषादः॥

अन्वयः—वयम् इमम् स्तोमम् अर्हते जातवेदसे मनीषया रथमिव सम्महेमा। अस्य संसदि नः प्रमतिः भद्रा हि अग्ने वयम् तव सख्ये मा रिषामा॥

शब्दार्थ—(वयम्) हम उपासक लोग **(इमं स्तोमम्)** इस स्तोत्र के **(अर्हते)** योग्य **(जातवेदसे)** वेद-प्रकाशक परमात्मा को **(मनीषया)** सूक्ष्म-बुद्धि से **(रथमिव)** रथ के समान **(सम्महेमा)** बढ़ावें। **(अस्य)** इस परमात्मा की **(संसदि)** ध्यानशाला में **(नः)** हमारी **(प्रमतिः)** पवित्र बुद्धि **(भद्रा हि)** शुद्ध होती ही है। **(अग्ने)** हे प्रकाशस्वरूप! **(तव)** आपकी **(सख्ये)** अनुकूलता में **(मा)** न **(रिषामा)** दुःखी होवें।

व्याख्या—मन्त्र में चार बातें कही गई हैं—

(१) हमारी सच्ची स्तुति का पात्र वह प्रभु ही है।

(२) अपनी सूक्ष्मबुद्धि से न्याय-नियमों को समझकर इस प्रकार विस्तृत करो जैसे रथ-चालक अभ्यासार्थ घोड़े से चलाए रथ को फिर अपनी बुद्धि से भिन्न-भिन्न मार्गों में चला लेता है।

(३) प्रभु की उपासना से हमारी बुद्धि कल्याणी बनती है।

(४) जो वास्तव में प्रभु के मित्र बन जाते हैं, वे संसार में कभी दुःखी नहीं हो सकते।

अब क्रमशः एक-एक बात पर विचार करिये।

तुम्हारी स्तुतियों का योग्यपात्र वह प्रभु ही है। रे मनुष्य! तू किसकी प्रशंसा में कविता के पङ्खों पर उड़कर पृथिवी और आकाश के कुलाबे मिलाता है? किसके यशोगान में लच्छेदार वक्तृताओं और निबन्धमालाओं को प्रस्तुत करता है? उसी मनुष्य को प्रसन्न करने के लिए जो तनिक-से व्यतिक्रम पर तेरे सब किये-कराए पर पानी फेर देता है? थोड़ी-थोड़ी-सी बात पर जिसके हृदय में प्रतिहिंसा की ज्वाला धधक उठती है? तू स्मरण रख—यह सौदा बहुत महँगा है! तू लाख यत्न करके भी

इन्हें प्रसन्न न कर पाएगा। ठीक कहा है किसी शायर ने—

मक़ामे-शुक्र[१] है सूफ़ी[२], ख़ुदा के हाथ है रोज़ी।
अगर ये हक़ भी इन्साँ को दिया होता तो क्या होता?

यदि तू वस्तुतः अपनी स्तुति को सार्थक बनाना चाहता है तो उस अनन्त महिमा-मण्डित प्रभु के गुण गा। तल्लीन होकर यदि तू उसकी स्तुति में लग जावे तो उसको प्रसन्न करना इन सांसारिक प्रभुओं से कहीं सरल है। किसी नीतिकार ने बहुत महत्त्वपूर्ण बात कही है—

शीतवातातपक्लेशान् सहन्ते यान् पराश्रिताः।
तदंशेनापि मेधावी तपस्तप्त्वा सुखी भवेत्॥

सांसारिक प्रभुओं के सेवक उन्हें रिझाने के लिए जिन सर्दी-गर्मी और धूप-ताप के कष्टों को सहन करते हैं, बुद्धिमान् मनुष्य उस से कहीं कम तप से प्रभु को प्रसन्न करके जीवन-भर सुखी रह सकता है। एक अन्य मनीषी ने भी बहुत प्रभावपूर्ण परामर्श दिया है—

अबुधैरर्थलाभाय पण्यस्त्रीभिरिव स्वयम्।
आत्मा संस्कृत्य संस्कृत्य परोपकरणी कृतः॥

मूर्ख लोगों ने थोड़े-से सांसारिक लाभ के लिए वेश्याओं के समान अपने-आपको सजा-सजाकर दूसरों के अर्पण कर दिया है। पर वस्तुतः जिनकी वाणी उस परम रस को चख लेती है, वह कभी मानव के गुणगान में प्रवृत्त नहीं हो सकती। भक्त सूरदास के शब्दों में कहना हो तो कहिये—*"कामधेनु तजि, छेरी कौन दुहावै?"* गोस्वामी तुलसीदास के विषय में प्रसिद्ध है कि उनकी काव्य-प्रतिभा को सुनकर अकबर बादशाह ने अपनी प्रशस्ति में कुछ लिखने का अनुरोध कराया। इस प्रस्ताव को सुनकर गोस्वामी जी ने उत्तर दिया था कि—"जो वाणी राम के गुण गाकर पवित्र हो गई है, वह अब और किसी के यशोगान में प्रवृत्त नहीं हो सकती।"

ऋषि दयानन्द जी महाराज ने भी बरेली में जब उन्हें अंग्रेज़ अफ़सरों की उपस्थिति में ईसाइयों की आलोचना न करने को कहा गया तो यही उत्तर दिया था कि—"हम इन कमिश्नरों आदि को देखें कि प्रभु की आज्ञा का पालन करें? हम तो जो सत्य है वही कहेंगे, किसी को रुचिकर हो या न हो, उसकी चिन्ता नहीं। हमारा आराध्य तो एकमात्र प्रभु ही है।"

मन्त्र की दूसरी बात है—संसार में प्रभु की न्याय-व्यवस्था को समझो और समझने के पश्चात् उसका विस्तार करो। बहुत-से लोग इन न्याय-नियमों को न समझने के कारण ही उलटे मार्ग पर चल पड़ते हैं। नास्तिकों का मत तो आधारित ही इस बात पर है, जैसे—अधिकांश

---

१. धन्यवाद की स्थिति, प्रभु-कृपा; २. हे ब्रह्मज्ञानी!

यह प्रश्न किया करते हैं कि—"प्रभु हमारा शुभचिन्तक पिता है तो जब हम पाप की ओर प्रवृत्त होते हैं, तभी क्यों नहीं रोकता? जब हम पाप कर बैठते हैं तो फिर गिन-गिनकर कसर निकालता है। क्या वह हमें दु:खी देखने में ही प्रसन्न है? यदि वह पाप करने के समय ही सावधान कर देता तो हमें यह दुष्परिणाम क्यों भोगना पड़ता?"

इस प्रश्न का विवेचन स्व० श्री पं० रामचन्द्र जी देहलवी बहुत रोचक ढंग से किया करते थे। उसी के आधार पर लिखना अधिक समीचीन होगा। वे कहा करते थे—"स्कूल के एक अध्यापक महोदय हैं। जिस स्कूल में पढ़ाते हैं, उसी में बच्चों के साथ उनका अपना लड़का भी पढ़ता है। मास्टरजी बच्चों को बड़े परिश्रम से पढ़ाते हैं और अपने बच्चे को तो स्कूल के अतिरिक्त घर पर भी समय देकर एक-एक बात को मस्तिष्क में बिठा देते हैं। अब वर्षभर की तैयारी के बाद परीक्षा का समय आया और परीक्षक महोदय ने उसी पुस्तक में से प्रश्न दिये, जो क्लास में भली प्रकार पढ़ाई गई थी। परीक्षक महोदय स्वयं तो एक कुर्सी पर बैठ गए और मास्टर साहब को निरीक्षण के लिए कहा, ताकि कोई विद्यार्थी किसी से पूछ न सके और नकल भी न कर सके।

मास्टरजी निरीक्षण करते हुए घूम रहे हैं और कभी-कभी लिखते हुए बच्चों की कापी पर भी दृष्टिपात कर लेते हैं। इसी क्रम में घूमते हुए अपने पुत्र के पास आ खड़े हुए। कापी पर दृष्टि गई तो देखा कि लड़का प्रश्न का उत्तर अशुद्ध लिख रहा है। पिताजी इस अशुद्धि को देख भी रहे हैं, वे स्वयं इस प्रश्न का ठीक-ठीक उत्तर जानते भी हैं, पुत्र का हित उसके उत्तीर्ण होने में है, किन्तु फिर भी मर्यादा में जकड़े हुए उसे बताते नहीं। इस समय उनके बताने को कोई उचित नहीं समझेगा। क्यों? क्योंकि यह परीक्षा का समय है।"

ठीक यही स्थिति प्रभु के लिए भी है। उसने अपनी असीम कृपा से सृष्टि के प्रारम्भ में ही अपना पवित्र ज्ञान देकर संसार के व्यवहार के नियम बता दिये हैं। किन्तु जब उनके आचरण का, दूसरे शब्दों में परीक्षा का समय आता है, तब वह किसी को कैसे बता सकता है? फिर भी उसकी असीम करुणा है कि बुराई करने के समय मनुष्य के मन में भय, शङ्का और लज्जा उत्पन्न करके उसे बुराई न करने का सङ्केत करता है और शुभकर्म के समय हर्ष और उत्साह जगाकर वैसा आचरण करने की प्रेरणा करता है। किन्तु जीव कर्म करने में स्वतन्त्र है। इस आधार पर वह अपनी स्वाधीनता से जो भी बुरा अथवा अच्छा कर्म करने का निर्णय करता है, प्रभु उसी आधार पर फल का निश्चय कर देते हैं। स्वयं वेद में कहा है—"**पक्तारं पक्वः पुनराविशाति**" (अथर्व०)—जैसा करो, वैसा भरो!

इसीलिए इस मन्त्र में कहा कि उसकी न्याय-व्यवस्था को समझो

और उसका विस्तार करो तथा उस ज्ञान को संसार का मार्गदर्शन करते हुए, दूसरे भूले-भटकों तक पहुँचा दो। यही रहस्य दया और न्याय को समझने में है। [सत्यार्थप्रकाश के सप्तम समुल्लास में इसका विस्तृत विवेचन है]

मन्त्र की तीसरी बात है—उपास्य के गुण उपासक में आने चाहियें। यदि नहीं आते तो कहीं-न-कहीं त्रुटि अवश्य है। लगता है—वह भक्ति नहीं, ढोंग है।

उपासना का शब्दार्थ है—समीप बैठना। लोक में आप देखते हैं कि पानी के पास बैठनेवाला शीतलता अनुभव करता है और अग्नि के समीप बैठनेवाला उष्णता का। यही बात प्रभु की उपासना के लिए भी है। जो भक्त प्रभु को न्यायकारी मानकर उसके न्यायपूर्ण कामों को हृदयङ्गम करता है, वह दूसरों के साथ न्याययुक्त व्यवहार करे। प्रभु सबका भला चाहते हैं। यदि उपासक सच्चा है तो वह भी सबका भला चाहेगा। संसार की रक्षा के लिए दुष्टों और दुराचारियों की शक्ति क्षीण करने में भी एक भक्त को सदा कटिबद्ध रहना चाहिये।

जब उपासक में उपासना के द्वारा ये दिव्य गुण आने लग जावें तो बुद्धि के कल्याणमय होने में क्या सन्देह रह गया? विचार बीज है, तो कार्य उसका अंकुर है। जैसा बीज होगा वैसा ही पौधा होगा और उसपर फल भी वैसा ही लगेगा। इस स्थिति में साधक पापों को परे धकेलकर भद्रता का भाजन बन जाता है।

मन्त्र की चौथी बात है—जो भक्त प्रभु का मित्र बन जाता है, वह संसार में कभी दु:खी नहीं होता। कर्मफल के आधार पर सांसारिक कष्ट आते भी हैं, तो उन्हें वह सहर्ष स्वीकार कर उनका स्वागत करता है—

दर्द होता न हर किसी के लिए।
खुदा की देन है जिसको नसीब हो जावे॥

किन्तु प्रभु का सखा बनने के लिए गुणों की समानता अपरिहार्य है। मित्रता के भावों के उद्दीप्त होते ही आप मित्र से मिलने के लिए व्याकुल हो उठेंगे। जब मिलन की भावना तीव्र होगी तो संसार के विषय-सुखों का आकर्षण फीका हो जाएगा। संसार के सब रस नीरस लगेंगे। रहीम के शब्दों में हालत यह होगी—

प्रीतम-छवि नयनन बसी, पर-छवि कहाँ समाय!
भरी सराय रहीम लखि, आप पथिक फिरि जाय॥

❑❑

(२)

मेरे सत्कर्म जीवन को यज्ञमय बना दें

मह्यं यजन्तु मम यानि हव्याकूतिः सत्या मनसो मे अस्तु।
एनो मा नि गां कतमच्चनाहं विश्वे देवासो अधि वोचता नः॥

—ऋ० १०।१२८।४

ऋषिः—विहव्यः॥ देवता—विश्वेदेवाः॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥

अन्वयः—मम यानि हव्या मह्यं यजन्तु मे मनसः आकूतिः सत्या अस्तु। अहं कतमच्चन एनो मा निगां विश्वेदेवासः नः अधिवोचत॥

शब्दार्थ—(**मम**) मेरे (**यानि**) जो (**हव्या**) संसार के व्यवहार को चलानेवाले सद्‌गुण हैं, वे (**मह्यम्**) मेरे लिए (**यजन्तु**) हितकारक हों (**मे**) मेरा (**मनसः**) मन का (**आकूतिः**) चिन्तन (**सत्या**) सत्य (**अस्तु**) होवे। (**अहम्**) मैं (**कतमच्चन**) किसी भी अवस्था में (**एनः**) पाप (**मा नि गाम्**) न करूँ (**विश्वेदेवासः**) हे सब विवेकी विद्वानो! (**नः**) हम लोगों को (**अधिवोचत**) उपदेश करो—अच्छाई और सचाई का प्रचार करो!

व्याख्या—इस ऋचा में चार बातें कही गई हैं। पहली यह कि मेरे सद्‌गुण मुझमें विकसित होकर मेरा कल्याण करें। दूसरी यह कि मेरे सङ्कल्प सत्य हों। तीसरी यह कि मैं किसी भी अवस्था में पापाचरण न करूँ। चौथी यह कि विद्वानों का यह कर्त्तव्य है कि वे संसार को सन्मार्ग पर चलने का उपदेश करते रहें।

अब थोड़ा विस्तार से विचार कीजिये—संसार का कोई पतित-से-पतित मनुष्य भी ऐसा न मिलेगा, जिसमें सब दुर्गुण-ही-दुर्गुण हों, कोई भी सद्‌गुण न हो। इसी प्रकार ऐसे भी विरले ही महापुरुष होंगे, जिनमें अच्छाइयाँ ही हों, कोई दुर्गुण न हो। यदि कोई हैं तो वे देव-कोटि के हैं, सामान्य नहीं; क्योंकि, शतपथ ब्राह्मण ने देवों और मनुष्यों के बीच सीमा-रेखा खींचते हुए लिखा है—''**सत्यं वै देवाः, अनृतं मनुष्याः**'', अर्थात् देवों का जीवन तपःपूत सत्यमय होता है। मनुष्य उस भव्य भवन पर चढ़ने के लिए यत्नवान् तो है, पर मनःस्थिति के अपरिपक्व होने से संसार के प्रलोभन उसे पथभ्रष्ट कर डालते हैं। उदाहरण के लिए हम सभी महाभारत के प्रसिद्ध दो पात्रों—दुर्योधन और कर्ण को अच्छा नहीं समझते। ऋषि दयानन्द जी महाराज ने दुर्योधन को—''**गोत्र-हत्यारा**'' शब्द से सम्बोधित किया है, किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि दुर्योधन और कर्ण में कोई सद्‌गुण न था। महाभारत में इनके

चरित्र के अनुशीलन से विदित होता है कि इनके कुछ गुण बहुत ही असाधारण और मोहक थे। कर्ण की वीरता, सच्चरित्रता और दानशीलता अद्भुत थी। उसकी वीरता और उदारता का वर्णन करते हुए व्यास ने लिखा है—

यस्य चेतसि निर्व्याजं द्वयं तूलकणायते।
क्रोधो विरोधिनां सैन्यं प्रसादे कनकोच्चयः॥

जिस कर्ण के चित्त में दो वस्तुएँ एकसमान रुई के रेशे की तरह उड़ती रहती हैं। क्या-क्या? क्रोध आने पर शत्रुओं की सेना और प्रसन्न होने पर सोने के ढेर, अर्थात् कर्ण उच्चतम कोटि का वीर और दानी है। दूसरे श्लोक में भी उसकी शूरता और उदारता का वर्णन करते हुए लिखा है—

अर्थिप्रत्यर्थिलक्ष्येष्वपराङ्मुखचेतसम्।
यं पराङ्मुखतां निन्युः केवलं परयोषितः॥

लाखों याचक और शत्रुओं को देखकर कर्ण ने कभी अपनी पीठ नहीं दिखाई। उसे विमुख करनेवाली केवल परस्त्रियाँ ही हैं, अन्य कोई नहीं।

जीवनलीला-समाप्ति से पूर्व भीष्म ने कर्ण को बुलाकर कहा—

ब्रह्मण्यता च शौर्यं च दाने च परमां स्थितिम्।
न त्वया सदृशः कश्चित् पुरुषेष्वमरोपम॥

हे देवतुल्य कर्ण! ईश्वरभक्ति, शूरता और अत्यन्त दानशीलता, इन गुणों में तेरे समान कोई दूसरा नहीं है।

कुलभेदभयाच्चाहं सदा परुषमुक्तवान्।
इष्वस्त्रे चास्त्रसंधाने लाघवेऽस्त्रबले तथा।
सदृशः फाल्गुनेनासि कृष्णेन च महात्मना॥

हे कर्ण! कुल की फूट को देखते हुए मैं सदा तुझे कठोर वचन कहता रहा हूँ। नहीं तो अस्त्र-शस्त्रों के चलाने और चुस्ती में तुम अर्जुन और महात्मा कृष्ण से किसी प्रकार कम नहीं हो।

इससे भी बढ़कर कर्ण के जीवन का उज्ज्वल पक्ष वह है, जब राज्य का प्रलोभन देकर कृष्ण ने दुर्योधन का साथ छोड़ने के लिए कर्ण से कहा—

त्वमेव कर्ण जानासि वेदवादान् सनातनान्।
त्वमेव धर्मशास्त्रेषु सूक्ष्मेषु परिनिष्ठितः॥

—महा० ५।१३८।७

हे कर्ण! तुम सनातन वैदिक मन्तव्यों से परिचित हो और सूक्ष्म धर्मशास्त्रों में तुम्हारी पैठ है।

कानीनश्च सहोढश्च कन्यायां यश्च जायते।
वोढारं पितरं तस्य प्राहुः शास्त्रविदो जनाः॥ ८॥

कुमारावस्था में उत्पन्न हुई सन्तान उसी की मानी जाती है, जिसके साथ उस लड़की का विवाह होता है। यह शास्त्रीय मर्यादा है।

सोऽसि कर्ण तथा जातः पाण्डोः पुत्रोऽसि धर्मतः।
निग्रहाद्धर्मशास्त्राणामेहि राजा भविष्यसि॥ ९॥

सो इस प्रकार की उत्पत्ति के कारण तू धर्मानुसार पाण्डु का ही पुत्र है, अतः धर्मशास्त्र की मर्यादा के अनुसार तू इस ओर आ, यहाँ तू राजा होगा।

पितृपक्षे च ते पार्था मातृपक्षे च वृष्णयः।
द्वौ पक्षावभिजानीहि त्वमेतौ भरतर्षभ॥ १०॥

तेरे भाई-बन्धु युधिष्ठिर आदि हैं और ननसाल में हम वृष्णि लोग हैं। तू इन दोनों पक्षों को भी समझ ले।

मया सार्धमितो यातमद्य त्वां तात पाण्डवाः।
अभिजानन्तु कौन्तेयं पूर्वजातं युधिष्ठिरात्॥ ११॥

हे तात! आज तू जब मेरे साथ वहाँ जावेगा तो पाण्डव लोग युधिष्ठिर से भी पूर्व कुन्ती से उत्पन्न हुए बड़े भाई के रूप में तुझसे परिचित होंगे।

पादौ तव ग्रहीष्यन्ति भ्रातरः पञ्च पाण्डवाः।
द्रौपदीयास्तथा पञ्च सौभद्रश्चापराजितः॥ १२॥

पाँचों पाण्डव तेरे छोटे भाई होने के कारण तेरे चरण-स्पर्श करेंगे। द्रौपदी के पाँचों पुत्र तथा सुभद्रा का अपराजित पुत्र अभिमन्यु, ये सब चरणस्पर्श करेंगे। साथ ही पाण्डव-पक्ष में एकत्र हुए सब अन्धक, वृष्णि तेरे अनुयायी होंगे। ये सभी तथा—

अहं च त्वाभिशेष्यामि राजानं पृथिवीपतिम्।

मैं तुझे पृथिवी के स्वामी राजा के रूप में तेरा अभिषेक करूँगा।

युवराजोऽस्तु ते राजा धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः।
गृहीत्वा व्यजनं श्वेतं धर्मात्मा संशितव्रतः॥ १८॥

धर्मपुत्र युधिष्ठिर युवराज के रूप में श्वेत व्यजन (पङ्खा) हाथ में लेकर तेरी सेवा में खड़ा रहेगा। भीमसेन विशाल श्वेत छत्र तेरे ऊपर लगाकर खड़ा रहेगा। सफेद घोड़ोंवाले तेरे सुन्दर रथ को अर्जुन हाँकेगा। नकुल, सहदेव, अभिमन्यु, पाञ्चाल आदि सब तेरे पीछे-पीछे चलेंगे—

स त्वं परिवृतः पार्थैर्नक्षत्रैरिव चन्द्रमाः।
प्रशाधि राज्यं कौन्तेय कुन्तीञ्च पतिनन्दय॥ २७॥

तू पाँचों पाण्डवों में नक्षत्रों में चन्द्रमा के समान सुशोभित होकर

राज्य का शासन कर, कुन्ती को आनन्दित कर।

ऊपर के उद्धरणों में यह सुतरां स्पष्ट है कि कृष्ण ने कितने बड़े प्रलोभन देकर और धर्मानुसार कर्ण को अपनी ओर करना चाहा था। पर यह सुनकर कर्ण ने बहुत विनीतभाव से निम्न उत्तर दिया—

असंशयं सौहृदान्मे प्रणयाच्चात्थ केशव।
सख्येन चैव वार्ष्णेय श्रेयस्काम तथैव च॥ —५।१३९।१

हे केशव! निःसन्देह आपने प्रेम, सौहार्द, मित्रता और मेरे कल्याण की भावना से ही ये बातें कही हैं।

सर्वं चैवाभिजानामि पाण्डोः पुत्रोऽस्मि धर्मतः।
निग्रहाद्धर्मशास्त्राणां यथा त्वं कृष्ण मन्यसे॥ २॥

मैं यह सब जानता हूँ कि धर्मशास्त्र की व्यवस्था के अनुसार जैसा आप कहते हैं, मैं पाण्डु का पुत्र हूँ।

किन्तु जब उत्पन्न होते ही कुन्ती ने मुझे त्याग दिया तो अधिरथ सूत मुझे प्रेम से उठाकर अपने घर ले गया और उसने मुझे अपनी पत्नी राधा को दे दिया।

मत्स्नेहाच्च राधायां सद्यः क्षीरमवातरत्।
सा मे मूत्रपुरीषं च प्रतिजग्राह माधव॥ ६॥

मेरे ऊपर प्रेम के कारण राधा के स्तनों में दूध उतर आया और उसी ने मेरा मल-मूत्र साफ किया।

तस्याः पिण्डव्यपनं कुर्यादस्मद्विधः कथम्।
धर्मविद्धर्मशास्त्राणां श्रवणे सततं रतः॥ ७॥

हे कृष्ण! मेरे जैसा व्यक्ति जो सदा धर्मशास्त्रों का अध्ययन करता है और धर्म को जानता है, वह राधा के उपकार की उपेक्षा कैसे कर सकता है? इसी प्रकार अधिरथ भी मुझे पुत्र समझते हैं और मैं भी उन्हें अपना पिता मानता हूँ। उन्होंने ही शास्त्रानुसार मेरे सब संस्कार कराए और पुरोहितों से वसुषेण मेरा नाम रखवाया है। युवा होने पर विवाह कराया और अब मेरे पुत्र और पौत्र हैं। उन सब के साथ मैं आत्मीयता के सूत्र में बँधा हुआ हूँ।

न पृथिव्या सकलया न सुवर्णस्य राशिभिः।
हर्षाद्भयाद्वा गोविन्द मिथ्याकर्तुं तदुत्सहे॥ १२॥

हे कृष्ण! समस्त पृथिवी और सोने के ढेरों पर भी तथा किसी हर्ष और भय के कारण भी मैं इन सम्बन्धों को नहीं झुठला सकता। इसके अतिरिक्त हे कृष्ण!

धृतराष्ट्रकुले कृष्ण दुर्योधनसमाश्रयात्।
मया त्रयोदश समा भुक्तं राज्यमकण्टकम्॥ १३॥

दुर्योधन के बूते पर धृतराष्ट्र के परिवार में मैंने निष्कंटक १३ वर्ष तक राज्य का सुख भोगा है।

मां च कृष्ण समासाद्य कृतः शस्त्रसमुद्यतः।
दुर्योधनेन वार्ष्णेय निग्रहश्चापि पाण्डवैः॥ १५॥

हे कृष्ण! मेरे भरोसे ही दुर्योधन ने पाण्डवों से शत्रुता की है और मेरे ही भरोसे यह युद्ध रोपा गया है। इसके अतिरिक्त अर्जुन के साथ लोहा लेने के लिए तो दुर्योधन ने मुझे ही चुना है। अतः—

वधाद्बन्धाद्भयाद्वापि लोभाद्वापि जनार्दन।
अनृतं नोत्सहे कर्तुं धार्तराष्ट्रस्य धर्मतः॥ १७॥

हे जनार्दन! मृत्यु अथवा बन्धन के डर से अथवा किसी भी प्रलोभन के कारण मैं दुर्योधन के इस विश्वास को ठेस नहीं पहुँचा सकता।...... निश्चय ही आपने मेरे हित के कारण ही ये बातें कही हैं और मुझे विश्वास है कि आपके निमन्त्रण के कारण पाण्डव करेंगे भी वैसा ही। फिर भी मैं आपको परामर्श देता हूँ कि आप मेरे जन्म के तथा पाण्डवों का बड़ा भाई होने के रहस्य को अपने तक ही गुप्त रक्खें। मैं इसी में सबका कुशल समझता हूँ। क्योंकि—

यदि जानाति मां राजा धर्मात्मा संयतेन्द्रियः।
कुन्त्याः प्रथमजं पुत्रं न स राज्यं ग्रहीष्यति॥ २१॥

जितेन्द्रिय धर्मात्मा युधिष्ठिर को यदि यह पता चल गया कि मैं कुन्ती का ज्येष्ठ पुत्र हूँ तो वह राज्य लेना स्वीकार नहीं करेगा और मुझे ही अर्पित कर देगा।

प्राप्य चापि महद्राज्यं तदहं मधुसूदन।
स्फीतं दुर्योधनायैव संप्रदद्यामरिन्दम॥ २२॥

हे मधुसूदन! युधिष्ठिर के दिये हुए उस महान् राज्य को मैं दुर्योधन के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करने के लिए दुर्योधन को ही दे दूँगा। इस प्रकार आपका यह महान् संघर्ष निरर्थक हो जाएगा। इसलिए मेरी कामना है कि—

स एव राजा धर्मात्मा शाश्वतोऽस्तु युधिष्ठिरः।
नेता यस्य हृषीकेशो योद्धा यस्य धनंजयः॥ २३॥

जिसका नेता कृष्ण है और योद्धा अर्जुन है, वह राजा युधिष्ठिर ही सदा-सर्वदा बना रहे।

कर्ण का यह चरित्र लोकोत्तर है या नहीं? इसके अतिरिक्त भी कर्ण के जीवन में अनेक प्रेरक प्रसङ्ग हैं [किन्तु हम विस्तार-भय से उन्हें छोड़ देते हैं]।

इसी प्रकार की वीरता, कर्ण के साथ मैत्री की निर्व्याजता, अपनी बात रखने के लिए सब निछावर करने की धुन दुर्योधन के चरित्र के

भी अविभाज्य अङ्ग हैं। कर्ण के सेनापति बनने पर अश्वत्थामा ने यह प्रण कर लिया था कि वह उसके सेनापतित्व में शस्त्र नहीं उठाएगा। जब अर्जुन ने कर्ण को युद्ध में मार दिया, तब समाचार पाते ही अश्वत्थामा गर्जता हुआ दुर्योधन के पास पहुँचा और बोला—"राजन्! जिस कर्ण के ऊपर आपने पाण्डवों को परास्त करने की आशा बाँध रक्खी थी, वह उनका कुछ भी बिगाड़ न सका और संसार से चल बसा। अब तुम मेरा जौहर देखना! मैं केवल एक दिन में ही '**निष्पाण्डवा मेदिनी**' संसार से पाण्डवों को विहीन कर दूँगा।"

राजनीति की यह सामान्य-सी बात है कि अपने विजय के लक्ष्य को पूरा करने के लिए जहाँ से भी सहायता मिले, ले लेनी चाहिए। कर्ण तो अब संसार से गया, उससे अब किसी प्रकार की आशा ही कहाँ हो सकती थी? अतः दुर्योधन को अश्वत्थामा से लाभ उठाना चाहिये था; किन्तु दुर्योधन ने यहाँ माननीय और नैतिक पक्ष को प्राथमिकता देते हुए कहा—"गुरुपुत्र! तुमने यह प्रतिज्ञा की थी कि—'जब तक कर्ण जीवित है, मैं शस्त्र नहीं उठाऊँगा।' अब तुम यह प्रतिज्ञा और कर लो कि जब तक दुर्योधन नहीं मर जाता, मैं शस्त्र नहीं उठाऊँगा। मेरी दृष्टि में तुम और अर्जुन एक-समान हो। एक ने मेरे मित्र कर्ण के भौतिक शरीर को नष्ट किया है और तुम उसके मरने पर कटुवचन कहके उसके यशरूपी शरीर को नष्ट कर रहे हो। जैसे मैं अपने मित्र के शत्रु अर्जुन से दी हुई राज्यलक्ष्मी को स्वीकार नहीं कर सकता, उसी प्रकार तुम्हारे शौर्य से लाभ उठाना मैं वैसा ही नीचकर्म समझता हूँ।" यह है दुर्योधन का नैतिक स्तर, जिसे आज की राजनीति स्वप्न में भी नहीं पा सकती।

धृतराष्ट्र ने अन्तिम बार दुर्योधन को बुलाकर समझाते हुए कहा—"दुर्योधन! अब भी तुझे युधिष्ठिर से सन्धि करके युद्ध समाप्त कर देना चाहिये।"

दुर्योधन ने उत्तर दिया—"पिताजी! सन्धि तो समान स्थिति में होती है। इस युद्ध में मेरी शक्ति लगभग नष्ट हो गई है। मेरे सब भाई भी चल बसे, अच्छे-अच्छे योद्धा खप गए; युधिष्ठिर के सभी भाई सकुशल हैं, सैनिक-शक्ति भी सुरक्षित है, तो सन्धि की सम्भावना कहाँ है?"

धृतराष्ट्र ने उत्तर दिया—"नहीं, अब भी सन्धि का अवसर है, क्योंकि चाहे पाण्डव पाँचों जीवित हैं, किन्तु तुझसे युद्ध करने के लिए एक समय में एक ही आवेगा। तू इतना वीर है कि किसी भी एक के लिए तुझे परास्त करना सरल नहीं है। इस स्थिति में अब भी विजय उतनी ही सन्दिग्ध है, जितनी युद्ध से पूर्व थी। साथ ही युधिष्ठिर का यह प्रण है कि—'मेरे चारों भाइयों में से कोई एक भी मर जाएगा तो मैं स्वयं अपना जीवन त्याग दूँगा।' अतः सन्धि का प्रस्ताव रक्खा जाय

तो मेरा विश्वास है कि युधिष्ठिर मान लेगा।" किन्तु यह सुनकर दुर्योधन बोला—"पिताजी! इस स्थिति में भी मुझे युद्ध ही करना चाहिये, क्योंकि युधिष्ठिर जब एक भाई के न रहने पर भी जीवन त्याग सकता है, तो क्या दुर्योधन इतना पतित है कि इतने भाइयों को बलिवेदी पर चढ़ाकर भी राज्यसिंहासन और जीवन की इच्छा करे?" देख लीजिये दुर्योधन कितना महान् है! दुर्योधन की वीरता का दिग्दर्शन कवि भास के शब्दों में पढ़िये। दुर्योधन के सीधे ही जब युद्धभूमि में उतरने का अवसर आया तो पाण्डवों की ओर से प्रस्ताव हुआ—

पञ्चानां मन्यसेऽस्माकं यं सुयोधं सुयोधन।
वर्मितस्यात्तशस्त्रस्य तेन तेऽस्तु रणोत्सवः॥

हे दुर्योधन! हम पाँचों में से तुम जिसके साथ लड़ना अनुकूल समझते हो, उसके साथ कवच पहनकर और शस्त्र लेकर युद्ध करो। इस प्रस्ताव को सुनकर और भीम की ओर देखकर दुर्योधन ने उत्तर दिया—**अप्रियोऽपि प्रियो योद्धुं त्वमेव प्रिय साहसः**—भीम! हो तो तुम मेरे सबसे बड़े विरोधी, किन्तु मुझे युद्ध करना तो तुम्हारे साथ ही प्रिय है। दोनों की मुठभेड़ हुई और एक पैंतरे पर गदा के प्रहार से भीम घुटने के बल गिर गया और मात खा गया। उसे इस स्थिति में देखकर दुर्योधन ने कहा—

वीर्यालयो विविधरत्नविचित्रमौलिः।
युक्तोऽभिमानविनयश्रुतिसाहसैश्च।
वाक्यं वदत्युपहसन्नतु भीम दीनम्।
वीरो निहन्ति समरेषु भयं त्यजेति॥

"अत्यन्त वीर, अनेक रत्नजटित मुकुट धारण किये हुए अभिमान, विनय और कान्ति से सुशोभित दुर्योधन ने हँसी उड़ाते हुए भीम को फीका पड़ा देखकर कहा—भीम! युद्ध में वीर कभी दीन शत्रु पर प्रहार नहीं करते, अतः डर छोड़कर साहस से सामने आ!" भीम ने रोष में आकर कृष्ण का सङ्केत पाकर युद्ध के नियम के विपरीत गदा-प्रहार करके दुर्योधन की जङ्घा चूर-चूर कर डाली। उस अवस्था में भुजाओं के सहारे शरीर को घसीटते हुए दुर्योधन की उक्ति द्रष्टव्य है—

भीमेन भित्वा समयव्यवस्थां गदानिपातक्षतजर्जरोरुः।
भूमौ भुजाभ्यां परिकर्षमाणं स्वदेहमर्धोपरतं वहामि॥

"भीम ने युद्ध के नियमों का अतिक्रमण करके गदा के प्रहार से मेरी जङ्घाओं को चूर-चूर कर डाला है। अब मैं अपनी भुजाओं के सहारे अर्धमृत शरीर को भूमि पर घसीट रहा हूँ।" इस प्रकार युद्ध के नियमों को भङ्ग होता हुआ देखकर बलराम ने क्रोध में आकर कहा कि—"इस अनर्थ करनेवाले भीम का वध अब मैं करूँगा!" इस बात

को सुनते ही दुर्योधन ने कहा—"अब ऐसा करके पाण्डवों के रङ्ग में भङ्ग मत डालिये—

जीवन्तु ते कुरुकुलस्य निवापमेघाः।
वैरं च विग्रहकथा च वयं च नष्टाः॥

कुरुकुल की अग्नि को बुझानेवाले अब पाण्डवरूपी बादल सलामत रहें! अब तो वैर-झगड़े की बात और हम ही नष्ट हो गए। अब आप उन्हें क्यों छेड़ते हैं? मेरे मरने को आप नियम-विरुद्ध समझते हैं, तो मेरे लिए बस वीरता के नाते इतना ही प्रमाणपत्र पर्याप्त है—

यद्येवं समवैषि मां छलजितं भो राम नाहं जितः।

हे राम (बलराम)! छल से हराकर भीम मुझे वास्तव में जीत नहीं सका।"

दुर्योधन के घायल होने का समाचार उसकी पत्नी भानुमती ने सुना तो विलाप करती हुई युद्धभूमि में पहुँची। पत्नी को इस प्रकार रोता हुआ देखकर जो शब्द दुर्योधन ने कहे, वे वीरता के इतिहास में सदा अमर रहेंगे—

भिन्ना मे भ्रुकुटी गदानिपतितैर्या युद्धकालोत्थितैः।
वक्षस्युत्पतितैः प्रहाररुधिरैर्हारावकाशोद्धृतैः।
पश्येमौ व्रणकाञ्चनाङ्गदधरौ पर्याप्तशोभौ भुजौ।
भर्ता ते न पराङ्मुखो युधि हतः किं क्षत्रिये रोदिषि॥

"युद्ध के समय हुए गदा-प्रहारों से मेरी भौंहें फट गई हैं। छाती पर लगे हुए प्रहारों से बहते हुए रक्त ने अब मुक्ताहार की आवश्यकता ही नहीं छोड़ी। दोनों भुजाएँ भी घावों से सोने के बाजूबन्दों से भी अधिक सुशोभित हो रही हैं। तेरा पति युद्ध में पीठ दिखाकर नहीं मारा गया। हे क्षत्राणी! फिर तू रोती क्यों है? रोने की बात तो तब होती, जब मैंने युद्ध में पीठ दिखाई होती।"

वेदोक्तैर्विविधैर्मखैरभिमतैरिष्टंधृता बान्धवाः।
शत्रूणां उपरि स्थितं प्रियशतं न व्यंसिताः संश्रिताः।
युद्धेऽष्टादशवाहिनी नृपतयः सन्तापिता निग्रहे।
मानं मानिनि वीक्ष्य मे नहि रुदन्त्येवं विधानां स्त्रियः॥

"हे देवि! वेदोक्त विविध यज्ञ करके मैंने अपने इष्टबन्धुओं का भरण-पोषण किया। सदा शत्रुओं को दबाके रक्खा। सैकड़ों की मनोकामनाएँ पूरी कीं। किसी प्रकार की कमी कभी खली नहीं। युद्ध में अठारह सेनाओं के शासकों को अपने नियन्त्रण में रक्खा। हे मानिनि! मेरे स्वाभिमान पर तो एक दृष्टि डाल! ऐसे गौरवपूर्ण पुरुषों की पत्नियाँ रोया नहीं करतीं।"

कितनी उच्चकोटि की वीरता के वचन हैं! कर्ण और दुर्योधन के

ये प्रसङ्ग कुछ अधिक लम्बे हो गए, किन्तु इनसे एक बात स्पष्ट हो गई कि निकृष्ट-से-निकृष्ट व्यक्ति में भी कुछ अच्छाइयाँ होती हैं। यदि किसी प्रकार सद्गुणों की ओर ही मनुष्य के चिन्तन और क्रिया का प्रवाह मुड़ जाय तो कहना ही क्या! एक-एक सत्कर्म का ही इतना विस्तार हो सकता है कि किसी बुरे काम को सोचने और करने का अवकाश ही नहीं होगा। महर्षि दयानन्द से बङ्गाल के एक नेता अश्विनीकुमार दत्त ने पूछा था—"महाराज! मनुष्य के मन में वासना जगे और उसे वह अपनी विचारशक्ति से शान्त करके सत्पथ से विचलित न हो—यह तो समझ में आता है, किन्तु मैं जानना चाहता हूँ कि आपके मन में कभी वासना भी जगी है या नहीं?" यह प्रश्न सुनकर ऋषि ने थोड़ी देर आत्मनिरीक्षण किया, फिर उत्तर दिया—"मुझे अपने जीवन में ऐसा कोई अवसर स्मरण नहीं आता जब मेरे मन में कुविचार कभी पैदा भी हुए हों।" इसपर चकित होकर अश्विनी बाबू ने कहा—"यह कैसे सम्भव है?" तो ऋषि ने सहजभाव से उत्तर दिया—"मेरे पास करने के इतने काम हैं कि उनसे भिन्न कोई बात मन में सोचने और करने को मेरे पास समय ही नहीं है।"

अतः मन्त्र में पहली प्रार्थना है कि मेरे सद्गुण मेरे जीवन में विकसित होकर जीवन को यज्ञमय बना दें, ताकि मैं अपना और समाज का भला कर सकूँ।

मन्त्र की दूसरी बात है कि मेरे सङ्कल्प सत्य हों। ऐसा न हो कि मैं व्यर्थ की उधेड़बुन में पड़ा रहूँ, अर्थात् मेरे चिन्तन की दिशा ठीक हो। जब मुझे ठीक विचार करने का अभ्यास होगा तो आचरण भी ठीक ही करूँगा। यदि चिन्तन ही बेतुका होगा, तो उसके फल का ठीक-ठीक होने का प्रश्न ही कहाँ उपस्थित होता है? [यहाँ ऋषि दयानन्दकृत 'व्यवहारभानु' से शेखचिल्ली की कहानी का उल्लेख मनोरञ्जक होगा और आशय को स्पष्ट करनेवाला भी]

महत्त्वाकांक्षाएँ तो मस्तिष्क में भले ही रहें, किन्तु अपनी योग्यता और क्षमताओं के अनुसार ही वे क्रियान्वित हो पाती हैं, अतः मनुष्य को सन्तुलित विचार का अभ्यस्त होना चाहिये, तभी मानसिक शान्ति भी रह सकती है। अतः, दूसरी प्रार्थना है कि मेरे सङ्कल्प सत्य हों।

मन्त्र की तीसरी बात है कि कोई दोष अनजाने मेरे जीवन में रह जाय, यह सम्भव है, पर जान लेने पर कि यह बुराई है—फिर चाहे कुछ हो जाय, मैं उसे सर्वस्व की बाज़ी लगाकर भी समाप्त करके ही छोड़ूँगा। पाप को पाप जानते हुए आचरण करना जीते-जी मरने-समान है, अतः मेरी इच्छाशक्ति इतनी प्रबल होनी चाहिये कि वीर के समान **डटकर मैं उस पाप को जीवन में से निकाल फेंकूँ। मृत्यु स्वीकार हो, किन्तु पापमय जीवन नहीं!** इस बात को समझने के लिए स्वामी श्रद्धानन्द

जी की आत्मकथा की एक घटना बहुत प्रेरणाप्रद है—

एक दिन प्रातः ला० मुन्शीराम लाहौर के एक चौराहे पर खड़े थे। सामने से एक व्यक्ति टोकरे में एक कटा हुआ बकरा सिर पर उठाए ले-जा रहा था। बोझ के कारण जब व्यक्ति ऊपर-नीचे होता था, तो कटे बकरे की लाल-लाल टाँगें हिलती हुई बहुत बीभत्स लग रही थीं और उन्हें देख पाना कठिन था। उसे देखकर इनके मन में विचार आया कि कहाँ तो तू इसे देखकर भी परेशान हो रहा है और कहाँ इसे चटखारे ले-लेकर खाता है! सोचते-सोचते ऐसी ग्लानि हुई कि वहीं यह निश्चय कर लिया कि आज से मांस नहीं खाएँगे। शाम को ही एक भोज में सम्मिलित हुए। मेज़ पर जहाँ अन्य मित्र, वकील आदि बैठे थे, बैठ गए। भोजन परोसा जा रहा था। इन्होंने देखा कि सब्ज़ियों के साथ एक कटोरी में मांस भी है। विचार आया कि आज ही तो प्रातः तुमने यह प्रण किया कि आगे से मांस नहीं खाएँगे, फिर दूसरा विचार आया कि तुम्हारे इस निश्चय का किसे पता है? आज खा लो, आगे से फिर देख लेना। इसके बाद फिर विचारतरङ्ग आई कि एक सङ्कल्प करके उसके विपरीत चलना तो थूके को चाटने के समान अत्यन्त नीचकर्म है। मैं ऐसा नहीं करूँगा। बस, थाली में से मांस की कटोरी निकालकर दीवार पर दे मारी। इसके छींटों से अपने कपड़े भी खराब हो गए और मेज़ के दूसरे व्यक्तियों पर भी छींटे पड़े। पास के दूसरे व्यक्तियों ने आश्चर्य में पूछा—'क्या हुआ? कटोरी में मक्खी थी क्या?' इन्होंने उत्तर दिया—'ऐसा तो कुछ नहीं था। मैंने, आज ही प्रातः मांस न खाने का प्रण किया है, इसलिए कटोरी निकाल फेंकी।' इस बात को सुनकर साथियों ने कहा—'इसके लिए भी कटोरी को दीवार पर दे मारने की क्या आवश्यकता थी? आप निकलवा भी तो सकते थे?' मुन्शीराम जी ने हँसते हुए इसका उत्तर दिया कि—'चुपचाप निकलवाने से आप लोगों को कैसे पता चलता कि मैंने मांस छोड़ने की प्रतिज्ञा की है? अभी-अभी मेरा मन यही युक्ति दे रहा था कि तेरे मांस छोड़ने का किसको क्या पता? अब मन को यह युक्ति देने का अवसर तो नहीं मिलेगा। एक प्रकार से कटोरी दीवार को मारकर मैंने अपने मन की भर्त्सना की है।'

इससे यह शिक्षा मिलती है कि बुराई को दृढ़ निश्चय के साथ वीरोचित व्यवहार से ही छोड़ा जा सकता है, बुराई से समझौता करके नहीं, अतः मन्त्र की तीसरी बात हुई कि—"चाहे कुछ हो, मैं पाप का आचरण कभी न करूँ।"

अब मन्त्र की अन्तिम और चौथी बात आई कि—हे संसार के बुद्धिमान् व्यक्तियो! आप जानी हुई सचाई और अच्छाई का प्रचार करें। प्रचार के बिना वह अच्छाई केवल चाहने से नहीं फैलेगी। यह एक

बहुत आवश्यक और विचारणीय विषय है।

मनुष्य एक विचारशील सामाजिक प्राणी है। उस पर अच्छे और बुरे संस्कारों का प्रभाव अवश्य पड़ता है, अत: संसार को सन्मार्ग पर लाने के लिए मनुष्य का पवित्र कर्त्तव्य है कि वह शुभ विचारों का सन्देश दूसरों को देता रहे। यदि इस आवश्यक कर्त्तव्य की उपेक्षा की जाएगी तो कपिल मुनि के शब्दों में—"**उपदेश्योपदेष्टृत्वात् तत्सिद्धिरन्यथान्धपरम्परा**" (सांख्यदर्शन)—अच्छे वक्ता व श्रोता शुभकर्मों के मार्ग को प्रशस्त करने के लिए सद्विचारों के प्रचार में लगे रहते हैं तो संसार में धर्म की वृद्धि होती है, अन्यथा अज्ञान के अँधेरे में स्वार्थ-सिद्धि और भोग का वातावरण तैयार हो जाता है।

इस दासता के अन्धकार में भटकती आर्यजाति को ऋषि दयानन्द ने भारत के अतीत के आधार पर एक दिव्य आलोक दिया। उन्होंने उस अवस्था में भी चक्रवर्ती राज्य का स्वप्न देखा और अतीतकालीन महर्षि मनु का गौरवमय उद्घोष कह सुनाया—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥ —मनु० २।२०

भारत में उत्पन्न हुए विद्वानों ने भूतल के मानव-समाज को आचार और व्यवहार सिखाया। यह जीवट-भरा सन्देश उसी महापुरुष ने मृतप्राय जाति को सुनाकर जीवनदान दिया। रिचर्ड पाल के शब्दों में किसी व्यक्ति की महत्ता की कसौटी उसकी विचार-सरणी ही है—

The greatness of a man or a nation is measured not by the brutal victories attained by him but it is known by the greatness of an ideal. (To the nations)

अर्थात् "किसी मनुष्य अथवा राष्ट्र का बड़प्पन उसके आदर्श की महत्ता से जाना जाता है। बड़े-बड़े राज्यों को जीतने से तथा सारे संसार पर प्रभुत्व जमा लेने से किसी राष्ट्र की सच्ची महत्ता प्रकट नहीं होती।"

विचारों का कितना प्रभाव होता है यह ऋषि दयानन्द के बाद के भारत के परिवर्त्तन से देखना चाहिये। ऋषि के विचारों ने बौद्धिक जगत् में एक हलचल मचा दी, वह भी केवल दस वर्ष के स्वल्पकाल में। संवत् १९२० (सन् १८६३ ई०) में वे स्वामी विरजानन्द जी से दीक्षा लेकर कार्यक्षेत्र में अवतीर्ण हुए और संवत् १९४० (सन् १८८३ ई०) तक काम करने का उन्हें अवसर मिल पाया। इन बीस वर्षों में भी पहले के १० वर्ष तो तैयारी और कार्यशैली निश्चित करने में चले गए। वास्तविक कार्य तो अन्तिम १० वर्षों में हुआ।

उस समय के बालशास्त्री और स्वामी विशुद्धानन्द जैसे पौराणिक विद्वान् ऋषि के विचारों की सत्यता को स्वीकार करते थे। उस सत्यमार्ग को अपनाने के लिए जिस साहस और धैर्य की आवश्यकता थी, उसका

वे अपने में अभाव बताते थे और कहते थे कि—'यह काम तो कोई दयानन्द जैसा फक्कड़ ही कर सकता है।'

ऋषि के प्रचार के विषय में मैडम ब्लेवेट्स्की ने उस युग में एक आकलन किया था—ऋषि के जीवनकाल में ही कम-से-कम ५० लाख व्यक्ति स्वामीजी के आदर्शों से प्रभावित थे और उनके अनुयायी भक्त बन चुके थे। ऋषि के इस अद्भुत व्यक्तित्व को देखकर नवाब हैदराबाद के एक मुसलमान शायर ने लिखा था—

ये आसमाने-पीर[१] गर ले हाथ में शम्सो-क़मर[२]।
चक्कर लगाए दरबदर[३], गाहे-अरब[४] गाहे-अजम[५]।
आफ़ाक़[६] में कोई बशर[७] आए नज़ीर[८] उसकी नज़र।
है ग़ैरमुमकिन[९] सरबसर[१०], ईमान से कहते हैं हम॥

यह थोड़ा-सा दिग्दर्शन तो एक व्यक्ति के प्रचार के प्रभाव का कराया गया है। वेद इस प्रचार के पवित्र काम को प्रत्येक बुद्धिमान् व्यक्ति के कर्त्तव्यों में सम्मिलित करता है। आप कल्पना करिये कि यदि प्रत्येक व्यक्ति इस दायित्व को निभाए तो यह संसार कितना सुख-धाम बन सकता है!

अतः मन्त्र में चौथी बात कही गई कि संसार के विचारशील व्यक्तियों को जानी हुई अच्छाइयों का संसार में प्रचार करना चाहिये।

❑❑

---

१. ब्रह्माण्ड का स्वामी; २. सूर्य-चन्द्र; ३. यहाँ-वहाँ; ४. मक्का-मदीना अरब-स्थल); ५. शेष संसार; ६. विश्व; ७. व्यक्ति; ८. तुलना का, कोई दूसरा; ९. असम्भव; १०. सर्वथा।

(३)

उसी की स्तुति कर

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ २ ३ २ ३ १ २र

प्रेष्ठं वो अतिथिं स्तुषे मित्रमिव प्रियम्। अग्ने रथं न वेद्यम्॥

—साम० ५

ऋषिः—मेधातिथिः॥ **देवता**—अग्निः॥ **छन्दः**—गायत्री॥

अन्वयः—मित्रमिव प्रियं प्रेष्ठं अतिथिं वेद्यं रथं न, अग्नेः वः स्तुषे॥

शब्दार्थ—[हे मनुष्य!] (**मित्रमिव प्रियम्**) मित्र के समान हितसाधक (**प्रेष्ठम्**) अतिप्रिय (**अतिथिम्**) निरन्तर व्यापक (**वेद्यम्**) जानने योग्य अथवा हृदयरूपी वेदी में ध्यान करने योग्य (**रथं न**) रथ के समान सबके आधार और वाहक=पहुँचानेवाले (**अग्नेः**) प्रकाशमान परमात्मा की (**स्तुषे**) तू स्तुति कर।

व्याख्या—मन्त्र के भाव को समझने के लिए उसे दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—पहला भाग जिसे विधिवाक्य कह सकते हैं, मानव-जीवन का मुख्य लक्ष्य है—उस प्रभु की स्तुति के गीत गाना; मन्त्र के शेष भाग में छह विशेषणों के द्वारा उस प्रभु के स्वरूप का दिग्दर्शन कराया गया है—(१) वह प्रभु ही श्रेष्ठ मित्र के समान हितसाधक तथा प्रिय है। (२) वह सबसे अधिक प्रेम करने योग्य है। (३) वह निरन्तर व्यापक है। (४) वही जानने के योग्य और हृदयरूपी वेदी में ध्यान करने योग्य है। (५) वह सर्वाधार है। (६) वह प्रकाश-स्वरूप है।

स्तुषे का अर्थ 'तू स्तुति कर' इतना ही है, किन्तु इसके गहरे भाव को प्रकट करने के लिए इसका अर्थ 'स्तुति के गीत गा' किया गया है। हेतु यह है कि साम है ही गान का विषय। साम का लक्षण शास्त्रकारों ने किया "**गीतिषु सामाख्या**"—ऋचाएँ ही भक्तों के भावावेश की स्वर-लहरी में जब फूटकर बाहर प्रकट होती हैं, तो वे साम बन जाती हैं। उपासना और संगीत का गहरा सम्बन्ध है, अर्थात् जो मनोदशा एक गायक की संगीत को गाने के समय होती है, ठीक वही स्थिति भक्त की भी उपासना में प्रभु-स्मरण के समय होनी चाहिए। उपासक की मनोदशा का अच्छा चित्र खींचा है गोस्वामी तुलसीदास ने—

हिय फाटउ फूटउ नयन, जरउ सो तन केहि काम।
द्रवै स्रवै पुलकै नहीं, तुलसी सुमिरत नाम॥

वह हृदय फट जाय जो प्रभु का नाम लेते ही द्रवित नहीं होता। वे आँखें फूट जायँ जो भगवान् को याद करने पर प्रेम के झरने नहीं

बहातीं। वह शरीर जो उसका नाम लेते ही पुलकित नहीं हो उठता, भस्म हो जाय। एक उर्दू शायर ने भी अच्छा कहा है—

दिल वो क्या जिसको नहीं तेरी तमन्नाए-विसाल[१] !
चश्म[२] क्या जिसको तेरे दीद[३] की हसरत[४] ही नहीं॥

इसलिए गाने के बिना स्तुति प्राण-विहीन शरीर के समान है। उसमें रस का सञ्चार तो तभी होगा जब गायक की स्वर-साधना का समा बँधेगा। गम्भीरता से विचार करके देखा जाय तो गाना केवल अलापने और स्वर के आरोह-अवरोह और तान-मूर्च्छना का नाम नहीं है। लोक में एक कहावत है कि—'गाना और रोना तो सबको आता है।' यदि गाना संगीत-विद्या का नाम होता तो वह सभी को कैसे आ सकता है? इससे परिचित तो वे ही होते हैं जो इसको विधिपूर्वक सीखते हैं। वस्तुतः गाना और रोना, दोनों ही पारिभाषिक शब्द हैं। गाने की परिभाषा यह है कि—''मनुष्य के हृदय में उल्लास की उमङ्ग उठकर अपने अन्दर न समाकर स्वर का सहारा लेकर बाहर झलक पड़े, उसे गाना कहते हैं।'' इस स्थिति में मनुष्य गुनगुनाने के लिए विवश है और हममें से कोई भी ऐसा न मिलेगा जो गाता न हो। चाहे वह स्नानागार में गाए, चाहे गली में चहलकदमी करते हुए, चाहे उसे कोई तर्ज़ आती हो अथवा न आती हो और चाहे सुननेवाले उसे बिल्कुल पसन्द न कर रहे हों, किन्तु वह गाता है। तो गाने का वास्तविक स्वरूप हुआ—''उल्लास का विकास।'' इसी प्रकार रोने की परिभाषा यह है—''मानसिक व्यथा और कष्ट नियन्त्रण के बाहर होकर जब आँसुओं का सहारा लेकर बाहर फूट पड़े, उस स्थिति का नाम रोना है।'' यद्यपि साहित्य में प्रेमाश्रुओं का वर्णन है, वह सभी के अनुभव का विषय भी है। जब चिर-वियोग के बाद कोई भी स्नेही जन परस्पर मिलते हैं, तो आँखों में आँसू छलक आते हैं, किन्तु प्रेम में आकर हिचकियाँ भरकर कोई नहीं रोता। वह रुदन तो कष्ट का ही सूचक होता है। इस बात को रहीम ने बहुत सुन्दर रूप में कहा है—

रहिमन अँसुआ नयन ढरि, जिय-दुख प्रगट करेइ।
जाहि निकारो गेह ते, कस न भेद कह देइ॥

एक शायर ने भी प्रकारान्तर से यही बात कही है—

इन्हें आँसू समझकर यूँ न मिट्टी में मिला ज़ालिम!
पयामे-दर्दे-दिल[५] है और आँखों की ज़ुबानी है॥

इस परिप्रेक्ष्य में स्पष्ट है कि स्तुति तबतक अपने वास्तविक धरातल पर नहीं आती जबतक कि उसमें संगीत की मादकता न हो।

बहुत-से व्यक्तियों की यह धारणा है कि ईश्वर-भक्ति के लिए

१. मिलनेच्छा, २. आँख, ३. दर्शन, ४. लालसा, ५. मन की पीड़ा का मूर्त सन्देश।

दु:ख आवश्यक है। जबतक मनुष्य दु:खी नहीं होता, तबतक उसमें भक्ति की भावना नहीं पनपती। इस विचार का मूल गीता का यह श्लोक है—

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्त्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥ —गीता ७।१६

श्री कृष्ण अर्जुन को कह रहे हैं कि चार प्रकार के लोग ईश्वर का भजन करते हैं—(१) दु:खी, (२) सत्यासत्य की खोज करनेवाले, (३) सम्पत्ति चाहनेवाले, (४) वास्तविकता को पहचाननेवाले विवेकी। लोग सामान्यतया इस श्लोक में आर्त्त, दु:खी को पहले देखकर इस भ्रम में पड़ जाते हैं कि ईश्वर-भक्ति के लिए दु:ख अनिवार्य है। वस्तुत: बात यह नहीं है। दु:खी के प्रति भक्त के मन में करुणा और सहानुभूति तो होनी चाहिये, इसके बिना तो संसार नरक बन जाएगा। उर्दू के प्रसिद्ध शायर जिगर ने कहा है—

जबतक कि ग़मे-इन्साँ[1] से जिगर इन्सान का दिल मामूर[2] नहीं,
जन्नत[3] ही सही दुनिया, लेकिन, जन्नत से जहन्नुम[4] दूर नहीं।

किन्तु दु:ख और आपत्ति का मारा हुआ ही भगवान् का नाम लेता हो, तो उस कष्ट के निवृत्त होने पर वह उसे भूल भी जाएगा। प्राय: संसार में यही होता है। एक मनोरञ्जक कहानी है कि एक मीरासी नदी को पार करने लगा तो पहले डर से भगवान् को प्रसन्न करने के लिए सङ्कल्प किया कि सकुशल पार होने पर ५ रुपये का प्रसाद बाँटूँगा। अब वह निश्चिन्त होकर नदी में चलने लगा और लगभग नदी पार कर ली; केवल दो-तीन गज़ की धारा और शेष बची थी, किन्तु नदी में पानी घुटने से ऊपर था ही नहीं। मीरासी के मन में विचार आया कि पाँच रुपये बेकार खो दिये; नदी में तो पानी ही न निकला! संयोग की बात, यह सोचते ही नदी में गढ़ा आ गया और वह गर्दन तक उसमें डूब गया। यह देखकर मीरासी घबराया। सोचने लगा कि सम्भवत: मेरे मन में जो नास्तिकता के भाव आए, यह उसी का परिणाम है। कहीं ऐसा न हो कि डूब ही जाऊँ! हड़बड़ाहट में एकाएक पलटकर बोला कि जो प्रसाद बोल दिया है, वह तो बाँटूँगा ही, यह बात तो मैंने वैसे ही कह दी थी। स्पष्ट है कि दु:खी तबतक ही भक्ति दिखाता है, जबतक कष्ट है। कष्ट के हटने पर दुनिया की रङ्गरेलियों में मस्त हो जाता है। ठीक कहा है किसी शायर ने—

जो डरकर नारे-दोज़ख़[5] से, ख़ुदा का नाम लेते हैं।
इबादत[6] क्या, वो ख़ाली बुज़दिलाना[7] एक ख़िदमत[8] है॥

वस्तुत: भक्ति क्या है?

---

१. मानवी दु:ख, २. प्रभावित, संयुक्त, तल्लीन,
३. स्वर्ग, ४. नरक, ५. नरक की आग, ६. उपासना,
७. कायरों जैसी, ८. गिड़गिड़ाहट,

मगर जब शुक्रे-नेऽमत[1] में जबीं[2] झुकती है बन्दे की।
वो सच्ची बन्दगी है, इक शरीफ़ाना[3] इताअत[4] है॥

प्रभु के अगणित उपकारों को स्मरण कर कृतज्ञ मन जब उसका धन्यवाद देने के लिए झुकता है, तभी वस्तुतः स्तुति और भक्ति होती है। ऋषि दयानन्द ने भी सत्यार्थप्रकाश में यही कहा कि प्रभु-प्रेम में गद्‌गद होकर भगवान् का भजन करना चाहिए। केवल दुःख में प्रभु का स्मरण करनेवाला तो सबसे निकृष्ट कोटि का भक्त है। उससे कुछ अच्छा 'अर्थार्थी' अर्थात् सम्पत्ति की लालसा में भगवान् का नाम लेनेवाला है। किन्तु इसकी भी स्थिति सम्पत्ति आते ही वैसे ही हो जाएगी जैसी पहले की थी। इससे अधिक उत्तम भक्त 'जिज्ञासु', अर्थात् सत्यान्वेषी है। वह जिस-जिस सत्य को परखता जाता है, उस पर आचरण के लिए आरूढ़ होता जाता है। जब उसे अपनी वैज्ञानिक खोजों के बाद प्रभु के सृष्टिकर्त्ता होने का विश्वास हो जाता है, तब वह भक्ति की ओर उन्मुख होता है। किन्तु इन सब में श्रेष्ठ और वास्तविक भक्त 'ज्ञानी' है। वह जीवन का चरमलक्ष्य समझकर ही प्रभु का स्मरण करता है।

इसलिए मन्त्र में पहली बात कही कि तेरे जीवन की सार्थकता उसकी स्तुति के गीत गाने में है।

मन्त्र में दूसरी बात है—''मित्रमिव प्रियम्''=वह मित्र के समान हित-साधक है। संस्कृत की 'ञिमिदा स्नेहने' धातु का मित्' और 'त्रैङ् रक्षणे' धातु का 'त्रै' इस प्रकार दोनों के योग से 'मित्र' शब्द बना। वह स्नेह जो अपना और अपने सम्पर्क में आनेवाले (दोनों) का त्राण—उद्धार करनेवाला हो। इस उच्चस्तर पर मित्रता करनेवाले संसार में बड़े सात्त्विक-धार्मिक महापुरुष ही हो सकते हैं। दुनियादारी की दृष्टि से भी मित्रता का विश्लेषण किया जाय तो वह होगा—'स्वार्थ-साधन का उचित गठबन्धन'। दो व्यक्तियों के परस्पर स्वभाव मिलते हों, इसी समान शील और व्यसन के कारण एक-दूसरे के सुख-दुःख में, शादी-ग़मी में शामिल होते हों और यही क्रम कुछ लम्बे समय तक चलता रहे तो संसार की बोल-चाल की भाषा में ये दोनों मित्र कहलाएँगे, किन्तु इस सम्बन्ध-सूत्र को सुरक्षित रखने के लिए सम्पत्ति और पद आदि की समानता का स्तर अनिवार्य है। राजा और रङ्क की, मूर्ख और विद्वान् की मित्रता कभी नहीं चल सकती। इसमें द्रुपद और द्रोण का उदाहरण पर्याप्त है। यह भी संसार की दृष्टि से कोई बुरी बात नहीं है। कल्पना कीजिये—हमारा कोई व्यवसायी मित्र आर्थिक सङ्कट में आ गया। उसे फैक्ट्री को सन्तुलित करने के लिए एक-साथ पाँच लाख रुपये की आवश्यकता है। मित्र के हित की दृष्टि से हम उसका उद्धार भी चाहते हैं, किन्तु अपनी आर्थिक स्थिति ऐसी है कि पाँच लाख की तो बात

---

१. प्रभु-कृपा के लिए कृतज्ञता, २. माथा, ३. सभ्यों जैसी, ४. आधीनता।

ही क्या, पाँच हज़ार जुटाना भी कठिन है। तब हम अपने मित्र की चाहते हुए भी कोई सहायता नहीं कर सकते, अतः किसी नीतिकार ने बड़े पते की बात लिखी कि—"**गजानां पङ्कमग्नानां गजा एव धुरंधराः**"— दलदल में फँसे हाथी को निकालने के लिए हाथी ही अपेक्षित है। हम और आप उसे खींचकर निकालना चाहें तो नहीं खींच सकते।

पर आज के संसार की मित्रता जितना डुबाती है, उतना उबारती नहीं। शास्त्रकारों ने अच्छे मित्रों के छह लक्षण गिनाए हैं—

पापान्निवारयति योजयते हिताय,
गुह्यं च गूहति गुणान् प्रकटीकरोति।
आपद्‌गतं च न जहाति ददाति काले,
सन्मित्रलक्षणमिदं प्रवदन्ति सन्तः॥

मित्र का पहला कर्त्तव्य है कि निरन्तर सम्पर्क के कारण अपने मित्र के जीवन की जो बुराई पता लगे, उसे छोड़ने के लिए प्रेमपूर्वक प्रेरणा करे, किन्तु आज स्थिति यह है कि स्वयं हम जिस व्यसन में लिप्त हैं, मित्र को भी उसी कीचड़ में घसीटते हैं। स्वयं सिगरेट पीते हैं तो प्रयत्न यही होता है कि हमारा मित्र भी साथ देने लगे। मित्रों को सिनेमा देखने की दावत देना और आग्रहपूर्वक घसीट ले-जाना तो शिष्टाचार का अङ्ग बन गया है। किन्तु अच्छे मित्र का कर्त्तव्य यही है कि वह मित्र को दुष्कर्म छोड़ने की प्रेरणा करता रहे।

मित्र का दूसरा कर्त्तव्य है कि बुराई को छुड़ाकर ही सन्तुष्ट न हो जाय, "**योजयते हिताय**"—भलाई के कामों में उसे लगावे भी। दुष्कर्म की बीमारी को छोड़ने का पूरा उपचार भी यही है, क्योंकि मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त है कि—"Man Cannot remain Stationary, he must either improve or impair"—मनुष्य कभी एकरस नहीं रह सकता, या तो वह उन्नति की ओर अग्रसर होगा अथवा अवनति की ओर लुढ़केगा। बुराई के दुःसंस्कारों से पीछा तो तभी छूटेगा जब बुराई के स्थान की पूर्त्ति अच्छाई से होगी, अतः मित्र को बुराई से हटाकर भलाई में लगावे।

मित्र का तीसरा कर्त्तव्य है—"**गुह्यं च गूहति**"—छिपाने के योग्य बात को छिपावे। जब यह अनुभव हो कि मेरा मित्र अपनी कमियों को दूर करने के लिए तो प्रयत्नशील है, फिर भी कभी कोई भूल हो जाती है, तो वह क्षन्तव्य है। इस अवस्था में मित्र की बातों की अनदेखी कर देनी चाहिए। पर आजकल के मित्रों का यह पक्ष अत्यन्त दुर्बल है। वे मित्र की बातों का यह कहकर कि—'हमारे मित्र हैं, हमसे उनकी कोई बात छिपी नहीं है' या 'और किसी को तो हम कहते नहीं, किन्तु आपसे कोई बात छिपाई नहीं जा सकती', आदि बातें सभ्यजनोचित भाषा में कहकर मित्र के दोषों का सारी बस्ती में ढिंढोरा पीट देते हैं। ऐसे मित्र शत्रुओं से भी अधिक भयङ्कर होते हैं।

मित्र का चतुर्थ कर्त्तव्य है—''**गुणान् प्रकटीकरोति**''—मित्र के गुणों का समाज में वर्णन करे। इससे उसे और अधिक शुभकर्म करने की प्रेरणा मिलेगी। अब आगे पाँचवाँ कर्त्तव्य कहा—''**आपद्गतं च न जहाति**''—विपत्ति में घिरे मित्र की कभी उपेक्षा न करे। जितना अपना सामर्थ्य हो, उसके कष्ट-निवारण में लगावे। छठा कर्त्तव्य है—''**ददाति काले**''—मित्र को यदि आर्थिक सहयोग की आवश्यकता है तो अवश्य दे। बुरे दिन किसी के सदा नहीं रहते। यदि आप सङ्कट में किसी की सहायता करते हैं, तो इससे मित्रता की जड़ें पाताल तक पहुँच जाती हैं। एक प्रकार से मित्रता की परख विपत्ति ही में होती है। इस विषय में ऋग्वेद में बहुत उत्तम परामर्श दिया गया है—

न स सखा यो न ददाति सख्ये सचाभुवे सचमानाय पित्वः।
अपास्मात् प्रेयात् न तदोकोऽस्ति पृणन्तमन्यमरणं चिदिच्छेत्॥

—ऋ० १०।११७।४

सहायता के इच्छुक मित्र की समय पर जो सहायता नहीं करता वह मित्र ही नहीं है। ऐसे मित्र को छोड़कर विपत्ति में सहायक किसी दूसरे मित्र को खोजना चाहिए।

किसी उर्दू शायर ने भी बहुत सुन्दर कहा है—

ज़वाले-जाहोदौलत[1] में बस इतनी बात अच्छी है,
कि दुनिया को बख़ूबी आदमी पहचान लेता है।

तुलसीदासजी ने भी बहुत अच्छा कहा है—

जे न मित्र-दुख होहिं दुखारी, तिनहिं बिलोकत पातक भारी।

महात्मा भर्तृहरि के गिनाए सन्मित्रों के उक्त लक्षण उच्चकोटि के धर्मात्माओं में ही मिल सकते हैं। सामान्यजन तो आपाधापी और स्वार्थ-साधन की उधेड़बुन में ही लगे रहते हैं। किन्तु सच्चे मित्र के पूर्ण लक्षण भगवान् में ही चरितार्थ होते हैं। मित्र का पहला लक्षण बताया—पाप से बचाए। सांसारिक मित्र तो पाप करने पर ही उससे बचने का परामर्श देगा, किन्तु वह प्रभु तो ऐसा अन्तर्यामी मित्र है कि मन में ज्यों ही कोई बुरे संस्कार उदित होते हैं, उसी समय भय, शङ्का और लज्जा के भाव पैदा करके उस बुराई से बचने की प्रेरणा करता है। उसी प्रकार अच्छा काम करने का विचार आते ही उल्लास और हर्ष की तरङ्ग-सी मन में उठती है। यह प्रेरणा भी प्रभु की ओर से ही है। भले कामों में प्रेरणा करने का जो मित्र का दूसरा लक्षण है, वह भी प्रभु पर ही घट रहा है। तीसरा लक्षण है छिपाने योग्य बात को छिपावे। इसमें तो मनुष्य के ऊपर भगवान् की असीम कृपा है। हमारा कोई भी दुर्विचार और दुर्व्यसन ऐसा नहीं है जिसे भगवान् जानता न हो। फिर भी न केवल

---

१. धन-सम्पत्ति के विनाश।

उसे गुप्त रखता है, अपितु दया और सहिष्णुता का वरदहस्त भी उसका हमारे ऊपर सदा बना रहता है। यदि हम एक-दूसरे के उन गुप्त भावों से परिचित हो जाएँ तो बखेड़ा खड़ा हो जाय। श्रीमान् जी, आदरणीय और पूज्य के चिकने-चुपड़े विशेषण धरे रह जाएँगे। ठीक कहा है किसी शायर ने—

ये ख़ूब[१] क्या है, ये ज़ीस्त[२] क्या है, जहाँ[३] की अस्ली सरिश्त[४] क्या है?
बड़ा मज़ा हो तमाम चेहरे अगर कोई बेनक़ाब कर दे॥

मित्र का चौथा गुण कि 'मित्र के सद्‌गुणों को प्रकट करे, उनकी सराहना करे'—इस विषय में भी सज्जनों पर प्रभु-कृपा होती है। संसार में उत्तम कोटि के व्यक्ति नाम और यश की भावना से कोई काम नहीं करते, अपितु अपना कर्त्तव्य समझकर उसका आचरण करते हैं। जैसाकि कहा है—''**ददामि देयमित्येव यजे यष्टव्यमित्युत**''—देना मेरा कर्त्तव्य है यह समझकर देता हूँ और यज्ञ भी अपना धर्म समझकर करता हूँ, नाम और यश के भाव से नहीं। किन्तु संसार में एक भी उदाहरण ऐसा नहीं है जब किसी के सदाचरण की सुगन्ध संसार में न फैली हो और लोग उससे अपरिचित रहे हों। ठीक लिखा है उर्दू के महान् शायर अकबर ने—

निगाहें कामिलों[५] पर पड़ ही जाती हैं ज़माने की।
कहीं छिपता है 'अकबर' फूल पत्तों में निहाँ[६] होकर?

अतः प्रभु अपने ढङ्ग से हमारे गुणों का प्रकाश भी करता है।

पाँचवाँ गुण—''विपद्-ग्रस्त मित्र को सहारा दे, उसकी उपेक्षा न करे।'' इसमें भी प्रभु ही पूर्ण हैं। ठीक है कि दुष्कर्म के फलस्वरूप विपत्ति भी प्रभु-व्यवस्था से ही आती है, किन्तु उस विपत्ति का लक्ष्य सुधार करना है, केवल कष्ट देना नहीं। पर साथ ही विपत्ति के समय जो धैर्य और दृढ़ता आती है, वह प्रभु का ही वरदान है। कई बार आपत्ति की घटा उतर जाने पर अपने धैर्य और अपनी शान्ति पर स्वयं को आश्चर्य होता है। अन्तिम लक्षण मित्र को देने का है। इसमें तो वह प्रभु कमाल ही करते हैं। यदि हमारा दुष्कर्म कोई बाधक न हो तो उसे निहाल करते देर नहीं लगती—

तेरे करम[७] में कमी कुछ नहीं, करीम[८] है तू।
कुसूर मेरा है झूठा उमीदवार हूँ मैं॥

मन्त्र में प्रभु के विशेषणों में दूसरा है '**प्रेष्ठम्**'। वह सबसे अधिक प्रेम करने योग्य है। संस्कृत व्याकरण में तमप् और इष्ठन् प्रत्यय अतिशय के अर्थ में आते हैं, अर्थात् जहाँ पराकाष्ठा हो। अंग्रेज़ी के भी बेस्ट, बिग्गेस्ट और ग्रेटेस्ट आदि शब्दों में अतिशय के अर्थ का द्योतक वही

---

१. सुन्दरताएँ; २. जीवन; ३. दुनिया, ४. हस्ती, ५. सर्वाङ्ग-सम्पूर्ण, सर्वशक्तिमान्, निष्कलङ्क सुन्दरियों, ६. गुप्त, ७. कृपा, ८. कृपालु।

'इष्ठन्' प्रत्यय है। इस अतिशय प्रेम का पात्र वह प्रभु ही है। सांसारिक माता-पिता, भाई-बन्धु आदि सब सामान्य सद्व्यवहार और प्रेम के पात्र हैं। ये सब रिश्ते मिथ्या और झूठे हैं—वेद यह नहीं मानता, क्योंकि वेद ने स्वयं किसके साथ कैसा व्यवहार हो, यह उपदेश दिया है—

अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या। —अथर्व० ३।३०।१

अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः।

जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिवाम्॥ —अथर्व० ३।३०।२

मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन् मा स्वसारमुत स्वसा। —अथर्व० ३।३०।३

यदि वेद की दृष्टि में ये सब सम्बन्ध मिथ्या होते तो वेद कर्त्तव्य-पालन का उपदेश क्यों देता? वेद का आशय यह है कि ये सब सांसारिक सम्बन्ध क्षणिक हैं। एक समय था जब ये सम्बन्ध नहीं थे और एक समय आएगा जब ये सम्बन्ध नहीं रहेंगे। इन सम्बन्धों का जन्म हमारे शरीर के साथ होता है और शरीर की समाप्ति के बाद सम्बन्धों का नाम भले ही रह जाय, वास्तव में सम्बन्ध नहीं रहता। प्रभु से हमारा सम्बन्ध सदा से है और सदा रहेगा, अतः उसके साथ परम प्रेम का अर्थ है—सर्वस्व की बाज़ी लगाकर भी धर्म के मार्ग पर आरूढ़ होना, यही उसको अतिशय प्रेम करना है, जैसा कि महर्षि व्यास ने महाभारत में कहा है—

न जातु कामान्न भयान्न लोभात्, धर्मं त्यजेत् जीवितस्यापि हेतोः।
धर्मो नित्यः सुखदुःखे त्वनित्ये जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः॥

—महाभारत ५।४०।११

"किसी अवस्था में भी काम और लोभ के वशीभूत होकर अथवा भय से भी संत्रस्त होकर तथा मृत्यु का सङ्कट उपस्थित होने पर भी धर्म का परित्याग न करे। जीवात्मा अमर है और धर्म भी शाश्वत है। सुख-दुःख और दूसरे अन्यान्य कारण सब अनित्य हैं।"

तीसरा विशेषण है—**'अतिथिम्'**—वह सर्वव्यापक है। अतिथि शब्द का सर्वव्यापक अर्थ समझने के लिए 'तिथि' शब्द को समझना चाहिए। चन्द्रमा के माध्यम से जहाँ महीने का हिसाब रखा जाता है, वहाँ तिथियों में प्रतिपदा, द्वितीया और तृतीया के आधार पर मास का परिगणन होता है। इन तिथियों में कभी किसी पक्ष में कोई तिथि घट जाती है और कोई बढ़ जाती है। आपाततः यह घटने-बढ़नेवाली बात विचित्र-सी लगती है। जब सूर्य और चन्द्र नियमित रूप से उदित और अस्त हो रहे हैं, दिन और रात का क्रम यथावत् जारी है तो फिर तिथि घट कैसे गई? यही प्रश्न तिथि बढ़ने के विषय में भी है। वस्तुतः उस प्रकार से तिथि न घटती है, न बढ़ती है। जितने समय को ज्योतिष के हिसाब से एक सीमा में बाँध दिया जाता है, उसे तिथि कहते हैं। गणित के हिसाब से २४ घण्टे से कम की सीमा निर्धारित हुई तो यह तिथि

का बढ़ना हो गया और वही समय की सीमा ३६ अथवा और अधिक घण्टे की निर्धारित हुई तो समय का घटना हो गया। सार यह निकला कि जिसकी सीमा नियत हो उसे तिथि कहते हैं, चाहे वह सीमा स्थान की हो अथवा समय की; और जिसकी देश और काल की कोई सीमा न हो, अर्थात् जो सब काल और सब स्थानों पर हो उसे कहेंगे—'अतिथि'। इस प्रकार अतिथि शब्द का अर्थ हुआ सर्वव्यापक।

एक आस्तिक के लिए प्रभु को सर्वव्यापक समझना अत्यन्त आवश्यक है। यदि स्थान-विशेष में उसकी कल्पना की जाएगी तो साधक के लिए पथभ्रष्ट होने की आशंकाएँ पग-पग पर रहेंगी। उसकी सुरक्षा इसी में है कि प्रत्येक स्थान पर सर्वज्ञ सर्वकर्मफल-प्रदाता परमेश्वर को अनुभव करे। उसके मन में निश्चय होना चाहिए कि वह मेरे अच्छे और बुरे सब आचरणों को जानता है। यह कर्मों का साक्षी भी ऐसा है कि उन कर्मों के अनुसार फल की व्यवस्था करता है। इस व्यवस्था में कभी भी कोई व्यतिक्रम नहीं हो सकता, यह निश्चय होने पर मनुष्य पाप से बचता है। इसके विपरीत मस्जिद, मन्दिर और स्थान-विशेष में जब मनुष्य उसकी स्थिति स्वीकार करता है तो स्वाभाविक रूप से प्रभु के घर कहलानेवाले स्थानों में जाते अथवा वहाँ रहते समय जो उसके मन की पवित्रता है, वह उस चारदीवारी के बाहर न रहेगी और उसके पतन की भी पूरी सम्भावनाएँ रहेंगी।

ऋषि दयानन्द ने साकार उपासना का जो खण्डन किया, उसमें एक मुख्य कारण यह भी है। मनुष्यों ने प्रभु के विषय में अपनी स्थिति के आधार पर कल्पना कर डाली। प्रभु सब देखता है, इसके आधार पर सोचता है कि भगवान् के चारों ओर आँखें होती होंगी, तभी तो वह चारों ओर देख सकता है, अतः चार मुखों की कल्पना हुई। प्रभु बहुत शक्तिवाला है, इस आधार पर अनेकों भुजाओं की कल्पना हुई। यहीं तक नहीं, सोचा कि हमें पेड़ा खाने में बहुत स्वादिष्ट लगता है तो ऐसी बढ़िया वस्तु भगवान् को भी रुचिकर होगी। मेवा और मिठाई मूर्त्ति पर चढ़ा दी। मांसाहारियों ने काली पर शराब और मांस चढ़ा दिये। भङ्गड़ियों ने महादेव पर भाँग चढ़ा दी। यह सब बुराई प्रभु को स्थान-विशेष पर कल्पित करके अपनी रुचि उस पर थोप देने से उत्पन्न हुई है।

प्रभु का शुद्ध स्वरूप समझे बिना मनुष्य में विचार और आचार की पवित्रता कभी नहीं आ सकती। स्वार्थ-सिद्धि के लिए प्रभु-भक्ति संसार में प्रायः होती है, किन्तु प्रभु के स्वरूप को समझकर अपने कर्त्तव्य का निष्ठा से पालन वही कर सकता है, जो उसे संसार में सर्वत्र अनुभव करता है। इस सम्बन्ध में गोस्वामी तुलसीदास के जीवन की रोचक और उपदेशप्रद किंवदन्ती है—

गोस्वामीजी विरक्त होकर घरबार त्यागकर निकले ही थे। एक बार

रात्रि को विश्राम करके आधी रात से पहले ही चल पड़े। बस्ती से आगे कुछ ही दूर पर उन्हें आठ-दस व्यक्ति मिले, जो चोर थे। इनको देखकर चोरों के मुखिया ने कहा कि—'लो, बोहनी तो इससे ही कर लो। जो इसके पास हो, छीन लो!' यह सुनकर दो चोर यात्री के पास आए और देख-दाखकर कहने लगे—'है तो इसके पास कुछ नहीं।' चोरों के मुखिया ने गोस्वामीजी से पूछा—'तुम कौन हो?' ये तो वैराग्य के नशे में थे ही, उत्तर दिया—'जो तुम हो सो हम हैं।' अभिप्राय था—तुम भी मनुष्य हो, मैं भी एक मनुष्य हूँ। किन्तु चोरों के शब्दकोश के आधार पर इसका यह अर्थ हुआ कि मैं भी एक चोर हूँ। इस उत्तर पर स्वाभाविक रूप से विश्वास इसलिए जम गया कि और कौन रात्रि को सुख की नींद छोड़कर अन्धकार में ठोकरें खाता फिरेगा? चोरों के नेता ने कहा—'यदि तू भी वही है जो हम हैं, तो आज की रात हमारे साथ मिलकर काट ले।' इस पर गोस्वामीजी उनके साथ हो लिये। चोर भी जिस गाँव में, जिस घर में उन्हें नक़ब लगानी थी, वहाँ पहुँचे। नेता ने सबकी ड्यूटियाँ—कौन अन्दर जाएगा, कौन बाहर रहेगा आदि-आदि बाँट दीं। इस क्रम में गोस्वामीजी को बाहर रहकर निगरानी का काम सौंपा। साथ ही यह भी कहा कि—'देखो, लोग जग जावें अथवा और कोई खतरे की बात हो तो चिल्ला मत पड़ना! खुदी हुई मिट्टी की मुट्ठी भरके अन्दर फैंक देना। इससे हम समझ लेंगे कि खतरा है।' गोस्वामीजी ने कहा कि—'यही करूँगा।'

चोर नक़ब लगाकर अन्दर चले गए। वे यह देखते फिर रहे थे क़ि कौन-सा ताला तोड़ें, क्या-क्या लें? गोस्वामीजी बाहर खड़े सोचने लगे कि—मुझे यह काम सौंपा गया है कि अगर हमारे साथियों को कोई देखनेवाला हो तो मैं मुट्ठी-भर मिट्टी अन्दर फैंककर उन्हें सूचित कर दूँ। विचार आया कि—यह तो ठीक है कि इन्हें कोई मनुष्य नहीं देख रहा, पर वह भगवान् तो देख रहा है जो सब जगह व्यापक है। बस, इस विचार के आते ही मुट्ठी भरके मिट्टी अन्दर फैंक दी। 'चोरों के पैर नहीं होते' कहावत है ही। उन्होंने अनुमान लगाया कि लोग जाग गए दीखते हैं, इसलिए भागना चाहिये। सब निकल-निकलकर भागे। साथियों को भागता देखकर गोस्वामीजी ने भी दौड़ लगाई। सब भागकर बस्ती से बाहर किसी सुरक्षित स्थान पर इकट्ठे हुए तो चोरों के नेता ने गोस्वामीजी से पूछा—'क्या बात थी? लोग जाग गए थे?' उत्तर मिला 'नहीं।' 'और कोई खतरा था?' गोस्वामीजी ने फिर 'नहीं' कहा। इन उत्तरों से क्षुब्ध होकर चोरों के नेता ने कहा—'यह पागल कहाँ से साथ लगा लिया! इसने बना-बनाया सब काम बिगाड़ दिया!' अभिप्राय यह कि सर्वत्र प्रभु की व्यापकता को समझे बिना कोई मनुष्य पाप से नहीं बच सकता।

चतुर्थ विशेषण है—'**वेद्यम्**'। व्युत्पत्ति के आधार पर 'वेद्यम्' शब्द का एक अर्थ है—'**वेत्तुम् योग्यम्**'—जानने के योग्य, और दूसरा अर्थ है—'**वेद्यां भवं वेद्यम्**'—उसका ज्ञान हृदयरूपी वेदी में ही हो सकता है।

पहली बात—वही जानने योग्य है। जिसने बहुत-कुछ पढ़ लिया और उसे नहीं जाना, तो कुछ नहीं जाना, क्योंकि शास्त्रकारों ने विद्या की परिभाषा यह की है—'**सा विद्या या विमुक्तये**'—विद्या वह है, जो दुःखों से छुड़ा दे। जो और दुःखों को लाद दे, वह विद्या नहीं, अविद्या है। आत्मज्ञान-शून्य कोरा शब्द-ज्ञान दुःख का ही कारण है। उस शब्द-ज्ञान का पहला दुष्परिणाम दुरभिमान के रूप में आता है। बड़े-बड़े विद्वान्, जबतक उनकी ज्ञानधारा परमार्थ की ओर नहीं मुड़ती, तबतक वे घमण्ड के नशे में चूर रहते हैं। उनका ज्ञान उनको चैन से नहीं बैठने देता। उदाहरण के लिए महाराज भर्तृहरि को देखिये। ये संस्कृत व्याकरण के धुरन्धर पण्डित थे। महावैयाकरण महाभाष्य के रचयिता पतञ्जलि को भी तुच्छ समझकर भर्तृहरि ने कह दिया था—"**मामदृष्ट्वा गतः स्वर्गमकृतार्थः पतञ्जलिः**"—पतञ्जलि मुझे देखे बिना मर गया तो अकृतार्थ ही रहा; यदि वह मुझे देख लेता तो पता चलता कि व्याकरण का पाण्डित्य क्या होता है। किन्तु आगे चलकर संसार की ठोकरें खाकर जब उनकी अन्दर की आँखें खुलीं तो दुनिया ही बदल गई। यह आपबीती उन्होंने स्वयं लिखी है—

यदा किञ्चिज्ज्ञोऽहं द्विप इव मदान्धः समभवम्
तदा सर्वज्ञोऽस्मीत्यभवदवलिप्तं मम मनः।
यदा किञ्चित्-किञ्चिद् बुधजनसकाशादवगतम्
तदा मूर्खोऽस्मीति ज्वर इव मदो मे व्यपगतः॥

'जब मैं बहुत थोड़ा जानता था, तब मैं उस ज्ञान के घमण्ड में हाथी के समान मदान्ध हो गया था। उस समय दर्पातिरेक से मैं अपने-आपको सर्वज्ञ समझता था। किन्तु आत्मज्ञानी विद्वानों की संगति से मुझे अब कुछ-कुछ ज्ञान हुआ है तो अब धारणा यह बनी है कि मैं तो मूर्ख हूँ और मेरा सारा घमण्ड ज्वर के समान उतर गया है।'

यही अवस्था सारे संसारियों की है। स्पष्ट है कि यह विद्या दुःख से छुड़ा नहीं रही, अपितु और सङ्कट में उलझा रही है। ऐसी पढ़ाई-लिखाई से तो मूर्खता कहीं अच्छी है। एक संस्कृत के कवि ने एक श्लोक में—"**मूर्खस्य चाष्टौ गुणाः**" मूर्ख की आठ विशेषताएँ गिनाई हैं—अधिक खाना, अधिक सोना, निश्चिन्त रहना, मानापमान को महत्त्व न देना आदि। तो ऐसी पढ़ाई से क्या लाभ जिससे मनुष्य निरा स्वार्थी बना रहे? इसलिए विद्या वही है जो दुःख से छुटकारा दिला दे। अतः मन्त्र में कहा—'**वेद्यम्**'—वही जानने योग्य है। 'वेद्यम्' का दूसरा अभिप्राय है कि उसे जानने के लिए कहीं बाहर भटकने की आवश्यकता

नहीं है, वह हृदय-मन्दिर में जाना जाता है, क्योंकि वही एक ऐसा स्थान है, जहाँ जीवात्मा और परमात्मा दोनों विद्यमान हैं। परमात्मा भले ही सर्वव्यापक है, किन्तु जीवात्मा शरीर में भी व्याप्त नहीं है। उसका अधिष्ठान केवल हृदय है। अतः साधना से अविद्यादि दोषों को दूर करके उसके दर्शन के अधिकारी बनो। अपनी मोटी भाषा में कबीर ने ठीक कहा है—

कबिरा मन निर्मल भये, जैसे गंगानीर।
पाछे लागा हरि फिरै, कहत कबीर-कबीर॥

स्वामी सर्वदानन्द जी इस प्रसङ्ग में निम्न शे'र प्रायः कहा करते थे—

ढूँढता किस वास्ते ग़ाफ़िल ये घर-घर देखता,
पहले ही ज़ेरे-बग़ल[1] गर अपना दिलबर देखता।
साफ़ कर देता अगर सीने के आईने का ज़ंग,
चेहरा-ए-तस्वीर से शक्ले-मुनव्वर[2] देखता।
सैकड़ों पर्दों से वो पर्दानशीं आता नज़र,
पर्दा आँखों का अगर ग़ाफ़िल उठाकर देखता।

अब पाँचवाँ विशेषण है—**'रथं न'**। यहाँ 'न' उपमार्थक है। जैसे सवार का आधार रथ होता है, उसी प्रकार वह परमात्मा सारे जगत् का आधार है, तथा जिस प्रकार गति रथ में होती है, सवार में नहीं, उसी प्रकार सारा जड़-जगत् गतिमय है। सूर्य, चन्द्र, पृथिवी आदि समस्त ग्रह और नक्षत्र स्वयं नियमित गति से नहीं घूम सकते। इस समस्त चक्र को घुमानेवाला वही है। अतएव वेद में अन्यत्र भी कहा—**'स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमाम्'** वही पृथिवी आदि समस्त लोकों का धारण करनेवाला है।

अन्तिम विशेषण है—**'अग्नेः'**—उस प्रकाशस्वरूप की स्तुति कर। संसार में जितना भी भौतिक और आध्यात्मिक ज्ञान का प्रकाश है, यह सब उसी की कृपा से हमें प्राप्त हुआ है। हमारी आँखों की सहायता के लिए भगवान् ने सूर्य को बनाया। यदि सूर्य न होता तो हम आँखें होते हुए भी अन्धे थे। रात्रि के अन्धकार में अग्नि-तत्त्व की सहायता के बिना हमें कुछ भी न दीखता।

जैसे आँखों की सहायता के लिए सूर्य दिया, उसी प्रकार भलाई और बुराई की पहचान की योग्यता उत्पन्न करने के लिए सृष्टि के प्रारम्भ में ही अपना ज्ञान 'वेद' दिया। यदि उसने अपने ज्ञान का प्रसाद न बाँटा होता तो मनुष्य की हालत पशुओं से भी बुरी होती। इसलिए हे मनुष्य! तू उसी की स्तुति कर। ❑❑

---

१. हृदय, बग़ल-तले, २. कान्त आकृति।

(४)

जैसा करोगे वैसा भरोगे

न किल्बिषमत्र नाधारो अस्ति न यन्मित्रैः सममममान एति।
अनूनं पात्रं निहितं न एतत्पक्तारं पक्वः पुनरा विशाति॥

—अ० १२।३।४८

ऋषिः—यमः॥ देवता—स्वर्गः, ओदनः अग्निः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

अन्वयः—अत्र किल्बिषं न, न आधारः अस्ति, न यत् मित्रैः सममममान एति। न एतत् अनूनं पात्रं निहितं पक्तारं पक्वः पुनः आविशाति॥

शब्दार्थ—(**अत्र**) यहाँ प्रभु की न्याय-व्यवस्था में (**किल्बिषम्**) दोष-त्रुटि (**न**) नहीं है। (**न**) नहीं (**आधारः**) सहारा=सिफ़ारिश (**अस्ति**) है [और] (**न**) न ही कोई ऐसा उपाय है कि (**यत्**) जिससे (**मित्रैः**) मित्रों के (**सम् अममानः**) साथ चलकर (**एति**) पहुँचा जा सके। (**नः**) हमारा (**एतत्**) यह=कर्मों से कमाया हुआ (**अनूनम्**) पूरा [जिसमें कुछ भी घटा-बढ़ी नहीं है, ऐसा] (**पात्रम्**) पात्र (**निहितम्**) सुरक्षित रक्खा है (**पक्तारम्**) पकानेवाले को (**पक्वः**) पकी वस्तु (**पुनः**) फिर से (**आ विशाति**) भली प्रकार मिलती है।

व्याख्या—इस मन्त्र में वैदिक धर्म का मुख्य सिद्धान्त ''कर्मविज्ञान'' प्रतिपादित है। पहली बात यह कही गई है कि उस प्रभु की न्याय-व्यवस्था में कोई त्रुटि नहीं है। दूसरे शब्दों में '**पूर्णमदः पूर्णमिदम्**'—वह पूरा है और पूरे के काम भी पूरे ही होते हैं, उसमें कोई त्रुटि नहीं होती। किन्तु नास्तिकों ने क्या अतीत काल में और क्या अब, प्रभु की रचना और व्यवस्था में अनेकानेक त्रुटियाँ निकाली हैं। ऐसे कुछ आक्षेपों को महाराज भर्तृहरि ने अपने शतक में दिखलाया भी है—

गन्धः सुवर्णे फलमिक्षुदण्डे, नाकारि पुष्पं खलु चन्दनस्य।
विद्वान् धनी नृपतिर्दीर्घजीवी, धातुः पुरा कोऽपि न बुद्धिदोऽभूत्॥

नास्तिकों ने आक्षेप किया कि यदि इस संसार को बनानेवाला भगवान् है तो उसे इसको बनाते समय ''**कोऽपि बुद्धिदो नाऽभूत्**'' कोई बुद्धि देनेवाला नहीं था, नहीं तो इस प्रकार की मूर्खता की रचना वह न करता। क्या-क्या बेसमझी की, उसके कुछ उदाहरण—''**गन्धः सुवर्णे**'' सोने में सुगन्धि देनी चाहिये थी। प्रायः अच्छा काम करने पर लोग कह देते हैं, यह तो सोने में सुगन्धि के समान है, अर्थात् जो न्यूनता भगवान् ने छोड़ दी है, उसकी पूर्त्ति हो रही है। दूसरी न्यूनता—''**फलमिक्षुदण्डे**''—ईख के गन्ने पर फल लगाना ही भूल गया! जिस गन्ने का रस इतना मीठा है, उसका फल तो न जाने कितना मीठा होता!

तीसरी त्रुटि—"**नाकारिपुष्पं खलु चन्दनस्य**"—चन्दन पर फूल नहीं लगाए। जिसकी लकड़ी इतनी सुगन्धित है, उस पर फूल लगते तो कितनी उत्तम सुगन्धि होती! चौथी कमी—"**विद्वान् धनी**"—विद्वान् को धनी बनाना चाहिये था, ताकि वह धन का यथास्थान उपयोग करके संसार का उपकार करता। धन प्रायः ऐसे व्यसनी और मूर्खों को दे दिया जो संसार का अपकार कर रहे हैं। पाँचवाँ दोष यह है कि—"**नृपतिर्दीर्घजीवी**"—राजा को लम्बी आयु का नहीं बनाया। उसका जीवन भी ऐसा क्षणभंगुर है कि थोड़ी-सी दुर्घटना ही उसकी जीवन-लीला समाप्त कर सकती है। अच्छे राजा को तो खूब दीर्घ आयु देनी चाहिये थी, ताकि वह शासन का अनुभव प्राप्त करके प्रजा को सुख पहुँचाता। अब तो ज्यों ही अनुभव प्राप्त करके थोड़ा-सा परिपक्व होता है, तभी संसार से चल बसता है। फिर जो दूसरा राजा आता है, उसकी भी यही अवस्था होती है। इस प्रकार यह प्रजा तो अनुभव-शून्य राजाओं के नीचे ही पिसती रहेगी।

अब एक-एक आक्षेप का विश्लेषण कीजिये—

सबसे पहले आक्षेप में नास्तिक ने सोने में सुगन्धि की माँग की है। अब आप विचार कीजिये कि यदि सोने में सुगन्धि होती तो क्या होता? इस समय सोने में मिलावट तथा अन्य मलिनताओं की सफ़ाई के लिए उसे अग्नि में डालकर, तपाकर शुद्ध कर लेते हैं। जैसा कि कवि कालिदास ने एक प्रसङ्ग में कहा है—"**हेम्नः संलक्ष्यते ह्यग्नौ विशुद्धिः श्यामिकापि वा**"—सोने के खरे और खोटेपन को अग्नि में ही परखा जाता है। हम देखते हैं कि अग्नि अपने ताप से यदि वस्तु में दुर्गन्ध हो तो उसे समाप्त कर देती है और यदि सुगन्ध है तो उसे भी नष्ट कर देती है। अब नास्तिक के आक्षेपानुसार यदि सोने में सुगन्धि होती तो आग में तपाने पर वह न रहती; परिणाम यह निकलता कि तपाया हुआ सोना कुन्दन होने पर जहाँ अपना पूरा मूल्य पाता है, वहाँ सुगन्धि के अभाव में वह अपना मूल्य घटा बैठता, अतः सोने में सुगन्धि न देना बुद्धिमत्ता का द्योतक है, मूर्खता का नहीं। इसके अतिरिक्त सोना रखनेवाले चोर-डाकुओं से उसे सुरक्षित रखने के लिए जाने कहाँ-कहाँ छिपाकर रखते हैं। फिर भी चोर-डाकू जब-कभी आते हैं, तो कुछ-न-कुछ हानि अवश्य पहुँचा जाते हैं। पर कुछ स्थान उन्हें खोजने पर भी नहीं मिलते और वहाँ रक्खा हुआ सोना बच जाता है। यदि सोने में कस्तूरी या केवड़े की-सी गन्ध होती तो फिर खोजने की क्या आवश्यकता रहती? उसकी सुगन्ध ही चोरों को निमन्त्रण देकर बुलाती—'मैं यहाँ हूँ, इधर-उधर मत भटको!' सोना रखनेवालों का जीवन हर समय सङ्कट से घिरा रहता, अतः सोने में सुगन्धि का न होना ही प्रत्येक दृष्टि से उचित है।

दूसरा आक्षेप है—"**फलमिक्षु-दण्डे**"—ईख के गन्ने पर फल होना चाहिये था; यह आक्षेप भी बुद्धि-सङ्गत नहीं है।

ईख की फ़सल के लिए कृषक को भूमि भली प्रकार जोतकर तैयार करनी पड़ती है। उसमें खाद भी अच्छी मात्रा में डालनी पड़ती है। ईख बोने के बाद अंकुरित होने पर उसकी बार-बार गुडाई और सिंचाई करनी पड़ती है। जब ईख का गन्ना बढ़कर परिपक्व हो जाता है तो कृषक को उसके लिए कोई काम नहीं करना पड़ता। अपनी सुविधा के अनुसार काटकर कोल्हू में अथवा क्रशर में रस निकालकर गुड़ आदि वस्तुएँ तैयार करने के लिए दे देता है। यदि गन्ने के परिपक्व होने पर उसमें फल लगता तो निश्चित रूप से वह फल, गुड़ और चीनी के समान मीठा ही होता। तब किसान की जान मुसीबत में फँस जाती। चील, कौए, कुत्ते, चींटियाँ, मक्खी, मकोड़े आदि सैकड़ों प्रकार के जीव-जन्तु खाने के लिए टूट पड़ते और उनसे गन्ने को सुरक्षित रखना अत्यन्त कठिन होता। साथ ही, यदि ईख पर कोई फल लगता तो उसका इतने रूपों में परिवर्तित होना कठिन होता। रस से गुड़, चीनी, शकर, राब, शीरा, स्पिरिट, शराब और सिरका तथा न जाने कितनी वस्तुएँ तैयार होती हैं। इस प्रकार विचार करने से यही सिद्ध होता है कि ईख पर फल न लगना ही उचित था।

तीसरा आक्षेप है—"**नाकारि पुष्पं खलु चन्दनस्य**"—चन्दन के ऊपर फूल लगाने चाहिये थे। इसका भी विश्लेषण करके देखिये। वनस्पति-जगत् में यह नियम-सा प्रतीत होता है कि जिसके ऊपर सुगन्धित पुष्प अथवा कोई विशेष प्रकार के फल लगते हैं, उनकी लकड़ी में कोई विशेषता नहीं होती; और जिनके लकड़ी अथवा पत्तों में विशेष गन्ध होती है, उसमें या तो फूल लगते नहीं, लगते भी हैं तो उनमें कोई उल्लेखनीय बात नहीं होती। जैसे—गुलाब, मोतिया, केवड़ा, चम्पा, चमेली, नर्गिस आदि इन सभी पर उत्तमोत्तम सुगन्धित पुष्प लगते हैं, किन्तु इनके पत्तों अथवा लकड़ी में कोई विशेषता नहीं होती। जिनके पत्तों अथवा लकड़ी में गुण हैं, जैसे—तुलसी, महुआ, यूकलिप्टिस, चन्दन आदि, इनके फूलों में कोई गुण-विशेष नहीं होता। चन्दन तथा यूकलिप्टिस पर तो फूल लगते ही नहीं हैं। इस नियम के अनुसार चन्दन पर यदि फल लगता और दिव्य गन्ध से सुवासित भी होता, तब भी जितना स्थायित्व चन्दन की लकड़ी की गन्ध में है, फूल में वह कहाँ हो सकता था? फूल दो-चार दिन से अधिक क्या सुगन्धि दे सकता था! जबकि चन्दन की लकड़ी सैकड़ों वर्षों तक महकती रहती है। इसके अतिरिक्त सारे संस्कृत और हिन्दी साहित्य में कविगण जहाँ भी चन्दन का वर्णन करते हैं, वहाँ सर्पों का वर्णन अवश्य करते हैं, जैसे—"**मूलं भुजङ्गैः शिखरं विहङ्गैः**" जिसके जड़-तने से साँप लिपटे रहते हैं और

जिसकी चोटी पर पक्षी बैठते हैं। हिन्दी में—'**जो रहीम उत्तम प्रकृति, का करि सकत कुसङ्ग; चन्दन विष व्यापत नहीं, लिपटे रहत भुजङ्ग।**' आदि-आदि, यद्यपि यह बात हमारे देखने में नहीं आई। दक्षिण भारत में हमने भी अनेक स्थानों पर चन्दन के वृक्ष देखे हैं, पर उन पर कहीं सर्प नहीं देखा, किन्तु कवियों में तो यह प्रसिद्ध है ही। यदि यह ठीक हो, तो इससे भी यही सिद्ध होता है कि चन्दन पर फूल न होना ही ठीक है, क्योंकि लकड़ी में छिपी गन्ध में ही जब इतना आकर्षण है कि साँप दौड़-दौड़कर आते, तो पुष्प की उत्कट गन्ध चारों ओर फैलने पर साँपों के झुण्ड वहाँ घिरे रहते और वृक्षों से चन्दन प्राप्त करना ही सम्भव न होता।

चौथा आक्षेप अवश्य कुछ महत्त्वपूर्ण-सा लगता है कि—''**विद्वान् धनी**''—विद्वान् को धन देना चाहिये था, ताकि वह उसका सदुपयोग करके स्वयं लाभ उठाता और संसार का भी उपकार करता। अपवादस्वरूप ही किसी विद्वान् के पास धन रहा हो तो रहा हो, प्रायः विद्वान् निर्धन ही मिलेंगे। धन संसार में ऐसे-ऐसों के पास है, जिनको न खाने की योग्यता है, न पीने की। लूले-लँगड़े, अन्धे-काणे और कोढ़ी-कलङ्की भी संसार में धनी देखे गए हैं। फ्रान्सीसी यात्री बर्नियर १४ वर्ष तक भारत में रहा और औरङ्ग़ज़ेब के बड़े भाई दाराशिकोह का घरेलू डॉक्टर था। उसने अपनी भारत-यात्रा में शाहजहाँ के उस पत्र का उल्लेख किया है जो उसने औरङ्ग़ज़ेब को तब लिखा था, जब वह दक्षिण से फ़ौज इकट्ठी करके दाराशिकोह को हराने के लिए आगरे पर आक्रमण करने आ रहा था। सेना का पड़ाव चम्बल के किनारे डाला। इस तैयारी की सूचना आगरा में शाहजहाँ को भी मिली। उसने औरङ्ग़ज़ेब को एक लम्बा पत्र लिखा। पत्र का सार यह था—जब तैमूरलङ्ग ने अपना विजय-अभियान चलाया तो एक बार उसने एक राजा को परास्त करके बन्दी बना लिया। दूसरे दिन उसे दरबार में अपने सामने बुलाया। जब पराजित राजा बन्दीरूप में उसके सामने उपस्थित हुआ तो तैमूर ने देखा कि राजा के एक आँख नहीं है, काणा है। यह देखकर तैमूर ठहाका मारकर हँसा। बन्दी राजा को तैमूर का यह व्यवहार बहुत अपमानजनक लगा। उसने आवेश में आकर डाँटते हुए तैमूर से कहा कि—'आप अपने भाग्य पर इतना न इतराइये! मेरी भी कोई हैसियत है। मैं बन्दी के रूप में आज आपके सामने हूँ तो आप मेरा मज़ाक उड़ाते हैं? यह आपको शोभा नहीं देता। राजा और शासकों के जीवन में तो ये उतार-चढ़ाव आते ही रहते हैं। हो सकता है परिस्थितियाँ बदल जाएँ और कल मैं तख़्त पर बैठा होऊँ और आप बन्दी के रूप में मेरे सामने पेश हों! इसलिए सज्जनोचित व्यवहार को तिलाञ्जलि मत दीजिये।'

बन्दी राजा की यह प्रतिक्रिया देखकर तैमूर ने कहा—'मेरा हँसने

का कारण यह नहीं कि आप बन्दी के रूप में मेरे दरबार में पेश हैं। मेरे हँसने का कारण तो यह है कि एक बार आप मेरी ओर देखिये और फिर अपनी ओर देखिये। मेरी एक टाँग नहीं है और तुम्हारी एक आँख नहीं है और दुनिया की दौलत तुम्हारे-हमारे, अर्थात् एक काणे और एक लँगड़े के क़दमों में रुलती-फिरती है।'

शाहजहाँ ने इस घटना का उल्लेख करके औरङ्गज़ेब को समझाना चाहा था। नास्तिक का आक्षेप है कि यह भगवान् के विधान में न्यूनता है कि धन अयोग्य व्यक्तियों के पास जाता है। धन का उपयुक्त पात्र तो विद्वान् है, पर वही उससे वञ्चित है।

संस्कृत-साहित्य में हम पढ़ते हैं—बड़े-बड़े विद्वान् और कवि सदा अर्थसङ्कट में रहे। संस्कृत का माघ-जैसा कवि दरिद्रता के कारण संसार से विदा हुआ। किन्तु विचार करके देखें तो यह भी एक अच्छाई ही है कि विद्वानों के पास धन नहीं होता। इसी कारण संसार में विद्या का प्रकाश हुआ है। धन के फेर में पड़ा हुआ व्यक्ति जानता हुआ भी सत्य बात नहीं कह सकता। वह देखता है यह बहुत प्रभावशाली व्यक्ति है। यदि इसके विरुद्ध कुछ भी कहा अथवा किया तो यह मेरे कारोबार में अनेक प्रकार से बाधाएँ उपस्थित करेगा। इसलिए या तो वह मौन रहता है अथवा उसके दोषपूर्ण पक्ष का भी समर्थन करता है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि जो विद्वान् होकर भी धन के आकर्षण में फँस गए, वे सचाई को जानते हुए प्रकट करने का साहस न कर सके। ऋषि दयानन्द के समकालीन अनेक विद्वान् ऐसे थे, जो उनके पक्ष की सत्यता को हृदय से स्वीकार करते थे; अपने घनिष्ठ साथियों में कह भी देते थे कि यह संन्यासी कहता तो ठीक है, किन्तु हम यह कहने लगें तो हमारा जीवन दूभर हो जाय। बड़े-बड़े राजाओं का बेधड़क होकर वही सामना कर सकता है, तो लक्ष्मी को तृण-तुल्य समझता है।

उदयपुर के महाराणा ने एकलिंग की गद्दी का प्रस्ताव रखते हुए यही तो विनय की थी कि आप भले ही मूर्त्तिपूजा न करें, किन्तु मूर्त्ति का खण्डन करना छोड़ दें। उदयपुर का सारा राज्य इस गद्दी को अर्पित है। इस प्रकार मैं भी आपका सेवक बनकर, आपकी आज्ञा का पालन करूँगा। ऋषि ने उत्तर में कहा—"हम जिस बात को सत्य समझते हैं, उसका प्रतिपादन करते हैं। यही ईश्वर और वेद की आज्ञा है। मैं ईश्वर की आज्ञा का पालन करूँ अथवा आपके प्रलोभन के प्रस्ताव को देखूँ? मैं आपके राज्य को एक दौड़ में पार करके बाहिर जा सकता हूँ, किन्तु क्या प्रभु के राज्य से बाहिर जाने की कल्पना भी की जा सकती है?"

इस प्रकार की दो टूक बात कोई ऐसा विद्वान् ही कर सकता है, जिसके जीवन का उद्देश्य सत्य का प्रचार और उसकी रक्षा ही हो। महर्षि की जो भावना उनके उद्देश्य में निहित थी, वह सत्यार्थप्रकाश के

स्वमन्तव्यामन्तव्य के प्रारम्भ में पाँच श्लोक उद्धृत करके प्रकट की है। उनमें से एक श्लोक महाराजा भर्तृहरि का है—

निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु,
लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्।
अद्यैव मरणमस्तु युगान्तरे वा,
न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः॥

'संसार के नीति-निपुण व्यक्ति चाहे निन्दा करें अथवा प्रशंसा करें, संसार का धनैश्वर्य चाहे आवे, चाहे सर्वथा चला जाय, मृत्यु चाहे आज हो जाय, चाहे युगों तक जीवन रह जावे, किन्तु धीर सत्यप्रेमी लोग धर्म के मार्ग से एक पग भी इधर-उधर विचलित नहीं होते।' दूसरा श्लोक महाभारत का—

न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः।
धर्मो नित्यः सुख-दुःखे त्वनित्ये जीवो नित्यो हेतुरस्यत्वनित्यः॥

—महा० ५।४०।११

तीसरा श्लोक मनु का है—

एक एव सुहृद्धर्मो निधनेऽप्यनुयाति यः।
शरीरेण समं नाशं सर्वमन्यद्धि गच्छति॥ —मनु० ८।१७

इन दोनों श्लोकों का अर्थ यह है कि—'काम, भय, लोभ और यहाँ तक कि जीवन पर सङ्कट आ जावे, तब भी किसी कारण से धर्म को न छोड़े, क्योंकि जीव और धर्म दो ही नित्य हैं। सुख-दुःख और दूसरे साधन सब नष्ट होनेवाले हैं।'

'एक धर्म ही इस प्रकार का मित्र है, जो मृत्यु के बाद भी साथ देता है। अन्य सभी-कुछ शरीर के साथ नष्ट हो जाता है।'

संसार में विद्या का प्रकाश तपस्वी महात्माओं ने ही किया है। वैशेषिक दर्शन के रचयिता महर्षि कणाद का तपश्चर्या के आधार पर पड़ा प्रसिद्ध नाम ही बताता है कि वे कितने निःस्पृह थे? कृषक फ़सल काटके खेत से जब लाता है तो उसमें से गेहूँ, जौ आदि की बालें (सिट्टे) टूटकर गिर जाती हैं। उन्हें संस्कृत में 'शिल' कहते हैं। उत्तर प्रदेश में, ग्रामों में भी इस शब्द का प्रयोग होता है। किसान इन बालों को भी चुनवा लेते हैं। किन्तु बालों में से भी जो अन्न के दाने छिटककर भूमि पर गिर जाते हैं, उन्हें 'कण' कहते हैं। इस प्रकार 'कणाद' का शब्दार्थ 'कणों को खानेवाला', अर्थात् खेत से कण-कण चुनकर वे अपनी क्षुधा निवृत्त करते थे। इसी तपोनिधि ऋषि ने संसार को 'वैशेषिक दर्शन' के रूप में महान् विज्ञानमय शास्त्र प्रदान किया। अतः विद्वान् का धनहीन होना कोई दोष नहीं है।

अब अन्तिम आक्षेप है—'**नृपतिर्दीर्घजीवी**'—राजा को बहुत लम्बी आयुवाला बनाना चाहिए था। इस आक्षेप में भी कोई तत्त्व नहीं है,

क्योंकि राजा ऐसा प्रभुता-सम्पन्न व्यक्ति है कि वह जो भी करे, उस पर कोई अंकुश नहीं लगा सकता। बस, मृत्यु ही उसे मर्यादा में रहने के लिए बाध्य करती है। वह सोचेगा जीवन का कोई भरोसा नहीं, न जाने कब चल बसें, अतः संसार में मुझे न्याय और धर्म के ही काम करने चाहिएँ। यदि नास्तिकों की माँग के अनुरूप कल्पना कीजिये, राजा को एक लाख वर्ष आयु दे दी जाती तो संसार का विनाश अवश्यम्भावी था, क्योंकि वह विचारता—अभी बहुत लम्बा समय पड़ा हुआ है धर्म और मुक्ति के लिए, यह सब-कुछ जीवन के अन्तिम दिनों में देखेंगे। वह निश्चित ही ९९ हज़ार वर्ष तक उलटे ही काम करता और अन्तिम १००० वर्ष शुभकर्मों के लिए सुरक्षित रखना चाहता। क्या यह कोरी कल्पना है? आप मानव-संसार की मनोवृत्ति का अध्ययन कीजिये, निश्चित ही आपको इसमें सचाई झलकेगी। मनुष्य की आयु की कोई निश्चित अवधि नहीं है। गर्भ में भी मृत्यु हो जाती है या उत्पन्न होते भी हो जाती है। शैशव, किशोरावस्था, यौवन और वार्धक्य, प्रत्येक अवस्था में मृत्यु सम्भव है। इतना होने पर भी किशोरावस्था और यौवन में सब प्रायः यह सोचते हैं कि भक्ति की बात तो आयु टलने पर, बाल पकने, दाँत गलने और कमर झुकने पर देखी जाएगी, अभी क्या चिन्ता है! अतः राजा को दीर्घजीवी नहीं बनाया, यह बहुत अच्छा किया। इस सम्बन्ध में ग़ालिब ने बहुत पते की बात कही—

मौत ने कर दिया लाचार, वगर्ना इन्साँ
है वो ख़ुदबीं[1] कि ख़ुदा का भी न क़ायल होता॥

अतः वेद ने ठीक ही कहा—"**अत्र किल्बिषं न**"—उसके न्यायकर्म में किसी पीर-पैग़म्बर, गुरु और औलिया की सिफ़ारिश की गुंजाइश नहीं है। सिफ़ारिश वहीं चलती है, जहाँ कोई कमी हो, चाहे वह कमी धन की हो, चाहे शक्ति की और चाहे ज्ञान की। जहाँ ये तीनों न्यूनताएँ नहीं हैं, वहाँ तो निर्णय न्याय के अनुसार ही होगा। आज का न्यायाधीश भी जब किसी की सिफ़ारिश से प्रभावित होता है, तो इन तीनों में से एक कारण अवश्य होता है। वह सोचता है इस समय सरकारी सेवा में है, वेतन मिलता है, निर्वाह हो रहा है, किन्तु बचत नहीं हो पाती, अतः चिन्ता होती है कि सेवानिवृत्ति होने पर काम कैसे चलेगा? इस मनःस्थिति में किसी उलझे हुए मुकद्दमे में कोई भारी-भरकम रक़म का प्रलोभन देता है, तो वह अपनी उस न्यूनता के कारण फिसल जाता है। यहाँ सिफ़ारिश चली, धन की कमी के कारण।

इसी प्रकार कोई बहुत प्रभावशाली व्यक्ति, जो जन-शक्ति-सम्पन्न भी है, किसी काम को कराने के लिए दबाव डालता है तो उसकी ग़लत बात भी इसलिए माननी पड़ती है कि वह अनेक तरह से हानि पहुँचा

---

१. आत्माभिमानी

सकता है। यहाँ शक्ति की न्यूनता के कारण न्याय का हनन हो रहा है। तीसरी अवस्था और है। जब अभियोग इतना पेचीदा हो कि वास्तविकता का पता लगाना कठिन हो, तो वकीलों की युक्तियाँ जो भी मस्तिष्क में जमा दें, उसी के अनुसार जज निर्णय कर देता है। किन्तु होता वह अन्याय ही है, क्योंकि जज सर्वज्ञ नहीं है, किन्तु प्रभु तो पूर्ण है; न वहाँ धनाभाव का प्रश्न है, न निर्बलता का और न अज्ञान का, अतः वहाँ कोई सिफ़ारिश नहीं चलती। इसी भाव को पुष्ट करने के लिए मन्त्र में तीसरी बात कही—**''न यन्मित्रैः सममान एति''**—भगवान् की न्याय-व्यवस्था को प्रभावित करने के लिए मित्रों और सम्बन्धियों की, गुरु और पैग़म्बरों की पहुँच भी नहीं हो सकती। संसार में प्रायः यह होता है कि जो काम अपनी योग्यता और क्षमता से नहीं बनता दिखता, उसे सँभालने के लिए अपने प्रभावशाली मित्रों और रिश्तेदारों का सहयोग लेकर उसे बना लिया जाता है। किन्तु यहाँ स्पष्ट घोषणा है कि किसी भी दूसरे का किया हुआ कार्य अपने काम नहीं आ सकता। धार्मिक क्षेत्र में यह भ्रान्ति मध्यकाल में तो बहुत थी, अब भी कुछ शेष है। लोग पैसा देकर दूसरों से विघ्नों के निवारण के लिए जप करवाते हैं। वेद इन सब को ही व्यर्थ कहता है। मन्त्र के उत्तरार्ध में मुख्य बात कही कि—**''अनूनं पात्रं निहितं न एतत्''**—हमारे कर्मों की कमाई का पात्र प्रभु के ज्ञान में पूरे का पूरा सुरक्षित है। उसमें कुछ भी घट-बढ़ नहीं होती। इस बात को भी गम्भीरता से समझने की आवश्यकता है। अज्ञानवश मनुष्य प्रभु के विषय में भी इस भ्रम में रहता है कि जब असंख्य जीव हैं, तो सब जीवों के कर्मों का हिसाब-किताब भगवान् कहाँ तक रखता होगा! हम लोगों को तो एक दिन के कार्य भी पूरी तरह स्मरण नहीं रहते। इस शङ्का का निवारण अथर्ववेद (४।१६।५) के इस वचन से हो जाना चाहिए—**''संख्याता अस्य निमिषो जनानाम्''**—जीवन में जितनी बार मनुष्य की आँख पलक झपकती है, प्रभु के ज्ञान में उनका भी हिसाब है, अतः हमारा कोई भी कर्म बिना फल के नहीं छूट सकता। इसलिए अन्तिम बात कही कि—**''पक्तारं पक्वः पुनराविशाति''**—पकानेवाला जैसी चीज़ पकाकर तैयार करता है, वैसी ही चीज़ उसे स्वयं भी भोगने को प्राप्त होती है। प्रभु केवल हमारे कर्मों का साक्षी है। जो भी सुख-दुःख, हानि और लाभ हमें प्राप्त हो रहा है, वह सब हमारे कर्मों का ही फल है, प्रभु के किसी कर्म का नहीं।

इस मन्त्र में वैदिक धर्म के मेरुदण्ड-समान कर्म-सिद्धान्त का वर्णन किया गया है, जो वेद की अपनी विशेषता है। यह बात न ईसाइयत में है और न इस्लाम में, यहाँ तक कि पौराणिकों में भी नहीं। ईसाइयों की तो यह मान्यता है कि प्रभु यीशुमसीह हमारे दुष्कर्मों के फल, दुःख से जीवों को बचाने के लिए स्वयं शूली पर चढ़ गए। जो भी उन पर

अपनी निष्ठा ले आता है, वह दुःख से छूट जाता है, अर्थात् ईसाई बनने पर पापियों को पाप का फल नहीं भुगतना पड़ता। किसी शायर ने इस मान्यता का अच्छा रोचक वर्णन किया है—

जब गुनहगारों पै देखी रहमते-परवरदिगार[1]।
बेगुनाहों ने पुकारा हम गुनहगारों में हैं॥

जब शुद्ध-पवित्र निष्पाप व्यक्तियों ने यह देखा कि हमारी ओर तो प्रभु की दया-दृष्टि है ही नहीं, वे पतितों के ही उद्धार में लगे हुए हैं तो हमसे फिर पापी ही अच्छे हैं; तब पापी न होते हुए भी उन्होंने चिल्लाना प्रारम्भ किया कि हम भी पापी हैं, हमारी ओर भी कृपादृष्टि घुमाइये। स्पष्ट है कि यह प्रवृत्ति मनुष्य को नयी बुराई की ओर धकेलती है, क्योंकि लोगों की सामान्य प्रवृत्ति यह है कि—

फलं धर्मस्य चेच्छन्ति धर्मं नेच्छन्ति मानवाः।
फलं पापस्य नेच्छन्ति पापं कुर्वन्ति यत्नतः॥

'लोग धर्म के फल=सुख की तो इच्छा करते हैं, किन्तु धर्म का आचरण नहीं करना चाहते। इसी प्रकार पाप के फल=दुःख को कोई नहीं चाहते, किन्तु पाप पूरी शक्ति के साथ करते हैं।' एक दूसरे कवि ने भी लिखा—

धर्मं प्रसङ्गादपि नाचरन्ति पापं प्रयत्नेन समाचरन्ति।
एतत्तु चित्रं हि मनुष्यलोकेऽमृतं परित्यज्य विषं पिबन्ति॥

'धर्माचरण बिना कठिनाई के हो रहा हो तो उसकी भी उपेक्षा करेंगे और पापाचरण पूरी कोशिश से करेंगे। संसार में यह बड़ी विचित्र बात है कि लोग सहज-प्राप्त अमृत को ठुकराकर कठिनता से प्राप्त विष का प्याला पीते हैं।' किसी शायर ने भी व्यञ्जनावृत्ति से इस बात को आकर्षक रूप में प्रकट किया है—

दैरोहरम भी कूचये-जानाँ में आए थे।
पर शुक्र है कि बढ़ गए दामन बचाके हम॥

इस्लाम में भी कलमा पढ़ा और जन्नत के अधिकारी हुए। जन्नत में प्रवेश के लिए कर्मों की पवित्रता की उतनी पाबन्दी नहीं, जितनी कि कलमा पढ़ने की। कुछ काल पूर्व एक पत्रिका में अच्छा मनोरञ्जक चुटकुला पढ़ने को मिला—

भारत के स्वतन्त्रता-संघर्ष के समय एक राष्ट्रभक्त मुसलमान जो नमाज़ और रोज़ा का तो इतना पाबन्द नहीं था, किन्तु उदार विचारों का नेक-चलन इन्सान था, मरकर जन्नत में पहुँचा। उसे अपने राष्ट्रीय आन्दोलन के कुछ साथी, जो उससे पूर्व दिवङ्गत हो चुके थे और हिन्दू थे, स्मरण आए। उसने दफ्तर में जाकर कहा कि मैं लाला लाजपतराय से मिलना चाहता हूँ, मुझे उनके कमरे तक पहुँचवा दो। दफ्तर के मुन्शी

---

१. प्रभु-कृपा।

ने उसकी ओर आश्चर्य से देखते हुए उत्तर दिया—'लाजपतराय दोज़ख में होंगे, वे यहाँ कैसे हो सकते हैं?' उत्तर सुनकर उसे आश्चर्य हुआ। एक क्षण रुककर उसने कहा कि—'फिर गणेशशङ्कर विद्यार्थी से मिला दो, वे तो कुछ ही दिन पहले आए हैं।' मुन्शी ने कुछ आवेश में आकर कहा—'वे भी यहाँ कैसे होंगे?' नवागन्तुक मुसलमान ने कहा—'जो नाम मैंने लिये हैं वे बड़े चरित्रवान्, देशभक्त और उच्चकोटि के व्यक्ति थे, वे यहाँ क्यों नहीं हैं?' मुन्शी ने उत्तर दिया—'मियाँ! सब-कुछ होगा, किन्तु उनका मुहम्मद साहब पर तो ईमान नहीं था, इसलिए वे जन्नत में कैसे आ सकते हैं?' नवागन्तुक ने परेशानी से पूछा—'फिर मेरे काम का कोई आदमी आपके यहाँ है भी?' मुन्शी बोला—'आप स्वयं घूमकर देख आइये।' यह सुनकर वह देखने को निकल पड़ा। उसने आश्चर्य से देखा कि उसके शहर के सब निकम्मे और बदमाश जन्नत में दनदनाते घूम रहे हैं। उसके शहर की नाचने-गानेवाली पतिता वेश्या भी जन्नत को सुशोभित कर रही है। उसने चकित होकर उन सब से पूछा—'आप लोगों के कौन-से ऐसे उत्तम कर्म थे, जिनके आधार पर आपको जन्नत नसीब हुई?' वेश्या ने हाथ नचाते हुए उत्तर दिया—'मियाँ, चाहे और कुछ नहीं था, पर मुहम्मद साहब पर हमारा ईमान था। इसलिए हमें जन्नत में आने से कौन रोक सकता था?' उस भले आदमी का जन्नत के वायुमण्डल को देखकर जी उचट गया और उसने जन्नत के दफ्तर में वापस आकर वहाँ के मुन्शी से कहा—'कृपा करके अपने चपरासी से मेरा बिस्तर दोज़ख तक पहुँचवा दीजिये, मुझे अपने काम के आदमी तो वहीं मिलेंगे।'

ये सभी मज़हबी दुनिया के कल्पना-लोक की बातें हैं। वेद कहता है लोक में सुख और शान्ति तथा परलोक में निःश्रेयस्, श्रेष्ठतम कर्मों से ही प्राप्त हो सकता है, अन्यथा नहीं। अतः प्रभु के स्वरूप और उसकी न्याय-व्यवस्था को समझकर मनुष्य को धर्माचरण ही करना चाहिए।

वेद के इस कर्मसिद्धान्त पर मनुष्य को पूरा विश्वास हो जाए तो इसके तीन लाभ होंगे—

पहला यह कि किसी भी सङ्कट के आने पर वह घबराएगा नहीं। उसके मन में यह निश्चय होगा कि जो कष्ट मेरे ऊपर आया है, वह मेरे ही दुष्कर्मों का फल है तथा मैं इसको भोगकर ही इससे छुटकारा प्राप्त कर सकता हूँ। जब प्रत्येक अवस्था में मुझे यह दुःख भोगना ही है तो फिर रोने-चीखने का क्या मतलब? मुझे धैर्य और साहस से इसका साम्मुख्य करना चाहिये—

तावद्भयान्न भेत्तव्यं यावद्भयमनागतम्।
आगतन्तु भयं वीक्ष्य प्रहर्तव्यमभीतवत्॥

'डर से तब तक नहीं डरना चाहिए जबतक कि वह आया न हो; आ ही जाय तो भय पर निर्भीक होकर प्रहार करना चाहिए।' इससे पहला

लाभ यह होगा कि कष्ट का सामना करने के लिए साहस उत्पन्न होगा।

दूसरा लाभ यह होगा कि हम इतने पर ही सन्तुष्ट नहीं रहेंगे कि कष्ट आया और शान्ति से सह लिया, अपितु हममें इतनी दृढ़ता आएगी कि हम प्रभु से कष्ट की प्रार्थना भी करेंगे और कष्ट आने पर उसका स्वागत भी सहर्ष करेंगे, क्योंकि माँगने से न सुख मिलता है, न दुःख मिलता है; जो भी मिलता है, हमें अपने कर्मों के आधार पर। फिर यह कहाँ की ईमानदारी है कि प्रभु से सुख-समृद्धि के लिए ही प्रार्थना करते रहें? उचित तो यह है कि हम अपनी प्रार्थना में कहें कि प्रभो! मुझसे अज्ञान और दुर्बलता-वश जो भी पाप हुआ हो, मैं उसका दुःखरूप फल तुझसे माँगता हूँ, ताकि मेरा वह बोझ शीघ्र उतर जावे। मन में इस प्रकार की धारणा के बनने पर हमें कष्ट के आने पर वह शान्ति मिलेगी जो किसी का ऋण चुकाने पर होती है। वेद में इस प्रकार की प्रार्थना भी की गई है—

नमोऽस्तु ते निर्ऋते तिग्मतेजोऽयस्मयान् वि चृता बन्धपाशान्।
यमो मह्यं पुनरित्त्वां ददाति तस्मै यमाय नमोऽस्तु मृत्यवे॥

—अथर्व० ६।६३।२

'हे घोर आपत्ति! मैं तेरा आदर करता हूँ। हे तीक्ष्ण तेजवाली! मैंने अपनी भूलों से '**अयस्मयान् बन्धपाशान् विचृत**'—लौहमय बन्धन, फौलादी बेड़ियाँ डाल ली हैं, तू अपना तीव्र प्रहार करके इनको छिन्न-भिन्न कर दे। वह यम=नियामक प्रभु ही मेरे कर्मों के आधार पर मुझे देता है। मैं उस प्रभु के इस संहारक रूप को भी भक्ति से नमस्कार करता हूँ।'

अतः दूसरा लाभ दुःख से निर्भय रहने का होगा। इस कर्म-सिद्धान्त पर आस्था से तीसरा लाभ होगा—दुष्कर्मों का परित्याग, क्योंकि संसार के समस्त पाप सुख के लिए किये जाते हैं, दुःख के लिए नहीं। एक मनुष्य आर्थिक प्रलोभन के कारण झूठ बोलता है। वह समझता है टका-सी जीभ थोड़ी हिलाने से हज़ारों के वारे-न्यारे हो जाएँगे और फिर उस धन से संसार के अनेकविध भोगों का आनन्द लूटूँगा। यही हाल चोरी-जारी और डाकाज़नी का है। स्पष्ट है कि सब बुराइयाँ सुख की इच्छा से ही की जाती हैं। अब विचारना चाहिए कि क्या पाप का फल भी सुख हो सकता है? पाप का फल तो दुःख ही होगा। जब पाप का परिणाम दुःख है, तो फिर दुःख से बचने के लिए उसका परित्याग आवश्यक है।

इस नियम के मस्तिष्क में बैठने पर बहुत-से लुटेरे-डाकू अपराधमय जघन्य जीवन छोड़कर धर्ममार्ग पर चलने लग गए। उदाहरण के लिए इस समय कुख्यात दस्यु-सरदार तहसीलदारसिंह का ही नाम लिया जा सकता है, जो अब एक निर्दोष जीवन व्यतीत कर रहा है।

इस प्रकार तीसरा लाभ पापों से मुक्त होने का होगा। शान्त और सुखी जीवन बिताने के लिए ही नहीं, अपितु जीवन के मुख्य लक्ष्य 'मुक्ति' के लिए भी मनुष्य को शुभकर्म करने चाहिएँ। ☐☐

याज्ञिकों का लोकोत्तर व्यवहार

पृथक्प्रायन्प्रथमा देवहूतयोऽकृण्वत श्रवस्यानि दुष्टरा।
न ये शेकुर्यज्ञियां नावमारुहमीर्मैव ते न्यविशन्त केपयः॥

—ऋ० १०।४४।६

ऋषिः—कृष्णः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—पादनिचृज्जगती॥

अन्वयः—प्रथमा देवहूतयः पृथक् प्रायन् दुष्टरा श्रवस्यानि अकृण्वत। ये यज्ञियां नावम् आरुहं न शेकुः ते केपयः ईर्मा एव न्यविशन्त॥

शब्दार्थ—(**प्रथमाः**) प्रथम कोटि के विस्तृत ज्ञानी (**देवहूतयः**) दिव्य गुणों का आह्वान करनेवाले (**पृथक्**) अलहदा (**प्रायन्**) जाते हैं। वे (**दुष्टरा**) बड़े दुस्तर (**श्रवस्यानि**) श्रवणीय यशों को (**अकृण्वत**) प्राप्त कर लेते हैं। किन्तु (**ये**) जो (**यज्ञियाम्**) इस यज्ञरूपी (**नावम्**) नाव पर (**आरुहम्**) चढ़ने में (**न शेकुः**) समर्थ नहीं होते (**ते**) वे (**केपयः**) कुत्सित, शास्त्र-विरुद्ध कर्म करनेवाले (**ईर्मा एव**) यहीं इसी लोक में [दलदल में] (**न्यविशन्त**) नीचे-नीचे धँसते जाते हैं।

व्याख्या—मन्त्र में चार बातें मुख्यरूप से कही गई हैं—

पहली—दिव्य शक्तियों को आमन्त्रित करके अपने पास जमा करनेवाले महापुरुष प्रथम कोटि के मनुष्य होते हैं और संसार के साधारण व्यक्तियों से पृथक् चलते हैं।

दूसरी—वे संसार में ऐसे अद्भुत कार्य करते हैं, जो बहुत ही कठिन होते हैं।

तीसरी—वे यज्ञरूपी नौका पर चढ़कर ही प्रथम कोटि के बनते हैं और इसी कारण अद्भुत काम करने की शक्ति उनमें आती है।

चौथी बात—जो इस यज्ञरूपी नाव पर नहीं चढ़ पाते, वे जिस सांसारिक दलदल में फँसे हुए हैं, उसी में अधिकाधिक फँसते चले जाते हैं।

अब एक-एक बात पर क्रमशः विचार कीजिये। वेद में मनसहित हमारी इन्द्रियों को देव कहा गया है। इन इन्द्रियों का वेदोक्त मर्यादित मार्ग में उपयोग, इन्द्र=आत्मा को दिव्य शक्ति-सम्पन्न बनाकर उसे प्रथम कोटि का महामानव बना देता है। ये ही इन्द्रियाँ जब विषयासक्त होकर अमर्यादित भोग में प्रवृत्त होती हैं, तो इनकी सब दिव्यता नष्ट हो जाती है और उस समय मनुष्य मानवता के स्तर से भी गिरकर पशु और दानव बन जाता है। मनु ने यह बात निम्नरूप में कही है—

इन्द्रियाणान्तु सर्वेषां यद्येकं क्षरतीन्द्रियम्।
तेनास्य क्षरति प्रज्ञा दृतेः पात्रादिवोदकम्॥

—मनु० २।९९

'सब इन्द्रियों में से एक इन्द्रिय भी विषयासक्त होकर राह से भटक जाए तो मनुष्य का सब विवेक इस प्रकार नष्ट हो जाता है, जैसे फूटे घड़े में से पानी चू जाता है।'

प्रथम कोटि के मनुष्य साधारण जन से पृथक् चलते हैं। इसका यह अभिप्राय नहीं है कि उनके यातायात के लिए संसार में कोई विशेष प्रकार का मार्ग सुरक्षित हो जाता है; अपितु इसका आशय यह है कि सामान्य आदमियों की प्रवृत्ति भोग की होती है और महापुरुषों की त्याग की। संसार के साधारण व्यक्तियों की भेड़चाल होती है—

एकस्य कर्म संवीक्ष्य करोत्यन्योऽपि गर्हितम्।
गतानुगतिको लोको न लोकः पारमार्थिकः॥

'एक को बुरे काम में प्रवृत्त देखकर दूसरा भी उस बुराई में लिप्त हो जाता है। संसार में प्रायः गतानुगतिकता (भेड़चाल) रहती है।'

इसी बात को शतपथब्राह्मण में और सुन्दर ढङ्ग से कहा गया है—''**परोक्षप्रिया हि देवाः प्रत्यक्षद्विषः**''—देवकोटि के मनुष्य बाद में होनेवाले परिणाम से प्रेम करनेवाले होते हैं। यदि परिणाम शुभ दिखाई देता है तो कठिन-से-कठिन काम में भी जुट पड़ते हैं और यदि परिणाम दुःखद है तो फिर आकर्षक कार्य को भी वे ठुकरा देते हैं। किन्तु साधारण मनुष्य की प्रवृत्ति आकर्षण को देखकर बहकने की होती है, चाहे परिणाम रुलानेवाला क्यों न हो। एक संस्कृत के विद्वान् ने लिखा है कि जो मन की स्थिति विषयोपभोग के बाद होती है, यदि वह पहले हो जाती तो ''**को न मुच्येत बन्धनात्**''—कौन बन्धनमुक्त न हो जाता? किन्तु महापुरुषों के जीवन की विशेषता यही है कि वे परिणाम में हितावह मार्ग को चुनते हैं, चाहे वह मार्ग कितना भी कठिन क्यों न हो!

महर्षि दयानन्द जी महाराज का जीवन इसका एक ज्वलन्त उदाहरण है। संसार की किसी वस्तु का आकर्षण लेशमात्र भी उनमें नहीं था। धन-धान्य से सम्पन्न गृह को, वैवाहिक साज-सज्जा को तृणवत् त्यागकर घर से निकल भागे। घोर कष्ट सहकर निरन्तर लक्ष्य की ओर बढ़ते रहे। बड़े-से-बड़े भय, महान्-से-महान् प्रलोभन, रञ्चमात्र भी उन्हें विचलित नहीं कर सके। वे तप और संयम के मूर्तरूप थे। लम्बे समय तक वस्त्रों के नाम पर केवल कौपीन धारण करते रहे। स्नान के समय दूर जङ्गल में जाकर नदी में नहाते थे और जब तक कौपीन सूखती थी, पानी में आसन लगाए बैठे रहते थे। ब्रह्मचर्य के विषय में बङ्गाल के उस समय के नेता अश्विनीकुमार दत्त ने पूछा—'महाराज! काम-विकार मन में उत्पन्न हो और विचार-शक्ति से मनुष्य उसे शान्त कर दे, यह तो समझ में आता है, किन्तु मैं तो आपसे जानना चाहता हूँ कि कभी आपके मन में वह विकार भी उत्पन्न हुआ है कि नहीं?' इस प्रश्न को सुनकर थोड़ी देर आत्म-निरीक्षण करके ऋषि ने उत्तर

दिया कि 'मुझे स्मरण नहीं आता, मेरे मन में कभी विकार उत्पन्न भी हुआ हो।' इस उत्तर को सुनकर आश्चर्य में डूबे दत्त महाशय ने फिर पूछा—'महाराज! यह कैसे सम्भव है?' तो ऋषि ने सीधा-सादा उत्तर दिया—'मेरे सामने इतने महान् कार्य हैं कि उनके चिन्तन से ही मन को अवकाश नहीं है।'

है न संसार से पृथक् मार्ग की यात्रा? काम के वेग को जीतना भी कितना कठिन होता है! महाराज भर्तृहरि ने लिखा है—

मत्तेभकुम्भदलने भुवि सन्ति शूराः, केचित् प्रचण्डमृगराजवधेऽपि दक्षाः।
किन्तु ब्रवीमि बलिनां पुरतः प्रसह्य, कन्दर्पदर्प-दलने विरला मनुष्याः॥

'संसार में मदोन्मत्त हाथी के मस्तक को दलन करनेवाले वीर हैं; कोई-कोई भयंकर सिंहों को भी मार गिराने में कुशल होते हैं, किन्तु उन वीर-शिरोमणियों को साहसपूर्वक ललकारकर कहता हूँ कि काम का मर्दन करनेवाले वीर संसार में विरले ही होते हैं।' उन विरलों के भी शिरोमणि ऋषिवर हैं। दिव्यशक्ति ऐसे महापुरुषों में ही सञ्चित होती है।

इसी प्रकार का उदाहरण रामायण में हनुमान् के ब्रह्मचर्य का है। हनुमान् सीता को खोजने के लिए आधी रात के समय रावण के महल में घुसे। भिन्न-भिन्न शयन-कक्षों में सोती हुई अनेक सुन्दरियों को देखा। प्रत्येक को देखकर, उनकी साजसज्जा और शृङ्गार को देखकर, यह निश्चय किया कि इनमें सीता कोई नहीं हो सकती, क्योंकि राम से वियुक्त सीता किसी प्रकार का बनाव-ठनाव कभी नहीं कर सकती। मन्दोदरी के कमरे में उसके गौरवपूर्ण व्यक्तित्व को देखकर हनुमान् को उसके सीता होने का सर्वाधिक भ्रम हुआ। पर उसके कमरे में भी आकर्षक प्रसाधन-सामग्री और दूसरी विलासपूर्ण वस्तुओं को देखकर उसने यही निश्चय किया कि यह भी सीता नहीं हो सकती।

जब महल से निराश होकर हनुमान् बाहर निकले तो उसका मन ग्लानि से भर गया और कहने लगा—

परदारावरोधस्य प्रसुप्तस्य निरीक्षणम्।
इदं खलु ममात्यन्तं धर्मलोपं करिष्यति॥ —रामा० ५।११।३९

'सोती हुई परस्त्रियों को मैंने देखा है। मेरे लिए यह बात धर्म-विरुद्ध है और मुझे इस पाप का प्रायश्चित्त करना चाहिए।' किन्तु क्षणभर विचार करने के पश्चात् इस परिणाम पर पहुँचे कि—

कामं दृष्टा मया सर्वा विवस्त्रा रावणस्त्रियः।
न तु मे मनसा किंचिद् वैकल्यमुपपद्यते॥ —रामा० ५।११।४२

'चाहे मैंने रावण की स्त्रियों को सुप्तावस्था में अस्त-व्यस्त वस्त्रों में देखा है, किन्तु मेरे मन में किसी प्रकार का कोई विकार उत्पन्न नहीं

हुआ।' इसलिए प्रायश्चित्त की कोई बात नहीं है। कितना ऊँचा चरित्र है और आत्मनिरीक्षण के लिए कितनी सावधानी है! ऐसे महानुभाव अपनी इन्द्रियों को संयम के मार्ग में प्रेरित करके अपने भीतर दिव्यशक्ति सञ्चित करते हैं। इस दिव्यशक्ति को पाकर वे क्या करते हैं? वेद कहता है—'**अकृण्वत श्रवस्यानि दुष्टरा**'—वे संसार में ऐसे अद्‌भुत और महान् कार्य करते हैं, जो हमें सुनने में भी दुस्तर प्रतीत होते हैं।

ऋषि के जीवन को देखिये! सारा संसार एक ओर था और अकेला दयानन्द दूसरी ओर। सामान्य मनुष्य का, जहाँ वह रहता है, यदि विरोध बढ़ जाय तो उस समाज को, उस बस्ती को वह छोड़ने को तैयार हो जाता है और छोड़ भी देता है, किन्तु ऋषि दयानन्द के साहस और दृढ़ता को देखिये जो गालियों की बौछारों की, भयङ्कर-से-भयङ्कर क्रूर अत्याचारों की परवाह किये बिना अपने पथ पर बढ़ते चले गए। क्या ये सब हमें सुनने में दुस्तर प्रतीत नहीं होते?

गुरु विरजानन्द से दीक्षा लेने के बाद ऋषि दयानन्द को कार्य करने के लिए केवल बीस वर्ष मिले। इनमें से भी पहला दशक कार्य-पद्धति के निर्धारण में, तपश्चर्या में और मौखिक प्रचार में व्यतीत हुआ। अन्तिम दशक लेखन-कार्य में अधिक लगा। इन दस वर्षों में भी भाषण, शास्त्रार्थ, शङ्कासमाधान, आने-जानेवाले भक्तों से बातचीत और सारे देश से आनेवाले पत्रों के उत्तर—इतने दैनिक कार्यों के साथ-साथ मौलिक ग्रन्थों का प्रणयन, विलुप्त वेदार्थ-पद्धति के उद्धार के लिए वेदभाष्य जैसा दुरूह कार्य, वेदभाष्य भी प्रतिदिन ५० मन्त्रों से लेकर १०० मन्त्र तक। यदि आपको इस दिशा की किंचित् भी जानकारी हो तो क्या एक-साथ इतने कामों की बात आप सोच भी सकते हैं? ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों के इतिहास-लेखक आर्यसमाज के गम्भीर गवेषक श्री पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक ने ऋषि-द्वारा लिखित समस्त सामग्री का आकलन करके हिसाब लगाया है कि वह २० हजार फुलस्केप पृष्ठों में बैठती है। ये हैं उस दिव्य पुरुष के चौंकानेवाले कार्य!

इसी प्रकार हनुमान् के भी विस्मयजनक एक काम को श्रीराम ने स्वयं सराहा है। प्रायः लोग इस बात पर आश्चर्य प्रकट करते हैं कि हनुमान् समुद्र को तैरकर लङ्का में कैसे पहुँचे? किन्तु यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है, क्योंकि जहाँ से हनुमान् ने समुद्र को पार किया था, वहाँ से समुद्र की चौड़ाई कुल ३७ मील थी। हनुमान् जैसे आदित्य ब्रह्मचारी के लिए यह कोई बड़ी बात न थी, क्योंकि ३३ मील चौड़े इंग्लिश चैनल को पार करनेवाले इस समय भी पचासों तैराक हैं। न केवल पुरुष, अपितु अनेक महिलाओं ने भी उसे पार किया है। फिर हनुमान् जैसा पराक्रमी ३७ मील तैर गया तो यह कोई अनोखी बात नहीं थी। अद्‌भुत बात वह है जिस पर राम ने भी आश्चर्य प्रकट किया।

माता सीता को देखकर हनुमान् जब लङ्का से वानर-सेना में वापस आए तो सभी की प्रसन्नता का ठिकाना न रहा और सब हर्षोल्लासपूर्वक श्रीराम की सेवा में उपस्थित हुए। राम का अभिवादन कर हनुमान् ने सीता की स्थिति का परिचय दिया। हनुमान् जब अपनी बात कह चुके तो अङ्गद ने कहा—'हनुमान् ने आपको पूरी बात नहीं सुनाई। यह लङ्का के बहुत बड़े भाग को आग लगा आए हैं, रावण के सगे पुत्र अक्ष को जान से मार आए हैं!' अङ्गद की इस बात को सुनकर और चकित होकर राम ने कहा—

त्रिदशैरपि दुर्धर्षा लंका नाम महापुरी।
कथं वीर त्वया दग्धा विद्यमाने दशानने?

'अच्छे शक्तिशाली देव लोग भी जिस लङ्का को दबाने का साहस नहीं कर सकते, रावण की विद्यमानता में हे वीर! वह लङ्का तुमने कैसे जला डाली?' राम की इस बात को सुनकर हनुमान् ने उत्तर दिया—मैं तो देखता हूँ महाराज! इस सब में मैं तो केवल निमित्तमात्र हूँ। मैंने कोई विशेष काम नहीं किया, क्योंकि—

निःश्वासेनैव सीताया राजन् कोपानलेन ते।
दग्धपूर्वा सा लंका निमित्तमभवत् कपिः॥

'महाराज! सीता की आहों से और आपकी क्रोधाग्नि से लङ्का तो पहले ही भस्म हो चुकी थी। मैं चला गया, इसलिए मुझे इसका श्रेय दिया जा रहा है, अन्यथा इसमें और कोई बात नहीं है।' इसीलिए वेद ने कहा कि दिव्यशक्ति-सम्पन्न महापुरुष संसार में बड़े-बड़े कठिन कार्य कर देते हैं।

दिव्यशक्ति कब सञ्चित होती है और कब अद्भुत काम करने की क्षमता आती है? तो मन्त्र के उत्तरार्द्ध में—"**ये शेकुर्यज्ञियां नावमारुहम्**"—'जो यज्ञरूपी नाव पर चढ़ने में सफल होते हैं', उन्हीं में दिव्यगुण आते हैं और वे ही महान् कार्य करते हैं। जिनकी योग्यता और क्षमता पर-दुःख-निवारण में लगती है, वे इस यज्ञ की नाव से, उपकारमय जीवन से, भवसागर को तर जाते हैं। जो इस नाव पर नहीं चढ़ पाते, अर्थात् संसार के विषय-विकारों में लिप्त रहते हैं, वे "**केपयः**" शास्त्र-विरुद्ध निन्दित कर्म करनेवाले शतपथब्राह्मण के शब्दों में—"**कस्मिन्नु वयं जुहुयाम स्वेष्वेवास्येषु जुह्वतश्चेरुः**"—'किसका उपकार करें? अपने ही भोगों में लिप्त होकर जीते हैं।' ऐसे लोग—"**ईर्मा एव न्यविशन्त**"—'जिस भोग की दलदल में फँसे हुए हैं, उसमें से निकलने के लिए जितना बल लगाते हैं उनके पैर उतने ही उसमें और फँसते चले जाते हैं' अर्थात् वे मनुष्य-जीवन के अनधिकारी बनकर पशु-पक्षियों की योनि में जा गिरते हैं।

इस मन्त्र में '**ईमा**'—दलदल की बात बहुत अर्थपूर्ण है। दलदल

में फँसे व्यक्ति का उसमें से निकलने के लिए बल लगाना उसे उत्तरोत्तर फँसा तो सकता है, निकाल नहीं सकता। इसी प्रकार भोगासक्त मनुष्य भोग से तृप्त और सन्तुष्ट होना चाहे तो वह कभी नहीं हो सकता, क्योंकि मनु ने बहुत मनोविज्ञान-समस्त बात कही है—

न जातुकामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेवं भूय एवाभिवर्धते॥

—मनु० २-९४

'कामियों की इच्छाएँ कभी भी भोग से शान्त नहीं होतीं, अपितु जैसे घी डालने से आग और भड़कती है, वैसे भोगेच्छा और भी प्रबल होती जाती है।'

महाभारत की ययाति की कहानी इसी बात को समझाने के लिए लिखी गई है। अन्त में थककर ययाति जिस परिणाम पर पहुँचा, वह बहुत ही हृदयग्राही है—

यत् पृथिव्यां ब्रीहियवौ हिरण्यं पशवः स्त्रियः।
नालमेकेन तत् सर्वमिति मत्त्वा शमं व्रजेत्॥

—महा० १।७५।५१

'संसार में जो भी उपभोग की वस्तुएँ चावल-जौ से लेकर सोना, पशु और स्त्रियों तक हैं, यदि मनुष्य की तृष्णा बढ़ जाय तो ये सब एक को भी सन्तुष्ट नहीं कर सकतीं, अतः इस रहस्य को हृदयङ्गम करके मनुष्य को संयम और सन्तोष से काम लेना चाहिए।'

आज ९५% लोग इसी दलदल में फँसे हैं। भोग-सामग्री एकत्र करने में ही सारी आयु और सारी शक्ति खप जाती है, फिर भी सन्तुष्ट नहीं हैं। क्योंकि, भोग-सामग्री अनावश्यक रूप से कुछ लोगों ने जमा कर ली है, अतः दूसरे स्थान पर असन्तोष होगा ही। इसी कारण से लड़ाई-झगड़े और अशान्ति है।

एक विद्वान् विचारक ने आज की दुनिया का अच्छा विश्लेषण किया है। उसने लिखा कि—जब संसार के लोग झोंपड़ियों में, एक मञ्ज़िल के कच्चे मकानों में रहा करते थे, तब संसार का प्रत्येक परिवार किसी-न-किसी प्रकार के मकान में निवास करता था, किन्तु जब झोंपड़ी और कच्चे मकानों की जगह पक्के मकान बनने लगे और कुछ काल के बाद जब मकानों-पर-मकान मञ्ज़िलों के रूप में बनने लगे [अमेरिका की 'न्यू एम्पायर' बिल्डिंग सन् १९३५-३६ में ही बन चुकी थी और वह १०२ मञ्ज़िल की थी], तब मैं आश्चर्य से देखता हूँ कि ज्यों-ज्यों मकान बढ़ते जाते हैं, त्यों-त्यों संसार में बिना घर के लोग अधिक दिखाई देते हैं। बड़े-बड़े नगरों में लोग मध्याह्न वृक्षों के नीचे और रात सड़कों की पटरियों पर व्यतीत करते हैं। दूसरे नम्बर पर उसने लिखा कि जब

लोग तकलियों पर सूत कातते थे, चर्ख़ों पर कातते थे, जब खड्डियों के द्वारा कपड़ा तैयार किया जाता था, तब संसार के प्रत्येक व्यक्ति को उस समय के पहनावे के अनुसार तन ढकने को वस्त्र मिलते थे। किन्तु विज्ञान ने उन्नति की, मशीनी युग आया, हज़ार चर्ख़ों पर भी जितना सूत नहीं काता जा सकता था उतना एक मशीन कुछ घण्टों में तैयार करने लगी, और जितना कपड़ा खड्डी में हज़ार बुनकर भी नहीं बुन सकते, उतना कपड़ा एक मशीन के द्वारा तैयार होने लगा, तो मैं यह देख रहा हूँ कि ज्यों-ज्यों कपड़ा बढ़ता गया, त्यों-त्यों लोग नङ्गे अधिक दिखाई देने लगे। तीसरे नम्बर पर उसने लिखा कि जब संसार का किसान एक हल में दो बैल, ऊँट अथवा घोड़ा चलाकर वर्ष-भर कहीं एक और कहीं दो फ़सल पैदा करता था, तो संसार के प्रत्येक व्यक्ति को भरपेट अन्न प्राप्त होता था, किन्तु जब हल का स्थान ट्रैक्टरों ने ले लिया, गोबर की खाद की जगह रासायनिक खादों ने ले ली, एक वर्ष में कई-कई फ़सलें तैयार होने लगीं तो आश्चर्य से देखा कि ज्यों-ज्यों अन्न बढ़ता गया, त्यों-त्यों संसार में भूखे अधिक दिखाई देने लगे। इन सब का कारण वही है—संग्रह की प्रवृत्ति।

भोगवादी मनुष्य इस भ्रम में है कि मेरे पास जितना अधिक संग्रह होगा, मैं उतना अधिक सुखी हो जाऊँगा। सारा जीवन उसी भोग-सामग्री को जुटाने में नष्ट हो जाता है। यही बात मन्त्र में कही गई है कि जो यज्ञमय जीवन जीने का, त्यागपूर्वक भोग का व्रत नहीं लेते, वे बस, भोग की दलदल से जितना निकलने का यत्न करते हैं, उतने ही और डूबते जाते हैं।

❑❑

(६)

संसार को आर्य कैसे बनाएँ?

इन्द्रं॒ वर्ध॑न्तो अ॒प्तुरः॑ कृ॒ण्वन्तो॒ विश्व॒मार्य॑म्।
अ॒प॒घ्नन्तो॒ अरा॑व्णः॥ —ऋ० ९।६३।५

ऋषिः—निध्रुविः काश्यपः॥ देवता—पवमानः सोमः॥
छन्दः—विराड्गायत्री॥

अन्वयः—(हे) अप्तुरः! इन्द्रं वर्धन्तः अराव्णः अपघ्नन्तः विश्वं आर्यं कृण्वन्तः॥

शब्दार्थ—हे (**अप्तुरः**) सत्कर्मों में निपुण सज्जनो! (**इन्द्रम्**) परमैश्वर्यशालियों को (**वर्धन्तः**) बढ़ाते हुए (**अराव्णः**) पापियों का (**अपघ्नन्तः**) नाश करते हुए (**विश्वम्**) सम्पूर्ण संसार को (**आर्यम्**) आर्य (**कृण्वन्तः**) बनाओ!

व्याख्या—जबतक संसार वैदिक शिक्षाओं को अपने आचरण में लाकर आर्य नहीं बनता, तबतक संसार से ईर्ष्या, द्वेष, अशान्ति और क्षोभ का विनाश कठिन ही नहीं, असम्भव है, क्योंकि ये सम्पूर्ण सङ्कीर्णताएँ उदात्त उपदेश, निर्मल ज्ञान और उदारता से समाप्त हो सकती हैं। जब हम अपनी चिन्तन-शक्ति को किसी मत की चारदीवारी में बन्द कर देते हैं, तो हमारी दशा में और एक कुएँ के मेंढक की दशा में कोई अन्तर नहीं होता। कूपमण्डूक की वृत्ति को दर्शाने के लिए लोक में एक रोचक चुटकुला प्रचलित है—एक तालाब का मेंढक कूदता-कूदता एक कुएँ में गिर गया। वहाँ रहनेवाले मेंढकों ने उसका स्वागत किया और पूछा—आप कहाँ रहते थे? वह जलाशय कितना बड़ा था? तालाब से आए मेंढक ने कहा—वह तो बहुत बड़ा था। यह सुनकर कुएँवाले एक मेंढक ने कोई दो फुट लम्बी छलाँग लगाते हुए पूछा—क्या इतना बड़ा था? मेहमान ने उत्तर दिया—नहीं, बहुत बड़ा था। यह सुनकर कुएँवाले मेंढक ने और बड़ी छलाँग मारी, फिर पूछा—इतना था? आनेवाले ने फिर वही उत्तर दिया—इससे बहुत बड़ा था। अन्त में कुएँवाले मेंढक ने तीसरी छलाँग लगाकर कुएँ की सारी चौड़ाई पार करते हुए कहा—फिर इतना रहा होगा। आनेवाले ने फिर कहा—भाई! इससे भी बहुत बड़ा था। इस पर झुँझलाकर कुएँवाले ने कहा—मूर्ख! इससे बड़ा जलाशय तो संसार में है ही नहीं।

ठीक यही दशा भिन्न-भिन्न मतावलम्बी लोगों की है। अन्यत्र भी विद्या और विज्ञान की बातें उन्होंने देखी-सुनी नहीं, अतः उनका ज्ञान-क्षेत्र बहुत सङ्कीर्ण होता है। संसार के मत-मतान्तरों का इतिहास इसी बात की पुष्टि करता है। ईसाई-जगत् बाइबिल के आधार पर लम्बे समय

तक यह मानता रहा कि पृथिवी केन्द्र है और सूर्य उसकी चारों ओर परिक्रमा करता है। आगे चलकर जब कुछ वैज्ञानिक उन्नति हुई तो गैलिलियो ने इस स्थापना का खण्डन किया और कहा कि यह मान्यता बुद्धि-विरुद्ध है। आकार की दृष्टि से सूर्य की तुलना में पृथिवी ऐसे ही है, जैसे एक विशाल पर्वत के सामने राई का दाना। यदि कोई कहे कि एक विशाल पर्वत राई के दाने-जैसे केन्द्र की परिक्रमा करता था तो सुनकर लोग हँसेंगे, क्योंकि सरलता और स्वाभाविकता इसी में है कि छोटी वस्तु बड़ी वस्तु के गिर्द घूमे। संस्कृत में एक 'सूची कड़ाही' न्याय प्रसिद्ध है। किसी व्यक्ति को कड़ाही और सूई देकर कहिये कि चाहे कड़ाही को सूई के आसपास घुमा दो और चाहे सूई को कड़ाही के गिर्द। संसार में कोई ऐसा मूर्ख नहीं मिलेगा जो सूई जैसी हल्की-फुल्की वस्तु को छोड़कर भारी-भरकम कड़ाही को उठाना पसन्द करे। किन्तु गैलिलियो की इस बात को सुनकर ईसाइयों की दुनिया में तहलका मच गया। यह उसका धर्म-ग्रन्थ के विरुद्ध बहुत बड़ा अपराध समझा गया। पोप की अध्यक्षता में एक Inquisition Court (जाँच करनेवाली अदालत) बैठी और उसने अपना निर्णय देते हुए उसे १० वर्ष कठोर कारावास का दण्ड दिया। निर्णय के शब्द ऐसे हैं, जो आज के युग में मनोरञ्जन की एक ऐतिहासिक सामग्री है—

The first proposition that the sun is the Centre and does not revolve around the earth, is foolish, absurd, false theology and heretical because expressly Contrary to the Holy Scriptures, and the second proposition that the earth is not the centre but Revolves about the sun, absurd, false in philosophy and from theological point of view of atleast opposed to the true faith.

'गैलिलियो की पहली स्थापना कि सूर्य केन्द्र है और पृथिवी के चारों ओर नहीं घूमता—मूर्खतापूर्ण, निरर्थक, आध्यात्मिक दृष्टि से मिथ्या और धर्म-विरुद्ध है, क्योंकि विशेषरूप से यह बाइबिल की मान्यता का खण्डन करती है और दूसरा दावा कि पृथिवी केन्द्र नहीं है, अपितु वह सूर्य के गिर्द घूमती है, फिलासफी-दृष्टि से तथा आध्यात्मिक दृष्टिकोण से भी व्यर्थ और तथ्य के विपरीत है तथा कम-से-कम सत्य-विश्वास (बाइबिल) के विरुद्ध है।'

ऐसा व्यवहार केवल एक गैलिलियो के साथ ही नहीं हुआ, अनेक वैज्ञानिकों को कठोर यातनाएँ दी गईं और कुछ को तो मौत के घाट भी उतार दिया गया।

यही स्थिति मुसलमानों की है। यहाँ (इस्लाम में) भी अनेक मान्यताओं का बुद्धि के साथ तालमेल नहीं बैठता। इनके यहाँ भी यही मान्यता थी कि पृथिवी केन्द्र है और सूर्य उसकी परिक्रमा करता है।

अब विज्ञान के प्रकाश में उस सिद्धान्त की वकालत करना कठिन हो गया तो उर्दू शायर अकबर ने दूसरे ढङ्ग से चुटकी ली—

पुरसुकूँ[1] थी ज़िन्दगी, जब आसमाँ गर्दिश में था।
जब से घूमी है ज़मीं, हर आदमी चक्कर में है॥

वेद की सबसे बड़ी विशेषता यही है कि मनुष्य को उसका सर्वप्रथम उपदेश यह है कि वह विचारपूर्वक अपने और संसार के कल्याण के मार्ग पर चले। वह हिन्दू, मुसलमान और ईसाई न बने, मनुष्य बने। आप कहेंगे वेद भी तो आर्य बनने की बात कहता है। ठीक है, किन्तु 'आर्य' का अभिप्राय भी तो श्रेष्ठ मनुष्य ही है। **'आर्यः ईश्वर-पुत्रः'**— आर्य ईश्वर के पुत्र को कहते हैं। वह पिता का अनुव्रती होकर प्राणिमात्र के हित का ध्यान रखता है।

वेद कहता है कि—**'अहं भूमिमददाम् आर्याय'** (ऋ० ४।२६।२)—मैं यह पृथिवी आर्यों को देता हूँ। वस्तुतः सुख और शान्ति के लिए इस भूमि पर आर्यों का, अर्थात् ऐसे लोगों का आधिपत्य होना चाहिए जो जीवमात्र के सुख-दुःख को अपना सुख-दुःख समझकर व्यवहार करें।

आर्यों के राज्य की झलक रामायण में पढ़िये—

शुचीनामेकबुद्धीनां सर्वेषां संप्रजानताम्।
नासीत्पुरे वा राष्ट्रे वा मृषावादी नरः क्वचित्॥

—१।७।१४,१५

'सभी लोग मन, वचन और कर्म से पवित्र थे। परस्पर सबका ऐकमत्य था। सभी ज्ञानी थे। सम्पूर्ण अयोध्या और समस्त राष्ट्र में कोई मनुष्य झूठ बोलनेवाला नहीं था।'

कश्चिन्न दुष्टस्तत्रासीत् परदाररतो नरः।
प्रशान्तं सर्वमेवासीद् राष्ट्रं पुरवरञ्च तत्॥

—१।७।१४,१६

'कोई भी दूषित मनोवृत्ति का परस्त्रीगामी मनुष्य उस राज्य में नहीं था। सम्पूर्ण राष्ट्र और सारी अयोध्या में सब प्रकार से शान्ति थी।'

तस्मिन् पुरवरे दृष्टा धर्मात्मानो बहुश्रुताः।
नरास्तुष्टा धनैः स्वैः-स्वैरलुब्धाः सत्यवादिनः॥

—१।६।६

'उस श्रेष्ठ नगर में ऐसे मनुष्य देखे जो विद्वान्, धर्मात्मा, सत्यवादी और अपने-अपने धन में सन्तोष करनेवाले थे।'

नाल्पसन्निचयः कश्चिदासीत्तस्मिन् पुरोत्तमे।
कुटुम्बी योऽह्यसिद्धार्थोऽगवाश्वधनधान्यवान्॥

—१।६।७

---

१. शान्त, सुकून (शान्ति) से पुर (भरपूर)।

'उस अयोध्या नगरी में ऐसा कोई परिवार नहीं था जिसके पास पर्याप्त गौएँ, घोड़े, अन्न और धन न हो।'

कामी वा न कदर्यो वा नृशंसः पुरुषः क्वचित्।
द्रष्टुं शक्यमयोध्यायां नाविद्वान्न च नास्तिकः॥

—१।६।८

'उस अध्योध्या में कोई कामी, कृपण, क्रूर, मूर्ख और नास्तिक देखने को भी न था।'

सर्वे नराश्च नार्यश्च धर्मशीलाः सुसंयताः।
मुदिताः शीलवृत्ताभ्यां महर्षय इवामलाः॥

—१।६।९

'सभी स्त्री-पुरुष बड़े धार्मिक, संयमी, शील-सदाचार से युक्त, प्रसन्नचित्त, पवित्र महर्षियों के समान थे।'

नानाहिताग्निर्नायज्वान् क्षुद्रो वा न तस्करः।
कश्चिदासीदयोध्यायां न चावृत्तो न संकरः॥

—१।६।१२

'उस अयोध्या में प्रतिदिन यज्ञ न करनेवाला, क्षुद्र, चोर, चरित्रहीन और वर्णसंकर भी कोई न था।'

स्वकर्मनिरता नित्यं ब्राह्मणा विजितेन्द्रियाः।
दानाध्ययनशीलाश्च संयताश्च प्रतिग्रहे॥

—१।६।१३

'अपने स्वाध्याय और पठन-पाठन में लगे हुए जितेन्द्रिय, दानशील तथा दान-ग्रहण में संयत ब्राह्मण अयोध्या में थे।'

कश्चिन्नरो वा नारी वा नाश्रीमान्नाप्यरूपवान्।
द्रष्टुं शक्यमयोध्यायां नापि राजन्यभक्तिमान्॥

—१।६।१६

'अयोध्या में कोई भी स्त्री-पुरुष लक्ष्मी-विहीन और कुरूप तथा राजा में भक्ति न रखनेवाला नहीं था।'

यह आर्य-राज्य का छोटा-सा चित्रण है। क्या संसार में इतना पवित्र शासन आज कहीं भी उपलब्ध है? बड़े-बड़े सभ्य और सुसंस्कृत कहलानेवाले अमरीका और इंग्लैण्ड जैसे देशों में कौन-सा अपराध है जो वहाँ के नागरिक न करते हों? डाके वहाँ पड़ते हैं, चोरियाँ वहाँ होती हैं, चरित्र नाम की तो वहाँ कोई बात ही नहीं, शराब वहाँ एक सामान्य पेय है। अमरीका में केपकैनेडी वह टाउन है, जहाँ चन्द्रमा और बृहस्पति तक उड़ान भरनेवाले यान तैयार होते हैं। उनके वैज्ञानिक सूक्ष्म-चिन्तन की पराकाष्ठा है। इन यानों की गति का हिसाब, भूमि से ही इनका नियन्त्रण—इतनी आश्चर्यजनक बातें हैं कि जिन्हें हम ठीक-ठीक सोच भी नहीं सकते। किन्तु मानवीय दृष्टिकोण से जितना घटिया जीवनस्तर इन वैज्ञानिकों का है, वह हमारे देश में कूँजड़ों के मुहल्लों

का भी न होगा। हमने केपकैनेडी के निवासियों के विषय में पढ़ा है कि जितनी शराब वहाँ जाती है, उतनी अन्यत्र कहीं नहीं जाती और जितना दुराचार वहाँ होता है, उतना अन्यत्र नहीं। ९ में से ७ लड़कियाँ वहाँ कुमारी ही गर्भवती हो जाती हैं। उस देश के फैडरल ब्यूरो ऑफ़ इनवेस्टीगेटर के डाइरेक्टर श्री जे० ऐडवार द्वारा प्रकाशित सन् १९५३ की पहली छमाही में अमरीका के अपराधों की सूची के अनुसार ८० लाख ४७ हज़ार दो सौ नव्वे बड़े अपराध हुए। हर ४०.३ मिनट पर एक हत्या, २९.४ मिनट पर एक बलात्कार, ८.८ मिनट पर एक डाका, ५.७१ मिनट पर एक चोरी और १४.९ सैकण्ड पर एक बड़ा अपराध हुआ।

हम विचारें कि कहाँ वह (रामायण-कालीन) वर्णन कि जहाँ कामी, परदारगामी, चोर और झूठा कोई नहीं था और कहाँ वर्तमान भौतिक उन्नति के साधनों से परिपूर्ण अमरीका!! दोनों की कोई तुलना है? इसीलिए—'**अहं भूमिमददाम् आर्याय**'—मैं इस पृथिवी को शासन के लिए आर्यों को देता हूँ, ऋग्वेद का यह महत्त्वपूर्ण उद्घोष है।

आर्यों की उदात्त आदर्शवादिता को ध्यान में रखकर ही वेद ने कहा—'**कृण्वन्तो विश्वमार्यम्**'—संसार को आर्य बनाओ! प्रश्न है कि आर्य बनाने का उपाय क्या है? तथा, आर्य कौन होते हैं? इन दोनों प्रश्नों के उत्तर मन्त्र के पूर्वभाग और उत्तरभाग में दे दिये गए हैं।

मन्त्र में पहली बात कही गई है—'**इन्द्रं वर्धन्तः**'—इन्द्रगुण-विशिष्ट व्यक्तियों का संरक्षण करो, उनको बढ़ाओ और '**अराव्णः अपघ्नन्तः**'—कृपण, अदानी, अनुदार, ईर्ष्यालु और स्वार्थियों का सर्वदा उच्छेद करो। दूसरे शब्दों में जो इन्द्र हैं, वे आर्य हैं और जो अदानी आदि दुर्गुणयुक्त हैं, वे दस्यु हैं, अनार्य हैं। संसार में शान्ति के साम्राज्य के लिए आर्यों की वृद्धि होनी चाहिए और दस्युओं का विनाश होना चाहिए।

मन्त्र में 'इन्द्र' शब्द सर्वाधिक विचार-योग्य है। वैदिक वाङ्मय में इस शब्द का अर्थ के आधार पर बहुत विस्तृत क्षेत्र है। प्रत्येक प्रकार की विशेष शक्ति रखनेवाले जड़ या जङ्गम पदार्थ को हम इन्द्र शब्द से पुकार सकते हैं। संस्कृत-व्याकरण के अनुसार '**इदि**' धातु से, जिसका अर्थ परमैश्वर्य है, यह शब्द बना है, अतः इसका शाब्दिक अर्थ हुआ—परम ऐश्वर्ययुक्त। इन्द्र को बढ़ाने का अर्थ भी यही हुआ कि—परमैश्वर्यशालियों को बढ़ाओ। सांसारिक धन-धान्य को परमैश्वर्य नहीं कह सकते। उसका स्थान तो परमैश्वर्यों में सबसे पीछे है। इस शब्द का मुख्यार्थ यहाँ आत्मज्ञानी है। '**इन्द्र आत्मा**' यह काशिका में लिखा भी है। कोश में भी इसके अर्थों में '**विद्यैश्वर्ययुक्तम्**' लिखा हुआ है।

पौराणिकों ने कल्पना कर रक्खी है कि—इन्द्र के एक हज़ार आँखें हैं। इसकी सङ्गति आचार्य चाणक्य ने अपने 'अर्थशास्त्र' में इस प्रकार

लगाई है कि—

इन्द्रस्य हि मन्त्रिपरिषदृषीणां सहस्रम्,
सा तच्चक्षुः तस्मादिदं द्व्यक्षं सहस्राक्षमाहुः ॥

—कौटिल्य अर्थशास्त्र अधि० १, अध्याय ५

अर्थात् 'इन्द्र की सचिव-सभा में एक हज़ार ऋषि थे। वे ही उसकी आँखें थे। इसलिए दो आँखोंवाले इन्द्र को एक हज़ार आँखोंवाला कहते हैं।' किन्तु हम तो इन्द्र उस आत्मज्ञानी को कहते हैं, जिसके कथन में एक हज़ार ऋषियों द्वारा सुविचारित अर्थ के समान सन्देह का कोई स्थान न हो। आत्मज्ञान से बढ़कर कोई ऐश्वर्य नहीं। चाणक्य ने ही अपने सूत्र में लिखा है—"**जितात्मा सर्वार्थैः संयुज्यते**"—आत्मवशी को कोई वस्तु अलभ्य नहीं। राज्य करने का अधिकार भी शास्त्रों ने आत्मवशी को ही दिया है। आचार्य शुक्र के निम्न शब्द सोने के अक्षरों में लिखने योग्य हैं—

एकस्यैव योऽशक्तो मनसः सन्निवर्हणे।
महीं सागरपर्यन्तां स कथं ह्यवजेष्यति॥

'जो राजा अकेले अपने मन को ही वश में नहीं रख सकता, वह सागरपर्यन्त पृथिवी को जिसमें लाखों और करोड़ों प्रजाजन हैं, उनके मन को अपने वश में कैसे रख सकेगा?' ऋषि दयानन्द जी महाराज ने अपने अमर ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश के छठे समुल्लास में राजा बनाने के योग्य व्यक्तियों के गुणों का वर्णन करते हुए अथर्व० कां० ६, सू० ९८, मं० १ उद्धृत किया—

इन्द्रो जयाति न परा जयाता अधिराजी राजसु राजयातै।
चर्कृत्य ईड्यो वन्द्यश्चोपसद्यो नमस्यो भवेह॥

ऋषि-कृत अर्थ—हे मनुष्यो! जो (**इह**) इस मनुष्य के समुदाय में (**इन्द्रः**) परमैश्वर्य का कर्त्ता, शत्रुओं को (**जयाति**) जीत सके (**न पराजयातै**) जो शत्रुओं से पराजित न हो, (**राजसु**) राजाओं में (**अधिराजः**) सर्वोपरि विराजमान (राजयातै) प्रकाशमान हो, (**चर्कृत्य**) सभापति होने के अत्यन्त योग्य (**ईड्यः**) प्रशंसनीय गुण-कर्म-स्वभाव-युक्त (**वन्द्यः**) सत्करणीय (**चोपसद्यः**) समीप जाने और शरण लेने योग्य (**नमस्यः**) सबका माननीय (**भव**) होवे, उसी को सभापति राजा करे।

इस मन्त्र के अर्थ में 'परम ऐश्वर्य का कर्त्ता' और 'शत्रुओं को जीत सके' शब्द ध्यान देने योग्य हैं। शत्रुओं को जीतने के लिए इन्द्र होना, आत्मैश्वर्य-युक्त होना अनिवार्य है, क्योंकि परमशत्रु तो काम-क्रोधादि ही हैं। जो इन आन्तरिक शत्रुओं को जीत लेगा, उसे बाह्य शत्रुओं को जीतना कभी कठिन नहीं होता। मनु ने भी राजा को यही परामर्श

दिया है—

इन्द्रियाणां जये योगं समातिष्ठेद्दिवा निशम्।
जितेन्द्रियो हि शक्नोति वशे स्थापयितुं प्रजाः ॥

—मनु० ७।४४

'रात-दिन इन्द्रियों को वश में रखने के उपाय करता रहे, क्योंकि जितेन्द्रिय ही प्रजाओं को अपने वश में रख सकता है।'

अतः सर्वप्रथम संसार में सुख-शान्ति के विस्तार के लिए आर्यों (आत्मज्ञानियों) की वृद्धि होनी चाहिए, क्योंकि आत्मज्ञानी सारी वसुधा को अपना कुटुम्ब कहते और समझते हैं। उनके समीप अपने-पराये का कोई प्रश्न नहीं होता। वे पाप से घृणा करते हैं, पापी से नहीं। इस प्रकार के लोग प्रथम कोटि के आर्य, अर्थात् ब्राह्मण हैं। यहाँ यह शङ्का हो सकती है—राजा के लिए पहले जितेन्द्रिय और आत्मज्ञानी होना अत्यावश्यक बताया गया है, पर राजा तो क्षत्रिय होता है, उसमें राजसिकता तो होनी ही चाहिए। इसका समाधान मनु के शब्दों में पढ़िये—

ब्राह्मं प्राप्तेन संस्कारं क्षत्रियेण यथाविधि।
सर्वस्यास्य यथान्यायं कर्तव्यं परिरक्षणम्॥

—मनु० ७।२

'क्षत्रिय होकर भी जो संस्कार और ज्ञान में ब्राह्मण-तुल्य है, उसे सारे राष्ट्र का प्रबन्ध यथाविधि करना चाहिए।'

आत्मज्ञान से दूसरे नम्बर पर 'इन्द्र' शब्द शारीरिक बल रखनेवालों के लिए प्रयुक्त होता है। बल भी बहुत बड़ा ऐश्वर्य है। छान्दोग्य (७.८) में लिखा है कि—"**बलं वाव विज्ञानाद् भूयः। अपि हि शतं विज्ञानवतामेको बलवानाकम्पयते**", अर्थात् 'सौ कोरे ज्ञानियों से एक बलवान् श्रेष्ठ है, क्योंकि वह अपने बल से उन सैकड़ों को प्रकम्पित कर देता है।' किन्तु वह बल "**आर्त्तत्राणाय वः शस्त्रं न प्रहर्तुमनागसि**"—बल दुःखियों की रक्षा के लिए होना चाहिए, निरपराधों को सताने के लिए नहीं। मर्यादा पुरुषोत्तम श्री राम ने कहा—"**क्षत्रियैर्धार्यते चापो नार्त्तशब्दो भवेदिति**"—क्षत्रिय लोग इसलिए धनुष धारण करते हैं ताकि किसी दुःखी की करुणा-पुकार उनके कानों में न पड़े। निर्बलों और असहायों को सताने से शक्ति का क्षय होता है। दीनों की करुण पुकार में अग्नि-जैसी भस्म करने की शक्ति रहती है। बड़े अनुभव की बात कही है रहीम ने—

निरबल को न सताइये, जाकी मोटी हाय।
मुई खाल की साँस सों, सार भसम है जाय॥

किसी उर्दू शायर ने भी खूब कहा—

ग़मज़दों[१] का आहो-नाला[२] रायगाँ[३] होता नहीं।
या ज़मीं होती नहीं या आसमाँ होता नहीं॥

इसीलिए पुराना क्षात्र धर्म था कि बालक, स्त्री, वृद्ध, घायल, नि:शस्त्र और दीनता प्रकट करनेवालों को (विशेष अवस्था को छोड़कर) नहीं मारा जाता था, अत: लोक-व्यवस्था के लिए ये शारीरिक बलवाले इन्द्र भी अनिवार्य हैं।

तीसरे नम्बर पर यह 'इन्द्र' शब्द सांसारिक धन-वैभव के लिए भी प्रयुक्त होता है। किन्तु उसी धनी को इन्द्र कहा जाएगा जिसकी दान-सरिता का स्रोत दीनों तथा पात्रों के लिए कभी मन्द नहीं होता। जिनकी सम्पत्ति किसी भले कार्य में आती ही नहीं, वे तो 'अनिन्द्र' हैं। भगवान् का यह आदेश है कि कमाने के समय से देने के समय दिल और बड़ा रहना चाहिए—''**शतहस्तसमाहर सहस्रहस्तसंकिर**'' (अथर्व०)—सौ हाथों से कमाते हो तो, हज़ार हाथों से दो।

वेद तथा संस्कृत का ''**अराति**'' शब्द इस रहस्य पर अच्छा प्रकाश डालता है। लौकिक संस्कृत में यह शब्द शत्रु के अर्थ में रूढ़ हो चुका है, किन्तु प्राचीनकाल में कञ्जूस और अदानी के लिए ही प्रयुक्त होता था। विचारना यह है कि कृपण का पर्याय यह **अराति** शब्द शत्रु का वाचक कैसे बन गया? इसमें भी एक इतिहास छिपा है। वस्तुत: ऐसे लोग, जिनका पैसा समाज के सङ्कट के समय काम नहीं आता, अन्य लोगों की दृष्टि में गिर जाते हैं और लोग उनके साथ शत्रु-जैसा व्यवहार करने लगते हैं। वेद कहता है—''**अप्रिणन् मर्डितारन्न विन्दते**'' (ऋक्०)—किसी के दु:ख में काम आए बिना तुम अपने शुभ-चिन्तक नहीं बना सकते। वेद में स्थान-स्थान पर ऐसे धन की प्रार्थना है, जो सबके काम आवे। जो केवल अपने ही काम आता है, उसे तो ''**केवलाघो भवति केवलादी**'' (ऋक्०)—जो केवल अपने उपभोग के लिए ही कमाता है, उसे पाप-स्वरूप कहा गया है। सेवा और उपभोग-हीन धन को वेद में बड़े काव्यमय ढङ्ग से 'आकाशबेल' बताकर दूर हटाने की प्रार्थना की गई है—

या मा लक्ष्मीः पतयालूरजुष्टाभिचस्कन्द वन्दनेव वृक्षम्।
अन्यत्रास्मत् सवितस्तामितो धा हिरण्यहस्तो वसु नो रराणः॥

—अथर्व० ७।११५।२

भक्त प्रार्थना करता है—हे प्रभो! 'प्रीति और सेवा के काम में न आनेवाली अतएव मेरा पतन करनेवाली यह लक्ष्मी मुझे ऐसी चिमट गई है, जैसे आकाशबेल वृक्ष पर छा जाती है। वह बेल वृक्ष को कोई लाभ नहीं पहुँचाती, अपितु उसका रस—जीवनतत्त्व चूसती रहती है और अन्त

१. दु:खियों, दलितों, २. क्रन्दन, ३. निरर्थक।

में उसे सुखा देती है। इसी प्रकार सेवा और प्रेम के काम न आनेवाला धन, धनी को कोई लाभ नहीं पहुँचाता, अपितु व्यर्थ का चिन्ता-भार बढ़ाकर उसकी मृत्यु का कारण बनता है।' अतः मन्त्र के उत्तरभाग में प्रार्थना की गई—प्रभो! ऐसे धन को मुझसे दूर हटाके "**वसु**" दे, जो संसार को बसाए, उजाड़े नहीं। मनुष्य का इससे बड़ा कोई दुर्भाग्य नहीं हो सकता कि सब-कुछ होते हुए भी हृदय की अनुदारता के कारण सांसारिक व्यवहार में वह दरिद्र ही रहा चला जावे। संस्कृत के एक कवि ने बहुत ही काव्यमय ढङ्ग से ऐसे व्यक्तियों का चित्र खींचा है—

विद्ययैव मदो येषां कार्पण्यं विभवे सति।
तेषां दैवाभिशप्तानां सलिलादग्निरुत्थितः॥

'विद्या पढ़ने के बाद जिनके मन में नम्रता के स्थान पर दुरभिमान उत्पन्न होता है और वैभव के होने पर उदारता के स्थान पर जिनके मन में कृपणता आती है, उन भाग्यहीनों के लिए तो पानी में से ही आग उत्पन्न हो गई।'

तो इन तीसरे प्रकार के धनवाले इन्द्रों की भी संसार में बहुत आवश्यकता है।

अब प्रश्न है—ये तीनों प्रकार के इन्द्र बढ़ें कैसे? इसका उत्तर मन्त्र में दिया—"**अराव्णः अपघ्नन्तः**" कृपण, अदाता और ईर्ष्यालु-स्वार्थियों का विनाश करो। जहाँ इन्द्रों के बढ़ने से संसार में सुख और समृद्धि बढ़ेगी, वहाँ दस्युओं के विनाश से संसार में शान्ति स्थापित होगी।

दूसरे शब्दों में, सार यह निकला कि संसार में उच्चकोटि के ब्राह्मण, उच्चकोटि के क्षत्रिय और उच्चकोटि के वैश्य बढ़ने चाहिएँ। मन्त्र में '**वर्धन्तः**' शब्द से ध्वनित होता है कि किसी भी राष्ट्र में शूद्रों की संख्या कम रहनी चाहिए, अर्थात् उनको अपनी योग्यतानुसार वैश्य, क्षत्रिय और ब्राह्मण बनने का अवसर मिलना चाहिए। जैसा कि मनु (८।२२) ने कहा है—

यद्राष्ट्रं शूद्रभूयिष्ठं नास्तिकाक्रान्तमद्विजम्।
विनश्यत्याशु तत्सर्वं दुर्भिक्षव्याधिपीडितम्॥

'जिस राष्ट्र में शूद्र और नास्तिक अधिक होते हैं, उसका विनाश हो जाता है और उसमें अकाल तथा बीमारियाँ फैलती रहती हैं, क्योंकि उस राष्ट्र में पवित्रता और कार्य-सम्पादन की योग्यता समाप्त हो जाती है।'

अतः वेद ने आज्ञा दी कि संसार में ज्ञान-विज्ञान के विस्तार के लिए, दीनों के आर्त्तनाद को समाप्त करने के लिए, अपने श्रमार्जित द्रव्य को बाँटकर खाने के लिए और भ्रातृ-भाव की स्थापना के लिए संसार को आर्य बनाना चाहिए। ❑❑

(७)

ईश्वरीय ज्ञान वेद और उसका स्वरूप

तिस्रो वाचं ईरयति प्र वह्निर्ऋतस्य धीतिं ब्रह्मणो मनीषाम्।
गावो यन्ति गोपतिं पृच्छमानाः सोमं यन्ति मतयो वावशानाः ॥

—ऋ० ९।९७।३४

ऋषिः—पराशरः शाक्तः ॥ देवता—पवमानः सोमः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

अन्वयः—वह्निः तिस्रः वाचः ऋतस्य धीतिं ब्रह्मणः मनीषां प्र ईरयति गावः गोपतिं पृच्छमानाः यन्ति मतयः वावशानाः सोमं यन्ति ॥

शब्दार्थ—(**वह्निः**) ईश्वर से प्राप्त ज्ञान का वाहक ऋषि (**तिस्रः वाचः**) तीन प्रकार की ऋक्, यजु और साम लक्षणयुक्त वाणियों को (**ऋतस्य धीतिम्**) सत्य की धारणा और (**ब्रह्मणः मनीषाम्**) परमात्मा की सत्य-प्रज्ञा को (**प्र ईरयति**) लोक में प्रचारित करता है, इसलिए (**गावः**) वेद-वाणियाँ (**गोपतिं पृच्छमानाः**) वाणीपति परमात्मा से पूछती हुईं-सी (**यन्ति**) बाहर जाती हैं, अर्थात् ज्यों-की-त्यों प्रकाशित होती हैं तथा (**मतयः**) वेदवाही ऋषियों की बुद्धियाँ (**वावशानाः**) वेद-प्रतिपादित पदार्थों की कामना करती हुईं (**सोमम्**) सोमादि पदार्थों को (**यन्ति**) प्राप्त होती हैं।

व्याख्या—इस मन्त्र में चार बातें कही गई हैं—(१) सृष्टि के आदि में दयालु प्रभु ने अपने ज्ञान को ऋषियों के हृदय में दिया। (२) वह वेद-वाणी तीन प्रकार की है। (३) वे वाणियाँ (ज्ञान) ज्यों-की-त्यों मनुष्यों तक ऋषियों द्वारा पहुँचीं। ऋषियों ने अपनी ओर से उनमें कुछ भी परिवर्तन-परिवर्धन नहीं किया। (४) सांसारिक पदार्थों का नामकरण भी वेद के आधार पर किया। अब क्रमशः एक-एक बात पर विचार कीजिये—

मनुष्य की अपनी कोई भाषा नहीं, अपना कोई ज्ञान नहीं। वह जहाँ उत्पन्न होता है, उसके माता-पिता और परिवारवाले जिस भाषा को बोलते हैं, उसी भाषा के शब्द उसके कानों से टकराते रहते हैं। धीरे-धीरे उनके संस्कार हमारे मस्तिष्क पर जमते रहते हैं और हमारी जिह्वा सुनी हुई ध्वनियों का अनुकरण करके उस भाषा का प्रयोग करने लगती है। उत्पन्न होते ही किसी अंग्रेज़ी बालक को भारतीय परिवार में रख दिया जाय तो वह भारतीय भाषा बोलने लगेगा। इसी प्रकार उसका रहन-सहन और खान-पान भी भारतीयों जैसा होगा। ठीक यही अवस्था भारतीय बालक की अंग्रेज़-परिवार में होगी। यद्यपि सामान्य व्यक्ति को यह बात बड़ी विचित्र-सी लगती है कि पशु-पक्षियों की और दूसरे

प्राणियों की, सभी की उनकी कामचलाऊ बोलियाँ अथवा ध्वनियाँ हैं, किन्तु मनुष्य की नहीं। जो बालक गूँगे होते हैं, उनके न बोलने का कारण यह होता है कि वे बहरे होते हैं। कान द्वारा किसी ध्वनि को ग्रहण न कर सकने के कारण उनका जिह्वा द्वारा अनुकरण भी नहीं हो पाता, अतएव वे गूँगे होते हैं।

अतीतकाल में परीक्षणों द्वारा इस तथ्य की वास्तविकता प्रमाणित हो चुकी है। असीरिया के शासक असुर बेनीपाल और भारत के प्रसिद्ध बादशाह अकबर ने अपने समय में कुछ नवजात शिशुओं को गूँगों के संरक्षण में एकान्त जङ्गल में १२ वर्ष की आयु तक रक्खा। [लेयार्ड (Layard) और रॉलिन्सन (Rowlinson) नाम के अन्वेषकों ने नैनवा और वैलन (असीरिया) के प्राचीन खण्डहरों को खुदवाकर ईंटों पर लिखे हुए पुस्तकालय निकाले। उन्हीं से असुर बेनीपाल के परीक्षणों का पता चला। फ़ारसी की पुस्तक 'दब्रिस्तान मज़ाहिब' से अकबर के उन परीक्षणों की जानकारी मिलती है, जो ३० बालकों पर किये गए।]

उन बच्चों को जब दरबार में उपस्थित किया गया तो उनकी कोई भाषा नहीं थी। मानवीय सभ्यता के कुछ भी संस्कार उनमें नहीं थे। हमारे १२ वर्ष तक के बालक सभी गतिविधियों से परिचित हो जाते हैं। दूकानदार का बालक दूकान के भाव-ताव और सौदा बेचना जान जाता है, किसान का बालक खेतीबाड़ी के अपने काम से परिचित हो जाता है। यहीं तक नहीं, भेड़ियों की माँद में देर तक भेड़ियों के साथ रहनेवाले बच्चे बड़े होकर चारों हाथ-पैरों से भेड़ियों के समान चलते और कच्चा मांस खाते हैं। रामू नाम के बालक की तो पर्याप्त प्रसिद्धि हो गई थी। मानवीय प्रयत्न से उसके कुछ सभ्यता के संस्कार बनने लगे थे, किन्तु वह अधिक समय तक जीवित नहीं रह सका। इससे सिद्ध है कि मनुष्य की यदि अपनी कोई भाषा होती और अपना कोई मौलिक ज्ञान होता तो कोई मनुष्य-बालक खाने-पीने और चलने-फिरने में पशुओं के समान न बन जाता।

इससे यह स्पष्ट है कि हमारे पास जो भी ज्ञान है, वह हमने दूसरों से सीखा है। इसी प्रकार हमारे माता-पिता और गुरुओं ने भी दूसरों से ही शिक्षा ली। इसी सिलसिले को यदि आगे तक बढ़ाते चलें तो सृष्टि के उस आदिमानव-समाज पर पहुँच जाएँगे जो अमैथुन सृष्टि से उत्पन्न हुआ। प्रश्न होता है कि उनको ज्ञान कहाँ से मिला? इसका समाधान पतञ्जलि मुनि ने किया—**'स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्'** (योग० १।२६)—वह अनादि परमेश्वर गुरुओं का भी गुरु है। सृष्टि के प्रारम्भ में मनुष्य को शिक्षा देनेवाले जब कोई माता-पिता और गुरु नहीं थे, तब उस दयालु प्रभु ने ही अपना ज्ञान ऋषियों के हृदय में प्रकट किया और तब से ज्ञान की यही अजस्र धारा बहती चली आ

रही है। जहाँ उस ज्ञान का प्रकाश नहीं पहुँचा, वहाँ के मनुष्य आज भी पशुवत् जीवन व्यतीत करते हैं। भारत और अफ्रीका आदि देशों की जङ्गली जातियाँ इसका प्रत्यक्ष उदाहरण हैं।

ऐतिहासिक दृष्टि से सभ्यता के विकास-क्रम का यह प्रकार है कि योरुप में सभ्यता रोम और यूनान के सम्पर्क से पहुँची। रोम में यूनान के द्वारा नवोन्मेष हुआ। यूनान में भारत और मिस्र से सभ्यता पहुँची तथा मिस्र को भारत ने सभ्यता का पाठ पढ़ाया। इस तथ्य को सभी इतिहासज्ञ स्वीकार करते हैं। अब विचारणीय यह है कि इसी नियम के अनुसार भारत भी तबतक उन्नति नहीं कर सकता था, जबतक कि उसका सम्पर्क भी अपने से अधिक सुसंस्कृत लोगों के साथ न होता। इसका उत्तर यही है कि यहाँ के ऋषि-महर्षियों ने परमगुरु प्रभु से प्राप्त ज्ञान का प्रचार और प्रसार आर्यावर्त्त में किया, जिसके कारण यहाँ मानव-सभ्यता के उच्चतम कीर्त्तिमान स्थापित हो सके।

विकासवाद को माननेवाले तथा नास्तिक लोग यह मानते हैं कि मनुष्य के ज्ञान का विकास धीरे-धीरे और क्रमशः हुआ है। ईश्वरीय ज्ञान की कोई आवश्यकता नहीं। जब बिना ईश्वरीय ज्ञान के पशु-पक्षी आदि सभी अपना निर्वाह कर लेते हैं तो मनुष्य, जो इन सब में अधिक ज्ञानवान् प्राणी है, वह अपनी आवश्यकताओं की पूर्त्ति बिना इलहाम (ईश्वरीय ज्ञान) के न कर सके, यह समझ में नहीं आता। उर्दू के शायर अकबर के समय में डार्विन के विकासवाद का अधिक प्राबल्य था। इसी पर व्यंग्य करते हुए अकबर ने लिखा था—

एवज़ क़ुरआँ[१] के अब है डार्विन का ज़िक्र यारों में।
जहाँ थे हज़रते-आदम, वहाँ बन्दर उछलते हैं॥

साथ ही ये लोग यह भी कहते हैं कि मनुष्य के ज्ञानार्जन और उसकी वृद्धि के लिए प्रकृति की विस्तृत पुस्तक खुली है। मनुष्य के मस्तिष्क में ज्ञान-ग्रहण के लिए जो प्राकृत विचार हैं, वे ही उसके मार्गदर्शन के लिए पर्याप्त हैं। उनकी शब्दावलि निम्न है—

The true scriptures written by the hand of God are two, the volume of nature and the natural ideas implanted in the mind. The wisdom, power and mercy of the creator are written in golden letters on the universe.

अर्थात् 'परमात्मा के हस्तलिखित सच्चे धर्मशास्त्र दो हैं—एक तो प्रकृति की पुस्तक और दूसरा मन के स्वाभाविक विचार। संसार के रचयिता की बुद्धिमत्ता, शक्ति और दया संसार पर स्वर्णिम अक्षरों में लिखे हैं।'

---

१. क़ुरआन (मुस्लिम धर्म-ग्रन्थ) के एवज़ (स्थान में)।

अब हम क्रमशः उनकी पड़ताल करते हैं। पहली बात यह है कि मनुष्य के ज्ञान का विकास यदि प्रकृति को देखकर हुआ तो वही विकास लाखों हब्शियों और कोल-भीलों में क्यों नहीं हुआ ? इसलिए यह कोई हेतु नहीं, अपितु हेत्वाभास है। रही पशु-पक्षियों के निर्वाह की बात, उसका उत्तर यह है कि ज्ञान दो प्रकार का होता है—एक स्वाभाविक, दूसरा नैमित्तिक। स्वाभाविक ज्ञान पशु-पक्षियों को प्राप्त है, जितना कि उनकी आवश्यकता की पूर्त्ति के लिए अपेक्षित है। यह ज्ञान स्वाभाविक रूप से जन्म लेते ही उन्हें प्राप्त हो जाता है। उन्हें इसे सीखने की आवश्यकता नहीं होती। किन्तु मनुष्य को स्वाभाविक ज्ञान केवल इतना ही है कि वह माता का स्तन मुँह में दबाकर दूध चूसने लगता है अथवा डराने पर भयभीत हो जाता है, इससे अधिक नहीं। शेष समस्त ज्ञान उसे प्रयत्नपूर्वक किसी दूसरे से सीखना पड़ता है। उदाहरण से समझिये—मनुष्य का बालक, चाहे पानी के आधार पर जीविका चलानेवाले नाविक का ही क्यों न हो, जबतक वह किसी का सहयोग न लेकर नियमपूर्वक तैरने का अभ्यास नहीं करता, उसे तैरने की विद्या नहीं आती; किन्तु पशु और पक्षी का बच्चा पैदा होने के कुछ घण्टों के बाद ज्यों ही चलने-फिरने अथवा उड़ने की शक्ति उसमें आती है, उसी के साथ उसे पानी में तैरना भी बिना सिखाए आ जाता है, चाहे वह जल से शून्य रेगिस्तान की भैंस अथवा गौ का बच्चा ही क्यों न हो। मनुष्य अपने जीवनकाल में सूती, ऊनी और रेशमी कपड़ों के सैकड़ों जोड़े पहनकर फाड़ डालता है, किन्तु उसे वस्त्र तैयार करने की विद्या, जबतक यथाविधि नहीं सीखे, नहीं आती। इसके विपरीत मकड़ी के छोटे बच्चे को अपना जाला पूरना बिना सिखाए अपने-आप आता है। बया पक्षी अपना घोंसला इतना सुरक्षित और कलापूर्ण तैयार करता है कि देखनेवाला चकित रह जाता है। इसी प्रकार इससे भी सूक्ष्म जानकारी पशु-पक्षियों को अपनी जीवन-रक्षा अथवा पोषण के लिए जो आवश्यक वस्तु है, वह भी स्वाभाविक रूप से ज्ञात है। नेवले का बच्चा सर्प-विष के प्रतिकार के लिए किस जड़ी को खाना चाहिए, बिना सीखे-सिखाए जानता है। खाद्य वस्तु में विष के मिश्रण को हमारे वैद्य और डॉक्टर नहीं जान पाते, किन्तु पक्षियों को आश्चर्यजनक रूप से इसका स्वाभाविक रूप से ज्ञान है। आचार्य चाणक्य ने राजा को खिलाने के लिए दिये जानेवाले भोजन को पक्षियों के पास ले-जाने का विधान किया है, ताकि उसमें विष-प्रयोग की परीक्षा की जा सके। उन्होंने लिखा है—

शुकसारिका भृङ्गराजो वा सर्पविषाशङ्कायां—क्रोशति, क्रौञ्चो विषाभ्याशे माद्यति, ग्लायति जीवं जीवकः। म्रियते मत्तकोकिलः। चकोरस्याक्षिणी विरज्येते।

अर्थात् 'भोजन में सर्प-विष का प्रयोग होगा तो तोता, मैना और

भँवरा शब्द करने लगेंगे। क्रौंच पक्षी विषैली वस्तु के पास नशे में झूमने लगेगा। जीवं जीवक पक्षी परेशान हो जाएगा। कोयल की मृत्यु हो जाएगी और चकोर पक्षी की आँखें लाल हो जाएँगी।' यह सब ज्ञान इन पक्षियों को स्वाभाविक रूप से है।

प्राकृतिक विप्लवों के विषय में भी पशु-पक्षी हमारे वैज्ञानिकों से अधिक जानते हैं। इस सम्बन्ध में 'रिटर्न टु नेचर' (Return to Nature) नाम की पुस्तक में अनेक उदाहरण दिये हैं। अपनी स्थापना की पुष्टि के लिए केवल एक उद्धरण काफ़ी है—

Some years ago when the great Calamity was about to happen on the Island of Martingue, the wild animals left the seen of disaster a fortnight before it took place, and the domestic animals were restless for some days. The inhabitants instituted a scientific commission.

This reported the evening before that there was no danger and that people might go to bed in peace. But a few hours later the terrible disaster occurred. Almost the whole of the town destroyed. The scientific commission perished but the animals were all saved.

अर्थात् 'कुछ वर्ष पहले, जबकि मार्टिंग के महाद्वीप में भूकम्प आनेवाला था, भूकम्प आने से दो सप्ताह पहले जङ्गली जानवरों ने उस स्थान को छोड़ दिया। पालतू पशु भी कुछ दिन पहले से अशान्त हो गए थे। वहाँ के निवासियों ने एक वैज्ञानिक कमीशन बुलाया। उस कमीशन ने एक दिन पहले यह रिपोर्ट दी कि भय की कोई बात नहीं, लोगों को शान्तिपूर्वक अपने घरों में सो जाना चाहिए। किन्तु कुछ घण्टे पश्चात् ही वह घोर विपत्ति आ गई। नगर का अधिकांश भाग कमीशन-सहित नष्ट हो गया, किन्तु पशु सब बच गए।'

इससे सिद्ध हुआ कि पशु और पक्षियों को जितने ज्ञान की आवश्यकता है, वह जन्म के साथ ही उन्हें प्राप्त हो जाता है, किन्तु उस ज्ञान का विकास वे नहीं कर सकते। वे कोई क्लास लगाकर अपना ज्ञान दूसरों में संक्रान्त नहीं कर सकते। मनुष्य की स्थिति इससे भिन्न है। वह दूसरों से ग्रहण करके ज्ञान की पूँजी अर्जित करता है और उस पर मनन करके उसका विकास भी करता है, अतः प्रत्येक दृष्टि से मनुष्य को ईश्वरीय ज्ञान की आवश्यकता है।

प्रकृति की पुस्तक को अपनी बौद्धिक प्रतिभा से पढ़नेवाली बात भी युक्ति-सङ्गत नहीं है, क्योंकि पुस्तक से ज्ञान प्राप्त करने के लिए पढ़ना अनिवार्य है। कोई अपठित व्यक्ति पुस्तक से ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता। ठीक यही स्थिति प्रकृति की है। ज्ञानी ही उसके रहस्यों को समझकर उससे लाभ उठा सकता है। वृक्षों और जड़ी-बूटियों को देखकर एक सामान्य व्यक्ति उन्हें सुन्दर और हरा-भरा तो बता देगा, किन्तु वे

प्राणिजगत् के लिए किस-किस रूप में उपयोगी हैं, यह उस विषय का विद्वान् ही बता सकता है। उदाहरण के लिए एक नीम का वृक्ष है। उसके पत्ते, उसकी छाल, जड़, फूल, फल और तेल क्या-क्या काम आते हैं, यह एक वैद्य ही जानता है, क्योंकि उसने उस विषय के ग्रन्थ पढ़े हैं, अतः प्रकृति मनुष्य का पथ-प्रदर्शन नहीं कर सकती। इस सम्बन्ध में वैज्ञानिक 'सिसरो' के शब्द बड़े सबल और प्रभावोत्पादक हैं—

Nature has given us but small sparks of knowledge which we quickly corrupt and extinguish by our immoralities, fault, and errors, so that the light of nature nowhere appears in its brightness and purity. (Cicero)

'प्रकृति से हमें ज्ञान के केवल छोटे-छोटे दीपक मिले हैं, पर उन्हें भी हम अपने दुराचारों, दोषों और भूलों से बुझा देते हैं। सार यह है कि प्रकृति का प्रकाश अपनी पवित्रता और दीप्ति में कहीं भी प्रकट नहीं होता।'

इस ऊहापोह से सिद्ध हुआ कि ईश्वरीय ज्ञान के बिना मनुष्य सभ्य नहीं बन सकता। इसीलिए दयालु प्रभु ने अपना ज्ञान मनुष्य के कल्याण के लिए चार ऋषियों के हृदय में दिया।

मन्त्र की दूसरी बात है कि वेद हैं तो चार, किन्तु चारों वेदों के मन्त्र तीन प्रकार के ऋक्, यजुः और साम रूप में हैं। इसीलिए चार वेद होते हुए भी तीन वेद कहलाते हैं। जैसा कि शतपथ ९।५।१।१९ में कहा है—'**तद् यत्तत् सत्यं त्रयी सा विद्या**' अर्थात् 'जो कुछ सत्य है, वही त्रयी विद्या (चार वेद) है।' इन तीनों के लक्षण निम्न हैं—'**नियताक्षरपदावसाना ऋक्**'—नियत अक्षर और पद में जिसकी समाप्ति हो, उसे ऋक् कहते हैं। '**अनियताक्षरपदावसाना यजुः**'—जिन मन्त्रों का नियम से अन्त प्रतीत न हो, उन्हें यजुः, अर्थात् गद्य कहेंगे। '**प्रगीतं मन्त्रवाक्यं साम**'—जहाँ मन्त्र-वाक्य को गान में प्रयोग करें, उसे साम कहते हैं।

मन्त्र की तीसरी बात है कि प्रभु की वाणी प्राप्त तो हुई ऋषियों के द्वारा, किन्तु है वह विशुद्ध; ऋषियों ने अपनी ओर से उसमें कुछ नहीं मिलाया। क्योंकि मूलरूप में मनुष्य का अपना कोई ज्ञान है ही नहीं, अतः यह ठीक ही है कि ऋषियों ने अपनी ओर से उसमें कुछ नहीं जोड़ा।

मन्त्र की चौथी बात है कि सांसारिक पदार्थों के नाम भी ऋषियों ने वेदों से शब्द ले-लेकर रक्खे। वेद में शरीर की नाड़ियों का वर्णन करते हुए '**इमं मे गङ्गे यमुने सरस्वती**' आदि शब्द ऋषियों को मिले। ऋषियों ने देखा जिस प्रकार ये नाड़ियाँ रक्त बहाकर शरीर की पुष्टि और रक्षा करती हैं, उसी प्रकार पृथिवी पर बहनेवाली नदियाँ भी पानी

बहाकर प्रदेशों को सींचकर अनेक प्रकार की ओषधियाँ, फल और अन्नादि उत्पन्न करती हैं। इन गुणों की समानता को देखकर उन्होंने नदियों का नाम—गङ्गा, यमुना और सरस्वती आदि रख दिया। संसार में बिना नाम की कोई वस्तु नहीं है और वे सारे नाम ऋषियों ने वेद के शब्दों से रक्खे। जैसा कि मनु ने भी कहा है—

सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक्-पृथक्।
वेद-शब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे॥

—१।२१

'पशु, पक्षी आदि सब जीवों के नाम तथा कर्म पृथक्-पृथक् वेदों के शब्दों के अनुकूल रक्खे गए और भिन्न-भिन्न संस्थाएँ वेदानुसार बनाईं।'

व्यक्तियों के नाम भी इसी प्रकार रक्खे गए। वेद में विश्वामित्र शब्द सर्वप्रिय के अर्थ में आया। इस भाव को स्वीकृत करके लोक में व्यक्तियों के नाम भी वैसे रख दिये गए। कुछ लोग प्रचलित व्यक्तियों के नाम देखकर इस भ्रम में पड़ जाते हैं कि वेद में इतिहास है। वस्तुतः वेद का ऐतिहासिक व्यक्तियों से कुछ भी सम्बन्ध नहीं है।

□□

(८)

श्रद्धापूर्ण हृदय से उसे ध्याओ

अग्निमिन्धानो मनसा धियं सचेत मर्त्यः।

अग्निमिन्धे विवस्वभिः॥ —साम० १९

ऋषिः—भरद्वाजः॥ **देवता**—अग्निः॥ **छन्दः**—गायत्री॥

शब्दार्थ—(**मर्त्त्यः**) मनुष्य (**मनसा**) श्रद्धा से (**अग्निम्**) परमात्मा का (**इन्धानः**) ध्यान करता हुआ (**धियम्**) बुद्धि को (**सचेत्**) अच्छे प्रकार प्राप्त हो, इसलिए (**विवस्वभिः**) सूर्य-किरणों के साथ (**अग्निम्**) परमेश्वर को (**इन्धे**) हृदय में विराजित करे।

व्याख्या—मन्त्र में मुख्य रूप से तीन बातें कही गई हैं—(१) मनुष्य को श्रद्धापूर्वक प्रभु का भजन करना चाहिए। (२) भक्ति का क्या फल होता है? (३) भजन का उत्तम समय कौन-सा है? अब क्रमशः विचार कीजिये।

मनुष्य का मुख्य कर्त्तव्य प्रभु की उपासना है। वर्तमान शरीर ही वह स्थल है, जहाँ मनुष्य कर्मों का फल भी भोगता है और नये कर्म भी करता है। ये नवीन कर्म इस प्रकार के हों जो इस आवागमन के चक्र से छुटकारा दिला दें। इस लक्ष्य की प्राप्ति प्रभु की उपासना से ही सम्भव है। प्रभु की उपासना करने से बुद्धि निर्मल और पवित्र हो जाती है। बुद्धि पवित्र होने से मिथ्याज्ञान हट जाता है। मिथ्याज्ञान के समाप्त होने से अशुभ कर्म की ओर से प्रवृत्ति हट जाएगी। अशुभ कर्मों के छूटने से मनुष्य जन्म-मृत्यु के चक्र से निकल जाएगा। जब जन्म व मृत्यु ही समाप्त हो गए तो दुःखों से छुटकारा तो अपने-आप मिल गया और मुक्त हो गया। इस बात को गौतम मुनि ने न्यायदर्शन में इस प्रकार प्रतिपादित किया है कि—

दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः।

—न्याय० १।२

विधि और निषेध, हेय तथा उपादेय की व्यवस्था मनुष्य के लिए ही है, क्योंकि वह परिणाम को विचारकर ही किसी कार्य में प्रवृत्त होता है। पशु में यह क्षमता नहीं है। वह तो स्थूल रूप में देखकर प्रवृत्त होनेवाला प्राणी है। पशु शब्द की व्युत्पत्ति भी यही है—**"पश्यति सर्वानविशेषेणेति पशुः"**—जो किसी वस्तु को देखकर ग्राह्य व त्याज्य का विवेक न कर सके, उसे पशु कहते हैं। मनुष्य-शरीर धारण करके

जो इस विवेक से काम नहीं करता, उसमें और पशु में कोई अन्तर नहीं है। शास्त्रकार ने उत्तम विश्लेषण किया है—

आहारनिद्राभयमैथुनञ्च, सामान्यमेतत्पशुभिर्नराणाम्।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषो, धर्मेणहीनाः पशुभिः समानाः॥

'खाना, सोना, डरना और सन्तान उत्पन्न करना, इन चार बातों में मनुष्य और पशु समान हैं। मनुष्य की विशेषता धर्म, ''कर्त्तव्य-बोध'' की है। जिनमें यह विवेक नहीं है, वे मनुष्य पशु के समान हैं।'

यदि आप इस श्लोक पर थोड़ी गम्भीरता से विचार करें तो ज्ञात होगा कि लेखक ने मनुष्य के साथ भारी रियायत की है तथा पशुओं के साथ घोर अन्याय, क्योंकि जिन चार बातों में मनुष्य और पशु में समानता बताई गई है, वह उस रूप में नहीं है। 'आहार' को ही लीजिये—पशुओं का आहार मर्यादित और नियमित है। मांसाहारी पशु मांस ही खाते हैं, घास और चारा नहीं। एक शेर और चीता भूख से कितना ही व्याकुल हो, वह घास नहीं खा सकता। इसी प्रकार प्राणियों में सबसे मूर्ख समझा जानेवाला प्राणी गधा चाहे कितना ही भूखा हो, वह कभी मांस नहीं खा सकता। ये सभी पशु प्रकृति-निर्मित आहार-मर्यादा का पालन करते हैं, किन्तु इनकी तुलना में मनुष्य इन सब से गया-गुज़रा है। वह सभी-कुछ चट कर जाता है। ठीक ही लिखा था कविवर मैथिलीशरण गुप्त ने—

केवल पतंग विहंगमों[१] में, चलचरों में नाव ही।
भोजनार्थ चतुष्पदों[२] में, चारपाई बच रही॥

इस प्रकार श्लोक-लेखक ने आहार के विषय में मनुष्य और पशु को समान बताकर मनुष्य के साथ पक्षपात किया है। दूसरी बात 'निद्रा' की है। इसमें भी पशु-पक्षी नियमित हैं। मनुष्य के सोने-जागने का कोई नियम नहीं। आजकल पश्चिम के देशों की नक़ल में रात को बारह-एक बजे सोना और प्रातः ९ बजे तक उठना फ़ैशन में आ गया है, जो भारत की जलवायु की दृष्टि से अत्यन्त हानिकारक है। जो लोग सूर्योदय के पश्चात् जागते हैं, उन्हें सारा दिन सुस्ती घेरे रहती है।

प्रश्नोपनिषद् १, मन्त्र ६ और ७ में वर्णन है कि—''**आदित्य उदयन् यत् प्राचीं दिशं प्रविशति तेन प्राच्यान् प्राणान् रश्मिषु संनिधत्ते। यद्दक्षिणां यत् प्रतीचीं यदुदीचीं यदधो-यदूर्ध्वं यदन्तरा दिशो यत् सर्वं प्रकाशयति तेन सर्वान् प्राणान् रश्मिषु सन्निधत्ते।**''

'सूर्य उदित होते ही अपनी किरणों से समस्त दिशाओं और ऊपर-नीचे सब स्थानों के प्राणवायु को खींच लेता है।' यही कारण है कि सूर्योदय से पूर्व उठनेवाले जिस स्फूर्त्ति व ताज़गी का अनुभव करते हैं,

१. पक्षियों, २. चौपायों।

वह देर से उठनेवालों को प्राप्त नहीं होती और उन्हें आलस्य घेरे रहता है। अतः निद्रा के विषय में भी पशु-पक्षी मनुष्य से अच्छे हैं, समान नहीं।

तीसरी बात 'भय' की है। मनुष्य जितना भयाक्रान्त रहता है, उतने पशु-पक्षी नहीं। उनके समक्ष भय का कारण उपस्थित होने पर वे डरते हैं, कारण के दूर होते ही वे निश्चिन्त हो जाते हैं। किन्तु मनुष्य— वर्षों बाद आनेवाले भय की चिन्ता में भी घुला रहता है। इसी प्रकार आपत्ति का समय बीत जाने पर भी उसे स्मरण कर-करके ही सन्तप्त (संत्रस्त) रहता है, अतः इसमें भी मनुष्य का पलड़ा हल्का है।

श्लोक में चौथी बात 'सन्तानोत्पत्ति' की है। पशु और पक्षियों का ऋतुगमन का समय निश्चित होता है। उस समय के बीतने पर नर और मादा साथ-साथ रहते हुए भी काम के वशीभूत नहीं होते। मनुष्य इनमें से किसी भी मर्यादा के साथ बँधा हुआ नहीं है। अतः इन चारों बातों में मनुष्य से पशु-पक्षी अच्छे हैं। यदि मनुष्य धर्महीन है, तो पशुओं से कहीं अधिक निकृष्ट है।

महर्षि कणाद ने संसार में भौतिक दृष्टि से ऊँची-से-ऊँची स्थिति दिलानेवाले ऐहिक कर्त्तव्यों तथा मोक्षसुख का अधिकारी बनानेवाले पारमार्थिक कर्त्तव्यों, दोनों को ही धर्म माना है। ऋषि के शब्द हैं— **''यतोऽभ्युदयनिःश्रेयस्सिद्धः स धर्मः।''** यहाँ मन्त्र में श्रद्धापूर्वक ईश्वर-चिन्तन के द्वारा मेधा को प्राप्त करने की बात कही गई है। मन्त्र में **''मनसा धियं सचेत''** में **''मनसा''** (श्रद्धा से) शब्द महत्त्वपूर्ण है। भक्ति में यदि श्रद्धा नहीं तो वह निष्प्राण कलेवर के समान है। वह ईश्वर-भजन का दिखाता तो है, किन्तु उससे आत्मा में जो उत्कर्ष आना चाहिए, वह नहीं आता।

श्रद्धापूर्वक ईश्वर-चिन्तन मनुष्य के मुख्य कर्त्तव्यों में सर्वप्रथम है।

प्रभु का भजन अथवा जप, भावना और श्रद्धा के साथ होना चाहिए। बिना भावना के भजन निरर्थक है। उसका मन पर कोई प्रभाव नहीं होता। भक्ति के क्षेत्र में अनेक प्रकार के भ्रान्तिपूर्ण ढर्रे पड़ गए हैं, जिनसे लाभ के स्थान पर हानि होती है। अनेक लोग मालाओं से प्रणव-जप करते हैं, गायत्री-मन्त्र की माला फेरते हैं। उनके इस जप का विश्लेषण किया जाय तो यह है कि जीभ तो ओम्-ओम् मुख में बोल रही है और गणना के लिए अंगुलियों में माला के मनके घूम रहे हैं तथा मन न जाने कहाँ-कहाँ दौड़ रहा है। जैसाकि इसी भाव का शब्दचित्र कबीर ने उतारा है—

माला तो कर में फिरै, जीभ फिरै मुख माहिं।
मनुआ तो चहुँ दिसि फिरै, यह तो सुमिरन नाहिं॥

उर्दू के प्रसिद्ध शायर अकबर इलाहाबादी ने भी अच्छा लिखा है—

नामे-ख़ुदा को 'अकबर' ज़ेबे-ज़ुबाँ तो पाया।
इश्क़े - बुताँ को लेकिन नक़्शे - क़ल्ब देखा॥

'यूँ तो प्रभु का नाम भक्तों की जीभ पर शोभित पाया, किन्तु सांसारिक प्रेमियों के चित्र हृदय के अन्दर विराजते हैं!' भक्ति की इस स्थिति का मन को पवित्र करने में कोई स्थान नहीं। हाँ, बिगाड़ अवश्य होता है। प्राय: ऐसे भक्तों को अपने जप की मालाओं की संख्या पर ही घमण्ड हो जाता है। वे अपने को पहुँचा हुआ और दूसरे को नास्तिक कहने लगते हैं। इससे तो वे भजन का दम्भ न करें तो अच्छे रहें—स्वयं भी अहंकार से बचेंगे और दूसरे लोग भी भ्रम में फँसने से बचेंगे।

अत: मन्त्र में पहला परामर्श है कि श्रद्धा और भावनापूर्ण मन से प्रभु का भजन करो। उससे ही जीवन पर प्रभाव होगा। किसी शायर ने बहुत उत्तम कहा है—

ख़ुलूसे-दिल से हो सिज्दा, तो उस सिज्दे के क्या कहने!
वहीं क़ाबा सरक आया, जबीं मैंने जहाँ रख दी॥

भावनापूर्ण हृदय से प्रभु-स्मरण किया जाय तो यह बहुत होगा। फिर तो भक्त प्रत्येक क्षण आनन्द के झूले में झूलेगा। श्रद्धा और भावना मनौती की वस्तु नहीं हैं। उनका आधार सत्य पर होना चाहिए। श्रद्धा शब्द दो शब्दों के मेल से बना है—**श्रत्-धा**, श्रत् का अर्थ है सत्य और धा का अर्थ है धारण करना, अर्थात् पहले ऊहापोह से सत्य को जानो और फिर उसे धा=धारण करो, आचरण में लाओ, तो उसे श्रद्धा कहते हैं। केवल जानना भी निरर्थक है, जबतक कि वह ज्ञान क्रिया के साथ न जुड़े। श्रद्धा के स्वरूप के विषय में वेद ने स्पष्ट कहा है—

दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत् सत्यानृते प्रजापतिः।
अश्रद्धामनृतेऽदधाच्छ्रद्धाꣳ सत्ये प्रजापतिः॥

—यजु० १९।७७

—प्रभु ने सत्य और असत्य के स्वरूप का विश्लेषण कर दिया है। अनृत को अश्रद्धा के साथ जोड़ा है और श्रद्धा को सत्य के साथ।

सश्रद्ध होकर प्रभु-भजन का क्या लाभ होगा? इसका उत्तर कपिल मुनि ने सांख्यदर्शन के पहले सूत्र में दिया है—"**अथ त्रिविधदुःखात्यन्त-निवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः**"—आधिदैविक, आधिभौतिक और आध्यात्मिक, तीन प्रकार के ये दुःख मानवमात्र को संत्रस्त रखते हैं; इनसे छुटकारे का एक उपाय प्रभु की उपासना ही है। इसी को सांख्यकार ने 'अत्यन्त पुरुषार्थ' कहा है। वेद ने भी कहा—"**तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।**"—'इस त्रयताप से छुटकारा प्रभु के साक्षात्कार से ही होता है।' सांसारिक साधनों से हम अल्पकालिक उपाय तो कर लेते हैं, किन्तु कुछ समय के बाद वह विभीषिका फिर वैसी-की-वैसी

ही सम्मुख आ खड़ी होती है। यही बात सांख्यकार ने कही कि—"**न दृष्टात् तत् सिद्धिर्निवृत्तेऽप्यनुवृत्तिदर्शनात्।**"—सांसारिक वस्तुओं द्वारा उन दुःखों से पीछा नहीं छूट सकता, क्योंकि "**निवृत्तेऽप्यनुवृत्ति-दर्शनात्**"—थोड़ी देर के लिए उनकी निवृत्ति होती है और फिर वे वैसे-के-वैसे ही सम्मुख आ खड़े होते हैं। भूख लगने पर भोजन लेने से वह कष्ट निवृत्त लगता है, किन्तु कुछ घण्टों के बाद वह सङ्कट उसी प्रकार फिर आ उपस्थित होता है। यह कुछ घण्टे के बाद की बात भी मोटे रूप से सोचने में ही है। वास्तविक स्थिति यह है कि भोजन समाप्त करते ही भूख शनैः-शनैः उभरने लगती है, चाहे वह एक ग्रास का भी कुछ ही भाग क्यों न हो। अतः इससे पीछा छुड़ाने का एकमात्र उपाय प्रभु-दर्शन है। इसी बात को श्वेताश्वतरोपनिषद् के ऋषि ने बहुत काव्यमय ढङ्ग से कहा है—

यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः।
तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति॥ —६।२०

'जब लोग चमड़े के समान आकाश को लपेटने में समर्थ हो जावेंगे, तब सम्भवतः प्रभु को जाने बिना दुःखों से छूट सकेंगे।' सार यह निकला कि जिस प्रकार आकाश का चर्मवत् वेष्टन (लपेटना) असम्भव है, उसी प्रकार प्रभु को जाने बिना दुःखों से छूटना भी सम्भव नहीं है, अतः मन्त्र की पहली बात हुई कि भावनापूर्ण हृदय से प्रभु का भजन करना चाहिए।

मन्त्र की दूसरी बात है भक्ति से मनुष्य विवेकी बनके सत् और शुभ कर्म करेगा। उसकी विद्या ज्ञान के प्रकाश का कार्य करेगी। उसका धन अभावग्रस्त समाज की आवश्यकताओं का पूरक होगा। उसकी शक्ति और क्षमता गिरतों को उठाएगी। यह भी ईश्वर-भक्ति ही है। वह भक्ति चिन्तन के द्वारा थी और यह कर्म के द्वारा। वास्तव में देखा जाय तो यह दूसरा पक्ष अधिक महत्त्वपूर्ण है। जो-कुछ अपने पास हो, उसे दूसरों के लिए अर्पित करना, यह देवत्व है। इस भक्ति का लाभ यह होगा कि मनुष्य ऊँचा उठकर देव बन जाएगा।

प्रभु-भक्ति से बुद्धि निर्मल होती है और मनुष्य पवित्र कर्म करता है। गौतम मुनि ने न्यायदर्शन में इसका क्रमिक और सुन्दर वर्णन किया है—"**दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापाया-दपवर्गः**"—'बुद्धि के निर्मल होने पर ही मिथ्याज्ञान, अर्थात् अविद्या के फन्दों से मनुष्य बचेगा।' अविद्या के विषय में पतञ्जलि ऋषि ने योगदर्शन में कहा है—"**अनित्याशुचिदुःखानात्मासु नित्यशुचिसुखात्म-ख्यातिरविद्या**"—'अनित्य संसार और शरीर आदि को नित्य मानना, अर्थात् जो कार्यजगत् देखने-सुनने में आ रहा है उसे यह समझना कि वह सदा से है और सदा रहेगा, यह अविद्या का पहला अङ्ग है।' अशुचि,

मलमय शरीर और मिथ्याभाषण व चोरी आदि अपवित्र कामों को पवित्र समझना, दूसरा अङ्ग है। अमर्यादित विषय-सेवनरूप दुःख में सुख समझना, अविद्या का तीसरा अङ्ग है और अनात्मा में आत्मबुद्धि रखना अविद्या का चौथा अङ्ग है। इस प्रकार यथार्थ ज्ञान होने पर दूषित कर्मों में प्रवृत्ति समाप्त हो जावेगी। इस प्रवृत्ति के समाप्त होने पर जन्म और भोग का झंझट समाप्त हो जाएगा, और जब शरीर का बन्धन ही न रहा तो दुःख स्वतः समाप्त हो गए। सब झगड़ों की जड़ तो शरीर ही है। किसी उर्दू के शायर ने इस सम्बन्ध में बड़े पते की बात कही है।

ज़िन्दगी ये कहके दी रोज़े-अज़ल[1] उसने मुझे,
यह हक़ीक़त ग़म की ले और राहतों के ख़्वाब देख!

किन्तु यह साधना का मार्ग लिखने और कहने में जितना छोटा और सामान्य लगता है, इसका क्रियात्मक रूप उतना ही कष्ट-साध्य है। निरन्तर जागरूक रहकर तलवार की धार पर चलने के समान कठिन है। किसी संस्कृत के कवि ने ठीक ही कहा है—

विषस्य विषयाणाञ्च दूरमत्यन्तमन्तरम्।
उपभुक्तं विषं हन्ति विषयाः स्मरणादपि॥

'विष से विषय कहीं अधिक भयङ्कर हैं। विष तो खाने पर ही मारता है, किन्तु विषय तो स्मरणमात्र से ही विनाश कर देते हैं।' अतः शास्त्रकारों ने इस मार्ग के पथिक को स्थान-स्थान पर सावधान किया है। पतञ्जलि ऋषि ने कहा है—

"**स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः**"—'इस मार्ग पर दीर्घकाल तक यात्रा करनी होगी। साधना, भजन और मनन भी निरन्तर चलेगा, वह भी सावधानी से और श्रद्धापूर्वक।' तब पैर डगमगाने बन्द होंगे और मुसाफ़िर की मंज़िल पर पहुँचेगा। मार्ग कठिन अवश्य है, किन्तु साहसी लोग पार जाते ही हैं—

चले चलिये कि चलना भी दलीले-कामरानी[2] है।
जो थककर बैठ जाते हैं, उन्हें मंज़िल नहीं मिलती॥

महर्षि व्यास ने कहा—"**अथैते विक्षेपाः समाधिप्रतिपक्षास्ताभ्या-मेवाभ्यासवैराग्याभ्यान्निरोद्धव्याः**"—'समाधि में विघ्न डालनेवाले विक्षेपों पर भी अभ्यास और वैराग्य से ही विजय पाई जा सकती है।' एक साधक भी रहेगा तो संसार में ही, केबल उसे समाज में व्यवहार का दृष्टिकोण बदलना पड़ेगा। उसे दुनिया में दुःखी और सुखी, पापी और पुण्यात्मा सभी मिलेंगे, पर किससे कैसे निपटे कि साँप भी मर जाय और लाठी भी न टूटे? इस सम्बन्ध में भी महर्षि पतञ्जलि ने अच्छा परामर्श दिया है—"**मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां**

---

१. सृष्टि के प्रारम्भिक दिन, २. सफलता का लक्षण।

भावनातश्चित्तप्रसादनम्।'' ऋषि ने कहा—'जो संसार में तुम्हें सुखी प्रतीत हों उनसे मैत्रीभाव रक्खो, उनकी सुख-सामग्री को देखकर प्रसन्न होओ! दु:खियों को देखकर आपका चित्त द्रवित होना चाहिए और उनके कष्ट-निवारण में सहयोग करना चाहिए। पुण्यात्माओं के पवित्र कर्मों के कारण समाज में उनके यश और सम्मान को देखकर मुदित होना चाहिए। समाज में व्यसनी और कुमार्गगामियों के प्रति उपेक्षा का भाव रखिये। ऐसों की शत्रुता और मित्रता दोनों ही बुरी हैं।' इस विषय में रहीम ने बहुत उत्तम कहा है—

रहिमन ओछे नरन सों, वैर भलो न प्रीति।
काटे चाटे श्वान के, दोऊ भाँति अनीति॥

'कुत्ते से प्यार करेंगे तो वह चाटेगा और लड़ेंगे तो वह काटेगा। इसलिए उससे उपेक्षा ही ठीक है।' और अधिक पथ-प्रदर्शन की आवश्यकता हो तो सत्यार्थप्रकाश का नवम समुल्लास देखिये।

मन्त्र की तीसरी बात है—आराधना और साधना के लिए कौन-सा समय उपयुक्त है? तो मन्त्र में बताया कि प्रातः ब्राह्म-मुहूर्त्त से लेकर सूर्योदय तक का समय इस साधना के लिए सर्वोत्तम है।

यों तो प्रत्येक समय और प्रत्येक कार्य करते समय हमें प्रभु का ध्यान करना चाहिए, तभी हम दुष्कर्मों से बच सकते हैं। यदि एक व्यक्ति प्रात:काल घर में उठकर प्रभु-भजन करता है और वह दुकान पर जाकर जिस मर्यादा का पालन करना चाहिए, नहीं करता या कार्यालय में जाकर रिश्वत के प्रलोभन में फँस जाता है, तो वह क्या भक्ति है? ऐसी भक्ति से तो भक्ति का मार्ग बदनाम ही होता है, क्योंकि ऐसे व्यक्ति के पूजा-पाठ से लोग उसको धार्मिक समझने के भ्रम में पड़ जाते हैं और धोखा खाते हैं। प्रतिक्रिया यह होती है कि भगवान् को स्मरण करनेवाले ये भक्तजन बहुत बेईमान होते हैं और संसार में नास्तिकता को बढ़ावा मिलता है। बहुत ही अच्छा लिखा है उर्दू के शायर अकबर ने—

ख़ुदा के बन्दों को देखकर ही, ख़ुदा से मुन्किर[१] हुई है दुनिया।
कि ऐसे बन्दे हैं जिस ख़ुदा के, वो कोई अच्छा ख़ुदा नहीं है॥

अत: ईश्वर को स्मरण करने का अर्थ है—प्रत्येक काम को पवित्रतापूर्वक मर्यादाओं की रक्षा करते हुए करना चाहिए। ईश्वर के भजन में स्थान और समय का भी बहुत महत्त्व होता है। ऐसा तो है नहीं कि कोई भी प्रात: आँख मींचकर बैठ जाए तो एक-साथ भक्ति का स्रोत फूट पड़ेगा। हाँ, यदि अन्त:करण में कुछ सात्त्विकता है और बाहर से चित्तवृत्तियों को हटाकर एकाग्र करना चाहता है तो इस कार्य में शान्त-स्थान और ब्राह्म-मुहूर्त्त का समय अवश्य ही सहायक होता

---

१. नास्तिक।

है। यदि चित्त में सात्त्विकता नहीं है तो इसके विपरीत भी हो सकता है। ठीक ही कहा है भर्तृहरि ने—

स्थानं विविक्तं यमिनां विमुक्तये, कामातुराणां मदकामकारणम्॥

'एकान्त-स्थान साधकों के लिए सिद्धि में सहायक होता है, किन्तु वही एकान्त-स्थान विषयी और कामियों की दुर्वासनाओं को और भी भड़कानेवाला होता है।' अत: स्थान और समय, ये दोनों ऐसे बाह्य-साधन हैं, जो चित्तगत विचारों को प्रेरणा देकर प्रदीप्त कर देते हैं। यही बात एक उर्दू के शायर ने भी सुन्दर ढङ्ग से कही है—

न ख़िज़ाँ[1] में है कोई तीरगी[2], न बहार में कोई रौशनी।

ये नज़र-नज़र के चिराग़ हैं, कहीं जल गए कहीं बुझ गए॥

प्रात: का समय बहुत सुहावना और सात्त्विक होता है। इस समय में चित्तवृत्ति सरलता से शान्त होकर एकाग्र हो जाती है। इसलिए सूर्योदय के समय का विशेष रूप से उल्लेख मन्त्र में किया गया। इसके साथ यदि पर्वत की उपत्यका या अधित्यका अथवा नदियों का सङ्गम-स्थल हो तो और भी अनुकूलता होगी। इस सम्बन्ध में स्वयं वेद ने प्रेरणा की है—

उपह्वरे गिरीणां सङ्गमे च नदीनाम्। धिया विप्रो अजायत॥

—यजु० २६।१५

'पर्वत की कन्दराओं में और नदियों के सङ्गम पर मनुष्य की बुद्धि सात्त्विक हो जाती है।' अत: मन्त्र में कहा गया है कि प्रात: के समय को प्रभु-ध्यान में लगाना चाहिए।

सायंकाल की सन्ध्या सूर्यास्त के समय से प्रारम्भ करके "**आऋक्षविभावनात्**"—'जबतक भले प्रकार तारे निकल आवें, तबतक करनी चाहिए। प्रात: जबतक तारे दीखें, तब से प्रारम्भ करके सूर्योदय तक करनी चाहिए।' यूँ तो आस्तिक को प्रत्येक समय प्रभु का स्मरण करना चाहिए और प्रतिक्षण प्रभु को साक्षी मानकर ही काम करना चाहिए, तभी आचार-विचार शुद्ध रह सकते हैं।

भजन के लिए स्थान का भी महत्त्व है। स्थान शुद्ध, पवित्र और शान्त होना चाहिए। मनु का परामर्श तो है—

अपां समीपे नियतो नैत्यिकीं विधिमास्थित:।
सावित्रीमप्यधीयीत गत्वारण्यं समाहित:॥

—२।१०४

'सन्ध्या-वन्दन पानी के पास करना चाहिये, अर्थात् नदी अथवा

---

१. पतझड़, २. अँधेरा।

तालाब के किनारे; और वनप्रदेश हो तो और भी अच्छा है।' आशय यह है कि जल के समीप चित्त शान्ति अनुभव करता है। इसी प्रकार चित्त-शमन में एकान्त रम्य वन भी सहायक होता है।

आजकल इसमें शिथिलता आ गई है। प्राचीनकाल में इन मर्यादाओं का कठोरता से पालन किया जाता था। महर्षि मनु ने तो यहाँ तक लिखा है कि—

न तिष्ठति तु यः पूर्वां नोपास्ते यस्तु पश्चिमाम्।
स शूद्रवद् बहिष्कार्यः सर्वस्माद् द्विजकर्मणः॥

—२।१०३

'जो प्रातः और सायं सन्ध्या नहीं करता, वह शूद्र के समान सब द्विज-कर्मों का अनधिकारी है।' रामायण और महाभारत में स्थल-स्थल पर आप पढ़ेंगे कि प्रातः और सायं सन्ध्या का समय होते ही उस युग में लोग आवश्यक-से-आवश्यक कार्यों को छोड़कर भजन के लिए बैठ जाते थे।

ईसाई, मुसलमान और सिखों की अपेक्षा हिन्दूमात्र में तो यह शिथिलता है ही, और पारिवारिक दृष्टि से आर्यसमाजी तो और भी प्रमादी हैं। यत्नपूर्वक यह बुराई दूर होनी चाहिए तथा पारिवारिक सम्मिलित सन्ध्या की प्रथा डालनी चाहिए।

□□

(९)

यशस्वी और गौरवयुक्त जीवन बिताओ!

आयु॑षायु॒ष्कृतां॑ जी॒वायु॑ष्मा॒ञ्जीव॒ मा मृ॑थाः।
प्रा॒णेना॑त्म॒न्वतां॑ जीव॒ मा मृ॒त्योरुद॑गा॒ वश॑म्॥

—अथर्व० १९।२७।८

ऋषिः—भृग्वंगिराः॥ देवता—त्रिवृत्॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

अन्वयः—आयुष्कृतां आयुषा जीव आयुष्मान् जीव मा मृथाः। आत्मन्वतां प्राणेन जीव मृत्योः वशं मा उत् अगाः॥

शब्दार्थ—(**आयुःकृतां**) जीवन बनानेवालों के (**आयुषा**) जीवन के साथ (**जीव**) तू जीवित रह, (**आयुष्मान्**) उत्तम जीवनवाला होकर (**जीव**) तू जीवित रह। (**मा मृथाः**) तू मरे नहीं (**आत्मन्वताम्**) आत्मावालों के (**प्राणेन**) जीवन-सामर्थ्य से (**जीव**) तू जीवित रह (**मृत्योः**) मृत्यु के (**वशम्**) वश में (**मा उत् अगाः**) मत जा!

व्याख्या—शास्त्रीय दृष्टि से मानव-जीवन कर्म-योनि और भोग-योनि दोनों है। कुछ हमारे कर्मों का भोग शेष था, उन्हें भोगने के लिए तथा ज्ञानपूर्वक ऐसे नवीन कर्म करने के लिए, जो दुःखों से मुक्ति दिला दें, उसी उद्देश्य की पूर्त्ति के लिए यह मानव-शरीर मिला है। शास्त्र में लिखित है—

''**भोगापवर्गार्थं दृश्यम्**''—'दृश्य, अर्थात् संसार में आने का उद्देश्य भोग तथा अपवर्ग दोनों हैं।'

संसार में सफलतापूर्वक जीने के लिए बहुत बड़ी तैयारी व योग्यता की आवश्यकता है। किसी शायर ने इस बात को बहुत सुन्दरता से कहा है—

आसान नहीं इस दुनिया में, ख़्वाबों के सहारे जी सकना।
रंगीन हक़ीक़त है दुनिया, यह कोई सुनहरा ख़्वाब नहीं॥

संसार की प्रतिकूलताओं को अपनी योग्यता, पुरुषार्थ और वीरता से अनुकूल बनाकर न केवल स्वयं के लिए, अपितु सम्पूर्ण समाज के लिए मार्ग प्रशस्त कर उसे सुखद बनाना ही जीवन है।

आज हमें जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में बहुविध सुख-सुविधाएँ उपलब्ध हैं। सृष्टि के प्रारम्भ के मनुष्य के पास सर्दी, गर्मी, वर्षा और अन्धड़ से बचने के लिए कुछ भी साधन नहीं था। हाँ, ईश्वरीय ज्ञान के रूप में गृह-विद्या का परिमित-सा ज्ञान था। उसी ज्ञान के आधार पर क्रियात्मक क्षेत्र में उतरकर सब सुख-सुविधाओं से युक्त स्थापत्य कला का जिन्होंने आविष्कार और विकास किया, वास्तव में उन्हीं के जीवन को जीवन कहा जा सकता है। इसी प्रकार मानव-सभ्यता के सर्वाङ्गीण विकास की चुनौती को सफलतापूर्वक जिन्होंने स्वीकार किया, उन्हीं का जीवन सार्थक माना जा सकता है।

मन्त्र में "**आयुष्कृताम् आयुषा जीव**"—"जीवितों की तरह जी" विशेष साभिप्राय वाक्य है और इसमें भी "**आयुष्मान् जीव मा मृथाः**"—"हे जीवन से परिपूर्ण प्राणी! तू मरे नहीं" इस मन्त्र-भाग ने विशेष चमत्कार पैदा कर दिया है। यहां स्पष्ट है कि यथा-तथा समय-यापन, जीवन नहीं है, अपितु मृत्यु है। इसका अभिप्राय यह है कि जीवन के उच्चतम आदर्शों का पालन करते हुए मृत्यु का वरण करना भी जीवन है और उद्देश्यहीन, खा-पीकर लम्बे समय तक जीवित रह जाना भी मृत्यु है। किसी नीतिकार ने इस भाव को इन शब्दों में अभिव्यक्त किया है कि—"**काकोऽपि जीवति चिराय बलिञ्च भुङ्क्ते**"—कौआ भी देर तक जीवित रह जाता है और खाता-पीता रहता है। ऐसा जीना कोई जीना नहीं। फिर मन्त्र में "**आयुष्मान् जीव मा मृथाः**"—'हे चिरञ्जीवि जीव! तू मरे नहीं' और "**मा मृत्योरुदगा वशम्**"—'तू मृत्यु के चङ्गुल में मत फँस!' एक ही बात कुछ शब्दों में हेर-फेर से बल डालने के लिए दो बार कह दी गई है।

निश्चय ही यह जीवन और मृत्यु किसी शरीर के साथ जीव के मिलने वा बिछुड़ने की कहानी नहीं है। जो इस संसार में आया है, वह मरेगा अवश्य। "**जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।**" गीता की इसी बात को किसी शायर ने भी कहा है—

जो यह समझा नहीं अब तक भी, वो सौदाई है।
ज़िन्दगी मौत को भी, साथ लगा लाई है॥

किन्तु किसी विशेष उद्देश्य की पूर्त्ति के लिए जो अपने-आपको समर्पित करके अपने प्राणों तक को होम देते हैं, वे शरीर त्यागकर भी अमर हो जाते हैं।

संसार के इतिहास में लाखों और हज़ारों वर्षों के पश्चात् भी जिनके नाम और कामों से लोग प्रेरणा लेते हैं, निःसन्देह उनके भौतिक शरीर का ही विनाश हुआ है, उनका यशः-शरीर अजर और अमर है। इसी का नाम जीवन है।

राम, सीता, लक्ष्मण और भरत लाखों वर्षों के बाद भी हमारी प्रेरणा के स्रोत हैं। कृष्ण, युधिष्ठिर, अर्जुन और भीम हज़ारों वर्ष बाद भी लगता है, कल तक हमारे मध्य में थे। ऐसे लोगों को ही काल-जयी कहा जा सकता है।

किन्तु गरिमा के पात्र वही बन सके हैं, जो कर्त्तव्य-पालन के उच्च धरातल से प्राणों की चिन्ता किये बिना रञ्चमात्र भी पीछे नहीं हटे। इस स्थिति के लिए ही बहुत सुन्दर कहा है उर्दू के शायर जिगर मुरादाबादी ने—

हसीन लाख सही सोहबते-गुलों[1] की मगर,
वो ज़िन्दगी है जो काँटों के दर्मियाँ गुज़रे।

---

१. फूलों की संगति।

किसी दूसरे शायर ने भी लिखा है—

सूँघकर कोई मसल डाले तो ये है गुल की ज़ीस्त[१]।
मौत उसके वास्ते टहनी पे मुर्झाने में है॥

कर्त्तव्य-पालन में वीरतापूर्वक सर-धड़ की बाज़ी लगाकर अड़ जाना और इसी मध्य यदि मृत्यु आ जाय तो प्रसन्नता से उसका आलिंगन भी जीवन है। अंग्रेज़ी के विद्वान् H.W. रॉबर्टसन ने प्रेरणाप्रद विचार प्रकट किये हैं—

To stand with a smile upon your face against a stake from which you cannot get away that, no doubt, is heroic. But the true glory is resignation to the inevitable. To stand unchained, with perfect liberty to go away, held only by the higher claims of duty and let the fire creep up to the heart, this is heroism. —*H.W. Robertson*

'कर्त्तव्य-पालन के लिए यदि किसी व्यक्ति को जलते हुए खम्भे के साथ शृङ्खलाओं से जकड़ दिया जाय, जिससे वह भाग न सके और वह व्यक्ति इस अवस्था में भी अपने मुख पर घबराहट न आने दे, नहीं-नहीं, वह मुस्कराता रहे—निश्चय ही ऐसा व्यक्ति बड़ा वीर और साहसी है। परन्तु अस्ली वीरता वह है जब अनिवार्य के सामने व्यक्ति आत्म-समर्पण करता है, प्रसन्नता से उसके हाथों और पैरों में किसी प्रकार की शृङ्खला नहीं बँधी होती और चाहे तो वह भाग सकता है, लेकिन वह भागता नहीं, क्योंकि वह कर्त्तव्य-पालन की पवित्र शृङ्खला से जकड़ा हुआ है, भले ही खम्भे की आग उसे पूरी तरह जला दे। ऐसा नररत्न निश्चय से वीर-शिरोमणि है।'

ऐसे ही महापुरुष जीवन के रहस्य को समझते हैं और वे अमर होकर मानव-समाज के प्रेरणा-स्रोत बने रहते हैं।

पापियों, कायरों और कर्त्तव्य-विमुखों का जीवन, जीवन नहीं, मृत्यु है। महाभारत में माता विदुला का रण से अपनी जान बचाकर भागे अपने पुत्र को भर्त्सनापूर्ण उद्बोधन समाज के जीवन में प्राण फूँकनेवाला है। उसका अपेक्षित अंश प्रासङ्गिक होने से यहाँ उद्धृत करते हैं—

विदुला नाम राजन्या जगर्हे पुत्रमौरसम्।
निर्जितं सिन्धुराजेन शयानं दीनचेतसम्॥

—महा० ५।१३१।४

—सिन्धुराज से पराजित होकर, भयभीत, छिपकर सोये हुए अपने सगे बेटे को विदुला नाम की क्षत्रिया ने निन्दा करते हुए फटकारा—

उत्तिष्ठ हे कापुरुष! मा शेष्वेवं पराजितः!
अमित्रान्नन्दयन् सर्वान्निर्मानो बन्धुशोकदः॥७॥

---

१. जीवन।

—शत्रुओं को आनन्द देनेवाले और बन्धुओं को शोक में डुबोनेवाले हे कायर! उठ खड़ा हो, पराजित होकर ऐसे पड़कर मत सो!

अप्यहेरारुजन् दंष्ट्रामाश्वेव निधनं व्रज।
अपि वा संशयं प्राप्य जीवितेऽपि पराक्रमः॥ ९॥

—या तो साँप के मुँह में हाथ देकर शीघ्र मर जा, अथवा अपने प्राणों को भी संशय में डालकर शत्रु पर आक्रमण कर।

त्वमेवं प्रेतवच्छेषे कस्माद् वज्रहतो यथा।
उत्तिष्ठ हे कापुरुष! मा स्वाप्सीः शत्रुनिर्जितः॥ ११॥

—तू वज्र से मारा हुआ-सा मुर्दा बना क्यों सो रहा है? हे कायर! उठ खड़ा हो, शत्रु से पराजित होकर मत सो!

मास्तं गमस्त्वं कृपणो विश्रूयस्व स्वकर्मणा!
मा मध्ये मा जघन्ये त्वं माधोभूस्तिष्ठ गर्जतः॥ १२॥

—तू भयभीत होकर समाप्त मत हो! तू अपने पराक्रम से विख्यात हो! तू निन्दनीय, नीच स्थिति और साधारण स्थिति से उबर! तू सिंहनाद करता हुआ खड़ा हो जा!

अलातं तिन्दुकस्येव मुहूर्त्तमपि हि ज्वल!
मा तुषाग्निरिवानर्चिर्धूमायस्व जिजीविषुः॥ १३॥

—तिन्दुक के अङ्गारे के समान चाहे क्षणभर के लिए ही सही, उद्दीप्त होकर जल! चावल की भूसी की बिना ज्वाला की, धुएँ से घिरी आग के समान जीने की इच्छा मत कर!

उद्भावयस्व वीर्यं वा तां वा गच्छ ध्रुवां गतिम्।
धर्मं पुत्राग्रतः कृत्वा किं निमित्तं हि जीवसि॥ १६॥

—हे पुत्र! धर्म को लक्ष्य करके या तो अपनी वीरता की धाक जमा अथवा मृत्यु का वरण कर! यदि ये दोनों नहीं हैं, तो जीवन निरर्थक है।

इस फटकार से चकित और दुःखी होकर संजय ने माता से कहा—

किं नु ते मामपश्यन्त्याः पृथिव्या अपि सर्वथा।
किमाभरणकृत्यं ते किं भोगैर्जीवितेन वा॥ ३६॥

—हे मातः! मेरे मरने पर, मुझे बिना देखे, तुझे सारी पृथिवी भी यह प्राप्त हो जाय, तो उससे क्या लाभ होगा? तेरा सब पहनना-ओढ़ना, खाना-पीना और यहाँ तक कि जीवन भी सब निरर्थक हो जाएगा।

विदुला ने उत्तर दिया—

स्वबाहुबलमाश्रित्य योऽभ्युज्जीवति मानवः।
स लोके लभते कीर्तिं परत्र च शुभां गतिम्॥ ४२॥

—जो मनुष्य अपने बाहुबल पर भरोसा करके जीता है, वह संसार में यशस्वी होता है और शरीर-त्याग के बाद सद्गति का अधिकारी होता है।

खरीवात्सल्यमाहुस्तन्निःसामर्थ्यमहेतुकम्॥

—महा० ५।१३३।६

—अयुक्त और अशक्त बात कहकर मैं मोहवश तेरे त्रुटिपूर्ण कार्यों का भी समर्थन करूँ तो यह मेरा वात्सल्य उसी प्रकार होगा जैसा गधी अपने बच्चे से करती है।

युद्धाय क्षत्रियः सृष्टः सञ्जयेह जयाय च।
जयन्वा वध्यमानो वा प्राप्नोतीन्द्र सलोकताम्॥

—महा० ५।१३३।११

—हे सञ्जय! क्षत्रिय इस संसार में युद्ध के लिए और विजय के लिए बना है। युद्ध में चाहे जीते और चाहे वीरगति को प्राप्त हो, दोनों ही अवस्थाओं में वह स्वर्ग-प्राप्ति करता है।

कृत्वा सौम्यमिवात्मानं जयायोत्तिष्ठ सञ्जय!

—महा० ४।१३४।७

हे सञ्जय! तू अपने स्वरूप को प्रभावशाली बनाकर विजय प्राप्त करने के लिए खड़ा हो जा।

एक माता के कर्त्तव्य-विमुख और पथभ्रष्ट पुत्र को कर्त्तव्य-परायण करने के लिए कैसा जीवनदायी उद्बोधन है! माता की इस भर्त्सना का यह प्रभाव हुआ कि सञ्जय फिर शत्रु से युद्ध करने गया और विजयी हुआ।

अतः कर्त्तव्य-पालन में यदि मृत्यु भी हो जाय तो जीवन है, क्योंकि यह मृत्यु दूसरों के लिए प्रकाश-स्तम्भ का काम करती है। इसी प्रकार निन्दनीय और जघन्य कृत्यों में लिप्त होकर देर तक जीवित रहे भी, तो वह क्या जीवन है? वह तो मृत्यु ही है।

आर्यों का सम्पूर्ण इतिहास इसी भावना से ओत-प्रोत है। यहाँ यश और कर्त्तव्यपरायणता को ही जीवन माना है। श्रीकृष्ण ने अर्जुन को उद्बोधन में यही कहा—

सम्भावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते।

—गीता २।३४

—सम्मानित व्यक्ति का अपयश होना मृत्यु से भी बढ़कर है।

आचार्य शुक्र ने कहा है—

अकीर्तिरेव नरको नान्योऽस्ति नरको दिवि।

—अपयश ही नरक है। नरक कहीं अन्यत्र आकाश में नहीं है।

महाभारत का युद्ध प्रारम्भ होते समय युधिष्ठिर की प्रार्थना पर पितामह भीष्म ने दोनों ओर के सैनिकों को उपदेश देते हुए कहा—

अधर्मः क्षत्रियस्यैष यद् व्याधिमरणं गृहे।
यत्राजौ निधनं याति सोऽस्य धर्मः सनातनः॥

—क्षत्रिय के लिए यह पाप की बात है कि वह बीमारी से घर में प्राण त्याग करे। उसकी प्राचीन मर्यादा यही है कि वह शत्रुओं से युद्ध करता हुआ रणभूमि में अपने प्राणों का परित्याग करे।

पराशर ऋषि ने कहा है—

द्वाविमौ पुरुषौ लोके सूर्यमण्डलभेदिनौ।
परिव्राड् योगयुक्तश्च रणे चाभिमुखो हतः॥

—परमगति को प्राप्त करनेवाले संसार में दो ही होते हैं—या तो आत्मज्ञानी योगी, जो प्रभु-चिन्तन में मग्न होकर अपने प्राणों का परित्याग करता है अथवा वह योद्धा, जो शत्रुओं का मानमर्दन करता हुआ वीरगति को प्राप्त करता है।

अन्त में महाराणा प्रताप के जीवन के अन्तकाल की मुर्दों में भी प्राणसञ्चार करनेवाली एक घटना का उल्लेख करके हम इस मन्त्र पर विचार समाप्त करेंगे।

महाराणा मृत्यु-शय्या पर पड़े छटपटाकर व्याकुलता से करवट बदल रहे हैं। उनकी इस समय की अधीरता उनके सामन्तों और सैनिकों को चकित और दुःखी कर रही है। उनके आश्चर्य का कारण यह था कि महाराणा जीवन-भर मृत्यु से कभी भयभीत और आतङ्कित नहीं हुए, किन्तु आज जब मृत्यु सम्मुख है तो वे उसे देखकर व्याकुल और कातर हैं—सो क्यों?

अन्ततः एक साहसी सामन्त ने महाराणा से हाथ जोड़कर पूछ ही लिया—"महाराणा! हम लोगों ने जीवन-भर आपको भयङ्कर-से-भयङ्कर सङ्कट के समय भी कभी व्याकुल और परेशान नहीं देखा। आप मृत्यु को सामने देखकर सदा मुस्कराए हैं, पर आज जब वस्तुतः जीवन के अवसान का समय आ गया प्रतीत होता है, तब आप बहुत व्याकुल प्रतीत होते हैं। यदि कोई ऐसी मानसिक चिन्ता हो जो आपको अशान्त कर रही हो, तो आप हमें आदेश दीजिये। हम आपके सेवक सिर-धड़ की बाज़ी लगाकर भी आपकी उस इच्छा को पूरा करेंगे।"

सामन्त की इस बात को सुनकर महाराणा ने उत्तर दिया—"तुम ठीक कहते हो। एक साधारण-सी घटना की स्मृति ने मुझे अशान्त कर रक्खा है और वह मुझे शान्ति से इस संसार से विदा नहीं होने देती।

बात इस प्रकार है—एक दिन मैं इसी झोंपड़ी में बैठा था। सामने की झोंपड़ी से मेरा पुत्र अमरसिंह निकला। अब ये झोंपड़ियाँ हैं, कोई महल नहीं। इनके द्वार भी ऐसे हैं, जिनमें से झुककर आना-जाना पड़ता है। निकलते हुए अमरसिंह की पगड़ी एक बाँस में उलझकर गिर गई। इस साधारण-सी बात पर वह आगबबूला हो गया और अपनी तलवार से रस्सी के बन्धन काटकर बाँस खींचकर पृथिवी पर फेंक दिया। इस घटना का मेरे ऊपर यह प्रभाव है कि मेरी मृत्यु के बाद अमरसिंह इन झोंपड़ियों में न रह सकेगा, वह महलों में रहेगा। फिर महलों की तथा घास-पत्तों और कुशा के बिछौनों की क्या सङ्गति? शानदार पलङ्ग आएँगे और उन पर मख़मली गद्दे बिछेंगे। इसके साथ ही खाने की पत्तलों की जगह चमचमाते सोने-चाँदी के थाल होंगे। जब ये सुख-सुविधा की

वस्तुओं के अभ्यस्त हो जावेंगे, फिर मुग़लों के साथ सीमित शक्ति रहते हुए सङ्घर्ष करने में जो तप अपेक्षित है, उससे चित्त कतराएगा और परिणाम यह होगा कि अन्य राजपूतों के समान बादशाह की आधीनता स्वीकार कर आराम से जीवन बिताने का निर्णय किया जाएगा। इस प्रकार मेरी सारी तपस्या व्यर्थ चली जाएगी। बस, यही बात है जो मुझे चैन से नहीं मरने देती।''

सब साथियों ने राणा की चिन्ता सुनकर म्यान से तलवारें खींच लीं और प्रतिज्ञा की कि राणा! जब तक हम जीवित हैं, आपके पुत्र को बादशाह के आगे नहीं झुकने देंगे।

महाराणा साथियों और सामन्तों की इस प्रतिज्ञा से आश्वस्त हो गए तथा प्रसन्नतापूर्वक थोड़ी ही देर में अपने प्राणों का परित्याग कर दिया।

उर्दू शायर जैमिनि (सोनीपती) ने महाराणा की मृत्यु का एक अच्छा शब्द-चित्र उपस्थित किया है—

कितना इबरतख़ेज़[1] है मंज़र ज़माने के लिए।
मौत मीठी नींद आई है सुलाने के लिए॥
जमा हैं अहबाब[2] और सबको कफ़न की फ़िक्र है।
मरनेवाले को मगर अब भी वतन की फ़िक्र है॥

ऐसी मृत्यु जातियों में जीवन-ज्योति जगाती है—

मौत यह मेरी नहीं, यह तो क़ज़ा[3] की मौत है।
क्यों डरूँ फिर इससे मैं, मरकर नहीं मरना मुझे॥

▭

मौत आसूदगी[4] का वक़्फ़ा[5] है।
यानी आगे चलेंगे दम लेकर॥

▭

बेदिलो - बेनवादो - कमनज़रो!
ज़िन्दा रहकर न रोज़ - रोज़ मरो!

▭

मौत की गर दवा नहीं मुमकिन,
ज़िन्दगी का तो कुछ इलाज करो!

▭

बिजलियाँ भी टूटेंगी, ज़लज़ले भी आएँगे।
फूल मुस्कुराए हैं, फूल मुस्कुराएँगे॥

▭

---

१. किसी की भयानक पीड़ा या अन्त को देखने का अनुभव।
२. लोगबाग; ३. काल; ४. संतृप्ति; ५. अन्तराल, इण्टरवल।

(१०)

जिसे बचावें वरुण, मित्र और अर्यमा, उसे मारे कौन?

१   २र   ३   १   २   ३   १   २   ३   १   २   ३   २
यं रक्षन्ति प्रचेतसो वरुणो मित्रो अर्यमा।

२   ३   १   २   ३   १   २
न किः स दभ्यते जनः॥ —साम० १८५

ऋषिः—कण्वः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—गायत्री॥

अन्वयः—(हे इन्द्र) यं प्रचेतसः वरुणः मित्रः अर्यमा रक्षन्ति स जनः न किः दभ्यते॥

शब्दार्थ—[हे इन्द्र] परमात्मन् अथवा राजन्! (**यम्**) जिस मनुष्य की (**प्रचेतसः**) महाज्ञानी (**वरुणः**) वरणीय (**मित्रः**) सुहृद् (**अर्यमा**) न्यायकारी (**रक्षन्ति**) रक्षा करते हैं, (**सः**) वह (**जनः**) मनुष्य (**न किः**) नहीं (**दभ्यते**) मारा जाता।

व्याख्या—इस मन्त्र में एक व्यक्ति की सफलता का रहस्य बताते हुए कहा है कि वह मनुष्य जिसके वरुण, मित्र और अर्यमा रक्षक हैं, कभी मारा नहीं जा सकता, अर्थात् आन्तरिक और बाह्य शत्रु उसे असफल नहीं कर सकते, दबा नहीं सकते। दूसरे शब्दों में भाव यह हुआ कि मनुष्य को अपना आचरण ऐसा बनाना चाहिए कि संसार के वरणीय श्रेष्ठ पुरुष उसके उदात्त चरित्र से प्रभावित होकर उसकी रक्षा करें। प्रेमी और मित्र भी सन्मार्ग में चलने की प्रेरणा करके रक्षा ही करनेवाले हों। न्यायप्रिय न्यायाधीश भी मर्यादा-पालन करनेवाले ऐसे व्यक्ति के रक्षक बनें।

मन्त्र में समाज के उत्तम कोटि के मनुष्यों के चार विशेषण दिये हैं। पहला—**प्रचेतसः**। व्यापक ज्ञान के आधार पर विवेकपूर्वक आचरण करनेवालों को प्रचेतस् कहते हैं। इस कोटि के उदात्त पुरुषों को किसी के विशेष गुण ही अपनी ओर आकृष्ट कर सकते हैं। **वरुण**=गुणों के आधार पर व्यक्तियों का वरण करनेवाले। ऐसे व्यक्तियों के सम्मुख गुणों की ही मुख्यता होती है। सांसारिक रिश्ते-नाते उनके समक्ष तुच्छ और नगण्य होते हैं। **मित्र**=जिनका स्नेह प्रत्येक प्रकार से त्राण करनेवाला होता है। ऐसे महापुरुष सम्पर्क में आनेवालों को बुराई से बचाते हैं, शुभ कर्मों में प्रेरित करते हैं। उनकी छिपाने योग्य बातों पर पर्दा डालते हैं। उनके सद्गुणों की समाज में प्रशंसा करते हैं। सङ्कट आने पर उसके प्रतिकारों में प्राणपण से साहाय्य करते हैं और आवश्यकता होने पर तो सब-कुछ दे देते हैं। जिसको संसार में ऐसे कृपालु मित्र मिल जावें, उसका कोई काम अधूरा नहीं रह सकता।

मन्त्र में अन्तिम विशेषण है '**अर्यमा**'। जो महात्मा निष्पक्ष होकर श्रमानुसार फल देते हैं, वे **अर्यमा** शब्द के वाचक हैं।

अब एक-एक बात पर थोड़ा विस्तार से विचार कीजिये। संसार के श्रेष्ठ पुरुषों की यह स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है कि देश, भाई, बन्धु आदि की सामान्य सीमाओं को छोड़कर श्रेष्ठ व्यक्ति का हित साधते और सङ्कट के समय उन्हीं का सहयोग करते हैं। अधर्माचरण करनेवाले उनके निकट के सम्बन्धी ही क्यों न हों, उनका साथ वे कदापि नहीं देते।

रामायण में राम और सुग्रीव, राम तथा विभीषण, महाभारत में विदुर और भीष्म, द्रोणाचार्य और कृपाचार्य आदि के उदाहरण विस्मयकारक तथा अद्भुत हैं। यहाँ ये लोग शारीरिक दृष्टि से दुर्योधन के पक्ष में थे, वहाँ हृदय से पाण्डव-पक्ष की ही हित-कामना करते थे।

सुग्रीव को दिये वचनानुसार जब राम ने बाण मारकर बाली को घायल कर दिया तो बाली ने रोष प्रकट करते हुए राम से कहा—

इति मे बुद्धिरुत्पन्ना बभूवादर्शने तव।
न त्वां विनिहतात्मानं धर्मध्वजमधार्मिकम्॥
जाने पापसमाचारं तृणैः कूपमिवावृतम्।
सतां वेषधरं पापं प्रच्छन्नमिव पावकम्॥

—हे राम! तुम मेरी दृष्टि में एक आत्मघाती और धर्म की कोरी डींग हाँकनेवाले पापाचारी और तिनकों से ढके हुए कूप के समान खोखले हो। सत्पुरुषों का वेष ओढ़े हुए पापरूप ढकी हुई आग के समान दाहक हो।

हत्वा बाणेन काकुत्स्थ मामिहानपराधिनम्।
किं वक्ष्यसि सतां मध्ये कर्मकृत्वा जुगुप्सितम्॥

—वा० रामा० ४।१७,२०,३४

—हे राम! बिना अपराध के ही बाण के प्रहार से मुझे मारने-जैसे निन्दनीय कर्म को करके तुम सत्पुरुषों के बीच में क्या उत्तर दोगे?

सुग्रीवोऽपि क्षमः कर्तुं यत् कार्यं तव राघव!
किमहं न क्षमः कस्मादपराधं विना हतः॥

—हे राघव! तुम्हारी सहायता का जो काम सुग्रीव कर सकता है क्या वह मैं नहीं कर सकता था? फिर तुमने निष्कारण मुझे क्यों मारा?

राक्षसञ्च दुरात्मानं तव भार्यापहारिणम्।
कण्ठे बद्ध्वा प्रदद्यान्तेऽनिहतं रावणं रणे॥ ४९॥

—तुम्हारी पत्नी का अपहरण करनेवाले उस दुष्ट रावण को युद्ध में न मारकर और उसकी मुश्कें बाँधकर तुम्हारे सामने उपस्थित न कर सका, इसका मुझे बड़ा खेद रहेगा।

बाली का यह कथन कितना युक्ति-युक्त और नीति-नैपुण्ययुक्त है!

राम ने बाली के प्रश्नों का यह उत्तर दिया—

तदेतत् कारणं पश्य यदर्थं त्वं मया हतः।
भ्रातुर्वर्तसि भार्यायां त्यक्त्वा धर्मं सनातनम्॥

—देखो, मैंने तुम्हें जिस कारण से मारा है वह यह है कि तुमने मर्यादा का उल्लङ्घन करके अपने छोटे भाई की पत्नी को अपने अधिकार में किया हुआ है।

अस्य त्वं धर्माणस्य सुग्रीवस्य महात्मनः।
रुमायां वर्तसे कामात्स्नुषायां पापकर्मकृत्॥ —४।१८।१९

—इस महात्मा सुग्रीव की पत्नी को बलपूर्वक अपने अधिकार में करके, कामातुर होकर तू इस प्रकार का पापकर्म कर रहा है, जो अपनी पुत्रवधू के साथ दुराचरण के समान है।

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि बाली के पथभ्रष्ट होने के कारण राम उसके शत्रु बने। सुग्रीव के ऊपर राम के अतिशय प्रेम का कारण सुग्रीव के शोषित-पीड़ित होने के साथ-साथ उसकी सदाशयता भी है। राम का सुग्रीव पर कितना अनुराग था, इसके लिए लङ्का के युद्ध के समय का एक उदाहरण देखिये—

सेतु से वानर-सेना के समुद्र-पार उतरने पर सुग्रीव लङ्का को देखने की इच्छा से सुबेल पर्वत पर चढ़ गया। वहाँ सुबेल के एक शिखर से लङ्का में घूमते हुए रावण को देखा। रावण को देखते हुए सुग्रीव आगबबूला हो गया और अपने-आपको सम्भाल न सका। वह छलाङ्ग लगाकर रावण के पास पहुँच गया और उसके साथ कुछ देर तक युद्ध करके और अपनी वीरता की धाक जमाकर वापस आ गया।

राम चिन्तित होकर इस सारे दृश्य को देखते रहे और सुग्रीव के वापस आने पर भावावेश में कहने लगे—

असम्मन्त्र्य मया सार्धं तदिदं साहसं कृतम्।
एवं साहसकर्माणि न कुर्वन्ति जनेश्वराः॥

—६।४१।२

—मेरे साथ बिना परामर्श किये ही यह जो तुमने साहसिक कार्य किया, इस प्रकार का साहस राजा लोगों को नहीं करना चाहिए।

इदानीं मा कृथा वीर! एवं विधिमचिन्तितम्।
त्वयि किञ्चित् समापन्ने किं कार्यं सीतया मम॥४॥

—हे वीर! इस प्रकार बिना विचार किये आगे से दुःसाहस मत करना! यदि तुम्हें कुछ हो जाता तो फिर सीता से मुझे क्या मतलब था?

भरतेन महाबाहो लक्ष्मणेन यवीयसा।
शत्रुघ्नेन च शत्रुघ्न स्वशरीरेण वा पुनः॥५॥

—हे महाबाहु सुग्रीव! फिर भरत से, लक्ष्मण से और छोटे भाई

शत्रुघ्न से और अपने शरीर से भी क्या प्रयोजन रह जाता?

त्वयि चानागते पूर्वमिति मे निश्चिता मतिः।
जानतश्चापि ते वीर्यं महेन्द्रवरुणोपमम्॥ ६॥

—मैंने यह निश्चय कर लिया था कि यदि तुम सकुशल वापस न आ सके तो—यद्यपि महेन्द्र और वरुण के समान मैं तुम्हारे पराक्रम से परिचित हूँ, फिर भी—

हत्वाहं रावणं युद्धे सुपुत्रबलवाहनम्।
अभिषिच्य च लंकायां विभीषणमथापि च॥
भरते राज्यमावेश्य त्यक्ष्ये देहं महाबल॥ ७-८॥

—मैंने निश्चय किया था कि सेना और पुत्रों-सहित रावण को युद्ध में मारकर और लङ्का में विभीषण का राजतिलक करके तथा अयोध्या का राज्य भरत को देकर मैं अपने शरीर का परित्याग कर दूँगा।

ये राम के उद्‌गार कितने स्नेह से सराबोर हैं! जिस व्यक्ति के आचरण से प्रभावित होकर उसे ऐसे सहयोगी मिल जावें, वह दूसरों से मार कैसे खा सकता है?

राम विभीषण के पक्षधर भी उसके सात्त्विक गुणों के कारण ही बने। रावण से अपमानित होकर जब विभीषण राम के दल में (राम से मिलने) आया तो राम को छोड़कर शेष सबकी सम्मति यह थी कि यह शत्रु का भाई है, अधिक सम्भावना यह है कि यह हमारे छिद्र जानने आया होगा, किन्तु राम इन विचारों से सहमत नहीं हैं। वे कहते हैं कि बिना मिले यह कैसे जाना जा सकता है कि उसके मन में क्या बात है? जब साथियों ने इस पर भी प्रश्न किया कि मिलकर भी मन के अन्दर की बात कैसे जानी जा सकती है? ऊपर-ऊपर से चिकनी-चुपड़ी बातें करता रहेगा और मन में घात बनाए रक्खेगा। तब राम ने जो उत्तर दिया वह उस महापुरुष की योग्यता को बताता है कि वे मनुष्यों के कितने पारखी थे। राम ने कहा—

आकारश्छाद्यमानोऽपि न शक्यो विनिगूहितम्।
बलाद्धि विवृणोत्येव भावमन्तर्गतं नृणाम्॥

—६।१७।६४

'मनुष्य अपने आकार को छिपाने की कोशिश करने पर भी नहीं छिपा सकता, क्योंकि अन्दर के विचार बलपूर्वक आकर आकृति पर प्रकट होते रहते हैं।' यह मनोवैज्ञानिक बात उर्दू के शायर जिगर ने भी कही है—

'जिगर' मैंने छिपाया लाख अपना दर्दोग़म[1] लेकिन,
बयाँ[2] कर दीं मेरी सूरत ने सब कैफ़ीयतें[3] दिल की॥

---

१. पीड़ाएँ और कष्ट; २. प्रकट; ३. स्थितियाँ (मनःस्थितियाँ)।

राम विभीषण से मिले। अभिवादन के पश्चात् हाथ पकड़कर कहा—आओ लङ्केश! बैठो! जब साथियों ने कहा कि ये लङ्केश नहीं, उसके भाई हैं, तो राम ने उत्तर दिया—मैंने सोच-समझकर ही लङ्केश सम्बोधन का प्रयोग किया है। अमर्यादित और चरित्रहीन व्यक्ति को राज्य करने का कोई अधिकार नहीं होता, अतः आज से हमारी दृष्टि में लङ्का के सिंहासन का अधिकारी रावण नहीं, बल्कि विभीषण है।

राम का यह मात्र सौजन्य का प्रकाश नहीं था, अपितु नीति का एक कुशल प्रयोग था। राम विभीषण पर अपने कथन की प्रतिक्रिया देखना चाहते थे और इसी पर उसकी वास्तविक भावना जानी जा सकती थी। विभीषण के ऊपर उस नीति-प्रयोग का प्रभाव हुआ और कहने लगा कि मैं अपने भाई रावण के दुराचरणों से तङ्ग आ गया हूँ। उसे किसी भले काम का परामर्श रुचिकर नहीं होता, अतः इस अनाचार से प्रजा को बचाने के लिए और रावण के विनाश के लिए मैं आपके सहयोग में अपनी पूरी शक्ति और योग्यता व्यय कर दूँगा।

राम इस प्रतिक्रिया से बहुत सन्तुष्ट हुए और दोनों ओर से ही वचनों का पालन बड़ी ईमानदारी से किया गया।

युद्ध में लक्ष्मण के मूर्च्छित होने पर राम ने दुःखी होकर जो उद्‌गार व्यक्त किये, उनमें विभीषण का राजतिलक भी सम्मिलित था।

रावण के मरने पर विभीषण जब दुःखी हुआ, तब भी राम ने बड़ी सहानुभूति व्यक्त करते हुए कहा—

मरणान्तानि वैराणि निवृत्तं नः प्रयोजनम्।
क्रियतामस्य संस्कारो ममाप्येष यथा तव॥ —रामा० ६।११२।२६

हे आर्य विभीषण! 'मृत्यु के साथ वैर का अन्त हो जाता है। हमारा उद्देश्य भी पूरा हो गया। आओ अब मिलकर इसका अन्तिम संस्कार करें। यह जैसा तुम्हारा भाई है, वैसा मेरा भी है।'

बाली ने मरते समय राम से अपने पुत्र अङ्गद के संरक्षण की प्रार्थना की थी और राम ने भी इसे स्वीकार करके पुत्रवत् स्नेह से वरतने का वचन दिया था। राम ने अपने इस वचन को आजीवन निभाया। अङ्गद के पितृ-प्रतिशोध की भावना और राम की राजनैतिक कुशलता तथा नैतिकता का एक आकर्षक दृश्य 'हनुमन्नाटक' के रचयिता ने उपस्थित किया है।

लङ्का के युद्ध में रावण के मरने पर राम की सेना में जब विजय के बाजे बजने लगे तो अचानक एक अप्रत्याशित दृश्य उपस्थित हो गया। राम की सेना का एक विश्वस्त और अनुशासित योद्धा अङ्गद ओज और आवेश में भरा हुआ राम के आगे आकर बोला—"ये विजय के बाजे बन्द कर दिये जावें। यह विजय अधूरी है। क्या यह भी निश्चित है कि यह विजय है किसकी? जिसे आप अपनी विजय समझ रहे हैं,

उसे ही मैं अपनी सफलता मानता हूँ। मेरे पिता बाली के दो शत्रु थे— एक रावण और दूसरे उनकी जीवनलीला समाप्त करनेवाले आप। योग्य पुत्र का कर्त्तव्य है कि मैं अपने पिता की भावना का संरक्षण करूँ, अत: आपको पूर्ण सहयोग देकर मैंने अपने पिता के एक शत्रु को तो समाप्त कर दिया है, इसलिए रावण की मृत्यु को मैं अपनी विजय मानता हूँ और अनुभव करता हूँ कि पिता का आधा ऋण मैंने चुका दिया, किन्तु मैं जबतक आपको पराजित नहीं करता, पितृऋण से उऋण नहीं हो सकता। अत: अब मेरा और आपका युद्ध होगा और फिर विजयश्री जिसको भी प्राप्त होगी, वही उत्सव मनाने का अधिकारी होगा।''

राम ने इस विषम परिस्थिति को अपनी दूरदर्शिता से चुटकियों में सुलझा दिया। राम ने आगे बढ़कर अङ्गद की पीठ थपथपाते हुए कहा—'अङ्गद! तुम्हारे परिचयकाल से ही तुम्हारी वीरता, विनम्रता और कार्यकुशलता ने मुझे प्रभावित किया है। तुम्हारी इस भावना से मैं तुमसे अत्यन्त प्रसन्न हूँ। निश्चय ही तुम वीर पिता के अनुव्रत पुत्र हो। मैं भी इस विजय को तुम्हारी विजय स्वीकारता हुआ अपने को भी इसका भागीदार समझता हूँ। तुम्हें स्मरण है, जीवन के अन्तिम क्षणों में तुम्हारे पिता ने तुमको मुझे सौंपते हुए मुझसे यह वचन लिया था कि मैं पुत्र की तरह तुम्हें संरक्षण दूँ। इस प्रकार तुम मेरे पुत्र हो और शास्त्रों का यह वचन है कि—''**सर्वस्माज्जयमिच्छेत् पुत्रादिच्छेत्पराजयम्**''— मनुष्य सबसे अपनी जीत चाहे, किन्तु अपने पुत्र से अपनी पराजय पसन्द करे। इस रूप में तुम जीते और मैं हारा। तुम्हारी इस विजय में मैं भी सम्मिलित होता हूँ। मुझे दुहरी प्रसन्नता है कि मैं तुम्हारे पिता को दिये वचन का पालन कर सका।' यह राम के जीवन का और उनकी नीतिमत्ता का एक स्वर्णिम उदाहरण है और अङ्गद के वीरोचित जीवन का भी, जिसके कारण राम के हृदय में उसको स्नेहपूर्ण स्थान मिला।

महाभारत में पाण्डवों के सदाचारपूर्ण जीवन ने भी उस समय के सब सम्मिलित व्यक्तियों के हृदयों में एक विशेष स्थान बनाया हुआ था। योगिराज कृष्ण, महात्मा विदुर, भीष्म, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य आदि सभी गण्यमान्य व्यक्ति जहाँ तक उनसे हो सकता था, पाण्डवों का हित करने को उद्यत रहते थे। अतिविषम परिस्थिति में रहते हुए भी अपने इस दायित्व को निभाने में महात्मा विदुर ने तो कमाल कर दिया! जब भी अवसर आया, धृतराष्ट्र को स्पष्ट कहने में कभी सङ्कोच नहीं किया। अनेक बार धृतराष्ट्र ने इस कारण अपमान भी किया। यहाँ तक कि घर से निकाल भी दिया, किन्तु विदुर अविचलभाव से अपने कर्त्तव्य पर डटे रहे।

जब पाण्डव लाक्षागृह में जाने लगे तो, विदुर को उस षड्यन्त्र का क्योंकि पहले ही पता लग चुका था, उन्होंने पाण्डवों को विदा करते

समय म्लेच्छ और सांकेतिक भाषा में कहा कि जङ्गल में रहनेवाला चूहा यदि भूमि में बिल बनाके नहीं रहता है तो वन में दावानल भड़कने पर वह जल के भस्म हो जाता है। विदुर के इस उपयोगी और सामयिक संकेत को युधिष्ठिर ने समझा। विदुर इतने से ही सन्तुष्ट नहीं हुए, एक सुरङ्ग खोदने के विशेषज्ञ की भी व्यवस्था कर दी और अन्तिम दिन आग लगने से पूर्व एक महिला और पाँच पुरुषों का भी ऐसा प्रबन्ध कर दिया जो उस दिन उसी गृह में सोते हुए जल गए। इनके जले कंकालों को देखकर पाँचों पाण्डवों और माता कुन्ती के भस्म होने का दुर्योधन को निश्चय हो गया। सुरङ्ग से निकलकर नाव द्वारा नदी पार करने का आयोजन भी विदुर ने किया और इस आश्चर्यजनक सूझ-बूझ के साथ कि किसी को रञ्चमात्र भी सन्देह नहीं हुआ।

इसी प्रकार योगिराज कृष्ण भी पाण्डवों के दुःख-निवारण में और उनके उत्कर्ष के कामों में सदा साथ रहते थे। द्यूतक्रीड़ा के पश्चात् द्रौपदी और पाण्डवों के वन में चले जाने पर श्री कृष्ण वन में जाकर ही उनसे मिले। उस समय द्रौपदी ने कृष्ण से कहा—

नैव मे पतयः सन्ति न पुत्रा न च बान्धवाः।
न भ्रातरो न च पिता नैव त्वं मधुसूदन॥

—महा० ३।१३।११२

'न ये पाण्डव मेरे रक्षक हैं, न मेरे पुत्र, न पारिवारिक जन, न भाई, न पिता और मधुसूदन, न तुम ही मेरे रक्षक सिद्ध हुए हो।' जो मुझे हीन और तुच्छ व्यक्तियों से अपमानित होने की उपेक्षा कर रहे हैं, हे कृष्ण! मुझे उस अवस्था में देखकर कर्ण जिस प्रकार हँसा, वह दुःख मेरा शान्त होने में नहीं आता।

चतुर्भिः कारणैः कृष्ण! त्वया रक्ष्यास्मि नित्यशः।
सम्बन्धाद् गौरवात् सख्यात् प्रभुत्वेनैव केशव॥

हे कृष्ण! भाई के सम्बन्ध से, तुम मुझे आदर देते हो—इससे, तुम अर्जुन के मित्र हो इस कारण से और तुममें रक्षा करने का सामर्थ्य है, इन चार कारणों से तुम्हें नित्य मेरी रक्षा करनी चाहिए।

द्रौपदी के इस उपालम्भ को सुनकर कृष्ण बोले—

रोदयिष्यन्ति स्त्रियो ह्येवं येषां क्रुद्धासि भाविनि।
यत्समर्थं पाण्डवानां तत् करिष्यामि मा शुचः॥ ११४॥

—हे बहन! तू जिन पर क्रुद्ध है उनकी स्त्रियाँ इसी प्रकार रोवेंगी। मैं पाण्डवों की जो भी सहायता कर सकता हूँ, अवश्य करूँगा। तू दुःखी मत हो!

पतेद्द्यौर्हिमवान् शीर्येत् पृथिवी च शकली भवेत्।
दुष्येत् तोयनिधिः कृष्णे न मे मोघं वचो भवेत्॥ ११७॥

—आकाश चाहे गिर पड़े, हिमालय छिन्न-भिन्न हो जाए, यह भूमि टुकड़े-टुकड़े हो जावे और चाहे समुद्र सूख जाए, किन्तु हे द्रौपदि! तेरे समक्ष कहा हुआ यह मेरा वचन कभी निरर्थक नहीं हो सकता।

इसके पश्चात् युधिष्ठिर से बोले—

नैतत् कृच्छ्रमनुप्राप्तो भवान्स्याद्वसुधाधिप।
यद्यहं द्वारकायां स्यां राजन् संनिहितः पुरा॥

—३।१४।१

—हे राजन्! यदि मैं द्वारका में रहा होता तो आपके सामने यह सङ्कट ही न आता।

आगच्छेयमहं द्यूतमनाहूतोऽपि कौरवैः।
वारयेयमहं द्यूतं बहून् दोषान् प्रदर्शयन्॥ २॥

—मैं कौरवों के बिना बुलाए भी पहुँच जाता और जूए के दोषों का वर्णन करके मैं जूआ न होने देता।

एवमुक्तो यदि मया गृह्णीयाद् वचनं मम।
अनामयं स्याद्धर्मश्च कुरूणां कुरुवर्धन॥ ११॥

—मेरे इस समझाने पर यदि मेरी बात मानी जाती तो यह सब गड़बड़ न होती और धर्म की रक्षा होती—

न चेत् स मम राजेन्द्र! गृह्णीयाद् मधुरं वचः।
पथ्यञ्च भरतश्रेष्ठ निगृह्णीयां बलेन तम्॥

—हे राजेन्द्र! मेरे इस प्रेम के प्रस्ताव को यदि दुर्योधन न मानता तो मैं उसे बल से निगृहीत कर लेता।

मैं द्वारका में नहीं था। इस कारण आप लोग आपत्ति में फँस गए।

श्रुत्वैव चाहं राजेन्द्र! परमोद्विग्न मानसः।
तूर्णमभ्यागतोऽस्मि त्वां द्रष्टुकामो विशांपते॥ १६॥

—हे राजेन्द्र! द्वारका में आकर सुनते ही बहुत व्याकुलचित्त होकर शीघ्र ही आप लोगों को देखने आया हूँ।

महापुरुष कृष्ण का प्रेम पाण्डवों के ऊपर उनके विशेष गुणों के कारण ही था। अतः मनुष्य को अपना आचार श्रेष्ठ और धर्मानुसार बनाना चाहिए, फिर संसार में रक्षकों की कमी नहीं रहती।

राज्य-शक्ति और सेना-शक्ति से सम्पन्न होते हुए भी कौरवों की पराजय, और हीन अवस्था होते हुए भी पाण्डवों की विजय तथा सफलता का रहस्य पाण्डवों की धार्मिकता और सदाचार ही है।

महाप्राज्ञ विदुर रहते थे कौरवों के साथ। रात-दिन धृतराष्ट्र उनसे मग़ज़पच्ची करते रहते थे, किन्तु जब भी दुर्योधन, कर्ण और पाण्डवों का प्रसङ्ग आता था तो सर्वथा खरी-खरी सुना देते थे और पाण्डवों

का पक्ष लेते थे। दुर्योधन के विषय में इससे अधिक और कटु सत्य क्या हो सकता है कि—

एष दुर्योधनो राजा मध्यपिंगललोचनः।
न केवलं कुलस्यान्तं क्षत्रियान्तं करिष्यति॥

अर्थात् 'यह कञ्जी आँखोंवाला राजा दुर्योधन अपने कुलक्षणों से केवल अपने परिवार का ही नहीं, क्षत्रियों का भी नाश कर देगा।' इसी प्रकार भीष्म भी पाण्डवों के गुणों पर मुग्ध थे। कुरुक्षेत्र में जब युधिष्ठिर अपने सब शस्त्रास्त्र छोड़कर कौरवों के प्रथम सेनापति के रूप में युद्ध के लिए उद्यत भीष्म के पास जाकर नतमस्तक होकर बोले—

'हम अपने कर्त्तव्य का पालन करने के लिए युद्ध के लिए उद्यत हो रहे हैं। आप हमारे पूज्य पितामह हैं, अतः आपकी अनुमति और आशीर्वाद के लिए मैं आपकी सेवा में उपस्थित हुआ हूँ।'

भीष्म इस शिष्ट और विनीत व्यवहार को देखकर गद्गद हो गए और पुलकित होकर कहने लगे—

प्रीतोऽस्मि पुत्र युध्यस्व! जयमाप्नुहि पाण्डव!

—महा० ६।४१।३४

'हे युधिष्ठिर! मैं तुम्हारे इस व्यवहार से बहुत प्रसन्न हूँ। तुम युद्ध करो! मैं तुम्हें आशीर्वाद देता हूँ, ईश्वर तुम्हें विजयी बनावें।'

फिर अपनी दुर्बलता की भी सफ़ाई देते हुए बोले—

अर्थस्य पुरुषो दासो दासस्त्वर्थो न कस्यचित्।
इति सत्यं महाराज! बद्धोऽस्म्यर्थेन कौरवैः॥

—महा० ६।४१।३६

'हे युधिष्ठिर! मनुष्य अर्थ का दास है; अर्थ किसी का दास नहीं। इसीलिए तुम्हें ठीक समझते हुए भी मैं दुर्योधन का पक्ष लेकर लड़ रहा हूँ, क्योंकि मेरी सब आवश्यकताएँ पूरी करके कौरवों ने मुझे अर्थ से बाँध लिया है।' अतः इस शरीर पर दुर्योधन का अधिकार है, किन्तु आत्मपक्ष तो सत्य और न्याय की डोर है, इसलिए मैं तुम्हारी विजय की कामना करता हूँ।

इसके बाद युधिष्ठिर द्रोणाचार्य के पास गए। उन्होंने भी हृदय खोलकर विजय का आशीर्वाद दिया। फिर कृपाचार्य के पास गए। उन्होंने भी वही आशीर्वाद दिया।

पाण्डवों को दिये वे आशीर्वचन फले और वे विजयी बने।

इसीलिए मन्त्र में कहा गया कि जिस व्यक्ति के उदात्त चरित्र से प्रभावित होकर प्रबुद्ध ज्ञानी, वरणीय मित्र-मण्डल और न्याय-प्रिय समाज के प्रमुख कर्णधार रक्षक ढाल बनकर उसको आपत्ति से बचाते हैं, उसे कभी कोई क्षति नहीं पहुँचा सकता। ❑❑

प्रार्थना कैसी हो

प्र वो महे मतयो यन्तु विष्णवे मरुत्वते गिरिजा एवयामरुत्।
प्र शर्धाय प्र यज्यवे सुखादये तवसे भन्ददिष्टये धुनिव्रताय शवसे॥

—साम० ४६२

ऋषिः—एवयामरुत्॥ **देवता**—मरुतः॥ **छन्दः**—जगती॥

अन्वयः—एवयामरुत् महे मरुत्वते विष्णवे प्रशर्धाय प्रयज्यवे सुखादये तवसे भन्ददिष्टये धुनिव्रताय शवसे गिरिजाः मतयः वः प्रयन्तु॥

शब्दार्थ—(**एवयामरुत्**) हे ज्ञानप्रापक वेदों के जाननेवाले मनुष्य! (**महे**) बड़ाई के लिए (**मरुत्वते विष्णवे**) ऋत्विजोंवाले यज्ञ के लिए (**प्र**) उत्तम (**शर्धाय**) बल के लिए (**प्रयज्यवे**) जिससे यज्ञ करते हैं उसके लिए (**सुखादये**) सुखपूर्वक भोग के लिए (**तवसे**) स्फूर्ति के लिए (**भन्ददिष्टये**) कल्याण सुख-सङ्गति के लिए (**धुनिव्रताय**) चलने-फिरने के काम के लिए (**शवसे**) मानस बल के लिए (**गिरिजाः**) तुम्हारी प्रार्थना-वाणियों में उत्पन्न हुई (**मतयः**) बुद्धियाँ (**वः**) तुम्हें (**प्रयन्तु**) उच्च भाव से प्राप्त हों।

व्याख्या—मन्त्र में भक्तों द्वारा भिन्न-भिन्न आवश्यकताओं की पूर्त्ति के लिए की जानेवाली प्रार्थनाओं का दिग्दर्शन कराकर यह उपदेश दिया गया है कि तुम्हारी प्रार्थनाएँ सङ्कीर्ण स्वार्थ के घेरे में केन्द्रित न होकर उच्च भाव से प्राप्त हों, अर्थात् उनमें प्राणिमात्र और मनुष्यमात्र का हित निहित होना चाहिए।

संसार की तथाकथित धार्मिक दुनिया में प्रार्थनाओं के प्रकार पर एक दृष्टि डालिये। लोग आँखें बन्द कर प्रभु के सम्मुख भाषण देने को प्रार्थना समझते हैं। भक्तजन प्रार्थना करते समय अपनी स्थिति, योग्यता और क्षमता का ध्यान किये बिना भगवान् से माँगने पर जुटे रहते हैं। अन्य मत-मतान्तरों की तो बात ही क्या है, आर्यसमाज में भी प्रार्थना का शुद्धस्वरूप प्रचलित नहीं है। यहाँ भी अनेक स्थानों पर देखा है विवाह-संस्कार के बाद पुरोहित जी प्रार्थना करते हुए समस्त गृहस्थ-जीवन में काम आनेवाली वस्तुओं की पूरी सूची प्रभु के सम्मुख उपस्थित करके नवदम्पती को देने की प्रार्थना प्रभु से करेंगे।

इसके अतिरिक्त एक धाँधली और भी प्रचलित है। प्रार्थना करनेवाले सज्जन मन्त्र और किसी भाव का बोलेंगे और प्रार्थना की भाषा में दूसरे

भाव प्रकट करेंगे। मन्त्र तो बोला—**विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव। यद्भद्रं तन्न आसुव।** (यजु० ३०।३) इस मन्त्र का भाव है—हे जगदुत्पादक दिव्यगुणों से युक्त प्रभो! आप हमारे सम्पूर्ण दुर्गुण-दुर्व्यसनों को दूर कर दीजिये और जो कल्याणकारक गुण, कर्म और पदार्थ हैं, उन्हें हमें प्रदान कीजिये। किन्तु मन्त्र के उच्चारण के बाद प्रार्थना करनेवाले सज्जन भाषा में ऐसी बातें कहते हैं, जिनका मन्त्र से कोई सम्बन्ध नहीं होता। वे यह समझते हैं कि प्रार्थना से पूर्व मन्त्र बोलने की चूँकि रीति है, सो कोई-सा मन्त्र बोल दिया। यह उचित नहीं। उच्चारण किये हुए मन्त्र का अर्थ जानकर उसी मन्त्र के भाव के अनुसार प्रार्थना होनी चाहिए। अपनी स्थिति और क्षमता के अनुसार जो हम लोक में काम करते हैं, उनकी पूर्त्ति में बाधा के निवारणहेतु पुरुषार्थ, कार्यसम्पादन की दक्षता आदि की प्रार्थना संक्षिप्त शब्दों में समर्पण-भाव से करनी चाहिए। उस प्रार्थना को प्रभु भी अङ्गीकार करते हैं और अनेक अवसरों पर हमें उन अधूरे कामों को पूरा करने में ऐसी अनपेक्षित और अप्रत्याशित सहायता मिलती है कि आस्तिक का मस्तक कृतज्ञता से झुक जाता है।

महात्मा नारायण स्वामीजी महाराज ने इस सम्बन्ध में एक बालक का उदाहरण देते हुए लिखा है कि—"छोटे बालक में जब घुटनों के बल चलने की शक्ति आ जाती है तो वह भूख लगने पर घिसटते-घिसटते माता तक पहुँच जाता है और पास पहुँचकर माता के मुख की ओर आशा-भरी दृष्टि से देखता है। उस अबोध शिशु के देखने की मूक भाषा का अर्थ यह है कि माता, तेरी छाती का दुग्धामृत पीने के लिए मुझमें जो शक्ति थी, मैंने व्यय कर दी। अब तेरे स्तनों तक तो मैं तभी पहुँच सकता हूँ, जब तू ही कृपा करके अपने हाथों का सहारा देकर मुझे अपनी छाती तक उठावेगी।" माता ने बच्चे की आँखों में इस भाषा को पढ़ा और भाव-विह्वल होकर बच्चे को उठाकर छाती से लगा लिया। ठीक यही बात उस जगदम्बा के लिए भी है। एक सच्चा भक्त धर्म-मार्ग पर चलता हुआ पुरुषार्थ के पश्चात् दीन होकर जब कहता है—"**इमं मे वरुण श्रुधि हवमद्या च मृलय त्वामवस्युराचके**"—'हे प्रभो! तू मेरी पुकार सुन और आज ही मुझे कृतार्थ कर! तू दुःखियों का त्राता है, यह तेरा विरुद मैंने सुन रक्खा है।' इस स्थिति में वह प्रभु अवस्य कृपा करता है। कमी तो प्रार्थी में है, उसके यहाँ पात्र के लिए कोई कमी नहीं—

उसके करम की कोई हद नहीं, उसके करम का क्या कहना!
इक दरवाज़ा बन्द करे है, सौ दरवाज़े खोले है॥

मन्त्र में प्रार्थनाओं के प्रकार का दिशानिर्देश है—"**गिरिजा मतयः वः यन्तु**"—तुम्हारी प्रार्थना-वाणियों में उत्पन्न होनेवाली बुद्धियाँ, तुम्हें

उच्चभाव से प्राप्त हों, अर्थात् क्षुद्रभाव से केवल अपने सुख और समृद्धि के लिए प्रभु से प्रार्थना मत करो, अपितु उसका क्षेत्र मनुष्यमात्र और प्राणिमात्र तक विस्तृत होना चाहिए।

मन्त्र में पहली प्रार्थना भक्त को महान् बनाने की है। क्षुद्राशय केवल अपने सुख और कल्याण की बात सोचता है, किन्तु ज्यों-ज्यों उसके विचारों में महत्ता और विशालता आती जाती है, उसकी आत्मीयता का क्षेत्र विस्तृत होता जाता है। फिर अपनी सीमा को लाँघकर परिवार, सम्बन्धी और पड़ोसियों तक की बात को सोचता है और सात्त्विकता बढ़ने पर सारी वस्ती, उससे आगे मण्डल, प्रान्त और बढ़ते-बढ़ते "**वसुधैव कुटुम्बकम्**" पर पहुँच जाता है। जिस प्रकार प्रभु महान् है, तुम भी उसकी महत्ता के प्रसाद को पाकर सङ्कीर्णता से निकलो! "**वहति कल्याणाय च, वहत्यकल्याणाय च**"—प्रेम की नदी जब किनारे तोड़कर घर, मुहल्ला, शहर, तहसील, ज़िला, प्रान्त आदि तक फैल जाती है तो संसार का कल्याण करती है; और ज्यों-ज्यों इसकी धारा संकुचित होती जाती है, उसकी कल्याण-क्षमता कम होती जाती है। इसी प्रकार जब मनुष्य केवल अपने स्वार्थ को ही देखता है, तो संसार का विनाश हो जाता है। इसलिए प्रभु से सदा महान् बनने की प्रार्थना करो!

ऋत्विजों के साथ मिलकर प्रजा की सुख-समृद्धि के लिए यज्ञ-सम्पादन करने की क्षमता माँगो! यज्ञ शब्द यज् धातु, जिसके अर्थ व्याकरणशास्त्र में **देवपूजा, सङ्गतिकरण** और **दान** हैं, से निष्पन्न हुआ है। एक प्रकार से उत्तम समाज के निर्माण के लिए इससे अधिक उपादेय और व्यावहारिक प्रस्ताव नहीं हो सकता। जो समाज में देव हैं, दिव्यगुण, ज्ञान, बल और ऐश्वर्य आदि से विभूषित हैं, अर्थात् बड़े हैं, उनकी पूजा करो, वे सम्मान के पात्र हैं। उनका आशीर्वाद लो! उनके औदार्यपूर्ण आचरणों को अपने जीवन में लाओ! बड़ों के आदर से मनुष्य उन कठिन कामों को भी सरलता से सम्पादित कर लेता है, जो दूसरे प्रकार से बहुत बड़ी शक्ति व्यय करके नहीं हो सकते।

ऋत्विजों के साथ मिलकर यज्ञ करने का अभिप्राय है सर्वप्रथम बड़ों का आदर।

यज् धातु का दूसरा अर्थ है "**सङ्गतिकरण**"—बराबरवालों के साथ हृदय में मान और स्वार्थ की गाँठ न रखकर उदारतापूर्वक मिलकर चलने की कला सीखो! हृदय में अहं और स्वार्थ की गाँठ हो तो सामाजिक सङ्गठन का यज्ञ कभी सफल नहीं हो सकता। यह हुआ यज्ञ का दूसरा अङ्ग।

यज् धातु का तीसरा अर्थ है **दान**। जो अपने से ज्ञान, बल और धन में न्यून हैं, उन्हें उदारता से मार्गदर्शन की आवश्यकता है तो वह

दो, बिना माँगे दो! नीतिशास्त्र में कहा है—"**अपृष्टोऽपि हितं ब्रूयात् यस्य नेच्छेत् पराभवम्**"—जिसको फूलता-फलता देखना चाहे उसे बिना पूछे भी हित की बात कहे। यह मनुष्य के लिए अन्धे को मार्ग बताने के समान पवित्र कर्म है। हीन बलवाले को आपकी शक्ति की, सहयोग की आवश्यकता है। बाहुओं में बल ही अपेक्षित नहीं है, उसके साथ यश भी होना चाहिए। आपका बल गिरते हुओं को उठाकर ही यशस्वी हो सकता है—उन्हें दबाकर नहीं। दान में तीसरी बात आर्थिक सहायता है। जिन्हें आपके इस सहयोग की आवश्यकता है, उन्हें मुक्तहस्त से दीजिये। इस दिशा में रहीम के परामर्श को मानिये—

पानी बाढ़्यो नाव में, घर में बाढ़्यो दाम।
दोऊ हाथ उलीचिये, यही सयानो काम॥

लक्ष्मी चञ्चला है, आज तक किसी की नहीं रही। हाँ, ऐश्वर्य के आने पर यदि आपने सुपात्रों की सहायता कर दी, तो आपने अजर और अमर यश अर्जित कर लिया तथा अग्रिम जन्म के लिए अपना भोग भी जमा कर लिया।

समाज में ऐसे शुभ कार्यों के विस्तार के लिए प्रभु से प्रार्थना करनी चाहिए। मन्त्र की शेष प्रार्थनाओं में से अधिकांश का समावेश इन्हीं में हो गया है। यही प्रार्थनाओं का विशुद्ध रूप है।

मध्ययुग में वेद और शास्त्रों का सम्यक् ज्ञान न होने के कारण लोग भक्ति, स्तुति और प्रार्थना के वास्तविक स्वरूप तथा उद्देश्य को भी भूल गए थे। ऋषि दयानन्द जी महाराज ने धार्मिक क्षेत्र में आई अन्य विकृतियों का जिस प्रकार निराकरण किया, उसी प्रकार उन्होंने स्तुति, प्रार्थना, उपासना और भक्ति का वास्तविक स्वरूप भी बताया।

ऋषि ने स्तुति-प्रार्थना-उपासना के आठ मन्त्र, जो यजुर्वेद और ऋग्वेद से चुनकर प्रत्येक कर्मकाण्ड में सबसे पूर्व बोलने के लिए निहित किये, उनका अर्थ करते हुए "**हविषा विधेम**" में आए 'हविः' शब्द के भिन्न-भिन्न मन्त्रों में क्या-क्या अर्थ किये हैं, वे विशेषरूप से ध्यान देने योग्य हैं। प्रार्थना के द्वितीय मन्त्र "**हिरण्यगर्भः**" में "**हविषा विधेम**" का अर्थ "**हविषा**" ग्रहण करने योग्य योगाभ्यास और अतिप्रेम से "**विधेम**" भक्तिविशेष किया करें। तृतीय मन्त्र "**य आत्मदा**" में "**हविषा**" आत्मा और अन्तःकरण से "**विधेम**" भक्ति, अर्थात् उसी की आज्ञा का पालन करने में तत्पर रहें। चतुर्थ मन्त्र मे "**यः प्राणतः**" में "**हविषा**" अपनी सकल उत्तम सामग्री को उसकी आज्ञापालन में समर्पित करके "**विधेम**" भक्तिविशेष करें। पञ्चम मन्त्र "**येन द्यौ**" में "**हविषा**" सब सामर्थ्य से "**विधेम**" विशेष भक्ति करें। छठे मन्त्र "**प्रजापते**" में "**यत्कामास्ते जुहुमः**" जिस-जिस पदार्थ की कामनावाले होके हम लोग भक्ति करें, आपका आश्रय लेवें और वाञ्छा करें। सातवें

मन्त्र के सार में "वही परमात्मा अपना गुरु, आचार्य, राजा और न्यायाधीश है। अपने लोग मिलके सदा उसकी भक्ति किया करें।" आठमें मन्त्र में—इस कारण हम लोग आपकी "**भूयिष्ठाम्**" बहुत प्रकार की स्तुतिरूप "**नम उक्तिम्**" नम्रतापूर्वक प्रशंसा "**विधेम**" सदा किया करें और सर्वदा आनन्द में रहें।

इन अर्थों में एक बात भली प्रकार हृदयङ्गम कराई गई है कि केवल प्रभु के गुण-वर्णन का नाम भक्ति नहीं है। अपनी असुविधाओं और प्रतिकूलताओं की निवृत्त्यर्थ याचना भी भक्ति नहीं है, अपितु बुराइयों, कुटिलताओं से बचने के लिए ज्ञानपूर्वक प्रयत्न तथा दूसरे के कष्ट दूर करने के लिए और सुख-साधन ऋजुतापूर्वक जुटाने के लिए सदा पुरुषार्थ करते रहना, इन दोनों के लिए प्रभु से नम्रतापूर्वक साहाय्य चाहने का नाम 'भक्ति' है। जबतक प्रार्थी प्रार्थना के साथ इच्छित वस्तु की प्राप्ति के लिए स्वयं पुरुषार्थ नहीं करता, परमात्मा उस प्रकार की प्रार्थना को कभी नहीं सुनता।

ऋषि ने 'सत्यार्थप्रकाश' के सप्तम समुल्लास के इस प्रकरण में बहुत उपयोगी और भ्रमनिवारक विचार दिये हैं, थोड़ा-सा ध्यान दीजिये—

"स्तुति से ईश्वर में प्रीति, उसके गुण-कर्म-स्वभाव से अपने गुण-कर्म-स्वभाव को सुधारना, प्रार्थना से निरभिमानिता, उत्साह और सहाय का मिलना—उपासना से परमब्रह्म से मेल और उसका साक्षात्कार होना।"

स्पष्टीकरण के लिए "**स पर्यगात्**" यजुर्वेद का मन्त्र उद्धृत करके उसके अर्थ द्वारा सगुण और निर्गुण स्तुति का विश्लेषण किया, यथा—"जिस-जिस गुण से सहित परमेश्वर की स्तुति करना वह सगुण (अकाय), अर्थात् वह कभी शरीर-धारण वा जन्म नहीं लेता, जिसमें छिद्र नहीं होता, नाड़ी आदि के बन्धन में नहीं आता और कभी पापाचरण नहीं करता, जिसमें क्लेश अज्ञान कभी नहीं होता, इत्यादि जिस-जिस राग-द्वेषादि गुणों से पृथक् मानकर परमेश्वर की स्तुति करना है—वह निर्गुण स्तुति है। इसका फल यह है कि जैसे परमेश्वर के गुण हैं, वैसे गुण-कर्म-स्वभाव अपने भी करना। जैसे वह न्यायकारी है तो आप भी न्यायकारी होवें। और जो केवल भांड के समान परमेश्वर के गुण-कीर्तन करता जाता और अपने चरित्र नहीं सुधारता, उसकी स्तुति करना व्यर्थ है।"

प्रार्थना

"**यां मेधाम्**" आदि आठ यजुर्वेद के मन्त्रों को उद्धृत करके उसके पश्चात् भी दो यजुः के मन्त्र और एक शतपथ का वाक्य लिखकर अर्थ करने के अनन्तर ऋषि लिखते हैं—"अर्थात् जिस-जिस दोष वा दुर्गुण से परमेश्वर और अपने को पृथक् मानके परमेश्वर की प्रार्थना की जाती है, यह विधि-निषेध मुख होने से सगुण-निर्गुण प्रार्थना। जो मनुष्य जिस

बात की प्रार्थना करता है उसको वैसा ही वर्त्तमान (में आचरण) करना चाहिए, अर्थात् जैसे सर्वोत्तम बुद्धि की प्राप्ति के लिए परमेश्वर की प्रार्थना करे, उसके लिए जितना अपने से प्रयत्न हो सके उतना किया करे, अर्थात् अपने पुरुषार्थ के उपरान्त प्रार्थना करनी योग्य है। ऐसी प्रार्थना कभी न करनी चाहिए और न परमेश्वर उसका स्वीकार करता है कि जैसे—हे परमेश्वर! आप मेरे शत्रुओं का नाश, मुझको सबसे बड़ा, मेरी ही प्रतिष्ठा और मेरे आधीन सब हो जावें, इत्यादि। क्योंकि, जब दोनों शत्रु एक-दूसरे के नाश के लिए प्रार्थना करें तो क्या परमेश्वर दोनों का नाश कर दे? जो कोई कहे कि जिसका प्रेम अधिक, उसकी प्रार्थना सफल हो जावे, तब हम कह सकते हैं कि जिसका प्रेम न्यून हो उसके शत्रु का भी न्यून नाश होना चाहिए। ऐसी मूर्खता की प्रार्थना करते-करते कोई ऐसी भी प्रार्थना करेगा—हे परमेश्वर! आप हमको रोटी बनाकर खिलाइये, मकान में झाड़ू लगाइये, वस्त्र धो दीजिये और खेती-बाड़ी भी कीजिये। इस प्रकार जो परमेश्वर के भरोसे आलसी होकर बैठे रहते, वे महामूर्ख हैं, क्योंकि जो परमेश्वर की पुरुषार्थ करने की आज्ञा है, उसको जो कोई तोड़ेगा वह सुख कभी न पावेगा। जैसे—''**कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः**''—परमेश्वर आज्ञा देता है कि मनुष्य 'सौ वर्ष पर्यन्त, अर्थात् जबतक जीवे तबतक कर्म करता हुआ जीने की इच्छा करे, आलसी कभी न हो।' देखो, सृष्टि के बीच में जितने प्राणी हैं अथवा अप्राणी, वे सब अपने-अपने कर्म और यत्न करते ही रहते हैं—जैसे पिपीलिका आदि सदा प्रयत्न करते, पृथिवी आदि सदा घूमते और वृक्ष आदि सदा बढ़ते-घटते रहते हैं, वैसे यह दृष्टान्त मनुष्यों को भी ग्रहण करना योग्य है। जैसे पुरुषार्थ करते हुए पुरुष का सहाय दूसरा भी करता है, वैसे धर्म से पुरुषार्थी पुरुष का सहाय ईश्वर भी करता है। जैसे काम करनेवाले को भृत्य कहते हैं और अन्य आलसी को नहीं, देखने की इच्छा करने और नेत्रवाले को दिखलाते हैं, अन्धे को नहीं, इसी प्रकार परमेश्वर भी सबके उपकार करने की प्रार्थना में सहायक होता है, हानिकारक कर्म में नहीं। जो कोई गुड़ मीठा है, ऐसा कहता है, उसको गुड़ तथा उसका स्वाद कभी प्राप्त नहीं होता, और जो यत्न करता है, उसे शीघ्र वा विलम्ब से गुड़ मिल ही जाता है।''

उपासना के सम्बन्ध में ऋषि का कथन है कि—''उपासना शब्द का अर्थ समीपस्थ होना है.....जब उपासना करना चाहें तब एकान्त शुद्ध देश में जाकर आसन लगा, प्राणायाम कर बाह्यविषयों से इन्द्रियों को रोक, नाभि-प्रदेश में वा हृदय, कण्ठ, नेत्र, शिखा अथवा पीठ के मध्य हाड़ में किसी स्थान पर स्थिर करके अपने आत्मा और परमात्मा का विवेचन करके परमात्मा में मग्न होकर संयमी होवे। जब इन साधनों को करता है, तब उसका आत्मा और अन्तःकरण पवित्र होकर सत्य

से पूर्ण हो जाता है। नित्यप्रति ज्ञान-विज्ञान बढ़ाकर मुक्ति तक पहुँच जाता है। सर्वज्ञादि गुणों के साथ परमेश्वर की उपासना करनी सगुण और द्वेष, रूप, रस, गन्ध, स्पर्शादि गुणों से पृथक् मान, अति सूक्ष्म आत्मा के भीतर-बाहर व्यापक परमेश्वर में दृढ़ स्थित हो जाना—निर्गुणोपासना कहाती है।

इसका फल—जैसे शीत से आतुर पुरुष का अग्नि के पास जाने से शीत निवृत्त हो जाता है, वैसे परमेश्वर के समीप प्राप्त होने से सब दोष छूटकर परमेश्वर के गुण, कर्म, स्वभाव के सदृश जीवात्मा के गुण, कर्म, स्वभाव पवित्र हो जाते हैं। इसलिए परमेश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना अवश्य करनी चाहिए। इससे इसका फल पृथक् होगा, परन्तु आत्मा का बल इतना बढ़ेगा कि वह पर्वत के समान दुःख प्राप्त होने पर भी न घबरावेगा और सबको सहन कर सकेगा।

क्या यह छोटी बात है? और जो ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना नहीं करता, वह कृतघ्न और महामूर्ख भी होता है, क्योंकि जिस परमात्मा ने इस जगत् के सब पदार्थ जीवों के सुख के लिए दे रक्खे हैं, उसके गुण भूल जाना, ईश्वर ही को न मानना कृतघ्नता और मूर्खता है।''

'सत्यार्थप्रकाश' के सप्तम समुल्लास से ये विस्तृत उद्धरण बहुत आवश्यक समझकर दिये गए हैं, क्योंकि प्रार्थना के विषय में, आर्यसमाज में भी अनेक प्रकार की धाँधली प्रचलित हो गई है। यहाँ भी अपनी शक्ति, प्रयत्न और योग्यता का ध्यान रक्खे बिना आँखें बन्द करके भगवान् के समक्ष लम्बा-चौड़ा माँग-पत्र रख दिया जाता है। यहाँ दो प्रकार के भाषण प्रचलित हैं—आँख खोलकर एक भाषण जनता को सुनाया जाता है और दूसरा भाषण आँख बन्द करके परमात्मा को पिलाया जाता है। आधा-आधा घण्टे तक माँग-पत्र जारी रहते हैं। इस सब में सुधार अपेक्षित है। प्रार्थना के शब्द नपे-तुले और अपनी योग्यता-पुरुषार्थ से अधूरे रहे कार्य की पूर्त्ति के लिए होने चाहिएँ। प्रभु हमारी सारी स्थिति से भली प्रकार परिचित है। उसके लिए विनीत भाव से कहे हुए दो शब्द ही पर्याप्त होंगे। वह उदार दाता हमारे कर्मों को देखकर बिना माँगे भी देता है। यदि प्रार्थना करने पर भी नहीं मिलता तो कमी हमारी पात्रता की है। इस सम्बन्ध में बहुत सुन्दर लिखा है किसी शायर ने—

तेरे करम में कमी कुछ नहीं करीम है तू।
क़ुसूर मेरा है, झूटा उमीदवार हूँ मैं॥

आर्यसमाज के क्षेत्र में इस बात में भी सुधार होना चाहिए कि प्रार्थना के प्रारम्भ में जिन वेदमन्त्रों का उच्चारण किया जाता है, उनका प्रार्थी की भाषा के साथ कोई तालमेल नहीं होता। मन्त्र तो बोला **''यां मेधाम्''** जिसमें धारणावती बुद्धि की प्रार्थना है, और भाषा में माँग रहे

हैं सुख, समृद्धि और चक्रवर्ती राज्य। होना यह चाहिए कि जो मन्त्र है उसी का सार भाषा में हो। साथ ही प्रार्थना पाँच मिनट से अधिक नहीं होनी चाहिए।

आर्यसमाज के बाहर तथाकथित धार्मिक क्षेत्र में तो प्रार्थना के नाम पर अन्धेरगर्दी मची हुई है। पौराणिक भाइयों में बुद्धि से विचारने का कोई काम ही नहीं है। झूम-झूम के गाते हैं—

जय गणेश जय गणेश देवा।
माता तेरी पार्वती, पिता महादेवा॥

विचारें कि आप प्रार्थना कर रहे हैं या वंशावलि का वर्णन? ऐसी ही अनेक प्रार्थनाएँ शङ्कर के विषय में भक्त लोग गाते हैं। "**हरे कृष्ण हरे राम, राम-राम हरे-हरे**" की तो संसार में आँधी ही आ रही है। वस्तुतः ईश्वर और धर्म के विषय में लोग बुद्धि से सोचने की आवश्यकता ही नहीं समझते। ईसाइयों में तो प्रभुकृपा-प्राप्ति के लिए पापी बनना भी आवश्यक है। इस स्थिति पर किसी शायर ने अच्छी चुटकी ली है—

जब गुनहगारों पै देखी रहमते-परवरदिगार[1]।
बेगुनाहों ने पुकारा हम गुनहगारों में हैं॥

कितनी दयनीय स्थिति है!

अब मन्त्र के अर्थ का थोड़ा-सा स्पष्टीकरण है। पहला शब्द है— "**एवयामरुत्**" ज्ञान-विज्ञान के भण्डार वेदों के ज्ञाता भक्त, "विज्ञानवान् मनुष्य"। वेदार्थ-कोष में इसकी व्युत्पत्ति निम्न ही है—"**य एवान् प्रापकान् यान्ति तेषां यो मरुत् मनुष्यः**"—"**श्रीमान् जनः**"। गत्यर्थक इण् और प्रापणार्थक या धातु से इनकी निष्पत्ति हुई।

किस उद्देश्य से तुम प्रभु की प्रार्थना करो, इसका दिग्दर्शन कराया— "**महे**"—बड़ाई के लिए, उत्कर्ष के लिए उससे याचना करो। जो सद्गुण आज तुम्हें सुखी और यशस्वी बना रहे हैं, उनकी वृद्धि और प्राप्ति में प्रमाद मत करो—तभी तुम बढ़ सकते हो, **मरुत्वते विष्णवे**—ऋत्विजोंवाले यज्ञ के लिए। इसकी व्युत्पत्ति वेदार्थ-कोष में—"**मरुतो बहवो मनुष्याः कार्यसाधका विद्यन्ते यस्य तस्मै मरुत्वते**" अर्थात् 'जिस कर्म में बहुत-से कार्यसाधक सहयोगी मनुष्य जुटते हैं।' आध्यात्मिक पक्ष में ऋत्विजोंवाले यज्ञ के लिए यह अर्थ और भी उपयुक्त है। "**विष्णवे**" का "**व्यापनशीलाय यज्ञाय**" विस्तृत उपकार-क्षेत्रवाले यज्ञ के लिए भाव स्पष्ट और प्रसिद्ध है ही। "**प्रशर्धाय**"—उत्तम बल के लिए; "प्र" उत्कृष्ट "शर्धः" बलनाम (निघण्टु २।९); बल के पर्यायों में 'शर्ध' शब्द आता है। "**प्रयज्यवे**"—यज्ञ के विस्तारक साधनों के लिए—घी,

---

१. प्रभु-कृपा।

दूध, अन्न, औषध आदि सभी यज्ञ के साधन हैं। इनकी प्राप्ति के लिए प्रार्थना भी करें और उत्पादन के लिए पुरुषार्थ भी करें। "**सुखादये**"— सुखपूर्वक भोग के लिए। "**सुखं कस्मात्**"? "**सुहितं खेभ्यः**" (निरुक्त ३।१३)—जो इन्द्रियों को आनन्ददायक हो, ऐसे सांसारिक खान-पानादि के लिए। यथा-तथा समय काटना ही जीवन का लक्ष्य नहीं होना चाहिए, अपितु "**क्रीडन्तौ मोदमानौ**" (अथर्व०) आनन्दपूर्वक हँसते-खेलते जियें। "**तवसे**"—स्फूर्ति के लिए—**तव इति बलनाम** (निघण्टु २।९)। स्फूर्ति बल के बिना असम्भव है, अतः स्फूर्ति के लिए कर्त्तव्य कर्म में शिथिलता न हो, इसके लिए। "**भन्ददिष्टये**"— कल्याण-सुख-सङ्गति के लिए—"**भन्दद्-इष्टये**", '**भदि**' धातु का अर्थ कल्याण और सुख है। यज् धातु से क्तिन् प्रत्यय होकर इष्टि शब्द बना। यज्ञ के धात्वर्थ में सङ्गतिकरण है ही, अतः कल्याण-सुख-सङ्गति के लिए अर्थ उपयुक्त ही है। "**धुनिव्रताय**"—यातायात के लिए; **धून् कम्पने** धातु से 'धुनि' शब्द बना, अर्थात् कम्पन, गति और जाना-आना जिनका व्रत हो, कर्मठ व्यक्ति। "**शवसे**"—मानस बल के लिए— **शवति इति परिचरणकर्मा** (निघण्टु ३।५), अतः मानस बल ठीक ही है। "**गिरिजाः**"—वाणियों में उत्पन्न हुई शब्दार्थक गृ (क्र्या०) धातु से गिरि शब्द बना और "**ज**" "**जनी प्रादुर्भावे**"—'उत्पन्न होने में' प्रसिद्ध ही है। मन्त्र का अन्तिम शब्द "**प्रयन्तु**"—उच्चभाव से प्राप्त हों, स्पष्ट है ही।

अर्थात् श्रद्धा और भावना से तन्मय होकर की गई प्रार्थनाएँ कर्म के साथ मिलकर समस्त जीवन-पथ को प्रशस्त कर दें। अपनी अल्पज्ञता और अल्प बल की स्थिति नम्रतापूर्वक निवेदन करने के बाद पूर्ण समर्पण की भावना भी भक्त में होनी श्रेयस्कर होगी।

शऊरे-सिज्दा[१] नहीं है मुझको, तू मेरे सिज्दे की लाज रखना।
ये सर तेरे आस्ताँ[२] से पहले, किसी के आगे झुका नहीं है॥

□□

---

१. नमन का तौर-तरीक़ा, २. स्थान।

प्रभु की शरण में ही कल्याण होगा

पवस्व वाजसातमोऽभि विश्वानि वार्या।
त्वं समुद्रः प्रथमे विधर्मं देवेभ्यः सोम मत्सरः॥

—साम० ५२१

ऋषिः—सप्तर्षयः॥ **देवता**—पवमानः सोमः॥ **छन्दः**—बृहती॥

अन्वयः—हे सोम वाजसातमः मत्सरः विश्वानि वार्या अभिप्रथमे विधर्मन् समुद्रः देवेभ्यः पवस्व॥

शब्दार्थ—(**सोम**) हे अमृत परमात्मन्! (**वाजसातमः**) अन्नादि पदार्थों के अतिशयदाता (**मत्सरः**) आनन्दस्वरूप और आनन्ददायक (**त्वम्**) आप (**विश्वानि**) सब (**वार्या**) वरणीय स्तोत्रों को (**अभि**) लक्ष्य करके (**प्रथमे**) विशाल वा श्रेष्ठ (**विधर्मन्**) विशेष करके धारक (**समुद्रः**) हृदयान्तरिक्ष में (**देवेभ्यः**) अपने उपासकों के लिए (**पवस्व**) अपनी प्राप्ति का विधान कीजिये।

व्याख्या—मन्त्र में मुख्य रूप से तीन बातें कही गई हैं—पहली यह है कि अन्नादि पदार्थों का दाता वह प्रभु ही है, दूसरी यह कि उसी आनन्दस्वरूप से आनन्द का प्रसाद मिल सकता है, तीसरी यह है कि जिस भक्त को प्रभु वरणीय समझता है, उसे उसके हृदयान्तरिक्ष में दर्शन देता है। अब एक-एक बात पर विस्तार से विचार कीजिये।

जाति, आयु और भोग का निश्चय कर्मानुसार होता है। "**सतिमूले तद् विपाको जात्यायुर्भोगाः**"—यह योगशास्त्र का मत है। कर्म का फल प्रभु की व्यवस्था से मिलता है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परि षस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति॥

—ऋ० १।१६४।२०

'दो, जीव और ईश्वर, चेतनता और पालनादि गुणों में समान हैं, व्याप्य-व्यापक भाव से सदा संयुक्त और परस्पर मित्र हैं। ये दोनों प्रकृतिरूपी वृक्ष पर बैठे हुए हैं। इनमें से एक (जीव) उस वृक्ष के स्वादु फलों (भोगों) को खाता है और दूसरा न खाता हुआ फल की व्यवस्था करता है।' तो इस प्रकार अन्नादि पदार्थों का दाता वह भगवान् ही है।

वेद और शास्त्र मनुष्य को निष्काम कर्म का आदेश दे रहे हैं—**कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः** (यजु० ४०।२)—मनुष्य

कर्म करता हुआ ही १०० वर्ष तक जीने की इच्छा करे। किन्तु फल की आसक्ति से बचना चाहिए, क्योंकि यह मानवाधिकार की सीमा से बाहर की चीज़ है। गीता में इस बात को थोड़ा विशद रूप में कहा गया है—"**कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन**"—तेरा अधिकार कर्म करने तक है, फलों में कदापि नहीं। फल कैसा हो, कितना हो, कब हो, इसमें अपनी टाँग नहीं अड़ानी चाहिए, यह हमारा काम नहीं है। एक अन्य स्थान पर इस बात को और भी स्पष्ट किया है—"**मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि**"—'तू न तो कर्मफल में आसक्त हो और न निठल्ला बैठ!'

आध्यात्मिक क्षेत्र के व्यक्ति को यह बात अच्छी तरह समझ लेनी चाहिए। यदि मनुष्य ईमानदारी से कर्म करने तक ही अपने-आपको सीमित रक्खे और फल के बोझ को अपने ऊपर न लादकर प्रभु के ऊपर छोड़ दे, तो सोचिये, मस्तिष्क का कितना बोझ उतर जाता है! इस अवस्था में उसकी दशा उस सेवक के समान होती है, जो चार-छह घण्टे की नौकरी बजाने के बाद क्या बनेगा, क्या नहीं, इस उधेड़-बुन से परे रहकर मस्त रहता है। यदि मन न मानता हो तो ज़रा इससे पूछकर देखिए कि तेरी इस मग़ज़पच्ची से फल की प्राप्ति अथवा अप्राप्ति, या न्यूनाधिकता में कोई अन्तर पड़ेगा? यदि नहीं तो इस कोयले की दलाली में हाथ काले करने का क्या लाभ? यह तो मूर्खता है। एक मनुष्य घोड़े पर लदी हुई गठरी के ऊपर बैठकर जा रहा था। उसे ध्यान आया कि घोड़े पर बोझ बहुत है, कुछ कम करना चाहिए। उसने अपने नीचे की गठरी निकालकर अपने सिर पर रख ली और फिर बैठ गया। अब आप देख लीजिये, घोड़े पर बोझ तो पहले के बराबर ही है। हाँ, इस बुद्धिमत्ता का परिणाम इतना और हुआ कि जो बोझ नीचे था, उसे अब अपने सिर पर रख लिया।

अनासक्त मनुष्य ही लाभ-हानि और जय-पराजय में एकरस रह सकता है। इसके विपरीत स्थिति का चित्रण हिन्दी के पुराने कवि 'देव' ने बहुत सुन्दर खींचा है—

सम्पति में ऐंठि बैठे, चौंतरा अदालत के।
विपति में पैन्हि बैठे, पाँय झुनझुनियाँ।
जे तोई सुख संपति, ते तोई दुःख विपति में।
संपति में मीर मिर्ज़ा विपति परे धुनियाँ।
संपति ते विपति, विपति सू ते संपति है।
संपति और विपति बराबर कै गुनियाँ।
संपति में काँय-काँय, विपति में भाँय-भाँय।
काँय-काँय भाँय-भाँय देखी सब दुनियाँ॥

व्यक्ति यदि कर्मफल में अनासक्त हो जावे तो यह सारा झगड़ा

समाप्त हो जावे। बड़े-से-बड़े कार्य करते हुए भी मस्तिष्क पर उसका कोई बोझ नहीं।

महाभारत के युद्ध में समस्त गतिविधियों का केन्द्र योगिराज कृष्ण थे, किन्तु उस गुरुतर दायित्व का भार उनके मस्तिष्क पर लेशमात्र भी नहीं था। योगिराज जनक एक राज्य के कर्णधार होते हुए भी सर्वथा निर्लिप्त और निर्द्वन्द्व रहते थे। सब भोगों का अधिष्ठाता प्रभु है, यह निश्चय होते ही सांसारिक पुरुषों की अनुचित खातिर-खुशामद और दीनता भाग जाएगी। हृदय-गुहा से ध्वनि गूँजेगी कि यह गिड़गिड़ाहट क्यों?

वो ख़ुदा अता[१] करे तो जहन्नुम[२] भी है बहिश्त[३]।
माँगी हुई निजात[४] मेरे काम की नहीं॥

इसका यह अभिप्राय नहीं है कि जो कृपालु मित्र हमारी सहायता करते हैं हम उनके कृतज्ञ न हों। हमें अवश्य उनका आभार मानना चाहिए। कृतघ्नता को शास्त्रकारों ने बहुत बड़ा पाप माना है। इसमें समझनेवाली बात केवल इतनी है कि हमारे ही किन्हीं सञ्चित कर्मों का फल हमारे उन मित्रों के माध्यम से हमें मिलना था, इसीलिए उनके मन में वह प्रेरणा हुई, अतः विचारशील व्यक्ति को मित्रों के प्रति कृतज्ञता-ज्ञापन के साथ-साथ उस प्रभु का भी अत्यन्त आभारी होना चाहिए जिसकी आन्तरिक प्रेरणा का वह परिणाम है। संसार में कर्मफल का कोई-न-कोई माध्यम तो होना ही है, किन्तु वे सभी माध्यम उसी समय सफल होते हैं, जब हमें अपने कर्मों के आधार पर सुख अथवा दुःख मिलना होता है। इसीलिए इस मन्त्र में पहली बात कही गई कि समस्त अन्नादि भोग्य-पदार्थों का दाता वही है, तू पुरुषार्थ करने के बाद उसी से माँग! उससे माँगने का तुझे अधिकार है। वह ऐसा दाता है जिससे प्रत्येक माँगता है—चाहे राजा हो चाहे रङ्क।

एक मनोरञ्जक किंवदन्ती है कि एक बार बादशाह अकबर भ्रमण करता हुआ मार्ग में भटक गया और दिन के ९-१० बजे एक किसान के खेत में पहुँच गया। किसान खेत में हल चला रहा था। उसी समय उसकी पत्नी नाश्ता लेकर आ गई। आगन्तुक को देखकर शिष्टाचारवश किसान ने नाश्ते का अनुरोध किया। इधर बादशाह चलने से थका हुआ था और भूख तथा प्यास दोनों ही उसे व्याकुल कर रही थीं, फलतः किसान के निमन्त्रण को स्वीकार कर लिया। किसान ने मिस्सी मोटी रोटियों का आधा भाग उसे दे दिया, साथ में कुछ मट्ठा और मक्खन भी दिया। कड़कती भूख में बादशाह को दोनों चीज़ें बहुत रुचिकर लगीं। वह उस प्रातराश (नाश्ता) से बहुत तृप्त हुआ।

---

१. प्रदान; २. नरक; ३. स्वर्ग; ४. मुक्ति, मोक्ष।

चलते हुए किसान का धन्यवाद किया और अपना परिचय देते हुए कहा कि—"भाई, मेरा नाम अकबर है। मैं इस देश का बादशाह हूँ, आगरा में रहता हूँ। मैं तुम्हारे इस उपकार को याद रक्खूँगा। तुम पर कभी कोई सङ्कट आ जाय तो मेरे पास अवश्य आना, तुम्हारी सहायता करूँगा।"

कुछ महीनों बाद वर्षा के अभाव में किसान की फ़सल नष्ट हो गई और उसे आर्थिक सङ्कट ने घेर लिया। इस विपन्न अवस्था को देखकर किसान की पत्नी ने बादशाह अकबर की उस दिन की बात याद दिलाई और कहा—"आगरा कोई बहुत दूर तो नहीं! उसके पास क्यों नहीं चले जाते? वह अवश्य सहायता करेगा।" कृषक ने निराशा के स्वर में कहा—"बहुत-सी बातें संसार में कहने को कह दी जाती हैं, उनका व्यावहारिक मूल्य उतना नहीं होता। क्या पता अब वह पहचानेगा भी कि नहीं!" पत्नी ने उत्तर दिया—"यह धारणा पहले से ही बना लेनी तो ठीक नहीं। तुम जाओ तो सही! यदि न पहचाने तो लौट आना। वह कोई बाँधकर थोड़े ही रख लेगा!"

किसान गया और आगरा में पहुँचकर देहाती ढङ्ग से एक शहरी व्यक्ति से पूछा—"भाई, यहाँ अकबरा कहाँ रहता है? मैं उससे मिलने आया हूँ।" शहरी ने कहा—"अरे, वह बादशाह है! तू उसके लिए ऐसी उजड्ड भाषा में बोलता है? शहर में सबसे शानदार और ऊँचे महल उसी के हैं। वहाँ जाकर किसी को कहना, वह तुम्हें मिला देगा।"

किसान गया। उसे सेवकों ने बादशाह के पास पहुँचा दिया। बादशाह ने कृषक को पहचानकर कुशलता पूछी। किसान बादशाह के भव्य भवन और साज-सामान को देखकर चकित रह गया। पहले वाक्य में बोला—"अरे अकबरा, तेरे तो बड़े ठाठ-बाट हैं! तू तो बहुत बड़ा आदमी है रे!"

अकबर ने किसान से आने का कारण पूछा। किसान ने अपनी तङ्गी का सब हाल कह सुनाया। सुनकर बादशाह ने सहायता का आश्वासन दिया और दो-एक दिन आगरा में ठहरकर विश्राम करने को कहा। अतिथिगृह में उसके निवास की उचित व्यवस्था कर दी।

शाम होने पर बादशाह उससे मिला और नमाज़ का समय होने पर किसान से कहा—"मैं थोड़ा भगवान् का नाम ले लूँ, तुम यहाँ बैठो!" यह कहकर वह नमाज़ अदा करने को चला गया। किसान कभी-कभी झाँकके देख लेता था कि वह कर क्या रहा है? मुसलमान लोग नमाज़ की समाप्ति पर दोनों हाथ फैलाकर भगवान् से दुआ माँगते हैं। वही बादशाह ने किया। किसान के लिए बादशाह का हाथ फैलाना बड़े आश्चर्य की बात थी। वह सोचने लगा—इतना बड़ा आदमी किसके सामने हाथ पसार रहा है? फिर इसके पास कमी क्या है, जो यह माँग

रहा है?

बादशाह नमाज़ पढ़के आया तो किसान ने अपने मन की बात प्रकट कर दी—"तुम किसके सामने हाथ फैला रहे थे? क्या माँग रहे थे?"

बादशाह ने उत्तर दिया—"मैं उस भगवान् के सामने हाथ फैला रहा था, जिसने यह सारा संसार बनाया है। मैं उससे प्रतिदिन दुआ माँगता हूँ। मेरे माँगने पर उसी ने मुझे यह सब-कुछ दिया है।"

बात समाप्त हुई। किसान के कानों में बादशाह का वह वाक्य गूँज रहा था—'मैं उसी से माँगता हूँ, उसी ने मुझे सब-कुछ दिया है।'

अगले दिन सवेरा होते ही किसान चलने की अनुमति माँगने बादशाह के पास आया। बादशाह ने उसकी आवश्यकता के विषय में पूछा, ताकि वह उसे पूरा करने के लिए खज़ाञ्ची को आदेश दे सके।

किसान ने कहा—"मुझे कुछ नहीं चाहिए।" बादशाह ने पूछा—"क्यों, क्या हुआ? तुम अपनी आवश्यकता से बाध्य होकर ही तो आए थे; अब निषेध क्यों करते हो?" किसान ने उत्तर दिया—"अब मैं उसी से माँगूँगा जिससे तू माँगता है। जब तेरे माँगने पर वह तुझे इतना देता है, तो क्या वह मुझे स्वाभिमान से जीने के लिए, निर्वाह के योग्य साधन भी न देगा?" वह अवश्य देगा और देता है। यदि नहीं मिलता तो कमी हमारी है।

अतः मन्त्र का पहला उपदेश है—अन्नादि पदार्थों का दाता वह प्रभु है।

मन्त्र की दूसरी बात है कि उस आनन्दस्वरूप प्रभु से ही हमें आनन्द की प्राप्ति हो सकती है। प्रकृति सत्, जीवात्मा सत् और चित् है, अर्थात् नित्यत्व के साथ-साथ चेतन है और इसीलिए कर्म करने में समर्थ है। प्रभु सत् है, चित् है और आनन्दस्वरूप भी है। जीव को सदा आनन्द प्राप्त करने की इच्छा रहती है। वह जिस ओर और जो भी यत्न करता है, आनन्द के लिए ही करता है। यह आनन्द की ललक ही उसे विषयों की ओर घसीट ले जाती है। विषयों में उसे उसका आभास मिलता है, किन्तु भोग की समाप्ति पर प्रतिक्रिया क्लेश उत्पन्न करती है। वह फिर विषयोपभोग के समय के आनन्द को प्राप्त करना चाहता है और यह भी हार्दिक इच्छा होती है कि यह क्रम टूटने न पावे। परिणाम यह निकलता है कि वह विषयों के भँवर में चक्र काटता है और अन्त में निराशा ही हाथ लगती है, क्योंकि उसने आनन्द वहाँ खोजा, जहाँ था नहीं। अच्छा लिखा है एक नीतिकार ने—

जन्मेदं व्यर्थतां नीतं भवभोगोपलिप्सया।
काचमूल्येन विक्रीतो हन्त चिन्तामणिर्मया॥

'संसार के भोगों को प्राप्त करने की इच्छा से मैंने ऐसी मूर्खता की

है, जैसे शीशे के टुकड़ों के बदले में कोई चिन्तामणि दे डाले।' अतः वेद शिक्षा दे रहा है कि आनन्द की प्राप्ति तो उसे आनन्द-घन की उपासना से होगी। विषयों में आनन्द की झलक क्षणिक है और तभी तक उसकी झलक मिलती है, जबतक शरीर को उसकी आवश्यकता है। आवश्यकता के निवृत्त होते ही वह वस्तु निरर्थक प्रतीत होती है, उसमें कोई आनन्द नहीं। किन्तु प्रभु का ज्ञानमय पावन सम्पर्क ऐसा है कि जिसका कोई पारावार नहीं, जिसे प्राप्त कर मानव तृप्त और शान्त हो जाता है।

यही मानव-जीवन की यात्रा का लक्ष्य है। सारे जप-तप-साधन इस यात्रा की तैयारी के लिए हैं।

अतः दूसरा उपदेश हुआ कि आनन्द का भण्डार वह प्रभु ही है।

मन्त्र की तीसरी बात है कि उससे मिलने के लिए और कहीं भटकने की आवश्यकता नहीं, उसके दर्शन हृदयान्तरिक्ष में होते हैं। मेल वहाँ होता है, जहाँ मिलनेवाला और जिससे मिलना है, दोनों विद्यमान हों। ऐसा एकमात्र स्थान हृदय ही हो सकता है। प्रभु तो सर्वत्र व्यापक है ही, किन्तु उससे मिलनेवाला जीव तो अपने शरीर में भी व्यापक नहीं है। ऐसा स्थान तो केवल हृदय है, जहाँ जीवात्मा और परमात्मा दोनों हैं। मूर्त्ति भी दर्शन का माध्यम इसीलिए नहीं हो सकती, क्योंकि उसमें सर्वव्यापकता के कारण प्रभु तो है, किन्तु जीव नहीं है।

अतः अभ्यास और वैराग्य से मन के पवित्र होने पर निर्मल हृदय-मन्दिर में उसके दर्शन होते हैं।

❑❑

(१३)

सफल जीवन और उषा

म॒हे नो॑ अ॒द्य बो॑धयो॒षो रा॒ये दि॒वित्म॑ती।
यथा॑ चि॒न्नो अबो॑धयः स॒त्यश्र॑वसि वा॒य्ये सुजा॑ते॒ अश्व॑सूनृते ॥

—साम० ४२१

ऋषिः—सत्यश्रवाः आत्रेयः॥ **देवता**—उषाः॥ **छन्दः**—पङ्क्तिः॥

शब्दार्थ—(**सत्यश्रवसि**) ठीक-ठीक श्रवण करनेवाली (**सुजाते**) शोभा-सम्पन्न जन्म से युक्त (**अश्वसूनृते**) श्रुति-मधुर शब्दों से भरपूर (**वाय्ये**) विस्तृत (**उषः**) प्रभात-वेला (**यथाचित्**) जिस प्रकार (**नः**) हमको (**अबोधयः**) पहले के समान जगानेवाली (**अद्य**) अब भी (**दिवित्मती**) प्रकाशवाली तू (**महेराये**) महान् धन-धान्यादि ऐश्वर्य के लिए (**नः**) हमको (**बोधय**) जगा!

व्याख्या—इस मन्त्र में उषःकाल का बहुत ही चमत्कारपूर्ण प्राकृतिक सौन्दर्य और प्रभाव का वर्णन किया गया है। दूसरे क्रम पर ब्राह्ममुहूर्त्त में जागकर आवश्यक कार्यों से निवृत्त होना सफलता और स्वास्थ्य दोनों दृष्टियों से ही उत्तम है। तीसरे, देवियाँ उषः-समय के गुणों को धारण कर घरों को सुखमय तथा शोभायुक्त बना सकती हैं।

मन्त्र में उषः के तीन महत्त्वपूर्ण विशेषण हैं, जो उसके उत्कर्ष पर प्रभाव डालते हैं। पहला है "**सत्यश्रवसि**"—ठीक-ठीक श्रवण करानेवाली। इसका एक भाव यह है कि प्रातः के समय शब्द दूरगामी तथा स्पष्ट सुनाई देनेवाला होता है। दूसरा इसका भाव यह भी है कि इस समय सुना हुआ शब्द भले प्रकार मनन किया जाता है। शब्द-प्रयोग का लक्ष्य भी मनन-शक्ति को उद्बुद्ध करने का ही होता है। यदि उच्चरित शब्द विचार-शक्ति को प्रभावित नहीं करते तो उनका उच्चारण और श्रवण दोनों निरर्थक हैं। इसके अतिरिक्त प्रातः स्मरण किया पाठ, शीघ्र स्मृति-पटल पर अङ्कित हो जाता है और शीघ्र विस्मृत नहीं होता, अतः उषः श्रवण, मनन और स्मरण के लिए सर्वोत्तम समय है।

दूसरा विशेषण है—"**सुजाते**"—शोभन सुन्दर जन्मवाली। उषःकाल का समय प्रकृति में शोभा और सौन्दर्य को भर देता है। जिस ओर दृष्टि डालिये, इस समय का मनोहर दृश्य नयनाभिराम होता है। स्वर्णिम प्राची संसार की प्रत्येक वस्तु को सुनहरा बना रही है। बहते हुए नदी के प्रवाह में उसकी शोभा कुछ और ही प्रकार की होती है। वनस्थली की

दूर्वा पर झिलमिलाते ओसकण अपना अनोखा सौन्दर्य बिखेर रहे होते हैं। इस शोभा को देखकर ही किसी शायर ने लिखा था—

उफ़ री शबनम! इस क़दर नादानियाँ?
मोतियों को घास पर फैला दिया?

इस समय न केवल ओस-कण दूब पर मोती-से झिलमिलाते हैं, अपितु रात को वृक्षों और वनस्पतियों पर पड़ी हुई ओस बूँद-बूँद करके टपकने लगती है। उधर फूल भी खिलने लगते हैं। इस दृश्य का भी किसी शायर का मनोरम शब्दचित्र देखिये—

दूसरों के दर्द का अहसास होता है किसे!
हँस दिया करते हैं गुल शबनम को रोता देखकर॥

अस्वस्थ-से-अस्वस्थ व्यक्ति का भी इस वेला में रोग का प्रकोप कम हो जाता है। मन में कुछ उत्साह सञ्चारित हो जाता है। इस प्रकार विचारने पर यह "**सुजाता**" विशेषण बहुत स-सार और सार्थक है। इसके आगे तीसरा विशेषण है "**अश्वसूनृते**"—श्रुतिमधुर शब्दों से भरपूर। यह विशेषण भी कमाल का है। इस समय नाना प्रकार के पक्षी मस्त होकर गाते हैं। कुक्कुट की उदात्त, अनुदात्त और प्लुत से युक्त तीव्र ध्वनि, कोयल की अमृतवर्षिणी स्वरलहरी, केवल ब्राह्ममुहूर्त में ही बोलनेवाली एक विशेष चिड़िया की कानों को मीठी लगनेवाली ध्वनि, पौ फटने पर एक-साथ चहचहानेवाले पक्षियों का कलरव और न जाने कितने प्रकार की ध्वनियाँ सारे वायुमण्डल को सङ्गीतमय बना देती हैं। इसीलिए वेद में उषः को "**अश्वसूनृते**" कहकर इन विशेषणों से इस काल की भिन्न-भिन्न प्राकृतिक सुन्दरताओं का वर्णन किया।

मन्त्र में दूसरी बात है मनुष्य को निद्रा-तन्द्रा त्यागकर अपनी दिनचर्या इसी उत्तम समय से प्रारम्भ करनी चाहिए। इसलिए महर्षि मनु ने विधान किया—

"ब्राह्मे मुहूर्ते बुध्येत, धमार्थौ चानुचिन्तयेत्।"

'ब्राह्ममुहूर्त्त में जागे और प्रथम आध्यात्मिक उन्नति के लिए विचारे और फिर सांसारिक कारोबार के विषय में भी सोचे।' इस समय के शान्त वातावरण और स्वस्थचित्त से मनुष्य जितना अच्छा सोच सकता है, उतना दूसरे समय में नहीं।

आजकल सभी कुछ अव्यवस्थित हो गया है। एक अन्य मन्त्र की व्याख्या में देर से सोने, देर से जगने, अनियमित भोजनादि से होनेवाली हानियों का वर्णन किया जा चुका है।

मन्त्र की तीसरी बात घरेलू तौर पर सामाजिक जीवन के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है कि देवियाँ अपने जीवन में उषः के गुणों को धारण करके सारे वायुमण्डल को सुरभित, शान्त और मधुमय बना दें। देवियों

में उषः का पहला गुण "**सत्यश्रवसि**" होना चाहिए। भाष्यकारों ने सत्यश्रवसि का एक अर्थ 'आनन्द से युक्त गृहस्थाश्रम' भी किया है। कौन-सा गृहस्थ आनन्दधाम होगा? जहाँ देवियाँ ऋत, हित और मित गुण से युक्त वाणी का प्रयोग करें। वाणी से सत्य कभी ओझल न हो। भर्तृहरि ने गृहस्थाश्रम की विशेषता का वर्णन करते हुए लिखा है कि—

"**सानन्दं सदनं सुतास्तु सुधियः, कान्ता प्रियालापिनी**"

सदन को सानन्द बनाने में "**कान्ता प्रियालापिनी**"—मधुरभाषिणी पत्नी का बहुत बड़ा महत्त्व है, किन्तु वह मधुरभाषण ऋत और सत्य से युक्त होना चाहिए। बातें मीठी-मीठी भी यदि किसी को बहकानेवाली हों तो किस काम की? योगदर्शन के साधन पाद के सूत्र ३०—"**अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः**" पर भाष्य करते हुए महर्षि व्यास ने सत्य और वाणी के विषय में कुछ महत्त्वपूर्ण बातें कही हैं—

"**सत्यं यथार्थे वाङ्मनसी यथादृष्टं यथाऽनुमितं तथा वाङ्मनश्चेति परत्र स्वबोधसंक्रान्तये वागुक्ता सा यदि न वञ्चिता भ्रान्ता वा प्रतिपत्तिवन्ध्या वा भवेदिति।**"

'सत्य का अभिप्राय है वाणी और मन का अर्थ के अनुकूल होना, अर्थात् जैसा प्रमाणों से ज्ञात हुआ हो, वैसा ही ठीक-ठीक वाणी और मन में रखना सत्य है। यदि किसी को किसी विषय का ज्ञान देने के लिए हम वाणी का प्रयोग करते हैं और हमारी यह वाणी उस व्यक्ति को न ठगती है और न भ्रम में डालती है और न ही निष्प्रयोजन होती है, तो वह सत्य है।' सत्य के स्वरूप का इतना विश्लेषण करने के बाद महर्षि व्यास लिखते हैं कि—

"**एषा सर्वभूतोपकारार्थ प्रवृत्ता न भूतोपघाताय।**"

'इस वाणी के प्रयोजन का उद्देश्य सब प्राणियों की भलाई ही होना चाहिए, उनको हानि पहुँचाना नहीं।'

"**यदि चैवमप्यभिधीयमाना भूतोपघातपरैव स्यात्**"

'ठीक-ठीक वाणी के अर्थ के अनुरूप होते हुए भी यदि उसके प्रयोग से प्राणियों को हानि पहुँचती है तो "**सत्यं भवेत् पापमेव भवेत्**"—'वह सत्य अर्थात् धर्म नहीं होगा, पाप ही होगा।'

"**तेन पुण्याभासेन पुण्यप्रतिरूपकेण कष्टंतमः प्राप्नुयात्**"

'वह पुण्य नहीं है, पुण्य-जैसा प्रतीत होता है, उसके आचरण से संसार अत्यन्त सङ्कटापन्न हो जाएगा।' अन्त में सार निकालते हुए लिखा—

"**तस्मात् परीक्ष्य सर्वभूतहितं सत्यं ब्रूयात्।**"

'इसलिए पूरी छानबीन करके सब प्राणियों की भलाई करनेवाला सत्य बोले।'

महर्षि के इस महत्त्वपूर्ण उद्धरण से यह स्पष्ट हो गया कि वाणी सत्य हो और प्राणिमात्र के लिए हितकारी हो। इसके अतिरिक्त वाणी का एक गुण विशेषकर महिलाओं में मितभाषण भी होना चाहिए।

संस्कृत से अपरिचित लोग मितभाषण का अर्थ कम बोलना समझते हैं, यह ठीक नहीं। मित शब्द संस्कृत की **माङ्** धातु से बना है, जिसका अर्थ है—नाप-तोल। इस प्रकार मितभाषण का अर्थ है—नाप-तोलकर बोलना। न आवश्यकता से अधिक शब्द कहा जाय, न न्यून।

देवियों में अधिक बातें करने का बहुत व्यसन होता है और जब मनुष्य अधिक बोलेगा तो मर्यादा का अतिक्रमण होगा ही। अत: हितभाषण के साथ मितभाषण का भी उतना ही महत्त्व है।

महाकवियों ने और विद्वानों ने भी भाषण के विषय में बड़े मनोहारी वचन कहे हैं।

वेद में कहा—

सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत।
अत्रा सखाय: सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधि वाचि॥

—ऋ० १०।७१।२

'जैसे सत्तू को पानी में घोलने से पहले छलनी में छानकर देख लेते हैं कि कोई ऐसी अभक्ष्य वस्तु पेट में न चली जाय जो विकार करे, उसी प्रकार बुद्धिमान् व्यक्ति शब्दरूपी आटे को मन्त्ररूपी छलनी में छान-छानकर बोलता है। वे मित्र ही मित्रता बनाए रखने के नियमों को जानते हैं और ऐसे ही पुरुष तथा स्त्रियों की वाणी में लक्ष्मी, शोभा और सम्पत्ति निवास करती है।'

अथर्ववेद में कहा है कि—"**वाचा वदामि मधुमत्**"—मैं वाणी से मधुर बोलूँ। इसी वेद में दूसरे स्थान पर कहा है—

जिह्वाया अग्रे मधु मे जिह्वामूले मधूलकम्।

—अथर्व० १।३४।२

'मेरी वाणी के अग्रभाग में मधु रहे और जीभ की जड़ अर्थात् बुद्धि में मधु का छत्ता रहे, जहाँ मिठास का भण्डार है।'

नीतिकार ने कहा—

रोहति सायकैर्विद्धं छिन्नं रोहति चासिना।
वचो दुरुक्तं बीभत्सं न पुरोहति वाक्क्षतम्॥

'तीरों का घाव भर जाता है, तलवार से कटा भी ठीक हो जाता है, किन्तु कठोर वाणी का भयङ्कर घाव कभी नहीं भरता।'

किसी उर्दू के शायर ने लिखा है—

नोके-ज़ुबाँ[1] ने तेरी सीने को छेद डाला।
तरकश में है ये पैकाँ[2], या है ज़ुबाँ दहन[3] में।
मस्जिद को तोड़ डालिये, मन्दिर को ढाइये।
दिल को न तोड़िये, यह खुदा का मुक़ाम है॥

किसी अंग्रेज़ी के कवि ने भी लिखा है—

Speak gently, It's little thing dropped in the hearts of deep well. The good the joy, that it may bring, Eternity shall tell.

'मधुरभाषण एक छोटी-सी वस्तु है, किन्तु यह हृदय के गम्भीर कूप में गिराई जाती है। इसके परिणामस्वरूप जो शुभ तथा प्रसन्नता उत्पन्न होती है, वह काल ही बताएगा।'

एक दूसरे विद्वान् ने भी बहुत सुन्दर कहा है—

"These abuses and taunts can be forgiven, but not forgotten."

'किसी के अपशब्द और व्यंग्यवचन क्षमा तो किये जा सकते हैं, किन्तु कभी भुलाए नहीं जा सकते।'

मीठे और शान्त वचनों से देवियाँ परिवार के वायुमण्डल को सरस और प्रेममय बनावें। उषः का दूसरा गुण **''सुजाता''** है। सब वस्तुएँ साफ़-सुथरी यथास्थान हों। उषःकाल की ये सब विशेषताएँ देवियों में होनी चाहिएँ।

महाभारत में एक प्रसङ्ग में महर्षि व्यास ने लक्ष्मी के रूपक से कुछ महत्त्वपूर्ण बातें कहलवाई हैं। उपयोगी समझकर उसके कुछ श्लोक यहाँ उद्धृत करते हैं। लक्ष्मी कहती है—

स्त्रीषु कान्तासु शान्तासु देवद्विजपरासु च।
विशुद्धगृहभाण्डासु गोधान्याभिरतासु च॥

—महा० १३।११।१०

'जो देवियाँ सुन्दर, शान्त स्वभाव, बड़ों और विद्वानों का आदर करनेवाली, जिनके घर के बर्तन-भाण्डे साफ़-सुथरे तथा घर की सब निर्मल-स्वच्छ गौओं तथा अन्न की पूरी देखभाल करनेवाली होती हैं, मैं वहाँ निवास करती हूँ।'

प्रकीर्णभाण्डामनवेक्ष्य कारिणीं सदा च भर्तुः प्रतिकूलवादिनीम्।
परस्य वेश्माभिरतामलज्जामेवं विधां स्त्रीं परिवर्जयामि॥ ११॥

'जिसके घर के बर्तन इधर-उधर फैले पड़े हों, जो बिना विचारे काम कर डालती हो, जो सदा अपने पति के प्रतिकूल चलती हो, जो

१. वाणी के तीर; २. बाण; ३. मुँह।

दूसरों के घर अधिक रहती हो, जो निर्लज्ज हो, ऐसी स्त्री को मैं छोड़ देती हूँ।'

लोलामदक्षामवलेपिनीं च व्यपेतशौचां कलहप्रियां च।
निद्राभिभूतां सततं शयानामेवं विधां स्त्रीं परिवर्जयामि॥ १२॥

'जो बहुत चञ्चल हो, जो फूहड़ हो, जो घमण्डवाली हो, जो पवित्र न रहती हो, जो झगड़ालू हो, जो अधिक सोती हो, ऐसी स्त्री को मैं छोड़ देती हूँ।'

सत्यासु नित्यं प्रियदर्शनासु सौभाग्ययुक्तासु गुणान्वितासु।
वसामि नारीषु पतिव्रतासु, कल्याणशीलासु पतिप्रियासु॥ १३॥

'जो सदा सत्यमार्ग पर चलती हों, जो सुन्दर और सुशीलतादि गुणों से युक्त हों, जो पतिव्रता और कल्याणशील एवं पति की प्यारी हों, मैं उनके घर रहती हूँ।'

इन गुणों से युक्त देवियाँ प्रातः ही घर में जगें और बच्चों को भी मीठे सम्बोधनों से पुकारकर जगावें। शौच, दातुन, व्यायाम और स्नान से निवृत्त हो सब मिलकर सन्ध्यादि नित्यकर्म करें और ईश्वरभक्ति के मीठे गीत गावें।

निश्चित ही उषःकाल में जिन घरों का वायुमण्डल इस प्रकार का होगा, वहाँ पारिवारिक कलह-क्लेश का क्या काम? उस परिवार के व्यक्ति सुख और शान्ति को प्राप्त करेंगे और बच्चों का सर्वाङ्गीण विकास होगा।

❑❑

(१४)

हृदय ऐसे सौंप दो जैसे........

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

अच्छा व इन्द्रं मतयः स्वर्युवः सध्रीचीर्विश्वा उशतीरनूषत।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

परि ष्वजन्त जनयो यथा पतिं मर्यं न शुन्ध्युं मघवानमूतये॥

—साम० ३७५

ऋषिः—कृष्ण आङ्गिरसः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—जगती॥

अन्वयः—वः स्वर्युवः सध्रीचीः उशती विश्वाः मतयः अच्छा इन्द्रम् अनूषत। न शुन्ध्युं मघवानं मर्यम् ऊतये यथा जनयः पतिम् परिष्वजन्त॥

शब्दार्थ—हे मनुष्यो! **(वः)** तुम्हारी **(स्वर्युवः)** परमानन्द चाहनेवाली **(सध्रीचीः)** सीधी-सच्ची **(उशतीः)** कामना करती हुई **(विश्वाः मतयः)** समस्त बुद्धियाँ **(अच्छा)** भले प्रकार **(इन्द्रम्)** परमेश्वर की **(अनूषत)** स्तुति करें। **(न)** जैसे **(शुन्ध्युम्)** शुद्ध **(मघवानम्)** धनवान् **(मर्यम्)** मनुष्य की **(ऊतये)** धन-धान्य द्वारा अपनी रक्षा के लिए स्तुति करते हैं, अथवा **(यथा)** जैसे **(जनयः)** स्त्रियाँ **(पतिम्)** पति को **(परिष्वजन्त)** आलिंगन करती हैं।

व्याख्या—मन्त्र में एक ही बात को दो उपमाएँ देकर हृदयङ्गम कराया गया है। प्रभु-भक्त को कहा गया है—यदि तू उस आनन्द-घन के सान्निध्य का आनन्द प्राप्त करना चाहता है तो अपनी सारी योग्यता, क्षमता और भावना को इस प्रकार सामने रख, जैसे याचक अपनी कामना-पूर्त्ति के लिए धनवान् के सामने अपने हृदय को खोलकर रख देता है। दूसरी उपमा इससे भी भावपूर्ण है। उसमें कहा—अपने-आपको तू उसे इस प्रकार अर्पित कर, जैसे पत्नी पति को समर्पण करती है।

सुख चाहनेवाले भक्त की बुद्धियों के लिए मन्त्र में '**सध्रीचीः**'—'सीधी-सच्ची' विशेषण बहुत ही मनोवैज्ञानिक और अर्थपूर्ण है। सांसारिक लोगों के समान प्रायः भक्त अपने बुद्धिचातुर्य का भगवान् के सम्बन्ध में भी प्रयोग करना चाहता है। वह अपनी सांसारिक प्रवृत्ति की व्याख्या भी इस प्रकार करना चाहता है कि प्रभु को भी यह जँचा दे कि इसमें मेरा कोई कुत्सित स्वार्थ नहीं है। एक प्रकार से भगवान् के लिए यह सोचना भी मूर्खता के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। हिन्दी के प्रसिद्ध कवि '.देव' ने इस मनोवृत्ति का एक अच्छा चित्र खींचा है—

माया के प्रपंचन सों पंचन के वंचन सों,
कंचन के काज मोहमंचन उए फिरै।

काम भर्यो, क्रोध भर्यो, कपट-कुबोध भर्यो,
विस्व में विरोध ही के बीजन बुए फिरै।
लाभ ही के लोभ भर्यो रंभत अनेक दम्भ,
मान विषै-वस्तुन के पुस्तक लए फिरै।
चौदहों भुवन सातौं द्वीप नवौं खण्ड जाके,
पेट में परे हैं ताहि पेट में दए फिरै॥

इस पद्य की अन्तिम दो पङ्क्तियाँ बहुत ही सटीक हैं। कवि ने अच्छी चुटकी ली है कि चौदह भुवन, सात द्वीप, नौ खण्ड तो भगवान् के पेट में हैं और यह बुद्धिमान् उस परमात्मा को भी यह समझता है कि यह मेरे पेट के एक कोने में पड़ा रहेगा, इसको मेरी सब बातों का क्या पता चलेगा?

ऐसे ही एक चालाक आस्तिक की किसी शायर ने भी अच्छी हाज़िर-जवाबी दिखाई है।

हश्र में रूहें जब खुदा के सामने पेश हुईं तो इसने ख़ुदा का नाम ही नहीं लिया। किन्तु थोड़ी देर में जब इसे अपनी भूल का ध्यान आया तो घबराके चालाकी से बोला—

महशर[१] में इत्तफ़ाक से आया न ज़ेहन में।
वर्ना तमाम उम्र तेरा नाम याद था॥

मनुष्य अपनी बौद्धिक उड़ान से ही भगवान् के ज्ञान के विषय में भी सोचता है और चालाकी से काम लेना चाहता है। प्रभु के ज्ञान का केवल आभास पाने के लिए उपनिषद् में कहा गया है—

संख्याता अस्य निमिषो जनानाम्

'मनुष्य अपने जीवन-भर में जितनी बार आँखों की पलकें झपकता है, प्रभु के ज्ञान में उनका भी हिसाब है।'

साथ ही भक्ति और आत्मिक उन्नति के क्षेत्र में भी व्यवहार और भावना की शुद्धि नहीं आई तो भक्ति क्या हुई, वह तो ढोंग है। महाभारत में 'नकुलोपाख्यान' के द्वारा इस तथ्य को समझाया गया है।

महाराज युधिष्ठिर ने अश्वमेध यज्ञ की समाप्ति पर बड़ी उदारता से दक्षिणा दी। यहाँ तक कि—

ततो युधिष्ठिरः प्रादाद् ब्राह्मणेभ्यो यथाविधि।
कोटीः सहस्त्रं निष्काणां व्यासाय तु वसुन्धराम्॥

—अश्व० अ० ९०।८

'एक हज़ार करोड़ स्वर्णमुद्राएँ ब्राह्मणों को और समस्त पृथिवी व्यास को देने की घोषणा कर दी।' व्यास ने पृथिवी की दक्षिणा स्वीकार

---

१. परलोक।

करके कहा—हे राजन्! पृथिवी को तो आप अपने पास रखिए, मुझे इसके बदले में द्रव्य दीजिए, क्योंकि "**ब्राह्मणा हि धनार्थिनः**"—ब्राह्मणों को अपनी आवश्यकता-पूर्त्ति के लिए पैसे की आवश्यकता होती है। किन्तु युधिष्ठिर ने फिर भी भूमि ही देने का आग्रह किया। सब भाइयों, द्रौपदी और कुन्ती ने भी अनुमोदन किया। इस पर व्यास ने उत्तर दिया कि मैं पृथिवी स्वीकार करके फिर वापस तुम्हें अपनी ओर से दे रहा हूँ—'**हिरण्यं दीयतामेभ्यो ब्राह्मणेभ्यो धरास्तु ते**'—इसके बदले में ब्राह्मणों को सोना दो। इसके बाद कृष्ण ने भी कहा कि व्यास की बात मानो और वैसा ही करो। तब युधिष्ठिर ने प्रति ब्राह्मण एक-एक करोड़ स्वर्ण-मुद्राएँ दक्षिणारूप में दीं और सभी प्रसन्न होकर यह समझने लगे कि हमने स्वर्ग जीत लिया है।

उसी समय एक विशालकाय नेवला, जिसका आधा शरीर सोने का था, प्रकट होकर मानुषी वाणी में बोला—

सक्तुप्रस्थेन वो नायं यज्ञस्तुल्यो नराधिपाः।
उञ्छवृत्तेर्वदान्यस्य कुरुक्षेत्रनिवासिनः॥

—महाभारत १४।९२।७

हे राजाओ! 'कुरुक्षेत्रनिवासी एक अति निर्धन उदार ब्राह्मण के द्वारा दिये गए थोड़े-से सत्तुओं की तुलना में तुम्हारा यह यज्ञ हीन और तुच्छ है।' इस बात को सुनकर सभी ब्राह्मण स्तब्ध और चकित रह गए और आग्रहपूर्वक उन्होंने सारा वृत्तान्त सुनाने को कहा। नेवले ने जो कथा सुनाई उसका सार यह है कि एक धर्मात्मा गृहस्थ अकाल के समय कठिनाई से थोड़ा-सा सत्तु अपने और अपने परिवार की प्राण-रक्षा के लिए लाया। ब्राह्मणी ने उस सत्तु के चार भाग—पुत्र, पुत्रवधू, अपने दोनों के लिए करके, सत्तु घोलकर तैयार किया। तभी एक भूखा तपस्वी द्वार पर उपस्थित हो गया। ब्राह्मण ने अतिथि को देखकर आदरपूर्वक अपना भाग दे दिया। वह उसे खा गया, किन्तु पेट नहीं भरा। तब ब्राह्मणी ने अपना भाग दे दिया। वह उसे भी खा गया, किन्तु तृप्ति नहीं हुई। तब बारी-बारी से पुत्र और पुत्रवधू ने अपने भाग दे दिये तो वह तृप्त हो गया।

खाने के बाद कुल्ला किया। उसके हटते ही मैं एक कमरे से दूसरे कमरे में जाने के लिए वहीं से निकला जहाँ कुल्ले का पानी पड़ा हुआ था। वह कुल्ले का मैला पानी मेरे शरीर के जितने भाग पर लगा, उतना सोने का हो गया। मैंने चकित होकर उस ब्राह्मण से पूछा कि यह क्या हुआ कि तुम्हारा जूठा पानी मेरे जितने शरीर पर लगा, उतना सोने का हो गया और शेष चमड़े का रह गया? इस पर उस ब्राह्मण अतिथि ने उत्तर दिया कि बुभुक्षित को श्रद्धापूर्वक दिया अन्न एक यज्ञ है और इस पानी से तुम्हारे शरीर का स्पर्श यज्ञान्त-स्नान है। यह उसी का प्रभाव

है कि तुम्हारे शरीर का उस जल से गीला भाग सोने का हो गया। तब से हे ब्राह्मणो!

तपोवनानि यज्ञांश्च हृष्टोऽभ्येमि पुनः पुनः।
यज्ञं त्वहमिमं श्रुत्वा कुरुराजस्य धीमतः।
आशयापरया प्राप्तो न चाहं काञ्चनी कृतः॥

—महा० २४।९३।८६-८७

'पवित्र तपोवन और यज्ञों का नाम मैं जहाँ भी सुनता, वहीं बड़ी उत्सुकता से पहुँचता। धर्मराज युधिष्ठिर के इस यज्ञ की भी मैंने बड़ी ख्याति सुनी थी और यहाँ मैं इस आशा से आया था कि आज मेरा शेष शरीर सोने का हो जाएगा, किन्तु खेद है कि ऐसा हुआ नहीं।'

ततो मयोक्तं तद्वाक्यं महस्य ब्राह्मणर्षभाः।
सक्तुप्रस्थेन यज्ञोऽयं सम्मितो नेति सर्वथा॥

—महा० २४।९३।८८

'इसीलिए हे ब्राह्मणो! मैंने हँसकर यह वाक्य कहा कि आपका यह यज्ञ उस सत्तुदान की तुलना नहीं कर सकता।'

महाभारत के इस प्रकरण में इस कहानी का सन्निवेश करके यह बताने का प्रयत्न किया गया है कि सात्त्विकता और पवित्रतापूर्वक थोड़ी मात्रा में भी किये गए धार्मिक कार्यों का मन पर जो प्रभाव होता है, वह प्रदर्शन और वाह-वाह के लिए किये गए बड़े-से-बड़े कार्य का भी नहीं होता। इसीलिए मानव-धर्मशास्त्र में कहा कि—

वेदास्त्यागाश्च यज्ञाश्च नियमाश्च तपांसि च।
न विप्रदुष्टभावस्य सिद्धिं गच्छन्ति कर्हिचित्॥

—मनु० २।९७

'वेद का स्वाध्याय, वेद का उपदेश, दान देना, यज्ञ करना, यमनियमों का आचरण और तप का अनुष्ठान, ये सभी उत्तमाचरण जिसकी भावना शुद्ध न हो, उसे कोई लाभ नहीं पहुँचा सकते।'

इसलिए इस मन्त्र में कहा—जैसे याचक धनवान् से अपने साहाय्य के लिए प्रार्थना करता है, वैसे नम्रतापूर्वक तू आत्मनिवेदन कर। वह दयालु अवश्य द्रवित होगा। प्रार्थना यदि फलवती नहीं होती तो आत्मनिरीक्षण कर, अपनी न्यूनता को देख। कसर यहीं हो सकती है, वहाँ तो क्या कमी है?

दूसरी उपमा यह दी कि—'जैसे पत्नी तन से और मन से अपने-आपको पति को अर्पित करती है।' यह अर्पण इस प्रकार का है, जिसमें केवल शरीर ही अलग रहता है, अन्यथा शरीर के अतिरिक्त कहीं द्वैध भाव नहीं रहता है।

भर्तृहरि ने अपने 'शृङ्गार-शतक' में बहुत ऊँचे स्तर पर शृङ्गार का विश्लेषण किया है—

एतत् कामफलं लोके यद् द्वयोरेकचित्तता।
अन्यचित्तकृते कामं शवयोरिव संगमः॥

'दोनों का एक-चित्त हो जाना काम का फल है। यदि चित्त ही न मिल पाय तो वह मिलन दो लाशों के मिलने के समान है।' फिर अध्यात्म में तो लक्ष्य यही है। यदि यह नहीं हुआ तो भक्ति क्या हुई? फिर तो कबीर की मोटी भाषा में यही कहा जा सकता है—

माला तो कर में फिरै, जीभ फिरै मुख माहिं।
मनुआ तो सब दिसि फिरै, यह तो सुमिरन नाहिं॥

कुछ विचारक तो यहाँ तक कहते हैं कि भक्ति के लिए शृङ्गार और ज्ञान के लिए वैराग्य का संगम होना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है। भक्ति में भावोद्रेक से हृदय आर्द्र और संवेदनशील तो रहता ही है, नहीं तो भक्ति का क्षेत्र सूखा जङ्गल हो जाय। वेद में भी ऐसे स्थलों में वह उड़ानें ली हैं कि कमाल है—

यदग्ने स्यामहं त्वं त्वं वा घा स्या अहम्।
स्युष्टे सत्या इहाशिषः॥ —ऋ० ८।४४।२३

भक्त कहता है—'हे (**अग्ने**) प्रकाशस्वरूप (**यत् अहं त्वं स्याम्**) जब मैं तू हो जाऊँ (**वा घ**) अथवा (**त्वं अहं स्याः**) तू मैं हो जाय तो (**ते इह आशिषः**) तेरे इस संसार के वे सब आशीर्वाद (**सत्याः स्युः**) सत्य सफल हो जाएँ।'

इस मन्त्र में भक्ति की तल्लीनता और तन्मयता की पराकाष्ठा है। इसी का यह फ़ारसी अनुवाद है, जो भावप्रवणता के कारण बहुत प्रचलित हुआ—

मन तो शुदम् तो मन शुदी मन तन शुदम् तो जाँ शुदी।
ताकस न गोयद गदःजी मन दीगरम् तो दीगरी॥

एक और देखिए—

उत स्वया तन्वा सं वदे तत् कदा न्वन्तर्वरुणे भुवानि।
किं मे हव्यमहृणानो जुषेत कदा मृळीकं सुमना अभि ख्यम्॥
—ऋ० ७।८६।२

(**उत**) और मैं (**तत्**) उस भगवान् के विषय में (**स्वया तन्वा**) अपने-आप में ही (**संवदे**) बातें करने लगता हूँ—(**कदा नु**) जब-कब मैं (**वरुणे अन्तः**) वरुण के अन्दर (**भुवानि**) होऊँगा? (**किं**) क्या (**अहृणानः**) प्रसन्न होता हुआ बिना झिझक (**मे**) मेरी (**हव्यम्**) भेंट ग्रहण करेगा? (**कदा**) कब (**सुमनाः**) प्रफुल्ल होकर (**मृळीकम्**) सुख देनेवाले प्रभु को (**अभिख्यम्**) देखूँगा? इस मन्त्र में एक भक्त

की कितनी तन्मयता, भावप्रवणता और दर्शन की व्याकुलता दिखाई है और साथ ही वे महत्त्वाकांक्षाएँ भी, जब एक प्रेमी अपने प्रेमी के विषय में पहले से मनौती मानता है।

देवकाव्य वेद का और आनन्द लीजिये—

यस्येमे हिमवन्तो महित्वा यस्य समुद्रं रसया सहाहुः।
यस्येमाः प्रदिशो यस्य बाहू कस्मै देवाय हविषा विधेम॥

—ऋ० १०।१२१।४

(यस्य) जिसकी **(महित्वा)** महिमा को **(इमे हिमवन्तः)** ये बर्फ़ीले पहाड़ **(आहुः)** कह रहे हैं और **(यस्य)** जिसकी महिमा को **(रसया सह)** नदियों के सहित **(समुद्रं)** यह समुद्र कह रहा है **(इमाः प्रदिशः)** ये विस्तृत दिशाएँ **(यस्य)** जिसकी **(बाहु)** भुजाओं के समान हैं, **(कस्मै)** उस सुखस्वरूप **(देवाय)** प्रजापति देव का हम **(हविषा)** हवि द्वारा **(विधेम)** पूजन करें।

प्रभु की महिमा का कितना सजीव वर्णन है!

वेद में भगवान् के साथ भक्त के अनेक नाते गिनाए हैं। कहीं उसे पिता कहा गया है, कहीं माता, कहीं भाई-बन्धु और कहीं राजा और कहीं सखा। इन सभी सम्बन्धों का अपना-अपना महत्त्व है और सभी रिश्ते उसके साथ पूर्ण चरितार्थ होते हैं। किन्तु जो अभिन्नता, स्निग्धता और सरसता, पति-पत्नी के सम्बन्ध में है, वह अन्यत्र नहीं। इसलिए मन्त्र में पत्नी के समान समर्पण की जो बात कही गई, वह बहुत महत्त्व की है।

❑❑

(१५)

वेद का आर्थिक दृष्टिकोण

एन्द्र सानसिं रयिं सजित्वानं सदासहम्।
वर्षिष्ठमूतये भर॥ —ऋ० १।८।१

ऋषिः—मधुच्छन्दा वैश्वामित्रः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—निचृद्गायत्री॥

अन्वयः—हे इन्द्र ऊतये सानसिम्, सजित्वानम् सदासहम् वर्षिष्ठम् रयिम् आभर।

शब्दार्थ—(हे इन्द्र) ऐश्वर्यों के भण्डार प्रभो! (ऊतये) रक्षा, गति आदि के लिए (सानसिम्) बाँटकर उपभोग में आनेवाले (सजित्वानम्) विजेता बनानेवाले (सदासहम्) सदा स्वावलम्बी और सहिष्णु बनानेवाले (वर्षिष्ठम्) बहुत वर्षों तक टिकनेवाले, बढ़नेवाले (रयिम्) ऐश्वर्य को (आभर) हमें सब ओर से दीजिये।

व्याख्या—इस मन्त्र में प्रभु से ऐश्वर्य की, धन-धान्य की प्रार्थना की गई है, किन्तु उस धन के लिए चार महत्त्वपूर्ण शर्तें लगाई गई हैं—(१) धन को बाँटकर खावें। (२) धन को प्राप्त करके विजेता बने रहें। (३) धन प्राप्त करके सहनशील और स्वावलम्बी बने रहें। (४) वर्षिष्ठम्, वह धन खूब बढ़े और बहुत वर्षों तक टिकनेवाला हो। अब क्रमशः विचार कीजिये। भक्त भिक्षा की झोली फैलाकर कहता है—हे इन्द्र! ऐश्वर्यों के भण्डार प्रभो! मैं आपसे याचना करता हूँ, मेरी इस झोली को "**रयिम् आभर**"—ऐश्वर्य से भरपूर कर दो। तुमसे माँगने के बाद इसका कोई कोना रिक्त न रह जावे और मुझे अपने-जैसे किसी व्यक्ति के सामने हाथ न फैलाना पड़े। मैं "**अदीन**" होकर रहूँ। मुझे आपसे माँगने में तो संकोच नहीं है, क्योंकि आपसे माँगना मेरा अधिकार है। पुत्र पिता से न माँगेगा तो किससे माँगेगा? फिर आपसे तो प्रत्येक माँगता है, इसलिए भी मुझे संकोच नहीं है, किन्तु अपने-जैसे व्यक्तियों से माँगना तो मरने के बराबर है। संस्कृत के कवियों ने याचक के कुछ शब्द-चित्र खींचे हैं—

तृणादपि लघुस्तूलस्तूलादपि च याचकः।
वायुना नीयते नासौ स्वयं याचनशङ्कया॥

'तिनका बहुत हल्का होता है, तिनके से भी हल्की रुई होती है और रुई से भी हल्का याचक होता है। याचक हवा में तो इसलिए नहीं उड़ता कि हवा भी उसके माँगने के डर से उससे बचकर निकल जाती है।' एक दूसरी उत्प्रेक्षा देखिए—

गुरुतामुपयाति यन्मृतस्तत्त्वं विदितं मयाधुना।
ननु लाघवहेतुरर्थिता न मृते तिष्ठति सा मनागपि॥

'जीवित व्यक्ति के शरीर की अपेक्षा शव अधिक भारी होता है। इस विचित्र बात का रहस्य अब मैंने जाना कि संसार में हल्का करनेवाली चीज़ ''अर्थिता''—ग़रज़ होती है और मुर्दे को किसी से कोई ग़रज़ नहीं होती इसलिए वह भारी हो जाता है।' अस्तु, सार यह है कि याचिष्णुता और दीनता की बहुत निन्दा की गई है, किन्तु अपने-जैसे मनुष्य से। उस प्रभु के समक्ष तो सम्राट् भी हाथ पसारे खड़ा है। तृप्ति भी मनुष्य को तभी होती है, जब वही कृपा करता है। दुनियावी दाता कब किसको निहाल करते हैं! उर्दू के शायर 'मीर' ने बड़े पते की बात कही है—

'मीर' बन्दों से काम कब निकला।
माँगना गर हो कुछ, ख़ुदा से माँग॥

इसलिए भक्त नम्रतापूर्वक साधिकार विनय करता है कि मैं आपसे माँगता हूँ और इतना मिलना चाहिए कि मेरी सब आवश्यकताएँ स्वाभिमान से पूरी हो जावें। 'भर' के साथ 'आङ्' उपसर्ग का यही भाव है। नहीं तो ''भर'' ही पर्याप्त था। ''आङ्'' लगाने से अर्थ हुआ ''समन्तात्''—सब ओर से पूर्त्ति हो।

अब आगे प्रश्न हुआ कि तुम ऐश्वर्य की इच्छा क्यों करते हो? इसके लिए मन्त्र में कहा—''**ऊतये**''। यह शब्द 'अव्' धातु से, जिसके संस्कृत-व्याकरण में सबसे अधिक अर्थ हैं, निष्पन्न हुआ है। इसी धातु से ओम् शब्द भी बना है। व्याकरण से अनभिज्ञ लोगों की जानकारी के लिए अव्-धातु के अर्थ ये हैं—अव् रक्षण, गति, कान्ति, प्रीति, तृप्ति, अवगम, प्रवेश, श्रवण, स्वाम्यर्थ, याचन, क्रिया, इच्छा, दीप्ति, अवाप्ति, हिंसा, आलिंगन, दान, भाग और वृद्धि, ये १९ अर्थ हैं। अकेला अव् शब्द और उन्नीस अर्थ! ऐसा समझिये जैसे एक डंठल पर १९ फल लगे हों। इतने अधिक अर्थ होने के कारण ही यह शब्द प्रभु का वाचक बना। प्रभु के तो अनन्त गुण हैं, पर शब्दशास्त्र के आधार पर एक शब्द से सम्बद्ध इतने गुणों का पात्र वह प्रभु ही हो सकता है।

इसका एक अभिप्राय बिना खींचातानी के यह भी निकला कि संसार में संसार के ढङ्ग से जीने के लिए ऐश्वर्य अनिवार्य है। कौन-सा ऐसा काम है, जिसके लिए पैसे की आवश्यकता न हो? रक्षा के लिए, गति के लिए, कान्ति के लिए, प्रीति के लिए, अर्थात् सभी के लिए धन चाहिए।

अतः जीवन में 'धर्म' के बाद 'अर्थ' का दूसरा नम्बर है। दूसरे शब्दों में भगवान् के बाद धन का दूसरा स्थान है। इसलिए मैं आपसे उसी की प्रार्थना करता हूँ।

प्रार्थी को उस धन का उपभोग किस प्रकार करना चाहिए? उसकी पहली शर्त है—"**सानसिम्**"—उसे परिवार में और समाज में बाँटके खाओ। धन आपने अपने पुरुषार्थ से, सूझबूझ से कमाया है, तब भी अकेले उसके उपभोग की बात मत सोचिये। यदि ऐसा किया तो उससे सुख और शान्ति नहीं मिलेगी, क्योंकि हमारे प्रत्येक काम में दूसरे अनेक व्यक्तियों का सहयोग होता है, अतः उन सबकी अनदेखी करके गुलछर्रे उड़ाने की बात सोचना न तर्कसङ्गत है और न धर्मसङ्गत ही।

एक व्यक्ति यदि यह दावा करे कि मैं किसी का भी सहयोग लिये बिना अपना कारोबार चलाऊँगा, तो हमें उसे छूट दे देनी चाहिये कि वह चाहे करोड़ों की सम्पत्ति एकत्र कर ले, हम उसमें से कुछ भी भाग लेने का अनुरोध नहीं करेंगे; किन्तु व्यवहार की कसौटी पर यह असम्भव है कि मनुष्य दूसरों के बिना कुछ करने में समर्थ हो जावे।

किसी बड़े कारोबार की तो बात ही क्या है, अकेला मनुष्य तो अपनी आवश्यकताएँ भी पूरी नहीं कर सकता। थोड़ा-सा स्थिति का विश्लेषण कीजिये। मनुष्य की मोटी तीन अनिवार्य आवश्यकताएँ हैं—(१) उसे भूख-निवृत्ति के लिए रोटी चाहिए। (२) तन ढकने के लिए वस्त्र चाहिए। (३) काँटे और कंकड़-पत्थरों से बचाव के लिए जूते-चप्पल अथवा खड़ाऊँ चाहिए। अब विचारिये कि यदि मनुष्य समाज का सहारा न ले तो इन वस्तुओं के लिए उसे कितना परिश्रम करना पड़ेगा और कितनी लम्बी प्रक्रिया में से गुज़रना होगा?

पहली आवश्यकता-पूर्ति के लिए हल-बैल आदि साधन जुटाकर भूमि तैयार करनी होगी। गेहूँ, जौ, चावल और दलहन तथा सब्ज़ी के बीज बोने होंगे। उगने पर उनकी रक्षा, सिंचाई, गुड़ाई आदि करनी होगी। फ़सल तैयार होने पर काटनी होगी। काटकर खलिहान में लानी होगी। फिर बैलों के सहारे से अन्न निकलेगा, इसके बाद उसे साफ़ करके आटा बनाना होगा। इसके बाद आटे से भी भोजन बनाने के लिए कितने लम्बे प्रोसीजर (प्रक्रिया) में से गुज़रेगा, तब जाकर कहीं पेट की समस्या का समाधान होगा। इसी प्रकार वस्त्र के लिए भी सोचिये। चाहे वह कपास से बने, चाहे रेशम या ऊन से, कितना लम्बा और जटिल काम है! तब तन ढका गया। यही स्थिति जूते और चप्पल उपलब्ध करने की होगी। यदि मनुष्य किसी का सहारा न ले और स्वयं ही इन सब वस्तुओं को जुटाए तो रात-दिन इस गोरखधन्धे में व्यस्त रहना पड़ेगा और उसकी मनःस्थिति यह होगी कि वह जीवन से ऊब जाएगा तथा इस जीवन से मरना पसन्द करेगा।

अतः संसार के समस्त छोटे-बड़े काम समाज के परस्पर के सहयोग से चल रहे हैं। कोई अपनी रुचि और क्षमता के अनुसार खेती-बाड़ी में संलग्न है, कोई वस्त्र तैयार करता है, कोई भवन निर्माण कर रहा

है, कोई जूते-चप्पल के उद्योग में है, कोई अध्ययनाध्यापन में। सार यह है कि सब काम सबके सहयोग से और पारस्परिक आवश्यकता की पूर्त्ति के लिए चल रहे हैं। समाज में सबकी बौद्धिक और शारीरिक क्षमता भी समान नहीं होती। इस विविधता को वेद ने बड़े सुन्दर ढङ्ग से कहा है—

समौ चिद्धस्तौ न समं विविष्टः सम्मातरा चिन्न समं दुहाते।
यमयोश्चिन्न समा वीर्याणि ज्ञाती चित् सन्तौ न समं प्रणीतः॥

—ऋ० १०।११७।९

'दोनों हाथ आकार-प्रकार में और देखने-भालने में एक-जैसे लगते हैं, किन्तु दोनों में शक्ति बराबर नहीं है। एक गौ की दो बछड़ियाँ हैं, किन्तु दूध दोनों का बराबर नहीं होता। एक माता के दो जुड़वाँ बच्चे हैं, जो सर्वथा एक-जैसी स्थिति में रहकर पैदा हुए हैं, किन्तु दोनों की बौद्धिक तथा शारीरिक शक्ति एक-जैसी नहीं होती। यही अवस्था एक बिरादरी के दो व्यक्तियों की होती है।' इस विषम स्थिति की पूर्त्ति का एक ही उपाय है कि समाज के सब लोग एक-दूसरे की आवश्यकता का ध्यान रखकर बाँटकर खावें। यह संसार सुख और सौमनस्य से तभी चल सकता है, जब हम अपनी उपार्जित सम्पदा को दूसरों को अर्पित करते हुए उपभोग करें। वैदिक भाषा में इसी का नाम यज्ञ है। इसका कितना महत्त्व है, वह इतने से समझिये कि चारों वेदों में एक प्रश्न है—

''पृच्छामि यत्र भुवनस्य नाभिः।''

—ऋ० १।१६४।३४, यजु० २३।६१, अथर्व० ९।१०।१४

'समस्त संसार जिस पर टिका है, वह 'नाभि'=केन्द्र-बिन्दु कहाँ है?' इस प्रश्न का चारों वेदों में एक ही उत्तर है—

''अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः''—यह यज्ञ की भावना, अर्थात् बाँटकर खाने की भावना ही वह केन्द्र-बिन्दु है, जिस पर यह दुनिया चल रही है। जहाँ यह भावना नष्ट होतीं है, वहीं गतिरोध उत्पन्न हो जाता है।

एक परिवार के चार भाई अपनी कमाई को, चाहे किसी की कम हो, चाहे अधिक, परिवार के अर्पण करके समानरूप से उपभोग करते हैं। वहाँ उनमें प्रेम और सौहार्द बढ़ता है। जहाँ एक के मन में स्वार्थ उत्पन्न होकर व्यवहार की सरसता समाप्त हो जाती है, वहीं से परिवार का बिखराव हो जाता है।

अतएव धन के उपभोग के लिए वेद की पहली शर्त है **''सानसिम्''**—बाँट के खाओ। आपने यह सब-कुछ समाज के सहारे ही कमाया है, इसलिए उसका भाग भी इसमें समाविष्ट है। वेद आपको उसका स्वामित्व

देकर स्वतः बाँटने का परामर्श दे रहा है। इससे आपको यश और गौरव भी मिलेगा तथा इस त्याग का भविष्य में फल भी होगा।

एक बार एक कम्युनिस्ट सज्जन कहने लगे कि—धन के उपभोग के विषय में वेद के भी लगभग वही विचार हैं, जो कम्युनिज़्म के हैं। अन्तर केवल इतना है कि कम्युनिज़्म कमाई को केन्द्र में जमा कर वहाँ से आवश्यकतानुसार बाँटने को कहता है, वेद व्यक्ति को स्वयं ही बाँटने का परामर्श देता है। उन्होंने कहा—'मुख्य बात बाँटना है, चाहे उसे ऊपर से राज्य-व्यवस्था बाँटे और चाहे व्यक्ति।'

मैंने इसके उत्तर में कहा—''कामरेड महाशय! वेद के बाँटने में और कम्युनिज़्म के बाँटने में इतना अन्तर है जितना आकाश और पृथिवी में। वेद ने व्यक्ति की स्वाधीनता को अक्षुण्ण रखकर उसे बाँटने का सत्परामर्श दिया है। इस बाँटने का नाम त्याग है। कम्युनिज़्म ने व्यक्ति से उसकी कमाई का अपहरण कर लिया, उस परिश्रम का उसे न नाम मिला, न यश, इस बाँटने का नाम वियोग है। त्याग राजा हरिश्चन्द्र के समान सर्वस्व का ही क्यों न हो, वह दाता के मन में सुख और हर्ष उत्पन्न करेगा, क्योंकि किसी की पात्रता को समझकर जो कुछ किया है, उसने स्वयं किया है। इसके विपरीत, स्वामी की इच्छा और सहमति के बिना किसी के पाँच पैसे का अपहरण भी उसके मन में दुःख उत्पन्न करेगा, उसके मन में प्रतिक्रिया होगी—ये पैसे मेरे थे, उसे इनको मुझसे लेने का क्या अधिकार था? इस पार्थक्य का नाम है वियोग। त्याग का परिणाम सुख और वियोग का परिणाम दुःख होता है।'' सांख्यकार कपिल मुनि ने एक सुन्दर उदाहरण दिया है—

''श्येनवत् सुखी दुःखी भवति, त्यागवियोगाभ्याम्''

'पक्षी की चोंच में टुकड़ा है, उसे वह स्वयं छोड़ दे तो उसे कोई क्लेश नहीं, इसी का नाम त्याग है और इसका परिणाम सुख है। इसकें विपरीत इसकी चोंच के टुकड़े को देखकर, उस पर आक्रमण करके किसी दूसरे ने बलपूर्वक उससे छीन लिया तो उसको दुःख होता है, इसका नाम वियोग है। वियोग का परिणाम दुःख और त्याग का परिणाम सुख होता है।'

कम्युनिज़्म के सिद्धान्त मनोविज्ञान के विपरीत हैं, अतः वे कभी चरितार्थ नहीं हो सकते। एक समय था जब विवाह को भी इस सिद्धान्त के नशे में पूँजीवाद का अंश माना जाता था कि एक पुरुष एक स्त्री पर इस प्रकार अपना अधिकार जमाकर रक्खे—यह साम्यवाद के विपरीत है। परीक्षण किये गए और अनेक प्रकार के झगड़े और बीमारियाँ समाज में फैलीं तो वह नशा उतरा। यही अवस्था सम्पत्ति के विषय में भी होगी। यद्यपि पहले से परिवर्तन आ गया है, किन्तु आगे-आगे और भी आवेगा।

सन् १७ की क्रान्ति के बाद कम्युनिज़्म के सुहावने सिद्धान्तों को व्यवहार की कसौटी पर परखने का अवसर आया। कम्युनिज़्म के दो ही आधार-सूत्र हैं—पहला "प्रत्येक को अपनी योग्यता और क्षमता के अनुसार काम करना चाहिए।" दूसरा "प्रत्येक को अपनी आवश्यकतानुसार उपभोग-सामग्री मिलनी चाहिए।"

क्रान्ति के बाद इन सिद्धान्तों को परखा गया। यद्यपि रूस में उस समय कारखाने अमेरिका की तुलना में नहीं के बराबर थे, उन कारखानों को उनके स्वामियों से छीनकर मज़दूरों को बुलाकर कहा गया कि आज से इन कारखानों के स्वामी तुम हो; तुममें से प्रत्येक व्यक्ति को उतना काम करना चाहिये, जितनी तुम्हारी योग्यता और शक्ति है। दूसरी बात कही कि इसकी कमाई में से तुम्हें अपनी आवश्यकता-पूर्त्ति के लिए पैसा भी लेना चाहिए।

इस नये परिवर्तन से एक हर्ष की लहर दौड़ गई, किन्तु परिणाम यह निकला कि छह मास में ही सब कारखाने दिवालिया हो गए। कारण यह था कि अपवाद को छोड़कर मनुष्य की दो जन्मजात दुर्बलताएँ हैं। वह काम के समय अपनी शक्ति को बचाकर रखना चाहता है और खाने के समय बढ़कर हाथ मारना चाहता है।

आप एक व्यक्ति को कहिए कि वह 'एक महीने में जितना काम कर सकता है एक-साथ बता दे, ताकि उसे महीनेभर का काम सौंप दिया जाए।' इस बात को सुनते ही वह फूँक-फूँककर कदम रखेगा कि कहीं अधिक न बता जाऊँ कि महीनेभर तक हड्डियाँ घिसनी पड़ें! अब उसी व्यक्ति से दूसरा प्रश्न कीजिए कि—'महीनेभर की तुम अपनी सब आवश्यकताएँ बता दो ताकि सब सामग्री एक-साथ मँगवा दी जावे।' इस बात को सुनकर वह सोचने में समाधि लगा देगा कि कोई कसर न रह जाए कि तंगी उठानी पड़े!

लेनिन एक दूरदर्शी नेता था, वह सिद्धान्त के पीछे सत्ता को नहीं खोना चाहता था। उसने परिस्थिति को भाँपकर परिवर्तन किया। प्रत्येक कारखाना एक-एक मैनेजर के अधिकार में दे दिया और उसे बताया कि वह प्रत्येक कर्मचारी से क्षमता-भर काम कराए और प्रत्येक को उसका पारिश्रमिक भी दे। कर्मचारियों को बुलाकर कह दिया कि तुम्हारे सब कामों की देखभाल ये करेंगे और ये ही तुम्हें योग्यता और श्रम के आधार पर वेतन देंगे। उस वेतन में तुम्हारा निर्वाह कैसा होता है, इसका दायित्व सरकार पर नहीं है।

इस परिवर्तन से कारखानों की हालत सुधरी और काम चलने लगा। अब बताइए, यह प्रगति कम्युनिज़्म के सिद्धान्तों पर हुई अथवा उन्हें त्यागकर?

रूस का उन्नति करना पृथक् बात है और कम्युनिज़्म के सिद्धान्तों

का सफल होना दूसरी बात है।

आगे चलकर सन् ३५ में तो कुछ ऐसे क्रान्तिकारी परिवर्तन रूस में किये गए, जिनमें कुछ अंशों में सम्पत्ति उत्तराधिकार में भी दी जाने लगी।

अतः व्यवहार्य सिद्धान्त वेद का ही सिद्ध हुआ कि धन का पहला सदुपयोग यह है कि उसे बाँटकर खाया जाए।

धन के साथ दूसरी शर्त है **'सजित्वानम्'**—धन प्राप्त करके विजेता बने रहो। धन के साथ ९९ प्रतिशत स्थानों पर यह बुराई आ जाती है कि वह अन्दर और ब़ाहर के शत्रुओं से घिर जाता है। मनुष्य के आन्तरिक शत्रु छह हैं—काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य। ये शास्त्रीय भाषा में 'षड्रिपु' कहलाते हैं। धन के आते ही ये उस पर टूट पड़ते हैं। काम इच्छा को कहते हैं। धन के आते ही इच्छा छलाङ्ग लगाने लगती है। व्यक्ति संसार के सुखोपभोग की सब सामग्री का संग्रह करना चाहता है। पैसे के आते ही क्रोध बढ़ जाता है। थोड़ी-थोड़ी बात पर आगबबूला होकर धनी व्यक्ति बड़े-बड़े घातक काम कर बैठते हैं। ज्यों-ज्यों धन आता है, संग्रह की आग, लोभवृत्ति और भी भड़क उठती है। यही अवस्था सभी बुराइयों की होती है। अतः वेद चेतावनी देता है कि पहले अन्दर के शत्रुओं को जीतो! पैसा आते ही इच्छा इतनी पागल न बना दे कि अनावश्यक वस्तुओं के संग्रह की ओर दौड़ पड़ो। पहले यह देखो कि यह उपयोगी है अथवा नहीं? तब अगला क़दम उठाओ। क्रोध एक राक्षसी प्रवृत्ति है, जो अपने से दुर्बल को दबाने के लिए जागृत होती है। क्रोध वीरता का नहीं, क्रूरता का द्योतक है। शास्त्रीय विश्लेषण की दृष्टि से वीर रस का स्थायीभाव उत्साह है और क्रोध का स्थायीभाव रौद्र रस है। अत्याचार के विनाश के लिए मर मिटने की भावना का नाम वीरता है और दुर्बल पर अत्याचार करने की प्रवृत्ति क्रोध है। अतः धन आने पर इस शत्रु को न उभरने दें।

इस प्रकार आत्मनिरीक्षण कर जिसने शत्रुओं को जीत लिया, उसके लिए बाह्य शत्रुओं को जीतना बाएँ हाथ का खेल है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि जो धन और राज्यश्री के आने पर भोगविलास में लिप्त हो गए, वे समाप्त हो गए। जो इन्द्रियजयी और कर्त्तव्यपरायण रहे, वे फूलते-फलते चले गए। अतः धन के सम्बन्ध में दूसरी बात कही—विजेता बने रहो!

मन्त्र की तीसरी बात है **'सदासहम्'**—सदा स्वावलम्बी और सहनशील बनो। धन के आने के साथ प्रायः एक तीसरी कमी आती है—आराम से रहने की। छोटी-छोटी आवश्यकताओं की पूर्त्ति भी बिना नौकर के नहीं हो पाती। यह दोष है। दूसरे से आपको सेवा कराने का तभी अधिकार है, जब आप अधिक महत्त्वपूर्ण काम में संलग्न हों, केवल

पैसों के आधार पर नहीं।

कल्पना कीजिये, हमारे पूर्वज भी आज के धनियों के समान परावलम्बी होते, तो क्या राम वन जाने तथा पाण्डव भी वन जाने के साथ-साथ अज्ञातवास के एक वर्ष में भिन्न-भिन्न सेवा-कार्य कर सकते थे? क्या द्रौपदी महारानी होकर भी दासी का काम सफलता और निपुणता से कर सकती थी? कदापि नहीं।

लक्ष्मी चंचला होती है। अपने स्वभाव को सदा संयत और जीवन को स्वावलम्बी रखना चाहिए ताकि प्रतिकूल परिस्थितियाँ भी मनुष्य की जीवनधारा को अवरुद्ध न कर सकें।

मन्त्र की चौथी बात है '**वर्षिष्ठम्**'—यह धन-वैभव देर तक, पुत्र-पौत्र की परम्परा तक चलता चला जावे। दूसरे शब्दों में यह कह दिया कि धन की कमाई के साधन पवित्र होने चाहिएँ, तभी वह चिरस्थायी हो सकता है, क्योंकि झटके की कमाई देर तक नहीं चलती। मनु ने तो सीमा-रेखा ही खींच दी है—

अन्यायेनोपार्जितं वित्तं दशवर्षाणि तिष्ठति।
प्राप्ते त्वेकादशे वर्षे समूलस्तु विनश्यति॥

अन्याय से कमाया धन १० वर्ष तक रहता है। जहाँ ११वाँ वर्ष लगा कि मूल को भी साथ लेकर नष्ट हो जाता है। इसलिए चौथी शर्त में कहा गया है कि धन धार्मिक ढङ्ग से उपार्जित करो। धोखाधड़ी और छल-छिद्र का व्यवहार नहीं होना चाहिए।

❑❑

(१६)

सूर्य-प्रकाश के समान दिगन्तव्यापी यश

अया रुचा हरिण्या पुनानो विश्वा द्वेषांसि तरति सयुग्वभिः सूरो न सयुग्वभिः। धारा पृष्ठस्य रोचते पुनानो अरुषो हरिः। विश्वा यद्रूपा परियास्यृक्वभिः सप्तास्येभिर्ऋक्वभिः॥

—साम० ४६३

ऋषिः—अनानतः पारुच्छेपिः॥ **देवता**—पवमानः॥ **छन्दः**—अत्यष्टिः॥

अन्वयः—अया हरिण्या रुचा न सूरः सयुग्वभिः विश्वा द्वेषांसि तरति पुनानः (द्वेषांसि) सयुग्वभिः (तरति) यत् अरुषः हरिः पृष्ठस्य धारा रोचते विश्वारूपा सप्तास्येभिः ऋक्वभिः परियासि पुनानः ऋक्वभिः॥

शब्दार्थ—हे मनुष्य! (**अया**) इस (**हरिण्या**) रस खींचनेवाली (**रुचा**) चमक से (**न**) जैसे (**सूरः**) सूर्य (**सयुग्वभिः**) साथ जुड़ी किरणों से (**विश्वा**) सब (**द्वेषांसि**) विरोधी अन्धकारों को (**तरति**) नष्ट करता है, ऐसे ही (**पुनानः**) पवित्रात्मा पुरुष सब (**द्वेषांसि**) द्वेषादि दुर्गुणों को (**सयुग्वभिः**) साथ जुड़े प्रज्ञानों से नष्ट करता है (**यत्**) और जैसे (**अरुषः**) रूपवान् (**हरिः**) सूर्य और (**पृष्ठस्य धारा**) सूर्य के धरातल की ज्योतिरूप धारा (**रोचते**) चमकती है और (**विश्वारूपा**) सब रूपवाली वस्तुओं को (**सप्तास्येभिः ऋक्वभिः**) सात रूप-रङ्ग-मुखवाले तेजों से (**परियासि**) व्याप्त होती है, ऐसे ही (**पुनानः**) पवित्रात्मा पुरुष भी (**ऋक्वभिः**) प्रशंसाओं की सब ओर फैलनेवाली ख्याति से प्रसिद्ध हो जाता है।

व्याख्या—मन्त्र में दो बातें कही गई हैं—धर्ममार्ग में चलनेवाला मनुष्य अपने द्वेषादि दुर्गुणों को इस प्रकार नष्ट करता है, जैसे सूर्य अन्धकार का विनाश कर डालता है। दूसरी बात यह है कि सूर्य जैसे अपने प्रकाश से जगमगा रहा है, उसी प्रकार धर्मात्मा की प्रशंसा चारों ओर फैल जाती है।

अब क्रमशः विचार कीजिये—

मनुष्य को पतन की ओर ले-जानेवाली राजसी और तामसी वृत्तियों को अविद्या कह लीजिये, अन्धकार कह लीजिये, एक ही बात है। जैसे अन्धकार में आँख वस्तु के वास्तविक रूप को नहीं ग्रहण कर पाती, उसी प्रकार जो वृत्तियाँ कर्त्तव्यबोध में बाधक बनकर कर्त्तव्य से विमुख कर दें, वे अन्धकार के समान ही हैं। इस अवस्था में मनुष्य को धर्म का प्रकाश ही सूर्य के समान मार्गदर्शक बनता है।

बुराई और भलाई की शृङ्खलाएँ एक-दूसरी से जुड़ी रहती हैं। विवेक जागृत होने पर यदि एक बुराई को पहचानकर उसे छोड़ने का निश्चय कर लिया तो बुराई का मार्ग रुक गया और अच्छाई का खुल गया। एक भले आचरण के बाद दूसरा शुभ काम सूझेगा और दूसरे के बाद तीसरा। इस प्रकार उन्नति के सोपानों पर चढ़ता-चढ़ता शिखर पर पहुँच जाएगा। यही क्रम पतन का भी है। वहाँ एक बुराई दूसरी को, दूसरी तीसरी को घसीट लाती है और पतन के गर्त में गिरा देती है। महाराज भर्तृहरि ने इस शृङ्खला का बहुत मनोवैज्ञानिक वर्णन किया है—

भिक्षो मांसनिषेवणं प्रकुरुषे ? किं तेन मद्यं विना।
मद्यञ्चापि तव प्रियं ? प्रियमहो वाराङ्गनाभिः सह ॥
वेश्याद्रव्यरुचिर्कुतस्तव धनं ? द्यूतेन चौर्येण वा।
चौर्यं द्यूतपरिग्रहोऽपि भवतः ? भ्रष्टस्य कान्यागतिः ॥

तपस्वी वेश में एक व्यक्ति को मांस खाते हुए देखकर, दर्शक ने चकित होकर पूछा—'अरे! तुम साधु होकर भी मांसभक्षण करते हो ?' साधु तरङ्ग में था। उत्तर दिया—'मांस में क्या आनन्द है, जबतक शराब साथ न हो।' प्रश्नकर्त्ता ने कहा—'अच्छा तुम मद्यप्रेमी भी हो ?' साधु ने कहा—'न केवल मद्यप्रेम, उसका भी आनन्द तब है, जब वेश्या भी साथ हो।' दर्शक ने और भी हैरान होकर पूछा—'वेश्या को तो पैसा चाहिए, तेरे पास पैसा कहाँ से आता है ?' साधु बोला—'कभी जुआ खेल लेता हूँ, कभी चोरी करके जुटा लेता हूँ।' पूछनेवाले ने अत्यन्त विस्मित होकर कहा—'अरे! ऐसे निकृष्ट काम भी ?' साधु ने कहा—'जब भ्रष्ट ही हो गए तो फिर कोई मर्यादा थोड़े ही रहती है!'

इससे स्पष्ट है कि जब मनुष्य का पतन होने लगता है, तो कैसे एक के बाद दूसरी बुराई आती चली जाती है। वही मनुष्य ऊँचा उठने का व्रत ले-ले तो फिर एक-एक बुराई दूर होती चली जाती है और उसका स्थान सद्गुण ग्रहण करते चले जाते हैं। किसी नीतिकार ने भी सुन्दर लिखा है—

यात्यधोऽधो व्रजत्युच्चैर्नरः स्वैरेव कर्मभिः।
कूपस्य खनिता यद्वत् प्राकारस्येव कारकः ॥

'मनुष्य अपने ही हीन कर्मों से नीचे गिरता जाता है और पवित्र कर्मों से ऊँचा उठता चला जाता है। जैसे कुआँ खोदनेवाला उत्तरोत्तर नीचे जाएगा और दीवार चिननेवाला क्रमशः ऊँचा उठता जाएगा।'

एक सद्गुण का व्रत दूसरे सद्गुण को किस प्रकार लाता है, इसके लिए एक मनोरञ्जक बात आर्यसमाज के प्रसिद्ध और तपस्वी महात्मा स्व० स्वामी स्वतन्त्रानन्द जी सुनाया करते थे—

एक महात्मा प्रतिदिन सत्संग में प्रवचन किया करते थे और सत्संग

के अन्त में कभी श्रोताओं में से कोई स्वयं आत्मप्रेरणा से अपनी किसी-न-किसी त्रुटि को छोड़ने का व्रत किया करता था और कभी महात्माजी ही भक्तों के अनुरोध पर उनके कल्याण का कोई व्रत लिवाया करते थे। महात्माजी के सत्संग में एक चोर को भी आने का अभ्यास हो गया था।

एक दिन सत्संग की समाप्ति पर चोर को आत्मप्रेरणा हुई तो व्रत लेने के लिए खड़ा हो गया और महात्माजी से कोई व्रत दिलाने के लिए प्रार्थना करने लगा। महात्मा ने उसके अनुरोध को सुन के कहा—'अभी व्रत लेने की बात मत सोचो, विचार परिपक्व होने दो। शीघ्रता करने से निभाना कठिन होगा।' यह सुनकर चोर ने उत्तर दिया—'व्रत तो अवश्य लेना है। यदि कठिनाई प्रतीत हुई तो अभी बतला दूँगा और व्रत लूँगा ऐसा जिसे निभा सकूँ।'

महात्माजी ने भी लोहा गर्म देखकर चोट लगानी उचित समझी और कहा कि—'भाई, यदि तुम व्रत लेना चाहते हो तो आज से चोरी न करने का व्रत ले लो।' चोर ने थोड़ी देर विचार किया और मन की स्थिति देखकर कहा—'महात्माजी! व्रत का निभना तो कठिन है, इसके अतिरिक्त और कोई व्रत दिलवाइये।' महात्माजी बहुत बुद्धिमान् थे, तुरन्त सोचकर कहा—'अच्छा तुम सत्य बोलने का व्रत ले लो। प्रयत्न यह भी करना कि चोरी का दुष्कर्म न हो। यदि कभी भूल हो भी जावे तो फिर पूछने पर सत्य-सत्य कह दो।' चोर को यह बात कुछ निभाऊ-सी जँची और उसने कहा—'अच्छा मुझे यह स्वीकार है।' महात्माजी ने प्रसन्नतापूर्वक उसे आशीर्वाद दिया और सत्संग में घोषणा करते हुए यह आशा भी प्रकट की कि यह इस परीक्षा में अवश्य उत्तीर्ण होगा; भविष्य में पास-पड़ोस में चोरी की घटना हो तो इससे पूछ लिया जाए। यदि इससे भूल होगी तो यह स्पष्ट बता देगा। इस व्रत-ग्रहण से सारी सभा को प्रसन्नता हुई और सभी ने चोर की प्रशंसा की। इस प्रशंसा का उस व्रती पर भी बहुत प्रभाव हुआ और मन-ही-मन उसने अपनी धारणा को और भी दृढ़ बना लिया।

पर्याप्त समय सही-सलामत निकल गया, किन्तु एक दिन पिछले संस्कारों ने प्रभावित किया और चोरी कर लाया। प्रातः होते ही जिसके घर पर चोरी हुई थी उसने शोर मचाया। मुहल्ले में चर्चा चली तो लोगों ने कहा—'भाई! उस व्यक्ति ने तो सत्य बोलने का व्रत ले लिया है, उससे पूछकर देखो। यदि उसने चोरी की होगी तो वह बता देगा।' जिसके घर चोरी हुई थी वह उसके घर पहुँचा और कहा—'भाई! रात हमारे घर में चोरी हो गई है।' चोर ने कहा—'हाँ, हो तो गई है।' पूछा गया—'तुमने ही की है क्या?' चोर ने कहा—'हाँ, मैंने ही की है।' माल की जानकारी माँगी तो उसने सब बता दिया। सभी लोग बहुत

प्रभावित हुए और लोगों ने उसकी बड़ी प्रशंसा की। वह स्वयं भी प्रसन्न हुआ। महात्माजी को सूचना मिली तो वे भी सन्तुष्ट हुए और दृढ़ता से व्रत-पालन के लिए आशीर्वाद दिया।

कुछ काल पश्चात् उस व्यक्ति को आर्थिक कठिनाई ने आ घेरा और पुराने अभ्यास के कारण उससे छुटकारा पाने के लिए फिर चोरी कर लाया। किन्तु आज वह चाहता था कि किसी को पता न चले और उससे कोई पूछने न आए। पर यह सम्भव नहीं था। चोरी का मुहल्ले में शोर हुआ और लोग तुरन्त उसके पास आ धमके।

उससे कहा—'आज मुहल्ले में फिर चोरी हो गई है!' वह दुःखी होकर सोच-सोचकर बोला—'हाँ, हो तो गई है।' पूछा—'तुम्हारा ही काम है क्या?' उसने उत्तर दिया—'हाँ भाई, रातभर जगते हैं, परिश्रम करते हैं और सच बोलने की मुसीबत उस साधु ने गले में डाल दी है। सारा परिश्रम बेकार हो जाता है। सत्य के साथ यह चोरी का काम चल नहीं सकता, छोड़ना ही पड़ेगा।' इसके बाद उस बुराई को उसने कभी नहीं अपनाया। स्पष्ट है जब मनुष्य भले मार्ग पर चलेगा तो उससे विपरीत प्रत्येक काम उसे खटकेगा।

मन्त्र की दूसरी बात है कि सत्य और धर्म के मार्ग पर चलनेवाले व्यक्ति की कीर्त्ति सूर्य के प्रकाश के समान संसार में व्याप्त हो जाती है।

महर्षि दयानन्द जी महाराज ऐसे समय में हुए, जब संसार के साधन इतने विकसित नहीं थे। दण्डी स्वामीजी से दीक्षा पाकर कार्यक्षेत्र में काम करने के लिए कुल २० वर्ष समय मिला। इतने थोड़े-से समय में ऋषि दयानन्द का यश सारे विश्व में पैल गया। उनके नाम और काम की अमरीका में चर्चा चली। अमरीका से लिखे हुए कर्नल अल्कॉट के विनयपूर्ण पत्र ऋषि के यश और प्रभाव का पता देते हैं। (न्यूयॉर्क) अमरीका से लिखे कर्नल अल्कॉट के पत्र के अपेक्षित अंश अपनी स्थापना की पुष्टि तथा लोगों की जानकारी के लिए उद्धृत करते हैं—

ब्राडवे नं० ७१, न्यूयॉर्क, अमरीका

सेवा में,

अत्यन्त सम्मानित पण्डित स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी महाराज (देश आर्यावर्त्त)!

अमरीका के तथा कुछ दूसरे-दूसरे स्थानों के विद्यार्थी, आत्मज्ञान के ग्रहण की जिनकी हार्दिक अभिलाषा है—अपने-आपको आपके चरणों में रखकर यह प्रार्थना करते हैं कि आप उनके मन में ज्ञान का प्रकाश प्रदान करें। ....हम आपके चरणों में सिर झुकाते हैं; जैसे कि बच्चे माता-पिता के चरणों में पड़ते हैं और कहते हैं कि—हे हमारे गुरु! हमारी ओर देख और हमको बतला कि हम क्या करें? हमको

अपनी शिक्षा और सहायता दे! यहाँ लाखों मनुष्य हैं········जो आत्मिक प्रकाश से वञ्चित हैं और विषय-भोग की इच्छाओं और नास्तिक मत के अहंकार में पड़े हैं। पथ-भ्रष्ट, पक्षपाती और अशान्त तो रहते ही हैं, प्रत्युत अपने धन, अपनी तीव्र बुद्धि और कभी कम न होनेवाले अपने जोश को पूर्व की प्राचीन धार्मिक विद्याओं और फ़िलॉसफ़ी के धार्मिक युद्ध जारी रखने तथा विद्याविहीन मनुष्यों को—अपना मिथ्या ईश्वरीय मार्ग स्वीकार कराने में व्यय करते हैं।········

आपकी कृपा और सहायता से हमको बड़ा लाभ होगा········। विचार कीजिये कि हम आपके पास नम्रता से, न कि अभिमान से आते हैं और सच जानिये कि हम आपकी शिक्षा मानने के लिए और उस कर्त्तव्य का पालन करने के लिए, जो आप हमको बतलावें, उद्यत हैं। हे सम्मानित सज्जन! संस्था की ओर से—मैं अपने-आपको बड़ी नम्रता के साथ 'ईश्वर के अन्वेषकों की सभा' का सभापति हैनरी एस० अल्कॉट लिखता हूँ।''

ऐसे अनेक पत्र श्री अल्कॉट ने महर्षि को तथा बम्बई के आर्यसमाज के प्रधान श्री हरिश्चन्द्र चिन्तामणि को लिखे। प्रसिद्ध विद्वान् मैक्समूलर ने श्री स्वामीजी की योग्यता और ख्याति सुनकर सर्वप्रथम ऋषि के जीवनवृत्त को जानने की इच्छा प्रकट की।

ऋषि की जीवनलीला-समाप्ति पर समस्त भारत के पत्रों ने जो गम्भीर शोक प्रकट किया, उससे पता चलता है कि देश के विचारशील व्यक्ति मतभेद रखते हुए भी उनसे कितने प्रभावित थे। आवश्यक समझकर कुछ के कतिपय वाक्य उद्धृत करते हैं—

१. **'हिन्दी प्रदीप'** सम्पादक बालकृष्ण भट्ट (प्रयाग)

   हम इस हिन्दुस्तान को अभागा ही कहें कि इसके ऐसे हितैषी परलोक-यात्रा के लिए दत्तचित्त हो झटपट सिधार गए·····आर्यसमाज की बाँह टूट गई, सरस्वती का भण्डार लुट गया, यहाँ के बिगड़ी समाज के संशोधन का फाटक ढह गया, यह इन्हीं महात्मा का पुरुषार्थ है कि भारतवर्ष के धर्मतत्त्व का सर्वस्व वेद है। ········उसे चारों वर्ण के लोग समझने लगे। ········हम तो दयानन्द की सर्वतोभाव से सराहना ही करेंगे।

२. **प्रेरक 'हिन्दी प्रदीप'** (प्रयाग)

   हा! आज भारतोन्नति कमलिनी का सूर्य अस्त हो गया। हा! वेद का खेद मिटानेवाला सद्वैद्य गुप्त हो गया। हा! दयानन्द सरस्वती, आर्यों की सरस्वती जहाज का पतवारी बिना दूसरों को सौंपे तुम क्यों अन्तर्धान हो गए? हा! सच्ची दया के समुद्र········कहाँ चले गए?

३. **भारत बन्धु** (अलीगढ़)

   हमको यह सुनकर बड़ा पश्चात्ताप हुआ कि ३० अक्टूबर सन् १८८३ ई० कार्तिक बदी ३० संवत् १९४० को श्रीमान् दयानन्द

सरस्वती जी महाराज वैकुण्ठ को पधारे। ....एक स्वामीजी महाराज की यह प्रशंसा दर्शनीय थी कि उन्होंने मुसलमानों को यह निश्चय करा दिया था कि आर्य-मत यवन मत की अपेक्षा सनातनिक और श्रेष्ठ है। ....बड़े-बड़े मौलवी, जो फ़ारसी और अरबी के ज्ञाता थे, वे स्वामीजी की वक्तृता के आगे मूक हो जाते थे। इसी प्रकार अंग्रेज़ों को भी........कि तुम्हारे मत से आर्य-मत श्रेष्ठ है। इनकी विद्वत्ता की प्रशंसा विलायत आदि देशों में ऐसी हुई कि आज तक किसी विद्वान् की नहीं हुई........।

४. **'शुभ चिन्तक'** (शाहजहाँपुर)
(छन्द शिखरिणी) अहो अनरथ हुइगो, भारत हितैषी चलि बसो प्रभाकारी जग को, श्रुतिपथ उधारक छिप गओ। सकल नर नग चलिगो, सतयुग प्रचारक उठि गयो। अहा हा हा हा हा, स्वामी हमारो चलि गयो।

५. **विलासपुर समाचार** (मध्य प्रदेश)
कौन विधि ऐसे व्याख्यान श्रवण होंगे ? अब वैदिक सत्यार्थ-सहित वाणी कौन कयैगो ? शास्त्रवेदसिन्धुमध्य मेधा निज मन्दिर सों, कौन है प्रतापी जो निर्भय ह्वै गयैगो।........

६. **सज्जन कीर्ति सुधाकर** (राजपत्र उदयपुर राज्य)

जाके जीह जोर तें प्रपंच फिलासफिन को,
अस्त सो समस्त आर्य मण्डल ते मान्यो मैं।
वेद के विरुद्धि बुद्धि सत्य के निरुद्धि सदा
मंद्र भद्र आदिन पैं सिंह अनुमान्यो मैं॥
ज्ञाता षट् शास्त्रन को वेद को प्रणेता जेता,
आर्य विद्या अर्क गत अस्ताचल जान्यो मैं।
स्वामी दयानन्द जू के विष्णु पद प्राप्त हू ते
पारिजात को सो आज पतन प्रमान्यो मैं॥

यह पद्य स्वयं महाराणा सज्जनसिंह ने रचा।

७. **बनारस प्रेस**, सम्पादक कवि केदार शर्मा

दयानन्द सरस्वती गुर्जरकुल अवतंस।
अब ही थोड़ी उमर महँ क्यों तन कियो बिधंस॥
कै प्रतिमा पूजन हि तै सुरपुर होत विचार।
ता खण्डन कर वेहि ते गये शुक्र-दरबार॥
कै नरपुर सब जीति के सुरपुर जीतन हेत।
केंचुल इव तनु त्याग कै, भागेउ कृपा निकेत॥
स्वामी जब लों कित रहे, भारत-भूमि मझार।
सिंह-सरिस गरजत रहे, शंकित शशक अपार॥
सज्जन-मन-रंजन करत, भंजन मत-पाखण्ड।
दिन-दिन कीरति गाइहैं, भल जन भारत-खण्ड॥

८. (उर्दू पत्र) **दशोपकारक** (लाहौर)

……दिवाली की रात गो मसनूई चिराग़ों से रोज़े-रौशन है, लेकिन हक़ीक़ी आफ़ताब ग़रूब हुआ। हम बिल्कुल नादान थे। वह हमें हरइक चीज़ें शनाख़्त कराता था। हम कमताक़ती से उठ नहीं सकते थे, वह हमें उठा सकता था। ……हमने अपना नंगो-नामूस गँवा दिया था, वह हमें फिर दिलवाना चाहता था। ऐ ख़ुदा! हम तुझसे बहुत दूर हो गए थे, वह हमको तुझसे मिलाना चाहता था।

९. **विक्टोरिया पेपर** (स्यालकोट)

एशिया कौचक हमें मुख़्तलिफ़ ज़लज़लों के आने और जावा के आतिशफ़िशाँ पहाड़ों के फट जाने से स्वामी दयानन्द का इन्तिक़ाल कम अफ़सोस की जगह नहीं है, क्योंकि ऐसे लायक़ शख़्स का जीना जिसका सानी इल्म-संस्कृत में कोई न हो, लाखों आदमियों की ज़िन्दगी पर तरजीह रखता है।……स्वामी दयानन्द नाम के संन्यासी नहीं थे, बल्कि हक़ीक़तन संन्यासी थे।

१०. **आर्यसमाचार** (मेरठ)

ख़ब्र सुनते ही छक्के छूट गए, लेने के देने पड़ गए। फ़र्ते-इज़तिराब[१] से कलेजा मुँह को आने लगा—

हर लब[२] पै आह नाल:-ओ-शोरो-बुका[३] है आज।
पीरो-जवानो-हिफ्ल[४] हर इक ग़मज़दा[५] है आज॥
निकले थी भाफ़[६] रोज़ जहाँ अग्निहोत्र की।
आहों का धुआँ उस जगह से उठ रहा है आज॥

११. **बदायूँ समाचार**

आज क्या है जो ग़मोरंज से बेताब हैं सब?
क्यों हर एक शख़्स यह कहता है कि हाय ग़ज़ब!
आर्यावर्त में क्यों आज है शोरो-शेवन[७]।
क्यों ज़माने में हर एक शख़्स को है रंजो-महन[८]?

१२. (अंग्रेजी के समाचार-पत्र) **बंगाली** कलकत्ता, (३ नव० १८८३)

(सम्पादक—प्रसिद्ध देशभक्त राष्ट्रीय नेता बाबू सुरेन्द्रनाथ बनर्जी)

स्वामी दयानन्द कोई साधारण कोटि के मनुष्यों में से न थे। ……धर्मोपदेश करने में उनकी शक्ति और उत्साह आदि गुण उनमें निःसन्देह अद्वितीय थे। ……वे पूरे योगी थे, तथापि जैसा सर्वोत्तम ज्ञान उनमें देखने में आया, कदाचित् ही कभी किसी अन्य में देखने में आवे……। उनकी मृत्यु से भरतखण्ड मात्र को इस समय असीम जोख़ों पहुँची।

---

१. चरम व्याकुलता; २. होंठ; ३. विलाप-रुदन-क्रन्दन; ४. आबाल-वृद्ध; ५. मातम में, पीड़ित; ६. भाप, धूम्र; ७. विलाप का शोर; ८. व्यथा और विह्वलता।

१३. **ट्रिब्यून** (लाहौर, ३ नव० १८८३)
हमको दारुण शोकसागर में डुबोकर परमधाम में जा विराजे। स्वामी महाराज के उपदेशों का प्रकाश केवल आर्यसमाज पर पड़ा हो—ऐसा नहीं, किन्तु अन्य समस्त मत और सम्प्रदायी लोगों के जी पर भी अपने उपदेश-रूपी साँचे का नक़्शा ऐसा जमकर बैठा है कि उसने उन सब का आन्तरीय अभिप्राय साफ़ तबदील की कोशिश-पर-कोशिश कर रहा है।

१४. **इण्डियन एम्पायर** (कलकत्ता, ४-११-१८८३)
......उनकी अगाध विद्वत्ता, खण्डन-मण्डनादि अनुपम कोटि क्रम और परम प्रशंसनीय स्वातन्त्र्य प्रीति आदि अपूर्व गुण कभी किसी को भूलनेवाले नहीं हैं।

१५. **इण्डियन क्रॉनिकल** (कलकत्ता)
संस्कृत का पूरा मर्मज्ञ होना, आर्यों के धर्मग्रन्थों की पारंगतता, मनोहर वाक्चातुर्य, उत्तम आदरातिथ्य जो उत्कृष्ट गुण धर्मोपदेशकों में चाहिएँ, वे सब स्वामी दयानन्द जी में निवास पा रहे थे।

१६. **हिन्दू पेट्रियट** (कलकत्ता)
स्वामी दयानन्द सरस्वती का परलोक-गमन सुनकर हमको परमशोक है। ......संस्कृत बोलते थे तो उनके भाषण की मिठाई व सुधाई चित्त को अजीब आनन्दित किया करती थी।

१७. **हिन्दू आब्ज़र्वर** (मद्रास १८ नव०)

१८. **थिंकर** मद्रास ११ नव०

१९. **हिन्दू** ११ नव०
उनके परलोक होने से भारतखण्ड को ज़बरदस्त सदमा बैठा।

२०. **टाइम्स पंजाब** रावलपिण्डी १० नव०

२१. **गुजरातमित्र** सूरत ११ नव०

२२. **बंगला पब्लिक ओपीनियन** कलकत्ता ८ नव०

२३. **लिबरल** कलकत्ता ११ नव०

२४. **इण्डियन मैसेंजर** कलकत्ता ११ नव०

२५. **इंग्लिश क्रॉनिकल** पटना ५ नव०

२६. **इण्डियन स्पीकर** बम्बई १८ नव०

२७. **दीनबन्धु** बम्बई ४ नव०

२८. **जामे-जमशेद** बम्बई २ नव०

२९. **अवध अखबार** (उर्दू)

३०. **हिन्दुस्तानी, नसीमे-हिन्द, बुल्दे-केसरी, क्षत्रिय-हितकारी** (बनारस), **कोहेनूर** (लाहौर), **आफ़ताब** (पंजाब), **अंजुमन**, इन सभी ने शोकोद्‌गार प्रकट किये।

❑❑

(१७)

राष्ट्र को दुरित, दुर्गति से बचाने का उपाय

न तमंहो न दुरितं देवासो अष्ट मर्त्यम्।
सजोषसो यमर्यमा मित्रो नयति वरुणो अति द्विषः॥

—साम० ४२६

ऋषिः—अंहोमुग्वामदेव्यः॥ देवता—विश्वेदेवाः॥ छन्दः—उपरिष्टाद् बृहती॥

अन्वयः—सजोषसः देवासः यम् अर्यमा मित्रः वरुणः द्विषः अतिनयति तम्, अंहः न अष्ट, न दुरितम्॥

शब्दार्थ—(**सजोषसः**) प्रेम से सेवा में तत्पर (**देवासः**) विद्वान् (**यम्**) जिस प्रजा को (**अर्यमा**) न्यायकारी (**मित्रः**) सर्वहितकारी (**वरुणः**) श्रेष्ठ गुणोंवाला राजा (**द्विषः**) शत्रुओं को (**अतिनयति**) दमन करके शासन करता है। (**तम्**) उस जन को (**अंहः**) पाप (**न अष्ट**) नहीं घेरता (**न दुरितम्**) न पापजनित दुःख ही सताते हैं।

व्याख्या—मन्त्र में उत्तम शासन के लिए तीन बातें आवश्यक बताई गई हैं। पहली बात यह कि—'शासन में न्याय ठीक-ठीक और समय पर हो।' दूसरी बात यह कि—'राजा अथवा शासक-वर्ग सारी प्रजा को निज सन्तान समझकर प्रेम से व्यवहार करनेवाला हो।' तीसरी बात यह कि—'शत्रुओं से राष्ट्र की रक्षा करनेवाला हो।' ये तीन बातें जिस शासन में होंगी, उसमें "**अंहः दुरितम् न अष्ट**" पाप, दुर्गति और अशान्ति कभी नहीं होगी।

भारत की स्वाधीनता से पूर्व हम अपने स्वराज्य के बड़े रंगीन सपने सँजोया करते थे। सोचते थे, स्वाधीन भारत एक बार फिर सारे संसार का पथप्रदर्शक बनेगा। वह पथभ्रष्ट संसार को फिर सुख और शान्ति से जीने की कला सिखाएगा। भारत के ऋषियों के प्रति वह निष्ठा अब तक भी समस्त संसार के विचारकों की रही है। यूरोप के एक विश्व-शान्ति-सम्मेलन के अध्यक्ष-पद से बोलते हुए मिस जटस्कू ने प्रतिनिधियों को कहा था—

"O you assembled scholors of earth, if you desire to keep the atmosphere of the world, quite and calm, go to the saints in the caves and forests of India, sit at their feet & learn devine wisdom from their holy lips and then propogate it in Europe and America."

"अय भूमण्डल के समस्त विद्वानो! यदि आप संसार के वायुमण्डल को क्षोभरहित और शान्त रखना चाहते हैं, तो भारत के वनों और गुफाओं में तप करते हुए महात्माओं की सेवा में जाओ और उनके चरणों में

बैठकर उनके पवित्र ओष्ठों से जो विचार सुनो, उनका प्रचार और प्रसार योरुप और अमेरिका में करो, तब संसार में शान्ति हो सकती है, आपके विचारों से वह सम्भव नहीं।''

वस्तुतः प्राचीन भारत के सुसंस्कृत आर्य लोगों ने अपने उदात्त आचार और व्यवहार से समस्त समाज का जीवन ही धर्ममय बना दिया था। उस पावन समय की झाँकी जब हम अपने अतीत के इतिहास और धार्मिक ग्रन्थों में पढ़ते हैं, तो आश्चर्य होता है।

छान्दोग्य उपनिषद् में उल्लेख है कि एक बार एक शास्त्रीय विषय की चर्चा छिड़ने पर आश्रमवासी वनस्थों को परस्पर के विचार-विनिमय से सन्तोष न हुआ। वे महात्मा उद्दालक के नेतृत्व में, उस समय के विख्यात विचारक और विद्वान् केकय देश के अधिपति राजा अश्वपति के पास अपनी जिज्ञासा शान्त करने के लिए पहुँचे। राजा ने अतिथियों का स्वागत किया और उसके पश्चात् गोष्ठी प्रारम्भ हुई। विचार होते-होते जब भोजन का समय हो गया तो राजा ने महात्माओं से अनुरोध किया कि अब भोजन का समय हो गया है, पहले आप भोजन कर लें और शेष विषय पर उसके बाद विचार कर लेंगे।

राजा के भोजन के इस प्रस्ताव को सुनकर एक महात्मा बोले—'राजा का अन्न तो एक साधक के लिए अग्राह्य होता है। न जाने किस-किस प्रकार से राजकोष का संग्रह होता है! उस प्रकार का अन्न मन पर दूषित प्रभाव डालेगा।' महात्मा की यह आशंका अनुचित नहीं थी। किस-किस का अन्न अग्राह्य होता है? इस पर मनु ने व्यवस्था दी है और उसका उल्लेख ऋषि दयानन्द ने भी संस्कारविधि के गृहाश्रम प्रकरण में किया है। वह श्लोक निम्न है—

दशसूनासमं चक्रं दशचक्रसमो ध्वजः।
दशध्वजसमो वेशो दशवेशसमो नृपः॥

—मनु० अ० ४, श्लोक ८५

'जो चक्र के द्वारा जीविका कमाते हैं, जैसे—कुम्हार, गाड़ी और ट्रांस्पोर्ट से जीविका करनेवाले, अर्थात् जिनके काम में जीवहिंसा तो बहुत होती है और प्राणियों का पालन और रक्षण नहीं होता, उनके अन्न को खानेवाले के मन पर दश हत्या करने के बराबर दूषित प्रभाव पड़ता है। जो शराब निकालकर बेचनेवाले तथा धोबी का अन्न ग्रहण करते हैं, उनके मन पर चक्रवाले अन्न की अपेक्षा से दस गुणा और अधिक, अर्थात् सौ हत्या करने के बराबर मन पर दुष्प्रभाव होता है। जो लोग बाहर के दिखावे और वेशभूषा-आडम्बर और ढोंग से जीविकोपार्जन करते हैं, उनका अन्न पहले से दस गुणा अधिक, अर्थात् एक हजार जीव-हत्या करने के तुल्य मन को दूषित करता है। इसी प्रकार शासन-व्यवस्था में सावधानी से मर्यादा की रक्षा न करनेवाले राजा

का अन्न पहले की अपेक्षा और दस गुणा अधिक, अर्थात् दस हजार हत्या करने के समान मन को सदोष करता है। अभिप्राय यह है कि मनुष्य की जीविका इस प्रकार की हो कि जिसमें न्यून-से-न्यून प्राणियों को कष्ट पहुँचे और अधिक-से-अधिक का संरक्षण और पालन हो, वह जीविका उत्तम और उनका अन्न ही मन को शुद्ध रख सकता है, क्योंकि अन्न का सूक्ष्म भाग ही तो मन का आधार है। यों तो कृषक के काम में भी हल चलाने, सिंचाई करने, फसल की गुड़ाई, कटाई और अन्न निकालते समय भी बहुत जीव-हिंसा होती है, किन्तु कृषक के अन्नादि से प्राणियों का पालन कहीं अधिक मात्रा में होता है, अतः कृषक का अन्न पवित्र माना गया है।'

तो महात्मा की इस बात को सुनकर अपनी शासन-व्यवस्था के सम्बन्ध में राजा अश्वपति ने जो बात कही, वह समस्त संसार के इतिहास में बेजोड़ है। राजा ने कहा—

न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न च मद्यपः।
नानाहिताग्निर्नाविद्वान् न स्वैरी स्वैरिणी कुतः॥

'मेरे सारे राज्य में कोई चोर नहीं है, कोई कञ्जूस और अदानी नहीं है, कोई शराबी नहीं है, यज्ञ न करनेवाला कोई नहीं है, मूर्ख कोई नहीं है, कोई दुराचारी पुरुष नहीं है। जब पुरुष ही चरित्रहीन नहीं है तो स्त्री के तो दुराचारिणी होने का प्रश्न ही नहीं उठता।' आज के युग में बड़े माने जानेवाले देशों में अमरीका और रूस भी प्रजा की इस आचार-शुचिता का कोई दावा नहीं कर सकता। वहाँ भी सभी प्रकार के जघन्य अपराध होते हैं। इसीलिए वहाँ के देश भारत से कुछ ऊँचे आदर्श की आशा रखते थे, किन्तु स्वाधीनता के पश्चात् भारतीयों का जो चारित्रिक पतन हुआ है, वह आश्चर्यजनक है। भारत की स्वाधीनता के लिए त्याग और तप करनेवाले यद्यपि बहुत बड़ी संख्या में कालकवलित हो गए, किन्तु अब भी हज़ारों हैं और उनकी अन्तर्वेदना कुछ बात करते ही फूट निकलती है। जालन्धर (पंजाब) से प्रकाशित होनेवाले ७ अगस्त सन् ८३ के 'पंजाब केसरी' पत्र में एक पुराने स्वतन्त्रता सेनानी श्री बलवन्तराय उप्पल का घनश्याम पण्डित नामक पत्रकार के साथ हुए साक्षात्कार का विवरण छपा है। इसकी प्रारम्भिक पङ्क्तियाँ इस प्रकार हैं—

''ये भी एक स्वतन्त्रता-सेनानी हैं, जिन्होंने अपने यौवन का ख़ासा हिस्सा स्वतन्त्रता-आन्दोलन में झोंक दिया था—इस निश्चय के साथ कि जिस देश की आज़ादी के लिए आज लड़ रहे हैं, कल वह हमारा अपना देश होगा जिसमें सभी को समानता मिलेगी, सभी को गुल्ली, कुल्ली और जुल्ली मिलेगी। प्रशासन साफ़-सुथरा होगा। सभी को न्याय मिलेगा। सभी प्रसन्न होंगे। सभी को भरपेट रोटी मिलेगी, किन्तु ३६

वर्ष बीत जाने के बाद भी देश की परिस्थितियों को देखकर निराशा होती है, क्योंकि आज देश में वे सभी वस्तुएँ अलभ्य हैं जिनकी कि स्वतन्त्र भारत में कल्पना की गई थी। आज न्याय कहीं है ही नहीं। एक सामान्य नागरिक को कोई पूछता नहीं। ग़रीब की कहीं सुनवाई नहीं। पहुँच और दबदबेवाले दनदना रहे हैं। क़ानून का डर नहीं। बहू-बेटियों का सम्मान सुरक्षित नहीं। क्या यह वही देश है जिसकी आज़ादी के लिए बलिदानियों ने अपने जीवन की भेंट चढ़ाई थी? आज हमें फिर उसी प्रकार के इन्क़िलाब को लाने की ज़रूरत है, जिस प्रकार का हम सन् ४७ में लाए थे।'' आज भारत का प्रबुद्ध वर्ग इसी प्रकार की कुण्ठा से व्यथित है—

जंगे-आज़ादी लड़ी तब अपने सपने और थे।
हाल अपना आज जो है, वो कभी सोचा न था॥

प्रश्न यह है कि हम देश की इस परिस्थिति में कैसे परिवर्तन ला सकते हैं? निराश होकर बैठने से तो हानि-ही-हानि है—

हल करने से हल होते हैं पेचीदा मसायल[1]।
वर्ना तो कोई काम भी आसाँ[2] नहीं होता॥

वेद के इस मन्त्र में भारत के मानसिक नभोमण्डल में छाई इन निराशा की काली बदलियों को छाँटने के ही महत्त्वपूर्ण उपाय हैं। इनमें पहला उपाय है—देश के वायुमण्डल को शुद्ध करने के लिए न्याय-प्रणाली पक्षपात-रहित और शीघ्र निर्णय करनेवाली होनी चाहिए। आज देश में अपराधों की बाढ़-सी आ रही है। डाके, बलात्कार, हत्या और चोरी के समाचारों से अख़बार पटे पड़े रहते हैं; डाकुओं में अपठित और ग़रीबी से पीड़ित लोग नहीं हैं, बी०ए० और एम०ए० हैं। नई दिल्ली में बैंक-खज़ाने को लूटनेवाले सम्पन्न घरों के और उच्च शिक्षा प्राप्त युवक ही थे। उत्तर प्रदेश और मध्य प्रदेश के बहुत बड़े डाकुओं की समस्या वहाँ की सरकारों के लिए बहुत बड़ा सिरदर्द है। इन बुराइयों के बढ़ने में कतिपय अन्य कारणों के साथ सबसे मुख्य कारण न्याय-प्रणाली की शिथिलता, न्याय की अतिव्यय-साध्यता, अपराधियों को मुक्त कराने के लिए राजनैतिक नेताओं के दबाव आदि कुछ ऐसे कारण हैं कि जिनसे अपराधियों को दण्ड का भय नहीं रहा।

हमें जो अंग्रेज़ों का ढाँचा उत्तराधिकार में मिला है, चाहे वह शिक्षा का क्षेत्र है और चाहे न्यायालय है, हम उन्हें उसी प्रकार घसीटे ले-जा रहे हैं। इससे कितनी हानि हो रही है, यह विचारने और कम करने का किसी के पास समय नहीं है। प्रधानमन्त्री और मुख्यमन्त्री जब पहली बार पद सम्भालते हैं, तो बड़ी-बड़ी योजनाएँ जनता के सम्मुख रखते

---

१. समस्याएँ; २. आसान।

हैं, किन्तु कुछ ही समय पश्चात् कहीं पार्टी के असन्तुष्ट तत्त्वों को अनुकूल बनाने में, कहीं विरोधी पार्टियों की योजनाएँ ध्वस्त करने में संक्षेप से कहा जाय तो सारा समय और शक्ति अपने अधिकार की रक्षा में ही निकल जाता है। सामाजिक जीवन के परिष्कार के लिए कुछ रचनात्मक काम नहीं हो पाते।

हमारी न्याय-पद्धति ईसाइयों की भावना से प्रभावित है, जिसके चिन्तन का मुख्य केन्द्र-बिन्दु यह है कि पाप के फल, दुःख से संसार को छुड़ाने के लिए मसीह शूली पर चढ़ गए। किसी के मन को दुःख नहीं होना चाहिए। किसी उर्दू शायर के शब्दों में उनकी भावना को इस प्रकार प्रकट किया जा सकता है—

जब गुनहगारों पे देखी रहमते-परवरदिगार।
बेगुनाहों ने पुकारा हम गुनहगारों में हैं॥

'जब अपराधियों पर प्रभु का विशेष कृपाभाव देखा तो शुद्ध-पवित्र व्यक्ति भी सोचने लगे कि हमसे तो ये ही अच्छे रहे, और वे निर्दोष होते हुए भी प्रभु के कृपापात्र बनने के लिए चिल्लाने लगे—हम भी पापी हैं, हमारा भी उद्धार कीजिए।'

चौथी और पाँचवीं लोकसभा की सदस्यता के दस वर्षों में मेरे निर्वाचन-क्षेत्र में १५ से कुछ अधिक क़त्ल के केस हुए। मैं उन केसों का सावधानी से अध्ययन करता रहा। कई-कई वर्ष तक हाईकोर्ट तक केस लड़े गए, किन्तु परिणाम यह निकला कि किसी भी केस में किसी को मृत्युदण्ड नहीं मिला। हाँ, दो अभियोगों में कुछ को आजीवन कारावास अवश्य हुआ। आजीवन कारावास शब्द सुनने में ही भयङ्कर लगता है; उसकी अवधि बीस वर्ष है और वे कट-छटकर १२ या १५ वर्ष ही रह जाते हैं। जहाँ केस में थोड़ी-सी भी संदिग्ध स्थिति आती है कि बस न्यायाधीश सब-छोड़कर उसे दोषमुक्त कर देते हैं।

होना यह चाहिए कि आज के क़ानून में कुछ अपनी प्राचीन दण्ड-प्रक्रिया के उपादेय अंशों का समावेश करके इसका स्वरूप तेजस्वी बनाना चाहिए, जिससे अपराधी आतङ्कित हों। उदाहरण के लिए मैं चाणक्य के कौटिल्य अर्थशास्त्र की एक बात का उल्लेख यहाँ करता हूँ—

चाणक्य ने लिखा है कि यदि चोरी की घटना कहीं घट जावे तो उस क्षेत्र के पुलिस-अधिकारी को आदेश होना चाहिए कि तीन मास के अन्दर चोरी का पता लगाकर गए हुए माल को उसके मालिक को दिलवाए और अपराधी को उचित दण्ड की व्यवस्था कराए। यदि पुलिस-अधिकारी नियत अवधि में चोरी का पता न लगा सके तो चोरी गए हुए माल की क्षतिपूर्त्ति उस अधिकारी के वेतन से करानी चाहिए। यह बात कितनी उत्तम है! इस नियम का पहला लाभ तो यह होगा कि पुलिस जनता के जान-माल की पूरी चौकसी से रक्षा करेगी और यदि

कहीं दुर्घटना होगी तो पूरी सतर्कता से माल का पता लगाएगी और दोषी को दण्ड दिलवाएगी। दूसरा लाभ यह होगा कि जनता का सरकार में विश्वास बढ़ेगा और वह अपने को सुरक्षित समझकर पूरे उत्साह से उद्योग-धन्धे चलावेगी।

इस समय भारत में अन्धेर मचा हुआ है। अधिकांश अपराधी अपनी कमाई में पुलिस को भागीदार बनाकर निर्भयता से दुष्कर्म करते हैं। उन्हें पता है थाने में पहले तो रिपोर्ट ही दर्ज नहीं होगी। यदि ले-देकर रिपोर्ट लिखी भी गई तो उस पर कार्यवाही कुछ नहीं होगी। पुलिस की इस अवस्था पर पंजाब के एक आर्य-प्रचारक बड़ी मनोरञ्जक कहानी सुनाया करते थे—एक मीरासी के घर में चोरी होने पर उसने थाने में रिपोर्ट कर दी और वहाँ से तफ़्तीश के लिए पुलिस आई। मीरासी हुक्का पी रहा था। पुलिस के अधिकारी ने मौक़े का मुआयना किया और मीरासी से पूछताछ करते हुए चोरी में गए सामान का ब्यौरा नोट करना आरम्भ किया। नक़दी, बर्तन-भाण्डे, कपड़े सब लिखा दिये। पुलिस-आफिसर ने पूछा—'और कोई चीज़ तो लिखनी शेष नहीं रही?' मीरासी ने कहा—'सब लिस्ट मुझे एक बार सुना दीजिये।' पुलिसवाले ने सब चीज़ें पढ़ दीं। मीरासी ने कहा—'इनमें एक हुक्का और नोट कर दीजिये।' पुलिसवाले ने आश्चर्य से मीरासी को देखते हुए कहा—'हुक्का तो तुम पी रहे हो, यह कहाँ गया है?' मीरासी ने कहा—'इसे बेचकर आपकी भेंट-पूजा करूँगा, मेरी ओर से तो गया ही!' इस बात में कोई अतिशयोक्ति नहीं है। थाने में रिपोर्ट भी तब लिखी जाती है, जब कुछ चढ़ावा चढ़ा दिया जाता है। लेन-देन और परिचय-प्रभाव का क्रम कहीं-कहीं तो हाईकोर्ट तक भी पीछा नहीं छोड़ता।

देश की आपराधिक वृत्ति में सुधार के लिए इसमें परिवर्तन करना होगा। दुःखियों को यह विश्वास होना चाहिए कि हम राजकीय व्यवस्था में सुरक्षित हैं।

तो मन्त्र में पहली बात कही गई कि न्याय शीघ्र, सुलभ और निष्पक्ष होना चाहिए।

मन्त्र की दूसरी बात है कि शासक-वर्ग प्रजा को अपनी सन्तान के समान प्रिय समझे। जैसा कि कालिदास ने रघु के राज्य का वर्णन करते हुए लिखा है—"**स पिता पितरस्तासां केवलं जन्महेतवः**"—'समस्त प्रजा का वास्तविक पिता रघु ही था, उनके माता-पिता तो केवल जन्म देनेवाले थे।' ऐसे आत्मीयता के वातावरण में प्रजाजन राष्ट्र की रक्षा के लिए बड़े-से-बड़े त्याग करने को उद्यत हो जाते हैं।

रामायण और महाभारत में हम पढ़ते हैं कि जब राम और पाण्डव वन को चले तो पीछे-पीछे प्रजा के लोग भी साथ चल दिये। यह आत्मीयता का सम्बन्ध शासकों के सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार का ही परिणाम

था। तो मन्त्र में परामर्श दिया कि शासक-वर्ग परिवार के समान आत्मीयता से जनता के साथ बरतें।

मन्त्र की तीसरी बात है शासक आक्रान्ता और शत्रुओं से राष्ट्र की रक्षा करनेवाला हो। राष्ट्रीय सेना दक्ष और शक्ति-सम्पन्न हो, जो शत्रु को मुँहतोड़ उत्तर दे सके। यह शक्ति तभी आएगी, जब संयमी और वीरपुरुष राष्ट्र की रक्षापङ्क्ति को सम्भालेंगे। विलासी और ऐय्याश राष्ट्र की रक्षा नहीं कर सकते। मुग़ल शासन के अन्तिम दिनों में इसी तरह के दुर्गुणों से राष्ट्र दुर्बल हो गया और विदेशी आक्रान्ता यहाँ की प्रजा को अपमानित करके यहाँ की अपार सम्पत्ति, कोहेनूर और तख़्तेताऊस तक को यहाँ से ले गए थे। इस प्रकार के दुर्बल राष्ट्र में अन्यान्य दोष भी आ जाते हैं। यदि देश के प्रहरी संयमी, देशभक्त और वीर हों तो ऐसे राष्ट्र में पाप और अशान्ति नहीं होती।

❑❑

(१८)

शिक्षा के तीन उद्देश्य

अपामीवामप स्त्रिधमप सेधत दुर्मतिम्।

आदित्यासो युयोतना नो अंहसः॥ —साम० ३९७

ऋषिः—इरिम्बिठिः॥ देवता—आदित्याः॥ छन्दः—उष्णिक्॥

अन्वयः—हे आदित्यासः! अमीवाम् अप (सेधत) स्त्रिधम् अप (सेधत) दुर्मतिम् अपसेधत नः अंहसः युयोतन॥

शब्दार्थ—(**आदित्यासः**) मर्यादा का पालन करनेवाले तथा विद्या से प्रकाशित माता, पिता, गुरु और उपदेशक! (**अमीवाम्**) हमारे शारीरिक रोगों को (**अपसेधत**) दूर करो! (**स्त्रिधम्**) हिंसा की भावना को (**अपसेधत**) दूर करो! (**दुर्मतिम्**) कुटिलता और पापयुक्त बुद्धि को (**अपसेधत**) दूर करो! इस प्रकार (**नः**) हमें (**अंहसः**) पापों से (**युयोतन**) दूर करो!

व्याख्या—शिक्षा का उद्देश्य मनुष्य का शारीरिक, आत्मिक और बौद्धिक विकास है। मनुष्य संसार के कार्यक्षेत्र में इस सर्वाङ्गीण उन्नति के बिना पूर्ण सफल नहीं कहला सकता। जीवन में कुछ अवसर ऐसे आते हैं कि न वहाँ बुद्धिबल काम देता है और न आत्मिक बल। हाँ, शारीरिक शक्ति पास हो तो मनुष्य काम बना लेता है।

महाभारत-युद्ध में चक्रव्यूह के प्रवेशद्वार के रक्षक आचार्य द्रोण थे। आचार्य द्रोण को वीरता और बल से दबाकर चक्रव्यूह में प्रवेश के लिए केवल अभिमन्यु को ही उपयुक्त समझा गया। व्यूह में प्रवेश के लिए जहाँ कलात्मक ज्ञान अपेक्षित था, वहाँ शौर्य और बल-प्रवणता की भी कम अपेक्षा नहीं थी।

इस व्यूह के युद्ध में शौर्य का जो कीर्त्तिमान अभिमन्यु ने स्थापित किया, वह पाण्डव-पक्ष में अर्जुन को छोड़कर कोई स्तापित नहीं कर सका। अभिमन्यु को स्वयं अपने बल पर कितना आत्मविश्वास था, यह द्रष्टव्य है—

अशक्यं तु तमन्येन द्रोणं मत्वा युधिष्ठिरः।
अविषह्यं गुरुं भारं सौभद्रे समवासृजत्॥

—म० भा०, द्रो० अ० ३४।१२

युधिष्ठिर ने विचार किया कि गुरु द्रोण के पराक्रम का सामना करने की और किसी में शक्ति नहीं है। इसलिए इस असह्य गुरुतर भार को अभिमन्यु को सौंपा। अभिमन्यु ने उत्तर दिया—

द्रोणस्य दृढमव्यग्रमनीकप्रवरं युधि।
पितॄणां अयमाकांक्षन्नवगाहेऽविलम्बितम्॥

युद्ध में द्रोण की दृढ़ और प्रबल सेना में मैं आप लोगों के विजय की कामना से अवगाहन करता हूँ।

भिन्ध्यनीकं युधा श्रेष्ठ द्वारं संजनयस्व नः।
वयं त्वानुगमिष्यामो येन त्वं तात यास्यसि॥

हे योद्धाओं में श्रेष्ठ! शत्रु-सेना को भेदकर हमारे लिए द्वार बना। हम लोग तुम्हारे पीछे-पीछे जिधर से तुम जाओगे, चलेंगे।

अभिमन्यु बोले—

अहमेतत् प्रवेक्ष्यामि द्रोणानीकं दुरासदम्।

मैं दुर्दमनीय द्रोण की सेना में प्रवेश करूँगा।

नाहं पार्थेन जातः स्यां न च जातः सुभद्रया।
यदि मे संयुगे कश्चिज्जीवितो नाद्य मुच्यते॥

यदि मैं आज युद्ध में किसी को भी जीवित छोड़ूँ तो मुझे अर्जुन और सुभद्रा से उत्पन्न हुआ न समझा जावे।

यदि चैव रथेनाहं समग्रं क्षत्रमण्डलम्।
न करोम्यष्टधा युद्धे न भवाम्यर्जुनात्मजः॥

यदि अकेला ही एक रथ से सम्पूर्ण क्षत्रिय-समूह को युद्ध में आठ टुकड़ों में न बाँट दूँ तो मुझे अर्जुन का बेटा न समझा जावे।

तेन संचोद्यमानस्तु याहि याहीति सारथिः।
प्रत्युवाच ततो राजन्नभिमन्युमिदं वचः॥

अभिमन्यु ने अपने सारथि सुमन्त्र को जब बार-बार चलने को कहा तो चिन्तित होकर सारथि ने अभिमन्यु से कहा—

अतिभारोऽयमायुष्मन्नाहितस्त्वयि पाण्डवेः।
संप्रधार्य क्षणं बुद्ध्या ततस्त्वं योद्धुमर्हसि॥

आयुष्मन्! आपके ऊपर पाण्डवों ने बहुत बड़ा बोझ रख दिया है। थोड़ी देर भले प्रकार विचार करके फिर युद्ध करना चाहिए।

ततोऽभिमन्युः प्रहसन् सारथिं वाक्यमब्रवीत्।
सारथे कोन्वयं द्रोणः समग्रं क्षत्रमेव वा॥

अभिमन्यु ने हँसते हुए सारथि को उत्तर दिया—यह द्रोण तो है ही क्या, मेरे सामने क्षत्रियों के समस्त योद्धा भी आ जावें तो मैं उनकी परवा नहीं करता।

न ममैतद् द्विषत्सैन्यं कलामर्हति षोडशीम्।
अपि विश्वजितं विष्णुं मातुलं प्राप्य सूतज।
पितरं चार्जुनं युद्धे न भीर्मामुपयास्यति॥

यह शत्रु-सेना तो मेरे सामने कुछ भी नहीं है। मेरे सामने युद्ध में विश्व-विजेता मामाजी (श्रीकृष्ण) और पिताजी भी आ जावें तो उनसे भी मुझे कोई झिझक नहीं है।

प्रवर्त्तमाने संग्रामे तस्मिन्नति भयङ्करे।
द्रोणस्य मिषतो व्यूहं भित्त्वा प्राविशदार्जुनिः॥

उस भयङ्कर युद्ध के प्रारम्भ होने पर द्रोण के रक्षक होते हुए भी अभिमन्यु चक्रव्यूह में प्रवेश कर गया।

स्पष्ट है, यहाँ सफलता शारीरिक बल और उसी से सम्बन्धित युद्ध-कौशल को मिली। इसके विपरीत कुछ अवसर ऐसे होते हैं, जिनमें बुद्धिमत्ता और विचारशीलता ही काम आती है; शारीरिक बल व्यर्थ रहता है। इसको स्पष्ट करने के लिए भी पाण्डवों के वनवास के समय का एक उदाहरण उपयुक्त रहेगा—

वनवास-काल में पार्वत्य और वन-प्रदेश में घूमते हुए प्यास से व्याकुल युधिष्ठिर ने सहदेव से कहा कि भाई! एक वृक्ष पर चढ़कर देखो, कहीं पानी दिखाई देता हो तो बाणों के तूणीर में ही भरकर पीने योग्य थोड़ा पानी ले आओ। आज्ञानुसार सहदेव ने वृक्ष पर चढ़कर इधर-उधर दृष्टि दौड़ाई तो उसे एक जलाशय दिखलाई पड़ा। नीचे उतरकर वह पानी लेने गया और वापस पर्याप्त समय तक नहीं आया। इसके बाद नकुल गया, वह भी नहीं लौटा। फिर अर्जुन गया, वह भी नहीं आया। इसके बाद भीम गया, वह भी गुम।

युधिष्ठिर और द्रौपदी इस स्थिति से बहुत दुःखी और चकित होकर स्वयं गए। पहुँचकर देखा कि चारों भाई जलाशय पर मृत पड़े हुए हैं। युधिष्ठिर देखकर स्तब्ध! फिर सोचा, पहले पानी पीकर प्यास बुझा लें, फिर देखते हैं क्या हुआ। पानी पीने के लिए ज्यों ही तालाब में प्रवेश किया तो जलाशय के अधिपति ने कहा—'पहले जो मैं पूछता हूँ उसका उत्तर दो, नहीं तो जो अवस्था इन चारों की हुई है, वही तुम्हारी भी होगी।' यद्यपि प्यास से युधिष्ठिर व्याकुल था, किन्तु गम्भीर और विचारशील भी था; उससे पहले अन्य भाइयों को भी यही बात कही गई थी, पर उन्होंने अपने बल के अहंकार में सुनी नहीं।

युधिष्ठिर ने उत्तर दिया—'यदि यही बात है तो मैं प्यास के कष्ट को और सहूँगा। तुम पूछो! जो मुझे आता होगा, वह मैं अपनी बुद्धि के अनुसार उत्तर दूँगा।'

इस पर जलाशय के अधिपति यक्ष ने प्रश्न पूछे और युधिष्ठिर ने उत्तर दिये जो महाभारत में यक्ष और युधिष्ठिर के संवाद के रूप में प्रसिद्ध हैं।

युधिष्ठिर के बुद्धिमत्तापूर्ण उत्तरों को सुनकर यक्ष बहुत प्रसन्न हुआ और न केवल युधिष्ठिर को पानी पीने की अनुमति दी, अपितु चारों

मूर्च्छित भाइयों को भी सचेत कर दिया।

यहाँ सफलता बुद्धिबल को मिली। शारीरिक शक्ति असफल सिद्ध हुई।

इन दो के अतिरिक्त इनसे भी महत्त्वपूर्ण तीसरी शक्ति है, जिसे आत्मिक शक्ति कहते हैं। उससे सम्पन्न व्यक्ति की शारीरिक और बौद्धिक क्षमता अत्यधिक तीव्र और प्रभावोत्पादक हो जाती है। इसके प्रतीक हैं—योगिराज कृष्ण।

पाण्डवों की सफलता का समस्त श्रेय योगिराज कृष्ण को है। उन्होंने भयङ्कर-से-भयङ्कर समय में भी अविचल रहकर पाण्डवों का पथ-प्रदर्शन किया—जरासंध का संहार, राजसूय यज्ञ की सफलता, युद्ध में भीष्म, कर्ण और जयद्रथ का वध। गाण्डीव के धिक्कारने पर युधिष्ठिर को मारने के लिए उद्यत अर्जुन को अपनी सूझ-बूझ से शान्त करना, दुर्योधन पर प्रहार करने के कारण युद्ध के नियमों के विपरीत भीम को मारने के लिए उद्यत बलराम को समझाना—ये सब कृष्ण के चमत्कारपूर्ण कार्य आत्मिक बल के कारण ही हो सके।

अतः इस वेदमन्त्र में, संसार में पूरी सफलता प्राप्त करने के लिए तीनों प्रकार की न्यूनताओं को दूर करके त्रिविध शक्ति-प्राप्ति की प्रार्थना की गई।

मन्त्र में शिक्षा के मनोवैज्ञानिक क्रम का वर्णन किया गया है। सन्तान को शिक्षा देनेवाले माता-पिता होते हैं। शिष्यों को गुरु शिक्षा देते हैं और समाज का पथ-प्रदर्शन बहुश्रुत, विद्यावृद्ध और वयोवृद्ध करते हैं। इन सभी को बहुत सार्थक 'आदित्यासः' शब्द से सम्बोधित किया गया है।

आदित्य शब्द के अनेक अर्थों में से एक अर्थ है 'मर्यादा का पालन करनेवाले'। जो मर्यादा भङ्ग करते हैं, वे दिति के पुत्र 'दैत्य' कहलाते हैं। 'दो अवखण्डने' धातु से यह शब्द बना। जो मर्यादा की रक्षा करते हैं, वे अदिति के पुत्र आदित्य कहलाते हैं।

इस शब्द से माता-पिता व गुरु को सम्बोधित कर उन्हें सावधान किया है कि तुम जिन मर्यादाओं और गुणों को अपने बच्चों और शिष्यों में देखना चाहते हो और जिनकी उन्हें शिक्षा देते हो, वे गुण स्वयं तुम्हारे आचरण में होने चाहिएँ। यदि आपका आचरण आपकी आकांक्षा और कथन के विपरीत है तो उसका प्रभाव आपकी सन्तान, आपके शिष्य और श्रोताओं पर यथेष्ट नहीं होगा। आज की उच्छृङ्खलता का एक मुख्य कारण यह भी है कि हम अभिभावक और शिक्षक अपने बच्चों और शिष्यों को तो बहुत-कुछ कहते रहते हैं, किन्तु हमारा आचरण बहुधा हमारे कथन के विपरीत होता है। हम उन्हें कहते हैं—"Do what I say, dont do what I do." तुम वह करो जो मैं कहता हूँ, तुम वह

मत करो जो मैं करता हूँ।

किन्तु, मनोविज्ञान इसके विपरीत कहता है। बात को सुनकर, सुननेवाला पहले यह देखता है कि कहनेवाला स्वयं उसके ऊपर आचरण करता है कि नहीं। यदि कहनेवाले का आचरण उसके विपरीत है तो वह उसके ऊपर आचरण नहीं करेगा। आज माता, पिता और गुरु भी इस तथ्य की ओर ध्यान नहीं देते, इसलिए सब आवाँ बिगड़ रहा है।

आदित्य का दूसरा अर्थ है—सूर्य=प्रकाशस्वरूप। यह विशेषण गुरु पर चरितार्थ होता है। जिस प्रकार सूर्य में अन्धकार की कल्पना नहीं की जा सकती, उसी प्रकार अध्यापक जिस विषय को पढ़ाता है, उसमें उसे संशय का अन्धकार नहीं होना चाहिए, अर्थात् उस विषय पर उसका पूर्ण अधिकार होना चाहिए।

मन्त्र के आगे के विशेषणों में शिक्षा का लक्ष्य निर्धारित किया कि '**अंहसः**'—पापों से, त्रुटियों से दूर होकर उसमें पक्वता और पूर्णता हो। सांकेतिक रूप से उन त्रुटियों का भी परिगणन कराया कि '**अमीवाम् अपसेधत्**'—शारीरिक विकास में बाधक रोगादि त्रुटियाँ दूर हों। इसके लिए गर्भकाल से ५ वर्ष की आयु तक माता को सावधान रहना होगा। इस अवधि में जबतक बालक गर्भस्थ रहे, माता का खान-पान अपने लिए नहीं, बालक के लिए होना चाहिए। आगे भी उसी सावधानी की आवश्यकता है, ताकि बच्चे को कोई रोग न हो और शरीर का विकास सन्तुलित रूप से होता चला जाए।

आज हमारी देवियों में इस ज्ञान का बहुत अभाव है। परिणामस्वरूप अनेक प्रकार के रोग बचपन से ही लग जाते हैं। साथ ही स्वास्थ्यवर्धक भोज्य-पदार्थों की मात्रा का ज्ञान भी होना चाहिए, ताकि बच्चे असन्तुलित और बेडौल न हों।

प्रायः देखा है जिन घरों में दूध, दही, मक्खन और उत्तम खान-पान की सुविधा है, वहाँ बालक स्थूलकाय और बेडौल हो जाते हैं। मुटापा भी बहुत बड़ा रोग ही है।

विद्यालय में प्रवेश के अनन्तर भोजन के साथ-साथ व्यायाम, आसन, प्राणायाम और ब्रह्मचर्य-पालन आदि का भी पूर्ण ध्यान होना चाहिए। आज की स्कूली शिक्षा में इन सभी बातों का सर्वथा अभाव है। वहाँ बिगड़ने के साधन तो सभी हैं, बनने के लिए नहीं। वास्तविक शिक्षा के लिए इन सभी में आमूल-चूल परिवर्तन की आवश्यकता है। प्रथम तो सन्तति-निर्माण के लिए माता-पिता ही अपने कर्त्तव्य का निर्वाह नहीं करते, अतः परिणाम यह होता है कि ऐसे बालकों पर गुरु का श्रम भी सफल नहीं हो पाता। क्योंकि, माता-पिता की स्थिति उस कुम्हार के समान है जो मिट्टी तैयार करके अनेक प्रकार के पात्र और खिलौने बनाता है। गुरु का स्थान वह है जो उन बने-बनाए पात्रों पर अनेक

प्रकार की चित्रकारी करके उनके उत्कर्ष को बढ़ाता है। जिस पात्र में मिट्टी से बनाते समय कोई दोष रह गया है, उसे चित्रकार यत्न करके भी दूर नहीं कर सकता। जहाँ टेढ़ी रह गई है, वह रहेगी ही। रंग-रोगन से उसकी निर्माणगत न्यूनता की पूर्त्ति नहीं होगी।

अत: शिक्षा में आधारभूत प्रथम कर्त्तव्य हुआ माता-पिता का। शारीरिक विकास के साथ माता-पिता को मानसिक शक्ति के विकास की तथा आत्मिक उन्नति के संस्कारों की भी आधारशिला रखनी होगी। मानसिक विकास के लिए इस वेदमन्त्र में कहा है कि **'स्रिधम् अपसेधत्'**—हिंसा की भावना को उत्पन्न न होने दो!

हिंसा का दुर्गुण एक पाशविक वृत्ति है, जो अपने से अल्प बल और अल्प ज्ञानवाले को दबाने के लिए उत्पन्न होती है। पशु स्वाभाविक रूप से अपने से हीनबल को दबाएगा, उसका चारा छीनकर स्वयं खाने लगेगा। यही वृत्ति संस्कार-शून्य बालक में भी स्वाभाविक रूप से होती है। छोटा बालक अपने-जैसे अथवा अपने से हीनबल बालक के ऊपर झपटकर, उसके हाथ की चीज़ को छीन लेगा और उसको मारेगा भी। माता का यह पवित्र कर्त्तव्य है कि बच्चे के कोमल अन्त:करण पर प्रारम्भ से ही दया और करुणा के भाव अङ्कित करके उसे देवत्व की शिक्षा दे। यह कोरा भ्रम है कि बच्चे उस अवस्था में हमारी शिक्षा को ग्रहण नहीं कर पाते। बच्चों की ग्राहक शक्ति का अनुमान तो भाषा के ज्ञान से लगाया जा सकता है। किसी नयी भाषा को सीखकर ऐसे प्रयोग में लाने के लिए बड़े श्रम और साधना की आवश्यकता होती है। किन्तु बालक जहाँ पलता है, वहाँ की भाषा को अनायास ग्रहण करके बोलने लग जाता है, अत: बच्चों में सुसंस्कृत होने की पूरी पात्रता होती है। इसलिए माता-पिता को चाहिए कि बच्चे को सिखाएँ कि उसकी शक्ति गिरतों को उठाने के काम में आवे, ज्ञान भूले-भटकों को मार्ग बताए, तथा धन दीनों के भरण-पोषण में काम आवे।

इससे आगे की बात आत्मिक उन्नति के साथ सम्बद्ध है। बालक अपने जन्म-जन्मान्तरों के कुसंस्कार काम-क्रोधादि तथा उत्तम संस्कार दया-दाक्षिण्यादि लेकर उत्पन्न हुआ है। बच्चे का अन्त:करण कोरे काग़ज़ के समान नहीं है कि उस पर जन्म के बाद प्रथम बार ही कुछ लिखा जाना है, अपितु उसका अन्त:करण अनेक प्रकार के अच्छे-बुरे संस्कारों से प्रभावित है।

शिक्षा का उद्देश्य यह है कि अच्छे संस्कार समुन्नत और विकसित होकर दूषित संस्कारों के ऊपर हावी हो जावें, अथवा विवेक जागृत हो जाने पर जले हुए बीज के समान उसके अङ्कुर-प्ररोह की क्षमता ही नष्ट हो जाए। यदि यह स्थिति उत्पन्न हो जाय तो शिक्षा सार्थक हो गई।

इसके लिए मन्त्र में आया कि '**दुर्मतिम् अपसेधत**'—कुत्सित कर्म की भावना ही दूर हो, ऐसी शिक्षा हो।

राष्ट्र-निर्माण में शिक्षा का सर्वाधिक महत्त्व है। किसी भी राष्ट्र का निर्माण दो प्रकार का होता है। एक भौतिक, जिसमें बड़े-बड़े भवन, सड़कें, नहरें, कल-कारख़ाने, ये सभी आ जाते हैं। ये राष्ट्र के शरीर के समान हैं। राष्ट्र में रहनेवाले व्यक्तियों के चरित्र का सत्-शिक्षा के द्वारा निर्माण राष्ट्र की आत्मा के समान होता है। जैसे आत्मा के बिना शरीर कितना ही विशाल हाथी का ही क्यों न हो—निरर्थक है; उस विशाल निर्जीव शरीर को एक क्षुद्र जीव भी रौंदकर चला जाता है, यही अवस्था चरित्रहीन-अधार्मिक वृत्तिवाली स्वार्थी प्रजा से राष्ट्र की भी होती है।

भारत के पतन का अतीत-इतिहास यही है। इन्हीं बुराइयों ने भौतिक उत्कर्ष के शिखर से गिराकर देश को पराधीनता और दरिद्रता के पङ्क में डुबो दिया।

राजा दाहर पर सन् ७१२ में मुहम्मद-बिन-क़ासिम की विजय के बाद भारत की पराधीनता का दुर्दिन आया। उस समय के भारत की समृद्धि की कल्पना भी आज का व्यक्ति नहीं कर सकता। 'विश्वासघात' नाम से उस समय के इतिहास के लेखक गणपतराय अग्रवाल ने लिखा है कि क़ासिम ने दाहर के राज्य पर अधिकार करके, दाहर के कोषागार का पता लगाना चाहा। बहुत खोजने पर भी ख़ज़ाने का कुछ पता न चला। इसी मध्य एक स्वार्थी नीच उसके पास गया और कहा कि यदि आप मुझे कुछ इनाम दें तो मैं आपको कोष का पता बता सकता हूँ। क़ासिम ने प्रस्ताव स्वीकार कर लिया और साधारण-से प्रलोभन पर दाहर का भूमि के नीचे के घर (तहख़ाने) में छिपे कोषागार का पता दिया। गणपतराय अग्रवाल लिखते हैं कि इस खज़ाने में सोने-चाँदी के ढेर लगे हुए वे। ४५ देगें थीं, जो अशर्फ़ियों से भरी हुई थीं। ६ हज़ार सोने की मूर्त्तियाँ थीं; इनमें से बड़ी मूर्त्ति ६ फुट ऊँची थी और उस एक मूर्त्ति का भार ही ६० मन था।

बादशाह अकबर के समय तक भी भारत कितना समृद्ध था, इसका दिग्दर्शन 'देश की बात' नामक पुस्तक के प्रारम्भिक पृष्ठों में कराया गया है। वहाँ लिखा है कि एक बार अकबर ने अपने मन्त्री को आदेश दिया कि हमारे ख़ज़ाने में कितना सोना-चाँदी है, इसका हिसाब लगाया जाय। आदेश दिये तीन मास हो गए, किन्तु बादशाह को इसका उत्तर नहीं मिला। बादशाह ने वज़ीर से पूछा—'हमने ख़ज़ाने के सोना-चाँदी का हिसाब जानना चाहा था, उसका उत्तर अभी तक भी नहीं मिला?'

इस पर वज़ीर ने कहा—'जब से आपने आदेश दिया था, तभी से ८०० व्यक्ति तराज़ू-बट्टे लेकर ख़ज़ाने को तोलने में लगे रहते हैं।

अभी पूरे ख़ज़ाने का वज़न नहीं हो पाया, पूरा होते ही आपको बता दिया जाएगा।'

अतः भारत की पराधीनता का कारण यहाँ के लोगों की अनैतिकता और चरित्रहीनता रही है। बीच-बीच में कुछ व्यक्ति उच्चकोटि के भी हुए हैं, किन्तु जिसे जन-सामान्य का चरित्र कहते हैं, उसका पतन हो गया था। वही यहाँ की मूल समस्या थी। स्वतन्त्रता के बाद तो सत्-ज्ञान द्वारा उस बुराई का ही विनाश होना चाहिए था, किन्तु देश के सब कर्णधार शिक्षा-पद्धति के परिवर्तन पर भाषण तो देते रहे, पर किया किसी ने कुछ भी नहीं।

परिणाम सामने है, इन वर्षों में जो नया भारत बना है वह उच्छृङ्खल, अनुत्तरदायी, स्वार्थी और चरित्रहीन है। ऐसे देश को कभी सुरक्षित नहीं माना जा सकता। इस स्थिति में तुरन्त सुधार के उपाय होने चाहिएँ। वह जादू की छड़ी से नहीं हो सकता; उसका माध्यम तो शिक्षा और कठोर अनुशासन ही है।

यही बात इस मन्त्र में कही गई है। मार्ग लम्बा है। समय और श्रम दोनों की अपेक्षा है। इसके अतिरिक्त कोई चारा भी नहीं है। पर न किसी के पास समय है, न ही कोई श्रम के लिए तैयार है। इसलिए मञ्ज़िल अब भी उतनी ही दूर है, जितनी स्वाधीनता से पहले थी।

❑❑

(१९)

मनुष्य कब बनता है?

वनेम पूर्वीर्यो मनीषा अग्निः सुशोको विश्वान्यश्याः।
आ दैव्यानि व्रता चिकित्वाना मानुषस्य जनस्य जन्म॥

—ऋ० १।७०।१

ऋषिः—पराशरः शाक्त्यः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—विराट्पङ्क्तिः॥

अन्वयः—दैव्यानि व्रतानि आचिकित्वान् अग्निः सुशोकः अर्यः विश्वानि अश्याः। मनीषा पूर्वीः आवनेम मानुषस्य जनस्य जन्म॥

शब्दार्थ—जिस प्रकार (**दैव्यानि**) देवत्व प्राप्त करनेवाले (**व्रतानि**) सम्पूर्ण सत्यव्यवहार आदि श्रेष्ठ व्रतों को (**आचिकित्वान्**) भली-भाँति जाननेवाला (**अग्निः**) सर्वज्ञ (**सुशोकः**) उत्तम प्रकाशमय (**अर्यः**) जगदीश्वर (**विश्वानि**) सबको (**अश्याः**) प्राप्त है, उसी प्रकार हम भी (**मनीषा**) बुद्धि से, मननशक्ति से (**पूर्वीः**) पहले से विद्यमान, मुख्यता प्राप्त करानेवाली बुद्धियों का (**आ**) उत्तमता से (**वनेम**) आदरपूर्वक सेवन करें। यही (**मानुषस्य**) मनुष्यजाति के (**जनस्य**) प्राणी का (**जन्म**) उत्पन्न होना है।

व्याख्या—मन्त्र में दो बातें मुख्यरूप से कही गई हैं—पहली यह कि संसार के व्यवस्थापक प्रभु के दिव्य गुणों को मनुष्य समझे; दूसरी यह कि उन गुणों को समझकर अपने जीवन में धारण करे। तभी इस शरीर में मनुष्यता का जन्म होता है, केवल मानव-आकृति धारण करने से नहीं।

इस विचित्र संसार के उत्पादक, धारक और संहारक प्रभु के असीम बुद्धि-कौशल, नियम-निष्ठा तथा परम ज्ञानैश्वर्य को मनुष्य ज्यों-ज्यों समझता जाता है, त्यों-त्यों उसके ज्ञान की भूख उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है। यदि वह उन दिव्य गुणों के आंशिक भाग को भी अपने आचरण में ले आता है तो उसमें दिव्यता आती जाती है और उसका पशुता से पिण्ड छूटता जाता है। इस बात को 'मानव-धर्मशास्त्र' में इस प्रकार कहा गया है—

यथा-यथा हि पुरुषः शास्त्रं समधिगच्छति।
तथा-तथा विजानाति विज्ञानञ्चास्य रोचते॥

—मनु० ४।२०

'मनुष्य ज्यों-ज्यों विद्या और बुद्धि के विषयों को समझता जाता है, त्यों-त्यों उसका ज्ञान-भण्डार समृद्ध होता जाता है और फिर उसे सूक्ष्म ज्ञान की बातें समझ में आने लगती हैं तथा उनमें रुचि भी बढ़ती

जाती है।'

ज्ञान का लाभ तभी है जब वह अपने आचरण का अङ्ग बन जावे, क्योंकि जानना, जानने के लिए नहीं, अपितु कुछ करने के लिए है। जो ज्ञान कर्म के साथ नहीं जुड़ता, वह निरर्थक है; वाहक के ऊपर लदे बोझ के समान है, क्योंकि उससे जो लाभ उसे होना चाहिये, वह उससे वञ्चित है। इसी बात को नीतिकार ने इस प्रकार कहा है कि—

यथा खरश्चन्दनभारवाही भारस्य वेत्ता न तु चन्दनस्य।

'जैसे गधे पर चन्दन लदा है तो वह उसके बोझ को तो अनुभव करता है, किन्तु चन्दन के क्या लाभ हैं और उससे कैसे सुख प्राप्त किया जाता है, वह इस बात को नहीं जानता।' सामान्य व्यक्ति भी यह जानते हैं कि मलेरिया ज्वर की निवारक ओषधि 'कुनीन' है; चाहे उसे मिश्रण के रूप में प्रयोग करें, चाहे गोली के रूप में। अब किसी व्यक्ति को मलेरिया-ज्वर चढ़े और वह ऊँची आवाज़ में अपनी जानकारी बघारते हुए भाषण दे कि इस रोग का शत्रु 'कुनीन' है, उसके सामने यह ज्वर कभी ठहर नहीं सकता; किन्तु वह व्यक्ति यदि अपने ज्ञान के अनुसार कुनीन नहीं खाता तो उस ज्ञान का उसे किञ्चित् मात्र भी लाभ नहीं होगा। ज्वर से छुटकारा तभी मिलेगा, जब वह उस औषध का प्रयोग करेगा। इसीलिए मन्त्र में कहा कि प्रभु की सृष्टि में उसके ज्ञान-विज्ञान को देखकर अपनी उन्नति के लिए अपनी योग्यता के अनुसार उस पर चलने का व्रत लेना चाहिये। तभी हम मनुष्य बन सकते हैं।

मनुष्य-शरीर मिलने पर भी छह प्रकार की पशुता हमारे साथ लगी चली आती है। वह है—काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य। जब तक हम इन दुर्गुणों का विनाश नहीं कर लेते, चाहे हमारा शरीर मनुष्य का भले ही रहे, हम काम वही करेंगे जो उन बुराइयों के दबाव में पशु और पक्षी करते हैं। वेद ने सुन्दर शब्दों में इस तथ्य का सोदाहरण चित्र खींचा है—

उलूकयातुं शुशुलूकयातुं जहि श्वयातुमुत कोकयातुम्।
सुपर्णयातुमुत गृध्रयातुं दृषदेव प्र मृण रक्ष इन्द्र॥

—अथर्व० ८।४।२२

वेद ने कहा है—हे समर्थ आत्मा! तू **'उलूकयातुम्'**—'उल्लू की चाल' अर्थात् मोहयुक्त व्यवहार का परित्याग कर। उल्लू अन्धकार को पसन्द करता है और प्रकाश से घबड़ाता है। अँधेरे में, जब प्राणी निद्रामग्न होते हैं, तब वह अपने शिकार पर प्रहार करके अपनी जीविका चलाता है। इसी प्रकार मनुष्यों में दूसरों के अज्ञान का लाभ उठाकर कुछ लोग अपना कारोबार चलाते हैं। यह वृत्ति उल्लू से मिलती-जुलती है और यह मोह-दुर्गुण का प्रभाव है। मनुष्य का कर्त्तव्य है कि अबोध और अज्ञानियों को प्रकाश का मार्ग बताए और उनके उचित हित की रक्षा

करे। इसके विपरीत आचरण पशुता है, मनुष्यता नहीं।

दूसरा उदाहरण '**शुशुलूकयातुम्**'—'भेड़िये की चाल' का दिया है। भेड़िया क्रोध का मूर्तरूप है। भेड़-बकरी और बच्चों पर, अर्थात् जो अपने से निर्बल हैं, उन पर भेड़िया आक्रमण करता है; बराबर की शक्तिवाले से भागता है। गडरियों की भेड़ और बकरियों की रक्षा के लिए यदि कुत्ता भी हो तो उसकी उपस्थिति में भेड़िया बकरियों पर आक्रमण करने का साहस नहीं करता। क्रोध सदा अपने से हीनबल पर आता है। कुछ लोग भ्रमवश क्रोध को वीरता का चिह्न समझते हैं। शास्त्रीय दृष्टि से क्रोध रौद्ररस का स्थायीभाव है और वीररस का स्थायीभाव उत्साह है। वीर कर्त्तव्यपालन के लिए बड़ी-से-बड़ी शक्ति के साथ भिड़ जाता है। जीवन रहे चाहे न रहे, किन्तु वह कर्त्तव्य-पराङ्मुख नहीं होता। यह मनुष्यता का दिव्य गुण है। लेकिन क्रोध एक राक्षसी वृत्ति है, जो अन्य का शोषण करके अपने स्वार्थ-साधन के काम आता है। अतएव वेद ने कहा—'उस पशुता के मार्ग से बच!'

तृतीय उदाहरण है—'**श्वयातुम्**'—'कुत्ते के व्यवहार को' अर्थात् मात्सर्य, डाह, जलन और कुढ़न के कुत्सित व्यवहार का परित्याग कर। दूसरों के सद्गुण, उनकी समृद्धि और यश को देखकर प्रसन्न होना चाहिए, किन्तु उनके उत्कर्ष को देखकर जलते रहना, उनका अनिष्ट-चिन्तन करना कुत्ते का-सा दुर्गुण है। कुत्ता अपने भाई-बन्धुओं को देखकर सदा अप्रसन्न और झल्लाया रहता है। इससे अपनी ही हानि होती है। दूसरे का बिगाड़ तो हम कभी ही कर पाते हों, किन्तु अपनी शान्ति भङ्ग करके अपनी हानि तो हमने कर ही ली। वेद कहता है—यह पशुता है, इसे छोड़ो!

चतुर्थ उदाहरण है—'**कोकयातुम्**'—'चिड़े की चाल', अर्थात् कामातुरता के वश अमर्यादित भोग पशुता है। इससे पिण्ड छुड़ाओ! कामवासना से भी मनुष्य का विनाश होता है। मनुष्यता का परिचय तो संयम से मिलता है। विचार-शक्ति नष्ट होकर जिसे कर्त्तव्य-बोध ही न रहा, वह मनुष्य कहाँ? वह तो पशु है। अतः काम के दुर्गुण का बहिष्कार भी आवश्यक है।

अब पञ्चम उदाहरण है—'**सुपर्णयातुम्**' यानी 'गरुड़ की चाल'; उत्तर प्रदेश में इसे नीलकण्ठ कहते हैं। यह अहंकार का प्रतिनिधित्व करता है। सब पक्षियों के झुण्ड देखे जाते हैं, किन्तु यह सदा अकेला दिखाई देगा। चिड़चिड़ करता हुआ इधर से उधर अकेला उड़ता फिरेगा; यह सामाजिक दृष्टि से दुर्गुण है। संसार में क्रिया की प्रतिक्रिया होती है। प्रेम की प्रतिक्रिया प्रेम के रूप में और घृणा की घृणा के रूप में अवश्य होगी। घृणा करके आप किसी का प्रेम नहीं पा सकते। बहुत सुन्दर कहा है किसी अंग्रेज़ विद्वान् ने—

"Every bit of hatred that goes of the heart of man, comes back to him in full force and nothing can stop it and every impulse of life comes back to him."

अर्थात् 'घृणा का प्रत्येक अंश जो किसी के प्रति हृदय से प्रकट होता है, वह पूरे वेग से उसी की ओर परावर्तित होता है। संसार की कोई वस्तु उसे रोक नहीं सकती। इसी प्रकार जीवन की प्रत्येक प्रवृत्ति की वापसी-प्रतिक्रिया अनिवार्य है।' सामाजिक दृष्टि से यह एक दोष है। जब आप दूसरे से नम्रतापूर्वक व्यवहार नहीं करते तो वह आपके सामने क्यों झुकेगा ? संसार की सामान्य व्यवहार-पद्धति का ब्रजभाषा के कवि बोधा ने अच्छा चित्रण किया है—

हित करि जाने तासों मिलिके जनावे हेत,
हित नहिं जाने ताहि हितू न विसाहिए।
होय मग़रूर तासों दूनी मग़रूरी करे,
लघु है चलै तो तासों लघुता निवाहिये।
बोधा कवि नीति को निबेड़ौ यही भाँति एहो,
आपको सराहै वाको आपहू सराहिये।
शूर कहा, वीर कहा, सुन्दर सुजान कहा,
आपको न चाहे ताके बाप को न चाहिए।

फिर विचार करके देखा जाय तो मनुष्य के पास कौन-सी ऐसी वस्तु है जिसपर वह अभिमान कर सके ? यदि किसी को अपनी विद्वत्ता पर अभिमान हो तो उससे अधिक मूर्खता नहीं हो सकती। आपने अधिक विद्या प्राप्त करके अपने अज्ञान को दूर किया है, फिर इसमें अकड़ की कौन-सी बात है ? विद्या का प्रथम लक्षण तो नम्रता है। यदि उससे भी घमण्ड पैदा हुआ है तो बहुत सुन्दर कहा है संस्कृत के किसी कवि ने—

विद्या ददाति विनयं यदि चेदविनयावहा।
किं कुर्मः कम्प्रति ब्रूमो गरदायां स्वमातरि॥

'विद्या विनय देती है। यदि उससे भी कोई अविनीत हुआ है, तो क्या करें और किससे शिकायत करें जब माता ही पुत्र को विष देने लगे!' अर्थात् विद्या से अभिमान की उत्पत्ति ऐसी समझिये जैसे माता ने बच्चे को विष दे दिया हो। बहुत ही दुःखद और आश्चर्यजनक बात है। उर्दू के किसी शायर ने क्या ही अच्छा लिखा है—

बाहर न आ सकी तू क़ैदे-ख़ुदी[1] से अपनी,
ऐ अक़्ले-बेहक़ीक़त[2] देखा शऊर[3] तेरा।

प्रसिद्ध तत्त्ववेत्ता सुकरात का परिचय देते हुए किसी ने कहा था

१. स्वाभिमान की कैद, २. ऐ मिथ्या बुद्धि, ३. तौर-तरीक़ा।

कि वह बहुत बड़े विद्वान् विचारक थे। सुकरात ने हाथ जोड़कर उन्हें रोकते हुए कहा—"आप मेरे साथ न्याय कीजिये। मैं तो बहुत थोड़ा जानता हूँ।" परिचयदाता ने हँसते हुए पूछा कि उन्हें लोग बहुत ज्ञानी मानते हैं, तो वह उसका निषेध क्यों करते हैं? सुकरात ने कहा था—"बात तो ठीक है कि औरों की अपेक्षा मैं अधिक जानता हूँ। वह इस प्रकार कि अन्य लोगों को अपनी त्रुटियाँ नहीं दिखाई देतीं, किन्तु मुझे पग-पग पर अपनी भूलों का आभास होता है।" अत: विद्या का अभिमान मूर्खता है।

दूसरे नम्बर पर किसी को अपने बल पर अभिमान हो सकता है। इस पर भी विचारिये! जो बल एक दिन के ज्वर के झटके में उड़ जाय, जो एक दिन की पेचिश में ही न टिके, एक नस और नाड़ी के स्थानच्युत होने पर ही न रहे, क्या वह भी अभिमान के योग्य हो सकता है? मनुष्य कितना असहाय और निर्बल है, हिन्दी के प्रसिद्ध कवि अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' के शब्दों में देखिये—

मैं घमण्डों में भरा ऐंठा हुआ,
एक दिन जो था मुँडेरे पर खड़ा।
आ अचानक दूर से उड़ता हुआ,
एक तिनका आँख में मेरी पड़ा।
मैं झिझक उट्ठा, हुआ बेचैन-सा,
लाल होकर आँख भी दुखने लगी।
मूँठ देने लोग कपड़ों की लगे,
ऐंठ बेचारी दबे पाँवों भगी।
जब किसी ढँग से निकल तिनका गया,
तब समझ ने यों मुझे ताने दिये—
ऐंठता तू किसलिए इतना रहा,
एक तिनका है बहुत तेरे लिए।

अत: बल पर अभिमान सर्वथा मूर्खता है। तीसरे नम्बर पर लोग धन पर घमण्ड करते हैं। इस पर भी सोचिये! लक्ष्मी का क्या भरोसा है? यह कब तक टिकेगी? सम्पत्ति के आने और जाने के विषय में किसी संस्कृत कवि ने बहुत सुन्दर लिखा है—

आगता यदि लक्ष्मी, नारिकेलफलाम्बुवत्।
परागता यदि लक्ष्मी, गजभुक्तकपित्थवत्॥

जब लक्ष्मी आती है तो जैसे नारिकेल (नारियल) के फल में पानी एकत्र हो जाता है। नारिकेल के वृक्ष को देखिये—नीचे से सूखा-रूखा, केवल चोटी पर चार पत्ते, उस पर नारियल का फल। फल के ऊपर का घेरा कठोर जटाजूट, फिर उसके अन्दर एक पत्थर की-सी दीवार

और फिर उसमें पानी। यदि पानी आँखों से न देखा होता तो कोई कल्पना भी नहीं कर सकता था कि ऐसे फल में पानी हो सकता है। इसी प्रकार धन की हालत है। जिन्हें स्वयं भी कल्पना नहीं थी कि कभी उनके पास चार पैसे होंगे, वहाँ कुछ ही दिनों में ऐसा सिलसिला जमता है कि लाखों के वारे-न्यारे होने लगते हैं। संसार की एक-एक बस्ती इस तथ्य की साक्षी है। किन्तु जब लक्ष्मी जाती है, तो उसकी तुलना में भी कवि ने कमाल किया है। जैसे हाथी के खाए कैथ के फल का गूदा अन्दर-ही-अन्दर अदृश्य हो जाता है—**''गजभुक्त कपित्थवत्''**। कैथ का फल सफेद, गोल-गोल, हाकी की गेंद के समान होता है। हाथी उसे पूरा-का-पूरा निगल जाता है। हाथी की लीद में से भी वह कैथ उसी प्रकार बिना टूटे-फूटे बाहर निकलता है, किन्तु पेट से निकले हुए कैथ को तोड़के देखा जाय तो केवल घेरा-ही-घेरा दिखाई देगा, गूदा सब उड़ जाता है।

यही बात सम्पत्ति की भी होती है। शानदार भवन और ठाठ-बाट सब रह जाते हैं, किन्तु अन्दर से सम्पत्ति किनारा कर जाती है और अपनी रिक्तता छिपानी भी कठिन हो जाती है। सन् १९३५ में क्वेटा बलोचिस्तान में केवल साढ़े २३ सेकंड के लिए भूकम्प आया और सारा शहर मिट्टी का ढेर बन गया। लखपति भी दूसरे दिन एक-एक रोटी के लिए दूसरों की ओर देखने को बाध्य थे। दिल्ली के बादशाहों की सन्तान आज ठेले हाँक रही है और रिक्शा खींच रही है, अतः धन पर अहंकार अदूरदर्शिता के अलावा और कुछ नहीं।

इन सब बुराइयों से छुटकारा भी सरलता से नहीं मिलता। इसलिए वेद ने कहा—**''दृषदा इव प्रमृण''** जैसे 'पत्थर पर कोई वस्तु पीस दी जाती है', उसी प्रकार इन राक्षसी वृत्तियों को कुचल दो।

इस प्रकार इन पशुताओं से पिण्ड छुड़ाए बिना मनुष्य, मनुष्य नहीं बन सकता। बड़ा वैज्ञानिक बनना, बड़ा डॉक्टर बनना, बड़ा विद्वान् बनना और बात है, किन्तु बड़ा मनुष्य, अर्थात् महान् आत्मा बनना दूसरी बात है। अमेरिका के केपकैनेडी कस्बे के वैज्ञानिक चन्द्रमा और दूसरे ग्रहों तथा उपग्रहों की करोड़ों मील की उड़ान भरनेवाले यान बनाते हैं, किन्तु जितनी शराब वहाँ पी जाती है, अन्यत्र नहीं, और जितनी दुश्चरित्रता वहाँ है, वह भी अन्यत्र शायद ही हो। ठीक ही लिखा है किसी शायर ने—

इन्साँ ने मेहरो-माह[1] की राहें तो देख लीं,
खुद उसकी अंजुमन[2] में चिराग़ाँ[3] न हो सका।

इसीलिए मन्त्र में कहा गया है कि आत्मोत्थान के दैव्य व्रतों को

---

१. ग्रहों-उपग्रहों, २. संसार, ३. जगमगाहट।

धारण किये बिना इस शरीर में मनुष्यता उत्पन्न नहीं होती।

आज संसार को सुख और शान्ति का धाम बनाने का प्रयत्न तो हो रहा है, किन्तु मानवता की प्राप्ति के लिए जिस संयम और वशित्व की आवश्यकता है, उस ओर लोगों का ध्यान ही नहीं है। इसलिए संसार को सुख और शान्ति का धाम बनाने के लिए सर्वप्रथम मनुष्य को मनुष्य बनना आवश्यक है।

एक बार किसी पत्रिका में एक शिक्षाप्रद चुटकुला पढ़ा था। एक बाबू अपने कार्यालय से बचे हुए काम को पूरा करने के लिए काग़ज़ात रविवार को अपने घर ले आता था। घर में अवकाश पाकर जब वह रजिस्टर लेकर बैठा तो चौथी-पाँचवीं कक्षा में पढ़नेवाला उसका बच्चा कमरे में आकर शरारत करने लगा। बाबू ने दो-एक बार टोका, किन्तु बच्चे भला कहाँ मानते हैं? इतने में बाबू को एक बात सूझी। कमरे की दीवार पर संसार का एक मानचित्र टँगा हुआ था, उसने उसको फाड़कर टुकड़े कर दिये और बच्चे के सामने फेंकते हुए कहा—"तेरी योग्यता हम तब जानेंगे जब इन टुकड़ों को ठीक जगह जोड़कर इसे पूरा बना देगा।"

बच्चा उन टुकड़ों को जोड़ने में लग गया। घण्टों हो गए, किन्तु टुकड़े जुड़ने में नहीं आ रहे थे। कभी नीचे का टुकड़ा ऊपर और कभी ऊपर का नीचे चला जाता था। कई बार यही उलझन दाएँ और बाएँ टुकड़ों में भी थी। बाबू प्रसन्न था कि उसे निर्बाध काम करने का समय मिला।

इतने में वायु के झोकों से नक़्शे का एक टुकड़ा उड़कर उलट गया। बच्चे ने देखा कि उस टुकड़े के पृष्ठभाग में मनुष्य के हाथ का पञ्जा बना हुआ था। उसने यह देखकर कुतूहलवश सारे टुकड़े पलट डाले तो उन सभी पर मनुष्य के चित्र का कोई-न-कोई भाग था। बच्चे ने संसार के नक़्शे को जोड़ने की चिन्ता छोड़कर मनुष्य का चित्र जोड़ना प्रारम्भ किया तो पाँच मिनट में चित्र के सब अङ्ग यथास्थान जोड़ दिये और मनुष्य का पूरा चित्र जुड़ गया। फिर उस चित्र को पलटकर देखा तो मनुष्य के चित्र के बनने के साथ विश्व का नक्शा भी बन चुका था, अतः विश्व को बनाने का रहस्य भी इसी में है। संसार को सुखद बनाने के लिए प्रथम मनुष्य का निर्माण आवश्यक है। अतः इस मन्त्र में व्रतों द्वारा पाशवी वृत्ति को समाप्त कर मनुष्य बनने का महत्त्वपूर्ण उपदेश है।

अन्त में, मनुष्य के विषय में महर्षि दयानन्द के महत्त्वपूर्ण विचार उद्धृत करना हम परमावश्यक समझते हैं—

"मनुष्य उसी को कहना कि मननशील होकर स्वात्मवत् अन्यों के सुख-दुःख और हानि-लाभ को समझे, अन्यायकारी बलवान् से भी

न डरे और धर्मात्मा निर्बल से भी डरता रहे। इतना ही नहीं, किन्तु अपने सर्व-सामर्थ्यों से धर्मात्माओं की, चाहे वे महा अनाथ, निर्बल और गुणरहित क्यों न हों, उनकी रक्षा, उन्नति, प्रियाचरण, और अधर्मी चाहे चक्रवर्ती, सनाथ, महाबलवान् और गुणवान् भी हो तथापि उसका नाश, अवनति और अप्रियाचरण सदा किया करे, अर्थात् जहाँ तक हो सके, अन्यायकारियों के बल की हानि और न्यायकारियों के बल की उन्नति सर्वथा किया करें। इस काम में चाहे उसको कितना ही दारुण दुःख प्राप्त हो, चाहे प्राण भी भले ही चले जावें, परन्तु इस मनुष्यपन-रूप धर्म से पृथक् कभी न होवे।''

—स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश

❑❑

(२०)

देशोत्थान के उपाय

श्रमेण तपसा सृष्टा ब्रह्मणा वित्तर्ते श्रिता॥

—अथर्व० १२।५।१

ऋषिः—कश्यपः॥ **देवता**—ब्रह्मगवी॥ **छन्दः**—प्राजापत्यानुष्टुप्॥

अन्वयः—सरल है।

शब्दार्थ—प्रभु मनुष्यमात्र को आज्ञा देते हैं कि तुम सब सदा (**श्रमेण**) परिश्रम से तथा (**तपसा**) धर्मपालन और संयम से (**सृष्टाः**) संयुक्त [रहो], (**ब्रह्मणा**) परमात्मविश्वास और विज्ञान से भी उन्नत होते हुए (**ऋते**) पक्षपातरहित न्यायपूर्वक (**वित्ते**) धनादि भोग-पदार्थों की प्राप्ति में (**श्रिताः**) सदा चलनेवाले बने रहो।

व्याख्या—इस मन्त्र में किसी भी देश के मानव-समाज की वास्तविक उन्नति तथा सुख-शान्ति की प्राप्ति का महत्त्वपूर्ण उपदेश दिया गया है। मन्त्र में पहली बात कही गई है कि समाज के प्रत्येक व्यक्ति को परिश्रमी होना चाहिए। जिस देश के लोग उद्यम और परिश्रम से कतराएँ, वह देश सदा दरिद्र और पिछड़ा रहेगा। दुर्भाग्य से हमारे देश में भी यह दुर्गुण वास्तविक शिक्षा के अभाव से तथा लम्बी दासता के कारण समाज में घर कर गया है। प्रायः प्रत्येक व्यक्ति काम से बचना चाहता है। पढ़ाई-लिखाई का उद्देश्य भी यही समझा जाता है कि इसके सहारे, बिना परिश्रम के अथवा कम श्रम करके अधिक धन कमाया जा सकता है और उस धन से विपुल उपभोग की सामग्री जुटाई जा सकती है।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् होना यह चाहिए था कि राष्ट्र का प्रत्येक व्यक्ति अपनी योग्यता और शक्ति के अनुसार राष्ट्र-निर्माण में जुट जाता, किन्तु यहाँ स्वतन्त्रता का अर्थ यह लिया गया कि अब हमें कुछ करने-धरने की आवश्यकता नहीं। अब तो सर्वत्र केवल अधिकार-प्राप्ति की धुन है। जितने छोटे और बड़े सरकारी उद्योग-धन्धे हैं, सब के-सब करोड़ों के घाटे में हैं। पहले तो श्रमिक-वर्ग काम नहीं करता, फिर ऊपर के अफ़सर उस उत्पादन से भी हेराफेरी करके जेबें भरते हैं। कोई यह विचार करने को उद्यत नहीं है कि अन्ततः इस राष्ट्र का बनेगा क्या?

प्रत्येक वर्ग वेतन और भत्ता बढ़ाने की माँग किये जा रहा है, जबकि देश में करोड़ों व्यक्ति ऐसे हैं जिन्हें दो समय का भरपेट भोजन भी उपलब्ध नहीं है।

हमें इस मनोवृत्ति को बदलना होगा। आज प्रत्येक राष्ट्रवासी को

सोचना चाहिये कि अपनी आवश्यकता-पूर्त्ति के बदले में देश को मैं यदि कुछ देता नहीं हूँ तो देश पर भार हूँ और बिना कुछ प्रत्युपकार किये मुझे रोटी खाने और कपड़े पहनने का भी कोई अधिकार नहीं।

भगवान् ने मनुष्य को बुद्धि दी है, ताकि वह अपनी कठिनाइयों को समझकर उन्हें दूर करने का उपाय सोचे। उसे हाथ और समर्थ शरीर इसलिए दिया है कि विचारी हुई बात को परिश्रम करके सफल बनाए। इस सम्बन्ध में वेद की महत्त्वपूर्ण शिक्षा है। यजुर्वेद के ४०वें अध्याय के दूसरे मन्त्र में परामर्श है कि—"**कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतः समाः**", अर्थात् 'मनुष्य कर्म करता हुआ ही सौ वर्ष तक जीने की इच्छा करे।' अथर्ववेद में उपदेश है—"**कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य आहितः**"—यदि पुरुषार्थ मेरे दाएँ हाथ में है, तो सफलता मेरे बाएँ हाथ का खेल है।

यो जागार तमृचः कामयन्ते यो जागार तमु सामानि यन्ति।
यो जागार तमयं सोम आह तवाहमस्मि सख्ये न्योकाः॥

—ऋ० ५।४४।१४

'जो जागते रहते हैं, अर्थात् परिश्रम करते हैं, उन्हें ही ऋचाएँ चाहती हैं। जो परिश्रम करते हैं, उन्हीं के पास साम पहुँचते हैं, अर्थात् उनका ही सामवेद पढ़ना सार्थक है। जो उद्योगपरायण हैं, प्रभु उन्हीं का मित्र है।' ऋग्वेद ४।३३।११ में कहा है—"**न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवाः**"—जो श्रम से थककर चूर नहीं हो जाते, देव उनके मित्र नहीं बनते। ऐतरेय ब्राह्मण ७।१५ में बहुत सुन्दर विवेचन किया गया है—

नाना श्रान्ताय श्रीरस्ति, पापो नृषद्वरो जनः।
इन्द्र इच्चरतः सखा। चरैवेति चरैवेति॥

—जो पूरी शक्ति से परिश्रम नहीं करते, उन्हें लक्ष्मी नहीं मिलती। आलसी मनुष्य पापी होता है। भगवान् श्रम करनेवालों का मित्र बनता है। इसलिए श्रम करो, श्रम करो!

पुष्पिण्यौ चरतो जङ्घे, भूष्णुरात्मा फले ग्रहिः।
शेरते अस्य पाप्मानः श्रमेण प्रपथे हताः॥
चरैवेति........

—चलनेवाले की जङ्घाएँ सशक्त होती हैं। जो सफलता मिलने तक काम में जुटे रहते हैं, उनकी आत्मा प्रतिभा-सम्पन्न होती है। परिश्रमी मनुष्य की समस्त त्रुटियाँ मार्ग में स्वतः समाप्त हो जाती हैं। इसलिए श्रम करो, श्रम करो!

आस्ते भग आसीनस्योर्ध्वस्तिष्ठति तिष्ठतः।
शेते निपद्यमानस्य चरति चरतो भगः॥
चरैवेति........

—बैठनेवाले का भाग्य भी बैठ जाता है, और जो खड़ा हो जाता है उसका भाग्य भी खड़ा हो जाता है। जो सो जाते हैं उनका भाग्य भी सो जाता है, और जो चलने लगते हैं उनका भाग्य भी चलने लगता है। इसलिए सदा परिश्रम करते रहो!

कलिः शयानो भवति, संजिहानस्तु द्वापरः।
उत्तिष्ठंस्त्रेता भवति कृतं सम्पद्यते चरन्॥
चरैवेति.........

—सोनेवालों के लिए सदा ही कलियुग है। जिन्होंने श्रम करने का विचार कर लिया, उनके लिए द्वापर प्रारम्भ हो गया। जो करने के लिए खड़े हो गए उनके लिए त्रेता आ गया, और जिन्होंने काम प्रारम्भ कर दिया उनके लिए सतयुग आ गया। अतः श्रम करो, श्रम करो!

चरन् वै मधु विन्दति चरन् स्वादुमुदुम्बरम्।
सूर्यस्य पश्य श्रेमाणं यो न तन्द्रयते चरन्॥
चरैवेति.........

—श्रम से ही मधु प्राप्त होता है। परिश्रम से ही मधुर फल मिलते हैं। जो कभी चलने में आलस्य नहीं करता, उस सूर्य के तेज को देखो! अर्थात् सूर्य की गरिमा (तेजस्विता) उसकी निरन्तर गति के कारण ही है। इसलिए श्रम करो, श्रम करो!

आश्चर्य होता है, जिस समाज में पुरुषार्थ के लिए इतनी प्रेरणाप्रद विचार-सम्पत्ति हो, उसमें ये कर्महीनता के जघन्य विचार कैसे उत्पन्न हो गए? यहाँ अन्धकार का एक ऐसा समय आया जब समाज का बहुत बड़ा वर्ग दैव और भाग्य को ही सब-कुछ मानने लगा। ऐसे साधु और सन्त हुए जो समाज को निष्क्रियता का उपदेश करते रहे—

अजगर करै न चाकरी, पंछी करै न काम
दास मलूका कह गए, सबके दाता राम।
अनहोनी होनी नहीं, होनी होय सो होय॥

इन विचारों ने देश की बहुत बड़ी हानि की। समाज में भाग्यवाद इतना प्रबल हो गया कि लोग परिश्रम और पुरुषार्थ की ओर से उदासीन हो गए—"**भाग्यं फलति सर्वत्र न च विद्या न च पौरुषम्**"—विद्या और पुरुषार्थ बेकार हैं, जो भाग्य में लिखा है वही होना है।

शास्त्रीय दृष्टि से विवेचन किया जाय तो स्थिति यह है कि कर्म तीन प्रकार के होते हैं—**क्रियमाण, सञ्चित** और **प्रारब्ध**। वर्त्तमान में जो काम किया जा रहा है, वह 'क्रियमाण' कर्म हुआ, जैसे किसान खेत में बीज बोता है। बुवाई समाप्त होने के साथ क्रियमाण की अवधि भी समाप्त हो गई। आगे बोया हुआ बीज अंकुरित होकर फल पकने तक जिस स्थिति में रहता है, उस सब का नाम 'सञ्चित' है। सञ्चित

का शब्दार्थ है—जमा। जो कर्म किया था, वह अभी जमा है, परिणाम देने की स्थिति में नहीं आया। इसके पश्चात् की अवस्था, जब किसान पकी हुई फ़सल काटकर, दाने निकालकर घर ले आता है, उसका नाम है 'प्रारब्ध'। प्रारब्ध का शब्दार्थ है, जो कर्म किया था उसका फल मिलना प्रारम्भ हो गया, अर्थात् किया हुआ कर्म जब फल देने की स्थिति में पहुँचता है, उसी का नाम प्रारब्ध, दैव या भाग्य है। अतः स्पष्ट है कि हम जैसा कर्म करेंगे, वैसा भाग्य बनेगा। यदि कुछ नहीं करेंगे तो कुछ नहीं बनेगा। अतः वेद ने पुरुषार्थ को ही मुख्यता दी है।

वर्त्तमान युग के महान् विचारक महर्षि दयानन्द ने अपनी मान्यताओं के दर्पण 'सत्यार्थप्रकाश' के 'स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश' के २५वें नम्बर पर पुरुषार्थ की महत्ता निम्न शब्दों में व्यक्त की है—

"पुरुषार्थ प्रारब्ध से बड़ा इसलिए है कि जिससे सञ्चित प्रारब्ध बनते हैं, जिसके सुधरने से सब सुधरते और जिसके बिगड़ने से सब बिगड़ते हैं, इसी से प्रारब्ध की अपेक्षा पुरुषार्थ बड़ा है।"

गोस्वामी तुलसीदास ने, लङ्का पर आक्रमण के समय जब राम समुद्र को देखकर दैव और भाग्य की बात करने लगे तो लक्ष्मण द्वारा पुरुषार्थ के विषय में प्रेरक शब्द कहलवाए हैं। लक्ष्मण ने कहा—

मारहु बाण सिन्धु करि सोषा।
नाथ दैव करि कौन भरोसा॥
दैव दैव आलसी पुकारा।
पुरुषारथ कर्त्तव्य हमारा॥

प्रारब्ध की अविचारित मान्यता के कारण ही फलित ज्योतिष का चक्र घूमा। इस भ्रान्ति ने भारत को बहुत बड़ी हानि पहुँचाई है। बख़्तियार ख़िलजी केवल ७० पठानों को लेकर बिहार प्रान्त का शासक बनकर बैठ गया। शत्रु के आक्रमण के समय भी जीत और हार के लिए मुहूर्त दिखवाते फिरना कितनी बड़ी मूर्खता का द्योतक है! राजनीति के महान् विद्वान् आचार्य चाणक्य ने कौटिलीय अर्थशास्त्र में लिखा है—

नक्षत्रमति पृच्छन्तं बालमर्थोऽति वर्तते।
अर्थो ह्यर्थस्य नक्षत्रं किं करिष्यन्ति तारकाः॥

'काम के समय नक्षत्र और मुहूर्त छँटवानेवाले बालक हैं, ऐसे अबोधों को सफलता नहीं मिलती। जो काम जिन उपायों से बन सकता है, उनका अवलम्बन करना चाहिए। उस काम में ये आकाश के तारे क्या बनाएँगे तथा बिगाड़ेंगे?' किसी शायर ने भी अच्छा कहा है—

अहले-हिम्मत[1] मंजिले-मक़सूद[2] तक आ ही गए।
बन्दए-तक़दीर[3] क़िस्मत का गिला[4] करते रहे॥

---

१. उद्यमी, साहसी; २. लक्ष्यस्थान; ३. भाग्य-भरोसे रहनेवाले; ४. शिकायत।

इसके अतिरिक्त उपयुक्त शिक्षा के अभाव में समाज की दूषित रूढ़ियों ने भी श्रम की भावना को बड़ी हानि पहुँचाई है। हमारे सामाजिक ढर्रे में कुछ काम छोटे और अपमानजनक समझे जाते हैं और कुछ काम गौरवास्पद। प्रायः लकड़ी या चमड़े की दस्तकारी, कपड़े की बुनाई, सिलाई और धुलाई एवं स्थापत्यकला के काम, ये सभी समाज में हीन दृष्टि से देखे जाते हैं। परिणाम यह है कि चार अक्षर पढ़ने के बाद एक युवक अपनी परम्परा से चले आ रहे इन उद्योग-धन्धों में रुचि न लेकर छोटी-मोटी नौकरी खोजता फिरता है। इससे दुहरी राष्ट्रीय क्षति हो रही है। एक तो राष्ट्र के उत्पादन में कमी आती है, दूसरे राष्ट्र में बेकारों की संख्या बढ़ती चली जाती है।

अतः आवश्यक है कि सामाजिक वायुमण्डल और शिक्षा के माध्यम से भी इस प्रकार के विचार उभारे जाएँ कि श्रम का कोई काम छोटा और हीन नहीं है। हीनता का काम तो धोखा और छलछिद्र से पैसा कमाना है या निकम्मे रहकर राष्ट्र पर बोझ बनना है। श्रमिक व्यक्तियों का समाज में आदर और सम्मान बढ़ाना चाहिए, ताकि उस ओर प्रवृत्त होने के लिए युवकों में उत्साह हो।

अतः राष्ट्र को सुखी और समृद्ध बनाने के लिए वेद का पहला परामर्श है कि राष्ट्र में श्रम की प्रतिष्ठा होनी चाहिए।

मन्त्र की दूसरी बात है—राष्ट्र के प्रत्येक व्यक्ति को **तपस्वी** होना चाहिए। 'तप' शब्द भी हमारे साहित्य और व्यावहारिक जीवन में अति प्रचलित है। शास्त्रों में भिन्न-भिन्न स्थानों पर तप की भिन्न-भिन्न परिभाषाएँ भी की गई हैं। किन्तु तप का मूलगत भाव है—'**द्वन्द्व-सहिष्णुत्व**'—सुख-दुःख, भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी, हानि-लाभ, अनुकूलता-प्रतिकूलता आदि इस प्रकार के जितने भी 'द्वन्द्व' अर्थात् जोड़े बनते हैं, उनमें विचलित न होकर कर्त्तव्य-कर्म करते चले जाना तप है। इस तप का आध्यात्मिक और लौकिक दोनों प्रकार से महत्त्व है। आध्यात्मिक क्षेत्र में इस द्वन्द्व-सहन से मन की शुद्धि होती है और व्यावहारिक जगत् में इस तप से कर्मठता की भावना बद्धमूल होकर लोक-कल्याण का प्रसाधन बनती है। अतः शास्त्रवर्णित उन अनेक तप के भावों में से मैं अपने प्रतिपाद्य विषय के अनुकूल तप के दो भावों को चुनता हूँ—प्रथम—महाभारत में युधिष्ठिर के द्वारा दिये गए यक्ष के उत्तर को, और द्वितीय—आचार्य चाणक्य द्वारा अपने सूत्र में वर्णित परिभाषा को।

महाभारत के कथानक में यक्ष और युधिष्ठिर संवाद अति प्रसिद्ध है। यक्ष ने एक लम्बी प्रश्नावलि युधिष्ठिर से पूछी है और युधिष्ठिर ने उसके उत्तर दिये हैं। यक्ष के उन प्रश्नों में एक प्रश्न है—"**तपः किं लक्षणं प्रोक्तम्**"—तप का क्या लक्षण है ? युधिष्ठिर ने इसका उत्तर

दिया है—'**तपः स्वकर्म-वर्तित्वम्**'—अपने कर्त्तव्य का पालन करना ही तप है। किन्तु इस लक्षण की पूर्त्ति अथवा पुष्टि तबतक नहीं हो सकती, जबतक कि आचार्य चाणक्य का सूत्र इसके साथ न जुड़े। आचार्य चाणक्य ने लिखा है—'**तपः सार इन्द्रियनिग्रहः**'—तपस्या का सार जितेन्द्रियता है। जो जितेन्द्रिय नहीं है, वह सिर और धड़ की बाज़ी लगाकर कर्त्तव्य-पथ पर अग्रसर नहीं हो सकता। उसे संसार के भोगों के प्रलोभन कर्त्तव्य-विमुख कर देंगे और इसी प्रकार मार्ग में आया हुआ सङ्कट भी उसे पथभ्रष्ट कर देगा। बात का धनी तो मर्यादा पुरुषोत्तम राम की तरह कोई तपस्वी ही बेखटके उत्तर दे सकता है। राम ने कहा था—

लक्ष्मीश्चन्द्रादपेयाद्वा हिमवान् वा हिमं त्यजेत्।
अतीयात् सागरो वेलान्न प्रतिज्ञामहं पितुः॥

'चाहे चाँदनी चन्द्रमा से पृथक् हो जाय, चाहे हिमालय हिम का परित्याग कर दे, चाहे समुद्र अपने किनारों को लाँघ जावे, किन्तु मैं अपने पिता की प्रतिज्ञा से विमुख नहीं हो सकता।'

पण्डितराज जगन्नाथ की अन्योक्ति में मूसल की मार की परवाह किये बिना धानों के समान हँसकर कोई जितेन्द्रिय ही उत्तर दे सकता है। मूसलों की चोट खाकर हँसते हुए धानों ने कहा—

अस्मानवेहि कलमानलमाहतानां येषां प्रचण्डमुसलैरवदातवैव।
स्नेहं विमुच्य सहसा खलताम्प्रयान्ति ये स्वल्पपीडनवशान्न वयं तिलास्ते॥

'हम पर जितने प्रहार होते जावेंगे, हमारी सफ़ेदी उतनी ही निखरती जाएगी। जो थोड़े-से पीड़ने से ही स्नेह (तेल) छोड़कर खल (दुष्ट) बन जावें, वे तिल हम नहीं हैं।' यहाँ स्नेह और खल शब्दों में श्लेष हैं। स्नेह का अर्थ प्रेम और तेल दोनों होते हैं। तिल थोड़े-से पीड़ने पर तेल छोड़कर खली बन जाते हैं और दुष्टजन (खल) प्रेम छोड़कर दुष्टता (खलता) पर उतारू हो जाते हैं।

जिस राष्ट्र के नागरिक बड़ी-से-बड़ी विपत्ति आने पर कर्त्तव्यविमुख न हों, राष्ट्रीय उन्नति के आधार वे ही माने जाएँगे। विवेकी और विचारशील व्यक्ति की यही पहचान नीति-निपुण विदुर जी ने बताई है—

यस्य कार्यन्न विघ्नन्ति शीतमुष्णं भयं रतिः।
समृद्धिरसमृद्धिर्वा स वै पण्डित उच्यते॥

'सर्दी-गर्मी, डर और प्रेम तथा सधनता और निर्धनता जिस कर्मयोगी के मार्ग में बाधा उपस्थित नहीं करते, वही पण्डित और विवेकी है।'

टाड के लिखे राजस्थान के इतिहास में आपको दर्जनों ऐसे उदाहरण मिल जाएँगे, जिनमें यह वर्णित है कि अनेक वीर मातृभूमि पर शत्रु

का आक्रमण होने पर विवाह की वेदी से उठकर सीधे रणभूमि में जा धमके। ठीक इसी प्रकार की सरदार चूड़ावत और हाड़ी रानी की घटना तो प्रसिद्ध ही है।

छोटी-सी रियासत रूपनगर के शासक को बादशाह औरङ्गज़ेब का फ़र्मान मिला कि अमुक तिथि तक अपनी बेटी को दिल्ली के शाही महल में बेगमों की सेवा के लिए भेज दो, नहीं तो मैं आक्रमण करके रियासत को धूल में मिला दूँगा। राजा इस हुक्म से घबरा गया और अपनी पुत्री को दिल्ली जाने की प्रेरणा करने लगा। क्षत्रियकुमारी यह सुनकर आग-बबूला हो उठी। अपने पिता की भर्त्सना करते हुए उसने कहा कि वहाँ जाने की अपेक्षा उसे मरना स्वीकार है।

पिता को यह उत्तर देकर, चञ्चलकुमारी ने महाराणा राजसिंह को यह लिखा—"आपकी वीरता और धर्मपरायणता को देखकर मैंने हृदय में आपको पति के रूप में वरा है। मेरे स्वाभिमान को कुचलने के लिए बादशाह औरङ्गज़ेब ने मेरे पिता को हुक्म दिया है कि मेरा डोला अमुक दिन तक शाही महल में पहुँचा दे, अन्यथा रूपनगर पर आक्रमण करके रियासत को नष्ट-भ्रष्ट कर देगा और मुझे दिल्ली ले जावेगा। मेरे पिता भयभीत हैं, मुझे उनसे यह आशा नहीं कि वे मेरी रक्षा के लिए अपने विनाश की चुनौती स्वीकार करेंगे, अतः मेरी रक्षा का दायित्व अब आपके ऊपर है। आप जैसे भी हो, नियत दिन से पूर्व रूपनगर आकर मेरे साथ विवाह करके मुझे मेवाड़ ले-जाइये, नहीं तो मैं बादशाह के चङ्गुल से बच न सकूँगी। यदि ऐसा हुआ तो रूपनगर के राजा की बेटी नहीं, महाराणा राजसिंह की पत्नी दिल्ली जाएगी।" यह पत्र अपने विश्वस्त पुरोहित के हाथ महाराणा को भेज दिया।

पुरोहित पत्र लेकर ऐसे समय पहुँचा जब महाराणा का दरबार लगा हुआ था। पुरोहित राणा का अभिवादन करके और पत्र को आगे रखकर एक ओर बैठ गया। महाराणा ने पत्र खोलकर पढ़ा तो चिन्तामग्न होकर चुप बैठ गए। महाराणा के राजपुरोहित ने यह स्थिति देखकर राणा से पूछा—"पत्र में क्या है, जिसने आपको चिन्तित बना दिया है?" राणा ने पत्र को पुरोहितजी को देते हुए कहा कि आप पढ़कर दरबार को सुना दीजिये।

पुरोहितजी ने पत्र पढ़कर दरबार को सुनाया और आवेशपूर्ण मुद्रा में राणा की ओर देखते हुए कहा—"इसमें सोचने की कौन-सी बात है? क्या अपनी पत्नी की रक्षा का साहस भी महाराणा में नहीं रहा?" पुरोहित की फटकार सुनकर झेंप मिटाते हुए महाराणा ने उत्तर दिया—"नहीं, रक्षा तो अवश्य की जाएगी, सोचने की बात केवल अल्प समय में कार्य-सम्पादन की है। कैसे इतनी शीघ्रता हो, यही बात विचारणीय है।" यह कहकर महाराणा ने पान का एक बीड़ा और तलवार दरबार

के बीच में रखवाकर अपने सामन्तों को सम्बोधित करते हुए कहा— "जिस वीर में यह साहस हो कि वह दिल्ली से रूपनगर पर आक्रमण करनेवाले शाही लश्कर को मार्ग में तबतक रोके रक्खेगा, जबतक कि मैं राजकुमारी से विवाह करके चित्तौड़ न पहुँच जाऊँ, वह इस बीड़े को उठा ले!"

दरबार में सन्नाटा छा गया और सभी वीर एक-दूसरे का मुँह तकने लगे। थोड़ी देर राणा ने इस स्थिति को देखकर वीरशिरोमणि नवयुवक सरदार चूड़ावत की ओर देखा और कहा—"सरदार चूड़ावत! इस कठिन काम को पूरा करने की आशा तुमसे की जा सकती है।" चूड़ावत ने यह सुनते ही उठकर बीड़ा चबा लिया और तलवार को हाथ में लेकर चूम लिया। दरबार सरदार के जयघोष से गूँज उठा। महाराणा का अभिवादन करके और फ़ौज को कूच के लिए तैयारी का आदेश देकर चूड़ावत अपने महल में अपनी नवोढ़ा पत्नी से विदाई लेने गया। महल में पत्नी को देखते ही नवयुवक सरदार को भविष्य की चिन्ता ने घेर लिया। विवाह के बाद अभी सरदार के हाथ का कङ्कन भी नहीं खुला था। रानी हाड़ी के हाथ में विवाह के अवसर पर लगाई गई हल्दी का पीलापन भी अभी विद्यमान था। सरदार के मन में पत्नी के भावी जीवन की चिन्ता बिजली की तरह कौंध गई। विचार आया कि इस मोर्चे से मेरा वापस आना कठिन है⋯⋯फिर यह किशोरी जिसने संसार का कुछ भी नहीं देखा, मेरे पश्चात् कैसे अपना जीवन काटेगी? चिन्ता की अग्नि से सरदार का चेहरा मुर्झा गया।

रानी हाड़ी पति के स्वागत के लिए खड़ी हुई, किन्तु पति की इस अवस्था को देखकर व्याकुलता से पूछने लगी—"आप बाहर से प्रसन्न-वदन आ रहे थे, मुझे देखकर उदास क्यों हो गए?" रानी की बात सुनकर सरदार ने दरबार की सारी घटना और युद्धभूमि के लिए अपने प्रस्थान की बात बताई।

हाड़ी सब सुनकर और प्रसन्न होकर बोली—"वीरों की भूमि मेवाड़ में मैं अपने पति की वीरता की इस धाक को जानकर कृतकृत्य हो गई कि इस कठिन मोर्चे को फ़तह करने के लिए सबकी आश भों के केन्द्र मेरे पतिदेव हैं। मगर मैं आपकी उदासी का कारण नहीं समझ पाई?" इसे सुनकर सरदार ने अपनी चिन्ता का कारण बताया। रानी ने सरदार को उत्साहित करते हुए कहा कि—"आप मेरी ओर से निश्चिन्त होकर जाइये। आप अपने कर्त्तव्य को जानते हैं तो आपकी अर्धाङ्गिनी भी अपने कर्त्तव्य से अनभिज्ञ नहीं है। मैं किसी भी प्रकार से आपके नाम पर बट्टा न लगने दूँगी।"

सरदार को रानी ने सान्त्वना देकर प्रसन्नता से विदा किया। सरदार की सेना जब प्रस्थान करने लगी तो मन में रानी हाड़ी का ध्यान पुनः

उभरकर क्षुब्ध करने लगा। इसी हड़बड़ी में सरदार ने एक सैनिक को अपने महल में हाड़ी के पास सन्देश देकर भेजा—"मैं जा रहा हूँ, मुझे विश्वास है कि दिये हुए वचनों पर तुम अडिग रहोगी।"

इस सन्देश से रानी को ठेस लगी और सोचने लगी कि मेरी चिन्ता के कारण मेरे पति पूरे मनोयोग से अपने कर्त्तव्य का पालन नहीं कर सकेंगे, अतः मुझे उनको अपनी ओर से निश्चिन्त कर देना चाहिए। वह सैनिक को ठहरने के लिए कहकर अन्दर से एक थाल और रूमाल ले आई और सैनिक से कहा—"मैं अपना शीश पति की भेंट कर रही हूँ। तुम इसे थाल में रूमाल से ढककर ले जाना और मेरी ओर से कहना कि आपको अपनी चिन्ता से मुक्त करने के लिए मैं प्रथम अपने कर्त्तव्य का पालन कर रही हूँ, ताकि महाराणा द्वारा सौंपे गए अपने दायित्व को आप भली प्रकार निभा सकें।"

सैनिक इस दृश्य से स्तब्ध रह गया। उसने रानी का शिर थाल में रखकर सरदार को देते हुए हाड़ी रानी के वचन सुना दिये।

सरदार ने रानी के कटे हुए शीश के लम्बे बालों को दो भागों में बाँटकर गाँठ लगाके अपने गले में डाल लिया और रणमत्त होकर शत्रु की सेना पर टूट पड़ा। लड़ते-लड़ते जब एक बार औरङ्गज़ेब पर चढ़ बैठा तो बादशाह ने प्राणों की भिक्षा माँगकर जान बचाई, किन्तु उसी समय शत्रु-सैनिक के वार से चूड़ावत का सिर कट गया, पर रुण्ड (गला) कटने पर भी सरदार का कबन्ध घण्टों तलवार चलाकर शत्रु-सेना का संहार करता रहा।

क्या संसार के विषय-भोगों में लिप्त व्यक्तियों से इस प्रकार के कठोर कर्त्तव्य को निभाने की बात सोची भी जा सकती है?

अतः राष्ट्रीय समृद्धि और स्वातन्त्र्य की रक्षा के लिए दूसरे नम्बर पर तप की आवश्यकता है।

तीसरे नम्बर पर मन्त्र में है '**ब्रह्मणा**'। ब्रह्मणा के अनेक अर्थों में से यहाँ मुझे अभिप्रेत है आस्तिकता। राष्ट्र की उन्नति के लिए उसके नागरिकों को आस्तिक और धार्मिक होना चाहिए। इस भावना के बिना उनका आचार शुद्ध रहना कठिन ही नहीं, असम्भव है। जब मनुष्य के हृदय में ये विचार बद्धमूल हों कि इस विश्व को नियन्त्रण में रखनेवाली ऐसी शक्ति है जो प्रत्येक अच्छे और बुरे कर्म को देखती है, तथा अच्छे का अच्छा और बुरे का बुरा फल अवश्य मिलता है, तो वह बुराई से बचेगा। ऐसा व्यक्ति कभी कालाबाज़ारी नहीं कर सकता, रिश्वत नहीं ले सकता। हमारे देश की उन्नति में ये दोनों दुर्गुण भी बहुत बाधक हैं। यहाँ सब बुराइयों की जड़ यह दूसरे नम्बर का पैसा है। यह बड़े-बड़े पद पर आसीन व्यक्तियों को भ्रष्ट करके कर्त्तव्यविमुख बना रहा है। यहाँ रिश्वत को ७५ प्रतिशत सरकारी कर्मचारी अपना अधिकार

समझते हैं। स्थिति यहाँ तक विकृत हो गई है कि रिश्वत न लेनेवाले का विभाग में जीना दूभर हो गया है।

यह भारत वह भारत देश है, जिसके एक शासक अश्वपति ने यह दावा किया था कि—

न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपः।
नानाहिताग्निर्ना विद्वान्न स्वैरी स्वैरिणी कुतः॥

अर्थात् 'मेरे राज्य में कोई चोर नहीं है, कोई कञ्जूस और शराबी नहीं है, कोई यज्ञ न करनेवाला नहीं है, कोई मूर्ख नहीं है, और जब कोई पुरुष दुराचारी नहीं है तो दुराचारिणी स्त्री तो हो ही नहीं सकती।'

आज बड़े कहलानेवाले राष्ट्रों की क्या स्थिति है?

अमेरिका के फ़ैडरल ब्यूरो ऑफ़ इन्वेस्टीगेटर के डायरेक्टर श्री जे० एडगर हूवर द्वारा प्रकाशित सन् १९५३ की पहली छमाही में अमरीका के अपराधों की सूची से विदित होता है कि इन छह महीनों में अमरीका में ८०,४७,२९० (अस्सी लाख, सैंतालीस हज़ार, दो सौ नव्वे) बड़े अपराध हुए। प्रत्येक ४०·३ प्रति मिनट पर एक हत्या, प्रत्येक २९·४ मिनट पर एक बलात्कार, प्रत्येक ८·८ मिनट पर एक डाका, प्रत्येक ५·७१ मिनट पर एक चोरी, इसी प्रकार १४·९ सैकण्ड पर एक बड़ा अपराध हुआ है।

इससे सर्वथा स्पष्ट है कि राष्ट्र की शान्ति और उन्नति के लिए आस्तिकता और धार्मिकता अत्यन्त आवश्यक हैं।

इसके आगे मन्त्र की चौथी बात है—'**वित्त ऋते श्रिताः**'— 'भोगने-योग्य समस्त धनादि पदार्थों को न्यायपूर्वक कमावें और न्यायपूर्वक ही उनका उपभोग करें।' जहाँ नागरिकों में यह भावना होगी, वहाँ अनावश्यक असन्तुलन नहीं होगा। एक ओर उपभोग की असीम सामग्री और दूसरी ओर पेट भरने को रोटी नहीं, तन ढकने को वस्त्र नहीं, सिर छुपाने को झोंपड़ी नहीं—ऐसे राष्ट्र में शान्ति हो ही नहीं सकती।

अतः राष्ट्रोन्नति का यही वेदोक्त मार्ग है, अन्य नहीं।

❑❑

(२१)

वरुण के तीन पाश

उदु॑त्त॒मं व॑रुण॒ पाश॑म॒स्मदवा॑ध॒मं वि म॑ध्य॒मं श्र॑थाय।
अथा॑ व॒यमा॑दित्य व्र॒ते तवाना॑गसो॒ अदि॑तये स्याम॥

—ऋ० १।२४।१५

ऋषि:—शुन:शेप आजीगर्ति:॥ देवता—वरुण:॥ छन्द:—त्रिष्टुप्॥

अन्वय:—हे आदित्य वरुण! अस्मत् अधमम् मध्यमम् उत् उत्तमम् पाशम् विश्रथाय। अथ वयं तव व्रते अनागस: अदितये स्याम॥

शब्दार्थ—(**वरुण**) स्वीकार करने योग्य प्रभो! आप (**अस्मत्**) हम लोगों से (**अधमम्**) निकृष्ट (**मध्यमम्**) बीच के (**उत्**) और (**उत्तमम्**) सबसे ऊपर के दृढ़ तथा दु:खदायी (**पाशम्**) बन्धन को (**विश्रथाय**) विशेषरूप से ढीला, अर्थात् विनष्ट कीजिए। (**अथ**) इसके पश्चात् (**आदित्य**) विनाशरहित प्रकाशस्वरूप जगदीश्वर! (**तव**) सबके गुरु आपके (**व्रते**) सत्याचरण व्रत को धारण करके (**अनागस: वयम्**) हम सब निष्पाप होकर (**अदितये**) विनाशरहित सुख को (**स्याम**) प्राप्त करें।

व्याख्या—इस सूक्त से तथा इसके आधार पर ऋषियों द्वारा बनाई हुई कहानियों से लोग उनके वास्तविक अभिप्राय को न समझकर ऐसे भ्रम-भँवर में फँसे कि वेद के विषय में नाना प्रकार की कुत्सित और घृणित स्थापनाएँ कर डालीं, जो वेद की समस्त भावनाओं से सर्वथा विरुद्ध थीं। पाश्चात्य विद्वानों ने कल्पना कर ली कि वेद के आविर्भाव से पहले आर्यों में देवी-देवताओं को प्रसन्न करने के लिए नर-बलि भी दी जाती थी। ऋग्वेद-काल में इस सूक्त से यह सिद्ध होता है कि मनुष्य को बलि के लिए बाँधकर नाटक-सा करके अन्त में उसे छोड़ देते थे। भारतीय विद्वान् भी वरुण और शुन:शेप की कहानी को ऐतरेय ब्राह्मण में पढ़कर इसी धारणा के बन जाते हैं कि ऋग्वेद के इस ऐतरेय ब्राह्मण के समय में तो नरबलि होती ही थी।

वरुण की कहानी ऐतरेय ब्राह्मण से लेकर महाभारत तक पुराने संस्कृत-साहित्य में वर्णित है। हम यहाँ उस कहानी का उल्लेख विस्तार-भय से नहीं करते। जिज्ञासु पाठक विशेष जानना चाहें तो आर्य वैदिक विद्वान् शिवशङ्कर शर्मा काव्यतीर्थ के ग्रन्थ 'वैदिक इतिहासार्थ निर्णय' और श्री आचार्य प्रियव्रत जी द्वारा लिखित 'वरुण की नौका' नाम की पुस्तक पढ़ें। वहाँ से कहानी का वास्तविक स्वरूप स्पष्ट हो जाएगा।

हम तो यहाँ केवल मन्त्र की व्याख्या उपस्थित कर रहे हैं।

मन्त्र में तीन बातें मुख्य रूप से कही गई हैं—पहली यह है कि प्रत्येक मनुष्य तीन बन्धनों से बँधा हुआ है। दूसरी यह कि उन बन्धनों से मुक्त होने के लिए बुद्धिपूर्वक प्रयत्न करना चाहिए। तीसरी यह कि उन बन्धनों से छूटकर दिव्यव्रतों के बन्धनों में स्वयं अपने-आपको बाँधकर अपने एक-एक पाप को समाप्त कर, सर्वथा निष्पाप और पवित्र होने पर जीवन के परम लक्ष्य मोक्ष को प्राप्त करना चाहिए। अब प्रत्येक बात पर क्रमशः विचार कीजिये।

भक्त भगवान् से प्रार्थना करता है—हे आदित्य! मर्यादापालक, अखण्ड, एकरस प्रकाशस्वरूप प्रभो! हे वरुण! भक्तों के द्वारा वरणीय तथा भक्तों के सत्कर्म देखकर उनको शरण देनेवाले! (महर्षि दयानन्द जी ने सत्यार्थप्रकाश के प्रथम समुल्लास में वरुण शब्द का धातु के आधार पर "**वृणोति भक्तान् व्रियते वा भक्तैः**" जिसे भक्त संसार के असंख्य आकर्षणों को छोड़कर चुनते हैं, अर्थ किया है।) कठोपनिषद् की कथा में नचिकेता ने जब तीसरा वर माँगकर आत्मा के स्वरूप को जानना चाहा तो आचार्य यम ने उसकी पवित्रता की परीक्षा ली और संसार के अनेक प्रलोभन उसके सामने रक्खे—

अन्यं वरं नचिकेतो वृणीष्व मा मोपरोत्सीरति मा सृजैनम्।
शतायुषः पुत्रपौत्रान् वृणीष्व बहून् पशून् हस्तिहिरण्यमश्वान्।
भूमेर्महदायतनं वृणीष्व स्वयं च जीव शरदो यावदिच्छसि॥

आचार्य ने कहा—'नचिकेता! तू कोई और वर माँग ले, इसके लिए आग्रह न कर। सैकड़ों वर्ष की आयुवाले पुत्र और पौत्र माँग ले, बहुत-से हाथी, घोड़े, सोना-चाँदी, लम्बी-चौड़ी भूमि और अपनी यथेच्छ लम्बी आयु माँग ले।' किन्तु नचिकेता को तो एक ही धुन थी। नचिकेता ने कहा—

वक्ता चास्य त्वादृगन्यो न लभ्यो नान्यो वरस्तुल्य एतस्य कश्चित्।

'मुझे आप-जैसा बतानेवाला दूसरा नहीं मिलेगा और न इसकी तुलना का कोई वर हो सकता है।'

आपने संसार के उपभोगों का जो प्रस्ताव मेरे सामने रक्खा है, उनकी वास्तविकता क्या है?

श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत्, सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः।
अपि सर्वं जीवितमल्पमेव तवैव वाहास्तव नृत्यगीते॥

'हे आचार्य! जिन भोगों की बात आप कह रहे हैं, वे क्षणभङ्गुर हैं और ये भोग समस्त इन्द्रियों का तेज नष्ट कर देते हैं। फिर सारा जीवन भी थोड़ा-सा ही है। इसलिए ये हाथी, घोड़े और नृत्य-सङ्गीत अपने ही पास रखिये।'

इससे स्पष्ट है कि भक्त सर्वस्व त्यागकर उस आनन्दधाम प्रभु को चुनते हैं। ठीक इसी प्रकार भगवान् भी उनकी पात्रता को देखकर भक्त का वरण करता है, जैसा कि कठोपनिषद् में आचार्य यम ने ही कहा— "**यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः**"—'जिसका हाथ प्रभु स्वयं पकड़ते हैं, वही उसको प्राप्त कर सकता है।' अतः वरने योग्य प्रभो! मैं आपसे प्रार्थना करता हूँ कि मैं तीन स्थानों पर, तीन पाशों से जकड़ा हुआ हूँ, आप कृपा करके "**उत्तमं पाशमुत् श्रथाय**"—'ऊपर के, अर्थात् शिरोभाग में पड़े हुए पाश को "**उत् श्रथाय**" ऊपर से ढीला कर दीजिये—खोल दीजिये।' ऊपर के पाश को खोलने के लिए '**श्रथाय**' क्रिया के साथ '**उत्**' उपसर्ग बहुत अर्थपूर्ण है। ऊपर का बन्धन यदि ऊपर से ढीला हो जाय तो फिर शिर के ऊपर खिसकाकर छूटने में क्या कठिनाई है?

आगे प्रार्थना में कहा—"**अधमं पाशमवश्रथाय**"—जो मेरे नीचे मार्ग, अर्थात् पैरों का बन्धन है उसे '**अवश्रथाय**' नीचे से ढीला कर दीजिये। यहाँ क्रिया के साथ '**अव**' उपसर्ग भी उसी वज़न का है। नीचे का बन्धन भी यदि ढीला हो जाय तो फिर एड़ियों के नीचे खिसकाने मात्र से छुट्टी हो गई। इससे आगे विनय की "**मध्यमं पाशं विश्रथाय**"—मेरे मध्य भाग, अर्थात् कमर में बँधे फंदे को '**विश्रथाय**' विशेषरूप से ढीला कर दीजिये। यहाँ भी क्रिया के साथ '**वि**' उपसर्ग बहुत ही भावपूर्ण है। कमर में पड़ा हुआ बन्धन जबतक विशेष ढीला नहीं होगा—नहीं खुलेगा, तबतक उससे छूटना भी सम्भव नहीं। बिना विशेष ढीला हुए न वह ऊपर से उतरेगा और न नीचे को खिसकेगा। इस प्रकार आपकी कृपा से इन तीनों पाशों से छूटकर मैं आपके 'व्रत' के बन्धन में बँधूँ। इस व्रत-बन्धन के परिणामस्वरूप मैं '**अनागसः**'—'निष्पाप हो जाऊँगा, शुद्ध-पवित्र हो जाऊँगा।' इस शुद्धि के कारण मैं उसके अबाध आनन्द का भागी बन जाऊँगा। यह हुआ मन्त्र का आशय। इसमें तीन बातें विशेष मनन करने योग्य हैं—

सबसे पूर्व—ये पाश क्या हैं, जिनसे छूटने की प्रार्थना की गई है? दूसरे—ये तीन कैसे और इनमें भी यह उत्तम, मध्यम और अधम का भेद कैसा? तीसरे—पाशों से छूटकर व्रत के बन्धन में पड़ने की क्या आवश्यकता है?

पाश शब्द चुरादिगण की 'पश बन्धने' धातु से बना है। प्रवृत्ति-निमित्त से इसका अर्थ हुआ—अधर्माचरण करने से दुःखदायक बन्धन 'पाश' कहलाते हैं। मानवाचरण-सम्बन्धी त्रुटियों को मनुष्य की इन्द्रिय और शरीर को ध्यान में रखकर तीन भागों में बाँटा है। मानव-देह मोटे रूप से तीन भागों में विभक्त है। इसका पहला भाग है गर्दन से ऊपर का शिरोभाग। इसे संस्कृत में उत्तमाङ्ग कहते हैं। यह उत्तमाङ्ग इसलिए है कि पाँच ज्ञानेन्द्रियों में से चार यहाँ अपना मुख्यालय बनाकर रहती

हैं—आँख, कान, नाक और रसना। पाँचवीं ज्ञानेन्द्रिय त्वचा, जो समस्त शरीर पर है, वह भी अंशत: यहाँ विद्यमान है, अत: ज्ञानेन्द्रियों का पड़ाव होने के कारण इसे उत्तमाङ्ग कहते हैं।

ज्ञानेन्द्रियाँ पाशवी वृत्ति में प्रवाहित होकर जब मनुष्य को अधर्ममार्ग में घसीट ले जावें और उसके परिणामस्वरूप कष्ट उठाने पड़ें तो वे उत्तम पाश कहलावेंगे, क्योंकि वे उत्तमाङ्ग से सम्बद्ध हैं। ज्ञानेन्द्रियाँ ही कर्मेन्द्रियों को कर्म में प्रेरित करती हैं, अत: इनका कार्यक्षेत्र भी बहुत विस्तृत है।

शरीर के मध्यभाग में पेट और उपस्थ है। पेट 'अर्थ' का प्रतिनिधित्व करता है और उपस्थ 'काम' का। ये दोनों बड़े दृढ़ बन्धन हैं। पेट की लपेट का क्षेत्र बहुत विस्तृत है। प्राय: पाप की दुनिया में सर्वाधिक बदनाम पेट ही है। काम का बन्धन भी कम उलझनभरा नहीं है। ये दोनों महान् बन्धन हैं। इनके फंदे में फँसे व्यक्ति को धर्म-कर्म की बातें नहीं सुहातीं। इसलिए महर्षि मनु ने कहा—"**अर्थकामेष्वसक्तानां धर्मज्ञानं विधीयते**"—'धर्म की व्यवस्था उन्हीं के लिए है, जो अर्थ और काम के पाशों में जकड़े हुए नहीं हैं।' मनुष्य की मनुष्यता तो बुद्धिपूर्वक काम करने में है। विषयासक्त और अर्थलोभी व्यक्ति की बुद्धि अपने ठिकाने कहाँ रहती है? इस सम्बन्ध में भी मनु ने बहुत उत्तम लिखा है—

इन्द्रियाणां हि चरतां यद्येकं क्षरतीन्द्रियम्।
तेनास्य क्षरति प्रज्ञा दृतेः पात्रादिवोदकम्॥

—मनु० २।९९

'संसार के कार्य में प्रवृत्त मनुष्य की एक इन्द्रिय भी विषयासक्त हो जाय तो उसकी समझदारी भी इस प्रकार बाहर निकल जाती है, जैसे फूटे घड़े में से पानी चू जाता है।' अत: शरीर के मध्य में होने से ये अर्थ और काम के बन्धन हुए मध्यम पाश। शरीर के नीचे के भाग में पैर हैं। इस भाग में जितना चर्म लिपटा हुआ है, उसके आधार पर स्पर्श के द्वारा सर्दी-गर्मी का बोध होता है, अर्थात् ज्ञान की मात्रा बहुत न्यून है। इसी प्रकार अज्ञानता के कारण जो भूलें होती रहती हैं, वे अधम पाश कहलाती हैं। अधम इसलिए हैं कि इनसे छूटना सरल है। ये त्रुटियाँ तभी तक हो रही हैं, जबतक कि किसी ने सुझाया नहीं है। जब बात समझ में आ गई तो उसे छोड़ना कठिन नहीं होता, क्योंकि उसके साथ आसक्ति नहीं होती। किन्तु त्रुटि तो त्रुटि ही है। बिना जाने कोई अङ्गारे को हाथ में ले-ले तो जलने से बच थोड़े ही सकता है? लोक में कोई क़ानून के खिलाफ़ काम करके यह कहकर बच नहीं सकता कि मुझे जानकारी नहीं थी। जानकारी प्राप्त करना उसका कर्त्तव्य था। यदि नहीं जान पाया है तो यह भी एक त्रुटि है और उसका फल

भी उसे भुगतना ही होगा, अर्थात् सरसरी तौर पर बिना जाने होनेवाली भूलें अधम पाश हैं। शरीर को दृष्टि में रखकर ही इन पाशों को उत्तम, मध्यम और अधम नाम से पुकारा गया। इसका यह अभिप्राय नहीं है कि कुछ पाप उत्तम कोटि के, अर्थात् अच्छे होते हैं और कुछ बीच के तथा कुछ उनसे हीन प्रकार के होते हैं।

पाश से छूटने के लिए आवश्यक है कि पशुता से पिण्ड छुड़ाया जाय। प्रत्येक इन्द्रिय का बुद्धिपूर्वक प्रयोग ही पशुता से छूटने का उपाय है। यदि रूप, रस और गन्धादि विषयों के आकर्षणों ने ही उलझाए रक्खा तो फिर पाप के फन्दे में ही फँसे पड़े रहे। उस अवस्था में छूटने का प्रश्न ही नहीं है। प्रत्येक इन्द्रिय के विषय का ग्रहण वैयक्तिक और सामाजिक आवश्यकता की पूर्त्ति के लिए हो—यही पाश की जकड़ से छूटना है। किन्तु बुराई का पूरा इलाज तब होगा, जब बुराई के रिक्त स्थान को अच्छाई से भर दिया जाय, अन्यथा पिछले कुसंस्कार मन से उठकर बुराई की ओर प्रेरित करते रहेंगे। अतएव मन्त्र में पाश से छूटने के बाद व्रत में बन्धन की बात कही गई। पाश के बन्धन में और व्रत के बन्धन में एक मौलिक अन्तर है। पाश में नितान्त पराधीनता है, किन्तु व्रत में बन्धन स्वेच्छा से है। सोच-समझकर दायित्व अपने ऊपर लिया है, इसलिए यह तबतक रहेगा, जबतक इसकी आवश्यकता होगी। आवश्यकता समाप्त होने पर हम उसे स्वयं छोड़ सकेंगे। इस आशय को एक उदाहरण से समझिये। कमरे के द्वार के किवाड़ों में अन्दर और बाहर दोनों ही ओर से बन्द करने की कुण्डी होती है। आप कमरे में हों और कोई बाहर से कुण्डी बन्द कर जाय तो आप सर्वथा पराधीन हो गए। जब कोई बाहर से खोलेगा तभी आप बाहर आ सकेंगे, अन्यथा नहीं। यही स्वरूप है पाश के बन्धन का।

दूसरी स्थिति यह है कि आप बाहर की बाधा और झंझट से बचने के लिए अन्दर से कुण्डी बन्द कर लेते हैं। यह बन्धन तो है, पर है तभी तक जबतक आप इसकी आवश्यकता अनुभव करते हैं। आवश्यकता निवृत्त होते ही आप स्वयं कुण्डी खोलकर बाहर आ जाते हैं, अर्थात् व्रत की पराधीनता में भी स्वाधीनता है।

सार यह निकला कि प्रत्येक इन्द्रिय का एक पाश का मार्ग है और दूसरा व्रत का। व्रत का आचरण मनुष्य को उत्तरोत्तर शुद्ध बनाकर मोक्ष का अधिकारी बनाता है।

वेद के शब्दों में समझना हो तो यों समझिये—

''भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः''

'कानों से कल्याणकारक वचन सुनना कानों का व्रत है और गन्दे अश्लील शब्द तथा निन्दा-श्रवण आदि में रस लेना कानों का पाश है। पाश पतन की ओर धकेलेगा और व्रत आत्मिक प्रसाद का पात्र बनाएगा।

इसी प्रकार आँख से अच्छे-पवित्र दृश्य देखना, ज्ञानवर्धक ग्रन्थों का अध्ययन, परस्त्री को माँ, बहन और बेटी की दृष्टि से देखना आँखों का व्रत है।' रामायण के दो उदाहरणों से यह बात और स्पष्ट हो जावेगी।

तुलसीकृत रामायण के अनुसार जनक के निमन्त्रण पर ऋषि विश्वामित्र सीता-स्वयंवर के समारोह में भाग लेने के लिए राम और लक्ष्मण के साथ मिथिला पहुँचे। धनुष पर बाण चढ़ाने की स्वयंवर की शर्त सुनकर उस धनुष को देखने का लक्ष्मण के मन में बड़ा कौतूहल था—वह धनुष कैसा है, जिसपर बाण सन्धान करना ही इतना कठिन माना जा रहा है?

लक्ष्मण ने राम से अनुरोध किया कि चलकर उस धनुष को देखें। राम ने लक्ष्मण को समझाया कि यह उचित नहीं है, किन्तु लक्ष्मण की क्षत्रिय-वृत्ति को जानकर सहमत हो गए। दोनों भाई गए।

यहीं तुलसीदास जी अपनी कल्पना के आधार पर पूजा के लिए सहेलियों के साथ सीता को भी वहीं वाटिका में पहुँचा देते हैं, जहाँ ये दोनों भाई घूम रहे थे। इस प्रकार संयोगवश मिलने पर राम और सीता ने एक-दूसरे को देखा।

सीता को देखकर राम के मन में जो विचार उठे, उन्हें निःसन्देह आँखों का व्रत कहा जा सकता है। तुलसीदास जी के शब्दों में ही पढ़िये—

राम ने सीता को देखकर लक्ष्मण से कहा—

रघुवंशिनकर सहज सुभाऊ।
मन कुपन्थ पग धरियै न काऊ॥
मोहि अतिशय प्रतीति जियकेरी।
जिन सपनेहु परनारि न हेरी॥

निश्चित ही यह आँखों की पवित्रता की कसौटी है और आँखों का व्रत है।

इसी प्रकार का दूसरा दृश्य माता सीता को रात्रि के समय रावण के महल में खोजते हुए हनुमान् के विचारों का है।

रावण एक विलासी राजा था। अनेक देश-विदेश की सुन्दरियाँ उसके महल में थीं। हनुमान् अर्धरात्रि के समय सीता को देखने के लिए महल के उन कमरों में घूमा और सोती हुई शिथिलवस्त्रा रावण की स्त्रियों को देखा—

कामं दृष्टा मया सर्वा विवस्त्रा रावणस्त्रियः।
न तु मे मनसा किञ्चिद् वैकृत्यमुपपद्यते॥

'यद्यपि मैंने रावण की प्रसुप्तावस्था में वस्त्रहीन स्त्रियों को देखा है, किन्तु इससे मेरे मन में किञ्चिन्मात्र भी विकार उत्पन्न नहीं हुआ।'

जब सब कमरों में घूमकर विशेष-विशेष लक्षणों से उसने यह निश्चय किया कि इनमें से सीता कोई नहीं हो सकती, तो मन में कुछ ग्लानि उत्पन्न हुई और कहने लगा—

परदारावरोधस्य प्रसुप्तस्य निरीक्षणम्।
इदं खलु ममात्यर्थं धर्मलोपं करिष्यति॥

'रात्रि में सोती हुई परस्त्रियों को देखकर तूने पाप किया है। अब पहले इस पाप का प्रायश्चित्त करके पवित्र होकर माता सीता को खोजना।' किन्तु इसके साथ ही मन में दूसरा विचार आया कि तू रावण के महल में माता सीता को देखने गया था, अतः तेरी दृष्टि जिस पर गई उसको तूने माता के रूप में ही देखा है। फिर इसमें पाप की कोई बात नहीं। कितनी पवित्र मनोदशा है! यही आँख का व्रत है।

इसी प्रकार के पाश और व्रत रसना, नाक और त्वचा के भी हैं। जीभ से रसों की परख करके अन्य को हानि न पहुँचाकर बुद्धिवर्धक भोज्य-पदार्थों का विचारपूर्वक ग्रहण रसना का व्रत है। केवल चस्के के लिए खाना, अपने स्वाद के लिए दूसरे प्राणियों के जीवन तक को भी नष्ट कर देना, रसना का पाश है। इसके बन्धन की जकड़ भी साधारण नहीं। आत्म-साधनावाले तो इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि—"यदि तुम अपनी जीभ के स्वाद को नियन्त्रण में कर लो तो सरलता से अपनी इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर सकते हो।" इसके साथ ही सोच-समझकर बोलना, सत्य ही बोलना, भद्दे हास्य-विनोद से बचना, किसी की निन्दा न करना आदि जीभ के व्रत हैं। अपने-अपने स्थान पर ये सभी महत्त्वपूर्ण हैं।

एक नीतिकार ने केवल निन्दा न करने के व्रत का ही निम्न शब्दों में वर्णन किया है—

यदीच्छसि वशी कर्तुं जगदेकेन कर्मणा।
परापवादशस्येभ्यो गां चरन्तीन्निवारय॥

'यदि तू समस्त संसार को केवल एक काम से ही वश में करना चाहता है, तो दूसरों की निन्दारूपी फ़सल को चरने से अपनी जीभ-रूपी गौ को रोक।' इस श्लोक में जीभ को गौ का रूप और निन्दा को फ़सल का रूप देकर अद्भुत मनोवैज्ञानिक सूझ का परिचय दिया है। इसके रहस्य को समझने के लिए हर्या गौ के स्वभाव का ज्ञान होना चाहिए। जिन गौओं को हरी-हरी फ़सल चरने का चस्का लग जावे, वे घास चरने में रुचि ही नहीं लेतीं। ग्वाला उस गौ को एक खेत की फ़सल खाने से हटाता है, तो झट वह दूसरे में जा पहुँचती हैं। पाँच सौ गौओं का मैदान में चराना तो कोई कठिन नहीं, किन्तु एक हर्या गौ को हरी फ़सल खाने से रोकना अत्यन्त कठिन है। इसी बात को आप निन्दा के अभ्यासी लोगों पर घटाकर देख लीजिये। वे जबतक

अपने परिचित वर्ग में से दो-चार की ख़बर नहीं ले लेते, तबतक उन्हें चैन नहीं पड़ता।

गुरुकुल महाविद्यालय ज्वालापुर की सेवा में अपना जीवन खपा देनेवाले ब्रह्मचारी आनन्दप्रकाश 'तीर्थ' की उनके साथी और आजीवन महाविद्यालय की सेवा करनेवाले कु० नरेन्द्रसिंहजी ने एक मनोरञ्जक बात सुनाई।

श्री ब्रह्मचारीजी और कु० नरेन्द्रसिंहजी प्रचार में वर्षों साथ-साथ रहे। जब प्रात:कालीन सन्ध्या, हवन, संगीत और उपदेश से निवृत्त होकर जलपान करके बैठते तो ब्रह्मचारीजी, नरेन्द्रसिंह से कहते—आ नरेन्द्र! पहले थोड़ी देर लोगों की निन्दा-स्तुति कर लें, फिर और काम देखा जाएगा। फिर एकाध घण्टे की अपने परिचित और साथियों की आलोचना-प्रलोचना करके कहते—बस, अब चित्त कुछ हल्का हो गया है। जबतक एक बार यह गुबार-सा न निकल जाय, पेट में गैस-सी बनी रहती है। यह है इस व्यसन की अवस्था!

निन्दा के व्यसन से बचने के लिए पण्डितराज जगन्नाथ ने भी बहुत ही मार्मिक उपदेश दिया है—

क्रूराः कृतोऽञ्जलिरयं बलिरेषदत्तः कायो मया प्रहरतां हि यताभिलाषम्।
अभ्यर्थये वितथ वाङ्मय पांशु वर्षैर्मामाविलीकुरुत कीर्तिनदीः परेषाम्॥

'हे क्रूर पुरुषो! मैं हाथ जोड़कर यथेच्छ प्रहार करने के लिए अपना शरीर तुम्हें अर्पित करता हूँ, किन्तु एक विशेष प्रार्थना है कि दूसरों की स्वच्छ बहती हुई कीर्त्ति-नदी को निन्दा की धूल डाल-डालकर गँदला मत करो!'

इस प्रकार इन इन्द्रियों के व्रताचरण से मन अनागस और पवित्र हो जावेगा।

अब आया मध्यम पाश। इसका क्षेत्र भी बहुत विस्तीर्ण है। अर्थ-उपार्जन में हेरा-फेरी तथा जननेन्द्रिय का असंयम उसके पाशों का स्वरूप है। आय के स्रोतों का मर्यादित और पवित्र होना तथा जननेन्द्रिय का संयम इसके व्रत हैं।

कठोर साधना के द्वारा लोभ और काम के चङ्गुलों से बचकर उद्दिष्ट पथ पर बढ़ते जाना, विरले भाग्यशालियों के ही बस का होता है। अर्थ और काम के बन्धन कितने जटिल हैं, एक नीतिकार के शब्दों में पढ़िए—

वेद्या द्वेधा भ्रमं चक्रे कनकेषु कान्तासु च।
तेषु तास्वप्यनासक्तः साक्षाद्भर्गो नराकृतिः॥

'संसाररूपी समुद्र में भगवान् ने सोने और स्त्री के रूप में दो भँवर बनाए हैं। जो तैराक इन दोनों भँवरों से पार हो जाता है, वह मनुष्य के रूप में साक्षात् भगवान् है।' हिन्दी के प्रसिद्ध कवि बिहारी ने भी

अच्छी उड़ान ली है—

कनक कनक ते सौ गुनी मादकता अधिकाय।
या खाये बौरात जग, वा पाये बौराय॥

हिन्दी में कनक सोने और धतूरे, दोनों को कहते हैं। इस पर कवि ने लिखा है कि—इनमें नाम की ही समानता नहीं है, अपितु गुणों की दृष्टि से भी है। धतूरा तो खाने पर नशा करता है और मनुष्य को पागल बनाता है, किन्तु सोने में तो इतना नशा है कि इसे प्राप्त करके ही मनुष्य पागल बन जाता है।

काम पर विजय कितनी कठिन है, यह संस्कृत के महाकवि भर्तृहरि के शब्दों में पढ़िये—

मत्तेभकुम्भदलने भुवि सन्ति शूराः,
केचित्प्रचण्डमृगराजवधेऽपि दक्षाः।
किन्तु ब्रवीमि बलिनां पुरतः प्रसह्य,
कन्दर्पदर्पदलने विरला मनुष्याः॥

'मदमस्त हाथियों के मस्तक को चूर करनेवाले वीर संसार में बहुत-से हैं। कुछ क्रूर सिंहों को पछाड़नेवाले भी हैं। किन्तु उन बलिष्ठ व्यक्तियों के समक्ष मैं दावे से कहता हूँ कि कामदेव का मानमर्दन करनेवाला कोई विरला ही माई का लाल होता है।' तो ये हुए मध्यम पाश। ये पाशविशेष शिथिल होने चाहिएँ, क्योंकि लोभी और कामी घृणित-से-घृणित काम करने को तैयार हो जाते हैं।

इसके आगे तीसरा अधम पाश है। इसका क्षेत्र अबोध और अज्ञान है। मनुष्य का कर्त्तव्य है कि वह अधिकाधिक ज्ञानार्जन करके सत्य को जाने। सत्य का प्रकाश होने पर अज्ञानजन्य त्रुटियों के फलस्वरूप दुःखों के भोगने का प्रश्न ही नहीं उठता। इस प्रकार पाशमुक्त होकर और व्रताचरण से शुद्ध और पवित्र बनकर मोक्ष के अधिकारी बनें।

(२२)

सद्विचारों के प्रचारक बनो

देव सवितः प्र सुव यज्ञं प्र सुव यज्ञपतिं भगाय। दिव्यो गन्धर्वः केतपूः केतं नः पुनातु वाचस्पतिर्वाचं नः स्वदतु॥

—यजुः० ३०।१

ऋषिः—नारायणः॥ देवता—सविता॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

अन्वयः—हे देव सवितः दिव्यः गन्धर्वः केतपूः नः केतम् पुनातु। वाचस्पतिः नः वाचम् स्वदतु। यज्ञपतिं भगाय प्रसुव यज्ञं प्रसुव॥

शब्दार्थ—हे (**देव**) दिव्यगुणयुक्त प्रभो! (**सवितः**) समस्त ऐश्वर्य से युक्त और जगत् को उत्पन्न करनेवाले जगदीश्वर! (**दिव्यः**) विशेष गुणयुक्त (**गन्धर्वः**) वाणी और पृथिवी को धारण करनेवाले (**केतपूः**) ज्ञान से अपने को पवित्र करनेवाले (**नः**) हमारी (**केतम्**) बुद्धि को (**पुनातु**) पवित्र कीजिये।(**वाचस्पतिः**) वाणी का स्वामी (**नः**) हमारी (**वाचम्**) वाणी को (**स्वदतु**) माधुर्य से युक्त करे। (**यज्ञपतिम्**) शुभकर्मों के रक्षक को (**भगाय**) ऐश्वर्ययुक्त धन के लिए (**प्रसुव**) उत्पन्न कीजिये (**यज्ञम्**) शुभकर्म की (**प्रसुव**) प्रेरणा कीजिये।

व्याख्या—इस मन्त्र में भगवान् से चार प्रार्थनाएँ की गई हैं।

पहली—'**यज्ञं प्रसुव**'—'प्रत्येक मनुष्य के हृदय में शुभकर्म करने की प्रेरणा कर!'

दूसरी—'**यज्ञपतिं प्रसुव**'—'जो शुभ कर्म करनेवाले हैं, उनके उत्साह को बढ़ाओ!'

तीसरी—'**दिव्यः गन्धर्वः**'—'दिव्य वाणी को धारण करनेवाले' और '**केतपूः**'—'जिन्होंने ज्ञान से अपने-आपको पवित्र किया है' ''**नः केतं पुनातु**''—'हम भूले-भटकों को मार्ग बतावें।'

चौथी—''**वाचस्पतिः नः वाचं स्वदतु**''—'वाणी के स्वामी हमारी वाणी को माधुर्य से युक्त बनावें।'

महर्षि दयानन्द जी महाराज ने जहाँ धार्मिक क्षेत्र की अनेक बुराइयों का सुधार किया, वहाँ स्तुति, प्रार्थना और उपासना के नाम पर जो धाँधली चल रही थी, उसका भी वास्तविक स्वरूप हमारे समक्ष रक्खा। मध्यकाल में प्रार्थना करनेवाला भक्त अपने दुःख को दूर करने की, सम्पत्ति और ऐश्वर्य माँगने की, अपने शत्रु के विनाश आदि की एक लम्बी फ़हरिस्त भगवान् के सामने पेश करके अपने कर्त्तव्य की इतिश्री समक्ष लेता था। महर्षि दयानन्द जी महाराज ने अपने अमर ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश में प्रार्थना

का विश्लेषण करते हुए समझाया कि प्रार्थना प्राणिमात्र और मनुष्यमात्र की सुख-समृद्धि के लिए करनी चाहिए; दूसरे के विनाश की अथवा पीड़ा देने की नहीं। प्रार्थी को भगवान् से प्रार्थना के साथ-साथ अपने प्रार्थित अभिप्राय की पूर्त्ति के लिए अपनी योग्यता और क्षमता के अनुसार स्वयं पुरुषार्थ करना चाहिए, तभी भगवान् भी सहायता करते हैं।

ऋषि द्वारा प्रदत्त इस प्रकाश में, मन्त्र में वर्णित इन चार प्रार्थनाओं का भाव यह निकला कि संसार को सुखधाम बनाने के लिए हममें से प्रत्येक व्यक्ति के चार कर्त्तव्य हैं।

पहला यह है कि प्रत्येक व्यक्ति को सद्‌विचारों का प्रचार करना चाहिए। दूसरा यह कि अच्छे काम करनेवाले धर्मात्माओं के काम की प्रशंसा करके उनका उत्साह बढ़ाना चाहिए। तीसरा यह कि जो-जो हम जानते जावें उस पर पूरी आस्था और दृढ़ता के साथ आचरण आरम्भ कर देना चाहिए। चौथा यह कि मनीषी अनुभवियों से मधुर भाषण की शिक्षा लेकर हमें इस प्रकार की वाणी बोलनी चाहिए, जिसे सुनकर व्याकुल और विक्षुब्ध व्यक्ति भी शान्ति-लाभ करें।

अब एक-एक बात पर विस्तार से विचार कीजिये। इस समय समस्त संसार में बुराई बढ़ रही है और अच्छाई कम हो रही है। अपने प्राचीन इतिहास (रामायण बालकाण्ड) में उस युग की इतनी सुन्दर झाँकी प्रस्तुत की गई है कि आज के युग में उस पर पूरा विश्वास जमना भी कठिन प्रतीत होता है—

क्वचिन्न राजा तत्रासीत् न दण्डो न च दाण्डिकः।
धर्मेणैव प्रजाः सर्वा रक्षन्तिस्म परस्परम्॥

'उस समय न कोई राजा था, न कोई क़ानून था और न कोई व्यवस्थापक। सब प्रजा के लोग अपने कर्त्तव्य को जानकर एक-दूसरे की रक्षा करते थे।'

आदिकवि महर्षि वाल्मीकि ने रामायण में अयोध्या का वर्णन निम्न प्रकार से किया है—

अयोध्या नाम तत्रासीन्नगरी लोक-विश्रुता।
मनुना मानवेन्द्रेण या पुरी निर्मिता स्वयम्॥

—संसार-प्रसिद्ध अयोध्या नाम का सुन्दर नगर था। मनुष्यों में श्रेष्ठ महाराज मनु ने स्वयं इस नगर को बनवाया था।

आयता दश च द्वे च योजनानि महापुरी।
श्रीमती त्रीणि विस्तीर्णा सुविभक्तमहापथा॥

—यह महानगरी बारह योजन (६० मील) चौड़ी और छत्तीस योजन (१८० मील लम्बी) थी। उसमें जाने-आने के लिए बहुत विस्तृत सड़कें थीं।

राजमार्गेण महता सुविभक्तेन शोभिता।
मुक्तपुष्पावकीर्णेन जलसिक्तेन नित्यशः॥

—उस नगर में बहुत सुन्दर और विशाल राजपथ था। उस मार्ग पर नित्य पानी छिड़का जाता था। चहुँ ओर फूल खिले हुए थे।

जहाँ तक स्थापत्य और वास्तुकला का सम्बन्ध है, वह युग आज से किसी प्रकार कम नहीं प्रतीत होता। कुछ वैज्ञानिक उत्कर्ष तो उस समय के ऐसे हैं जिनकी तुलना आज का कोई राष्ट्र नहीं कर सकता। रामायण में ही वर्णित है—

अदंशमशकं राज्यन्नष्टव्यालसरीसृपम्।

—उस समय राज्य से मक्खी, मच्छर, बिच्छू और साँप सब समाप्त कर दिये गए थे।

यह स्थिति सम्भवतः विश्व के किसी भी देश की न हो। भारत की राजधानी दिल्ली में तो मक्खी-मच्छरों की भरमार है; तब विशेष चीज़ यह थी कि भौतिक सुख-साधनों के साथ-साथ वर्त्तमान भोगवाद का कोई दोष उस समय नहीं था। नैतिकता और मानवता से उच्चतम धरातल पर समाज का आचार-व्यवहार था। उस काल के सामाजिक व्यवहार की भी एक झाँकी देखिये—

शुचीनामेकबुद्धीनां सर्वेषां सम्प्रजानताम्।
नासीत् पुरे वा राष्ट्रे वा मृषावादी नरः क्वचित्॥

—सब पवित्र उच्चकोटि के ज्ञानी, राष्ट्रीय कार्यों में ऐकमत्य से चलनेवाले थे। सारे राष्ट्र में या अयोध्या नगरी में कोई झूठ बोलनेवाला नहीं था।

क्वचिन्न दुष्टस्तत्रासीत् परदाररतो नरः।
प्रशान्तं सर्वमेवासीद् राष्ट्रं पुरवरञ्च तत्॥

—उस राज्य में परस्त्री से प्रेम करनेवाला कोई दुष्ट नहीं था। समस्त राष्ट्र और राजधानी में सब प्रकार से शान्ति थी।

कामी वा न कदर्यो वा नृशंसः पुरुषः क्वचित्।
द्रष्टुं शक्यमयोध्यायां नाविद्वान्न च नास्तिकः॥

—उस राजधानी में कोई कामी, कञ्जूस, क्रूर, मूर्ख और नास्तिक नहीं था।

इसी प्रकार का और भी विस्तृत वर्णन उस प्रसङ्ग में वहाँ विद्यमान है।

ऐसा स्वर्गिक वातावरण संसार के किसी भी देश में नहीं है। योरोप और अमेरिका में वैज्ञानिक और आर्थिक उन्नति चाहे कितनी ही क्यों न हो, किन्तु नैतिक और मानवीय मूल्यों को स्तर वहाँ भी बहुत निम्न है।

इस समीक्षा से परिणाम यह निकला कि इस समय संसार में बुराई बढ़ रही है और अच्छाई घट रही है। सर्वप्रथम एक नैतिक प्रस्न यह

है कि बुराई की उत्पत्ति का कारण क्या है और इस समय वह बढ़ती पर क्यों है?

इस विषय में विश्लेषण करने से हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि संसार में अच्छाई तो प्रयत्न करने से उत्पन्न होती है, और बुराई जहाँ अच्छाई का प्रकाश नहीं पहुँचेगा वहाँ स्वतः उत्पन्न हो जाएगी। सामान्यतया यह स्थापना बड़ी विचित्र-सी लगती है कि अच्छाई का जन्म प्रयत्न और परिश्रम से होता है और बुराई अपने-आप पैदा होती है, किन्तु है वास्तविकता यही। क्यों? इसका उत्तर कठोपनिषद् में आचार्य यम के उपदेश में है; आचार्य यम ने कहा—

पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूस्तस्मात् पराङ्पश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्॥ —कठ० ४।१

'प्रभु ने इन्द्रियों की रचना बाहर की ओर की है, इसलिए ये बाहर की ओर दौड़कर जाती हैं। आँख रूप पर, नाक गन्ध पर, जीभ रस पर, कान शब्द पर और त्वचा स्पर्श पर, अर्थात् अपने-अपने ग्राह्य विषय की ओर दौड़ने की इनकी स्वाभाविक प्रवृत्ति है।' इनकी सार्थकता भी तो इसी में है। ज़रा कल्पना करें—संसार में दिखनेवाले ये सुन्दर दृश्य, नाना प्रकार के रङ्ग-रूपवाले पत्र-पुष्प, हिमाच्छादित शुभ्र पर्वतमालाएँ, पर्वत-शिखरों से गिरते हुए जल-प्रपात, रङ्ग-बिरंगे पक्षी, सुन्दर-सजीली छींट के-से परिधानों से आवृत तितलियाँ आदि-आदि तो होते, किन्तु इस रूप को निहारनेवाली आँख न होती, तो इस समस्त रचना का सौन्दर्य निरर्थक था। इसी प्रकार संसार में रूप को ग्रहण करनेवाली आँख तो होती, किन्तु रचना और दृश्य कोई न होता तो आँख का बनना भी व्यर्थ था, अतः सिद्ध हुआ कि आँख की सार्थकता रूप से और रूप की सार्थकता आँख से है। किन्तु आँख उस रूप को ग्रहण इस प्रकार करे कि अपने आत्मा और समाज के लिए किसी प्रकार की बुराई उत्पन्न न हो। यह ज्ञान मानव को बहुत प्रयत्नपूर्वक शिक्षा देने से आता है, स्वयं नहीं। आँख की स्वाभाविक प्रवृत्ति का चित्रण किसी शायर ने अच्छे ढङ्ग से इस प्रकार किया है—

दिल के जो दुश्मन हैं उनके शौक़ में रहती है आँख।
जान का मालिक जो है, उससे नज़र मिलती नहीं॥

आँख से रूप किस प्रकार से ग्रहण किया जाय कि वह समाज में स्वस्थ परम्परा और वातावरण बनावे? यह योग्यता मनुष्य में तब आती है, जब सुशिक्षित माता-पिता, ज्ञानदाता शिक्षक उसे निरन्तर सद्विचारों से सुसंस्कृत करते हैं।

सभ्य समाज की मर्यादा में स्त्री और पुरुष के लिए यह सामान्य मान्यता है कि समान आयु की अपरिचित महिला बहन के समान, छोटी पुत्री के तुल्य और बड़ी माता के सदृश होती है। इसी प्रकार पुरुष एक

महिला के लिए भाई, पुत्र और पिता के तुल्य होता है। ये सुसंस्कृत विचार शिक्षा के ही परिणाम हैं। यह धारणा स्वतः नहीं बन जाती, अपितु इसके लिए निरन्तर प्रयत्न करना पड़ता है। जहाँ इन संस्कारों के डालने का प्रयत्न नहीं होता, वहीं समाज असभ्य, असंस्कृत होकर जङ्गली-जैसा हो जाता है। यह क्रम सृष्टि के प्रारम्भ से चला आता है।

अब से लाखों वर्ष पूर्व कुछ मनुष्य-जातियों के असभ्य होने का कारण मनु ने लिखा है—

शनकैस्तु क्रियालोपादिमाः क्षत्रियजातयः।
वृषलत्वं गता लोके ब्रह्मणादर्शनेन च॥

'धीरे-धीरे ज्ञानियों का सम्पर्क विच्छिन्न होने से क्षत्रियजातियाँ उत्तम आचरणों से शून्य होकर असंस्कृत और असभ्य हो गईं।' अतः समाज को शिष्ट बनाने के लिए वेद ने मनुष्य का यह प्रथम कर्त्तव्य बताया कि उसने जिस अच्छाई और सचाई को जान लिया है, वह उसका प्रचार करना भी अपना मुख्य कर्त्तव्य समझे। यदि आज समाज में बुराई बढ़ रही है, तो उसका उत्तरदायित्व अच्छे व्यक्तियों पर है। वे आलसी और प्रमादी बनकर सद्विचारों का प्रचार नहीं करते। यदि वे लगन से लोगों को शुभ विचार दें तो फिर प्रसार अच्छाई का होगा, बुराई का नहीं।

इसके अतिरिक्त बुराई के बढ़ने का एक कारण यह भी है कि बुराई और व्यसन में लिप्त व्यक्ति निरन्तर कष्ट सहन करके और पैसा खर्च करके भी अपने व्यसन का प्रचार करते रहते हैं। भाँग, सुल्फ़ा, सिगरेट और शराब आदि का व्यसनी सम्पर्क में आनेवाले को निरन्तर उस वस्तु के सेवन की प्रेरणा करता है, किन्तु यह धुन अच्छी चीज़ों के प्रचार में नहीं देखी जाती।

बुराई की प्रवृत्ति का तीसरा कारण यह भी है कि यह इन्द्रियों की विषयाभिमुखी वृत्ति के अनुकूल चलने के कारण सुविधाजनक और आपाद-रमणीय प्रतीत होती है। परिणाम तक सोचने-विचारने का बोझ ढोना इस प्रकार का व्यक्ति पसन्द ही नहीं करता। इन्द्रियों के विषयाचरण पानी की धारा के साथ तैरने के समान हैं। केवल शरीर साधना आना चाहिए, शेष बहाने का काम तो पानी का प्रवाह स्वतः कर लेगा।

इन्द्रिय के विषय-प्रस्ताव को ठुकराकर उसके विपरीत दिशा में चलना, पानी की धारा के प्रतिकूल तैरने के समान है। उस ओर तैरने के लिए दृढ़ निश्चय और धैर्य की आवश्यकता है। अतएव यह मार्ग कठिन है, किन्तु कठिनाई का यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि उस ओर चलना ही असम्भव है। विचार यदि परिपक्व हों तो फिर कोई भी कठिनाई बाधक नहीं हो सकती। ठीक ही कहा है किसी शायर ने—

हर इक मुश्किल बदल जाती है आसानी की सूरत में।
अगर दिल आज़माइश के लिए तैयार हो जाए॥

कुछ लोगों की यह भ्रान्त धारणा है कि प्रचार और उपदेश से किसी का कुछ सुधार नहीं होता। लोग कथा और उपदेश सुनते हैं, श्रवण के समय प्रभावित-से भी लगते हैं, किन्तु उनके आचरण में कोई गुणात्मक परिवर्तन नहीं होता। इस समय तो स्थिति यह है कि कुछ लोगों को उपदेश देने का व्यसन है और कुछ को सुनने का चस्का है। पर पतनाला वहाँ का वहीं रहता है।

यह धारणा सर्वथा भ्रममूलक है। मनुष्य एक विचारशील प्राणी है। उसे जिस प्रकार के विचार दिये जाते हैं, उसी प्रकार की विचार-तरङ्गें उसके मस्तिष्क में उठती हैं। अनुकूल वस्तु की प्राप्ति की इच्छा जागृत होती है और प्रतिकूल को छोड़ने की। यदि कविसम्मेलन में अच्छे कवि के कविता-पाठ को सुनता है, तो ओज से आविष्ट होकर उसकी भुजाएँ फड़कने लगती हैं। वात्सल्य और करुण-रस की कविता सुनकर आँखों से अश्रुधारा बहने लगती है। इतिहास इस प्रकार के उदाहरणों से भरा पड़ा है कि समय पर दिये गए विचार के इञ्जेक्शन से परिस्थिति ही पलट गई।

प्रसिद्ध है कि जयपुर-नरेश महाराजा मानसिंह काबुल जीतने का निश्चय करके फ़ौज लेकर चले, किन्तु अटक नदी पर पहुँचकर नदी की वेगवती धारा से संत्रस्त होकर फ़ौज का पड़ाव डालकर ठहर गए। बहुत सोचने पर भी निर्णय न कर पाए कि क्या किया जाय? यदि नदी पार करने का आदेश सेना को देते हैं, तो भय था कि पानी की धारा सबको बहा ले जाएगी और सब नष्ट हो जाएँगे। बिना काबुल को भी जीते वापस नहीं लौट सकते थे, क्योंकि जीतने की प्रतिज्ञा करके चले थे। चिन्तित मानसिंह ने उस पड़ाव से माता को पत्र लिखकर एक क़ासिद के हाथ भेजा और उसमें लिखा—"माताजी! काबुल-विजय का निश्चय करके आपका पुत्र चला था, किन्तु यहाँ दरियाए-अटक ने अटका रक्खा है। पुल कोई है नहीं और पुल के बिना यदि धारा में उतरते हैं तो पानी की तीव्र धारा सबको बहा ले जाएगी। इस स्थिति में मुझे सूझता नहीं क्या करूँ?"

पत्र माता के पास पहुँचा और माता ने उत्तर में अपने आशीर्वाद के साथ निम्न दोहा लिख भेजा—

सबै भूमि गोपाल की, यामें अटक कहाँ!
जिसके मन में अटक है, सोई अटक रहा॥

इस उत्तर को लेकर क़ासिद उस समय पहुँचा जब दोपहर का भोजन करके फ़ौज विश्राम कर रही थी। पत्रवाहक ने अभिवादन करके माता का पत्र महाराज को दिया। पत्र पढ़ते ही महाराज को इतना जोश आया कि लगाम लगाकर घोड़े की नङ्गी पीठ पर सवार हो गए और सेना को दरिया पार करने का हुक्म देकर अपने घोड़े को पानी की

धारा में उतार दिया। घोड़ा पार उतर गया और सैनिक भी अधिकांश पार उतर गए। कुछ पानी की धारा में बह गए, पर मानसिंह काबुल को जीतकर ही लौटे।

महाराज मानसिंह के जीवन की दूसरी घटना भी बहुत प्रसिद्ध है। काबुल-विजय के कुछ काल पश्चात् मानसिंह ने घोषणा की कि अब लङ्का पर आक्रमण करके लङ्का को जीतें। सेना के प्रस्थान का दिन निश्चित हो गया, किन्तु इस आक्रमण के निश्चय से सेनापति और सैनिक प्रसन्न नहीं थे। उनपर यह प्रतिक्रिया थी कि काबुल के मार्ग में तो सिन्ध ही पड़ती थी, उसे जैसे-तैसे पार कर गए और कुछ उसमें भी बह गये, किन्तु लङ्का के मार्ग में तो समुद्र पड़ता है, यह कैसे पार होगा? परिणाम होगा सबकी जलसमाधि! किन्तु महाराज के सामने बोलने का किसी का भी साहस नहीं था।

प्रस्थान के दिन कूच के बाजे बजने लगे और चारण महाराज को और सेना को विदाई तथा आशीर्वाद देने पहुँचे। उस समय सेनापति को एक बात सूझी और बहुत अच्छे चारण कवि को बुलाकर लङ्का के आक्रमण की कठिनाई समझाते हुए प्रार्थना की कि किसी प्रकार महाराज के विचार बदलने चाहिएँ।

चारण कवि ने थोड़ा विचार किया। पहले तो उसने महाराज को आशीर्वाद दिया और फिर उनकी वीरता और पराक्रम का वर्णन करते हुए कहा कि अबतक के सब काम आपने यश और गौरव के किये हैं, किन्तु आपका लङ्का-विजय का संकल्प उचित नहीं है और आपके नाम पर बट्टा लगानेवाला है। यह सर्वथा कुलमर्यादा के विपरीत है। इस प्रस्ताव की पुष्टि करते हुए चारण ने एक निम्न सोरठा कहा—

मान महीपति मानि, दिये दान किन-किन लिये?
रघुपति दीनो दान, विप्र विभीषण जानिके॥

'हे महाराज मानसिंह! आप मेरा परामर्श मानिये। आज तक दिया हुआ दान किसी ने वापस नहीं लिया। तुम्हारे पूर्वज राम ने रावण को परास्त करके लङ्का जीती थी और इसके बाद विभीषण की पात्रता देखकर उसे दान दे दी थी। अब तुम राम के वंशज ऐसे हुए हो कि उस दिये हुए दान को फिर छीनना चाहते हो!' मानसिंह का मस्तिष्क एक-साथ घूम गया और क्षमा माँगते हुए कवि चारण का धन्यवाद किया कि आपने हमको बड़े पाप से बचा लिया।

यहाँ स्पष्ट है कि दोनों घटनाओं में सामयिक विचार ने चमत्कार कर दिया। विचारों में तो इतनी अद्‌भुत शक्ति होती है कि मनुष्य हँसते-हँसते मृत्यु तक का आलिङ्गन करने को उद्यत हो जाता है।

हाँ, इस बात में भी आंशिक तथ्य है कि उपदेश और भाषण का प्रभाव बाद में नहीं टिक पाता। प्रायः धीरे-धीरे शिथिलता आ जाती

है और वे विचार आचरण में नहीं आ पाते। इसमें भी गहराई से विचारें तो दोष विचारों में नहीं, मात्रा में है।

इसे निम्न उदाहरण से समझिये—पानी में चीनी घोलने से पानी मीठा हो जाता है। एक किलो ग्राम पानी में ढाई सौ ग्राम चीनी घोली जावे तो पानी मीठा हो जावेगा, किन्तु एक व्यक्ति दस किलो पानी में ढाई सौ ग्राम चीनी डालकर और घोलकर यह निष्कर्ष निकाले कि चीनी से पानी मीठा नहीं होता, अभी चीनी घोली गई थी, किन्तु पानी फीका ही है, तो यह स्थापना भ्रमपूर्ण है और अनुपात तथा मात्रा का ध्यान न रखने के कारण हुई है। चीनी पानी को निश्चित रूप से मीठा करती है, किन्तु उसके लिए अनुपात का ध्यान रखना अनिवार्य है।

ठीक यही बात विचारों के लिए है। जो विचार उपदेश में श्रवण किये हैं, उन्हीं की चर्चा मार्ग में हो, उन्हीं की घर में उठते-बैठते, वही प्रसङ्ग कार्यालय और दुकान पर चले और विचारों का एक वायुमण्डल तैयार हो जाय तो कोई कारण नहीं है कि जो विचार दिये गए हैं, वे आचरण में न आ पावें। आज के वायुमण्डल में विचार करके देखें तो शुभ विचार उतनी मात्रा में भी न बैठेंगे, जितनी कि दस किलो ग्राम पानी में ढाई सौ ग्राम चीनी की मात्रा है। फिर इतने क्षीण संस्कार, परिवर्तन का चमत्कार कैसे कर सकते हैं? अतः शुभ विचारों का प्रचार निरर्थक नहीं है, अपितु समाज को शान्ति और सुख के मार्ग पर चलाने के लिए आवश्यक है। पर यह काम प्रत्येक विचारशील व्यक्ति को करना चाहिए। तभी उन विचारों का एक चक्र बनकर हृदय और मस्तिष्क को प्रभावित कर सकता है।

प्रचार का सर्वोत्तम प्रकार वार्त्तालाप द्वारा विचार-विनिमय है। हम जब अपने एक परिचित व्यक्ति को जानकर उसकी किसी त्रुटि की ओर प्रेमपूर्वक ध्यान आकृष्ट करते हैं, तो उसका विशेष प्रभाव होता है। हमारे द्वारा दिया गया मनोबल उसे उस व्यसन से सङ्घर्ष करने के लिए प्रेरित करता है, किन्तु भाषण में यह बात नहीं होती। एक प्रभावशाली भाषण श्रोता को प्रेरणा देता हुआ भी वह दबाव नहीं डाल पाता, क्योंकि श्रोता के मन में यह भाव बना रहता है कि यह बात विशेष रूप से मुझे ही नहीं कही जा रही, यह तो एक सामान्य चर्चा है जो सबके लिए है। किन्तु वार्त्तालाप में यह स्थिति नहीं होती। वहाँ विचारशील व्यक्तियों को अपने क्षेत्र की त्रुटियों की ओर निरन्तर ध्यान खींचते रहना चाहिए, तभी समाज को पवित्र बना सकेंगे।

यही बात सांख्यदर्शन में कही गई है—

''**उपदेश्योपदेष्ट्रत्वात्तत्सिद्धिरितरथान्धपरम्परा।**'' —३।७९

'समझने-समझानेवाले सतत प्रयत्नशील रहते हैं तो समाज विवेकपूर्वक काम करता है, नहीं तो अन्धों के पीछे चलनेवाले अन्धों के समान भटकते फिरते हैं।'

सत्-ज्ञान का प्रचार उसी प्रकार का पुनीत कर्म है, जैसे नेत्रहीन व्यक्ति को खाई-खन्दक से बचाकर ठीक मार्ग पर चलाना। कोई साधारण व्यक्ति भी ऐसा नहीं मिलेगा जो अपनी आँखों के आगे किसी अन्धे को खाई-खन्दक अथवा कुएँ में गिरने दे। आवश्यक-से-आवश्यक काम छोड़कर सामान्य व्यक्ति भी दृष्टिहीन व्यक्ति को सम्भालता है और ऐसा करने पर सन्तोष अनुभव करता है कि मैंने एक अच्छा काम किया है। इस प्रवृत्ति के धर्म-भीरुओं से पूछना चाहिए कि एक व्यक्ति चक्षुओं के अभाव में खन्दक में गिरनेवाला है, जहाँ उसकी मृत्यु हो सकती है। आप उसे बचाना तो अपना पवित्र धर्म मानते हैं, किन्तु एक व्यक्ति ज्ञानरूपी आँख के अभाव में पाप के कुएँ में गिरने जा रहा है और आप जानते हुए भी उसे नहीं समझाते तो आपसे यह उसी प्रकार का भयङ्कर पाप हो गया जैसे आपके देखते अन्धा कुएँ में गिरकर मर जाय। उस दुनियावी कुएँ में गिरने से तो एक जीवन ही नष्ट होता, किन्तु पाप-कूप में गिरकर तो उसके अनेक जन्म बिगड़ सकते हैं। अतः ज्ञान का प्रचार मनुष्य का एक पवित्र कर्त्तव्य है।

यों तो धर्म के सभी काम मनुष्य के मन को निर्मल करके आत्मिक उन्नति की ओर अग्रसर करते हैं, किन्तु उन सब में शुभ ज्ञान का प्रचार सर्वोपरि है। अन्य धार्मिक आचरणों का फल सीमित और साधारण है, जैसे आपद्-ग्रस्त और दुःखी की सेवा करना धर्माचरण है, अभाव-ग्रस्त व्यक्तियों की अपने पास उपलब्ध साधनों से दान देकर सहायता करना पुण्य कार्य है। महाभारत में भीष्म ने दान की प्रशंसा करते हुए उस सात्त्विक दान को, जो अपनी सुख-सुविधा में कटौती करके दूसरे को लाभ पहुँचाने के लिए किया जाय, उत्तम और कठिन काम बताया है—**''न दुष्करतरं दानात्''**—दान से भिन्न दूसरा कोई कठिन काम नहीं है।

अब इस कठिन और महत्त्वपूर्ण दान-धर्म का विश्लेषण कीजिये कि इसका फल क्या होनेवाला है तो आप इस परिणाम पर पहुँचेंगे कि 'दूसरों को सुख पहुँचाने के लिए हम जिन भोग्य-वस्तुओं का त्याग कर रहे हैं, वे हमें इसी जन्म अथवा आगे आनेवाले जन्म में उतनी मात्रा में, अथवा बढ़कर भोगने को मिलेंगी और हमें सुख पहुँचाएँगी।' इस बात को मनुष्य-समाज और दूसरे प्राणियों के जीवन पर दृष्टि डालके बड़ी सरलता से समझा जा सकता है। संसार में अनेक व्यक्ति ऐसे मिलेंगे जिनके विचार का स्तर बहुत घटिया है। उनके आचरण घृणित हैं, कुष्ठादि व अन्य संक्रामक रोग से पीड़ित हैं, फिर भी धन-दौलत और भोग के अन्य समस्त साधनों की उनके पास भरमार है; हमें उनसे बात करना या उनके पास बैठना तक भी पसन्द नहीं है, फिर उनके पास इस भोग-सामग्री के ढेर क्यों?

हमें यदि अधिकार दे दिया जावे तो ऐसे व्यक्तियों को समाज पर

कलङ्क समझकर हम उनको जीने तक का अधिकार भी देने को तैयार नहीं। किन्तु प्रभु की क्या विचित्र लीला है कि अच्छे-अच्छे गुणी व्यक्ति अपने निर्वाह के लिए भी चारों ओर टक्कर मारते फिरते हैं और इधर लूले-लँगड़े, कोढ़ी और कलङ्की लाखों की सम्पत्ति के स्वामी बने बैठे हैं—यह कैसे?

अनेक कुत्ते ऐसे देखे जिनको उपभोग की वे सब सुख-सुविधाएँ उपलब्ध हैं, जो लखपतियों और करोड़पतियों को हो सकती हैं। उनके खाने के लिए दूध और टोस्ट, विश्राम के लिए अच्छा पलङ्ग और गुदगुदा बिस्तर, घूमने के लिए कार ही नहीं, कारवालों की गोद। एक बार समाचारपत्र में छपा कि भारत की प्रधानमन्त्री इन्दिरा गांधी अमरीका-प्रवास से भारत लौटीं तो उन्हें लाने के लिए जो ड्राइवर कार ले गया, उसमें वह इन्दिरा जी के प्यारे कुत्ते को भी बिठा ले गया। हवाई अड्डे पर प्रधानमन्त्री के स्वागत के लिए पचासों केन्द्रीय मन्त्री, सैकड़ों अफ़सर और हज़ारों नागरिक भागे-भागे फिर रहे थे और इधर प्रधानमन्त्री का प्यारा कुत्ता कार की पिछली सीट पर पैर फैलाकर आराम से लेटा हुआ था। इन्दिरा जी के आने पर कार का द्वार खोला गया तो देखा—कुत्ते ने सब सीट घेरी हुई है। इन्दिरा जी ने दुलार से खिसकाते हुए कहा—भाई, मुझे भी बैठने को थोड़ी जगह दो!

एक बार मैं और श्री प्रकाशवीर शास्त्री हवाई अड्डे पर अपने मित्र श्री डॉ० लक्ष्मीमल्ल जी सिंघवी के स्वागतार्थ पहुँचे। वे अमरीका से आ रहे थे। उस समय हम दोनों ही पार्लियामेण्ट के मेम्बर थे, अतः हवाई अड्डे के अन्दर के कक्ष में आगे तक चले गए। हमने देखा कि एक यात्री अपने साथ उसी विमान में अमरीका से एक कुत्ता लेकर आ रहा था और उस समय वह कुत्ता उसकी गोद में था। कुत्ते को यह सुविधाजनक यात्रा कैसे उपलब्ध है?

कर्म-विज्ञान के आधार पर इन सब प्रश्नों का एक ही उत्तर है कि इन सब के गत जीवन के कुछ इस प्रकार के महत्त्वपूर्ण कार्य थे, अर्थात् इन प्राणियों ने गत जीवन में चाहे समझ और मनुष्यता का कोई काम न किया हो, किन्तु एक गुण इनमें स्वाभाविक रूप में रहा होगा कि दूसरों को सुख-सुविधा देने के जो भी साधन इनके पास रहे हों, उनका उदारता से इन्होंने त्याग किया होगा, अतः दुष्कर्मों के परिणाम स्वरूप पशु-पक्षी की योनि में हैं, किन्तु उस दान का फल उत्तम भोज्यपदार्थादि के रूप में इन्हें उपलब्ध है ही।

किन्तु ज्ञान का प्रचार इतना श्रेष्ठ कर्म है कि जीव यदि मुक्त नहीं होता तो अगले जन्म में मनुष्य अवश्य बनेगा, क्योंकि जिस वस्तु का दान हमने किया है, वह वस्तु हमें आगे उपभोग के लिए प्राप्त होगी। ज्ञान मनुष्य के उपभोग की वस्तु है, पशु और पक्षियों के नहीं। अतः

मनुष्य को जानी हुई अच्छाई के प्रचार के लिए समय निकालना चाहिए। इस शुभ कर्म से लोक और परलोक दोनों बनते हैं।

अब इस सम्बन्ध में एक बात और स्पष्ट करने योग्य है कि हमारे सनातनी भाइयों की यह धारणा है कि मनुष्य के करने-धरने से कुछ नहीं बनता, जो कुछ होता है। समय के प्रभाव से होता है। सतयुग में धर्म के चारों पैर जमे हुए थे और पाप के चारों उखड़े हुए थे, अतः हम सब लोगों की प्रवृत्ति धर्म की ओर थी, कोई पाप करता ही न था। त्रेता में आकर धर्म का एक पैर उखड़ गया और पाप का जम गया, अतः लोगों में कुछ-कुछ बुराई की प्रवृत्ति जगने लगी। इसके आगे द्वापर में यह बिगाड़ और बढ़ा, तो आधे के लगभग मनुष्य पापकर्म करने लगे। इतना कहने के बाद भगतजी कहने लगते हैं—महाराज, अब तो कलियुग है। अब तो पाप के तीन पैर जमे हुए हैं और धर्म के तीन उखड़े हुए हैं। हज़ारों में से किसी एक की प्रवृत्ति धर्म की ओर होती है। यह सब कलियुग के कारण हो रहा है।

इस सम्बन्ध में निवेदन है कि यह नितान्त भ्रम है कि मनुष्य के करने-धरने से कुछ नहीं बनता। जो कुछ बनता और बिगड़ता है, वह मनुष्य के अच्छे और बुरे कर्मों का ही फल होता है। क्या सारा कलियुग हमारे देश के लिए ही है? हमारी आँखों के सामने कल-परसों मुट्ठी-भर यहूदियों के देश इज़रायल ने जन्म लिया, वहाँ वही-कुछ हो रहा है, जो आपके सतयुग में वर्णित है। गत विश्वयुद्ध में जर्मनी और जापान धूल में मिला दिये गए थे, किन्तु आज समृद्धि के शिखर पर हैं।

साथ ही अपने इतिहास पर एक दृष्टि डालें तो उससे यही पता लगता है कि उस समय के महापुरुषों ने अपने ऊँचे विचार और आचार से ही मनुष्य-समाज का नैतिक और व्यावहारिक स्तर ऊँचा करके सुख और शान्ति प्रदान की। सतयुग का तो इतिहास उपलब्ध नहीं होता। इतिहास की कड़ियाँ त्रेतायुग की जो झाँकी हमारे सम्मुख उपस्थित करती हैं, उनसे इसी बात की पुष्टि होती है।

त्रेतायुग के आते-आते वैदिक मर्यादाएँ शिथिल होने लगी थीं। महाराज दशरथ ने ही एक-पत्नीव्रत की मर्यादा का पालन नहीं किया। किन्तु उस समय राम जैसे महापुरुष ने अपने उच्च चरित्र और असाधारण सहिष्णुता से शिथिल वैदिक आदर्शों को पुनः स्थापित किया।

राम ने पुत्र, भाई, मित्र, पति और राजा आदि के सभी सम्बन्धों को आदर्श रूप में उपस्थित किया। विषम-से-विषम परिस्थिति में भी वह दृढ़ रहे। वाल्मीकि ने राम में कुछ ऐसे गुणों का वर्णन किया है, जो लोकोत्तर कहे जा सकते हैं। राम की बोल-चाल का वर्णन देखिये—

स च नित्यं प्रशान्तात्मा मृदुपूर्वं च भाषते।
उच्यमानोऽपि परुषन्नोत्तरं प्रतिपद्यते॥

—राम सदा शान्त रहते थे। बहुत मीठी भाषा बोलते थे। यदि कोई कटुभाषण करता था, तो उस कड़वी बात का उत्तर ही नहीं देते थे।

राम के व्यवहार का आदर्श भी देखिये—

कदाचिदुपकारेण कृतेनैकेन तुष्यति।
न स्मरत्यपकाराणां शतमप्यात्मवत्तया॥

—यदि कोई राम के साथ एक भी उपकार का काम कर दे तो वे इतने से ही सन्तुष्ट हो जाते थे। उनको हानि पहुँचाने के लिए कोई शतशः विपरीत काम करता था, तो भी वे अपने आत्मिक बल के कारण उसकी परवाह नहीं करते थे।

इन महान् गुणों के परिणाम स्वरूप ही वह रामराज्य स्थापित हो सका, जिसे आज लाखों वर्ष बाद भी हम याद करते हैं। राम अपनी सूझ-बूझ से अपने पारिवारिक जनों और अपने भाइयों को न सम्भालते, तो फिर न जाने राम के घर की भी क्या दशा होती? उदाहरण के लिए एक दृश्य पर दृष्टि डालिए—

राम के वनवास की बात सुनकर लक्ष्मण राम के पास आए और यह परामर्श देने लगे कि आपको वन नहीं जाना चाहिए। इस सम्बन्ध में आपको किसी को कुछ कहने की अथवा करने की आवश्यकता नहीं है। सब-कुछ आप मुझपर छोड़ दीजिये। राम ने लक्ष्मण को समझाया। लक्ष्मण ने पिता के प्रति कठोर शब्दों का प्रयोग किया तो झिड़का भी। सीता और लक्ष्मण के साथ राम वन में चले गए। वहाँ चित्रकूट में डेरा डाला। राम और सीता की सुरक्षा के लिए लक्ष्मण सदा तत्पर रहते।

इधर ननिहाल से भरत बुलाए गए। उन्हें सारी परिस्थिति जानकर अत्यन्त वेदना हुई। पिता की अन्त्येष्टि के बाद भरत ने मन्त्रिमण्डल और चुने हुए लोगों की सभा बुलाकर राम को वन से वापस बुलाने का विचार किया। सभा के निश्चय के अनुसार भरत तीनों माताओं और सभी मन्त्रियों के साथ राम को वापस लाने के लिए वन में गए। भरत के साथ उस समय की रीति के अनुसार बहुत-सी सेना (९ लाख—वा०रा०अयो० ८३) थी।

सेना के हाथियों, घोड़ों और रथों की धूल का घटाटोप आकाश में उठता हुआ लक्ष्मण ने चित्रकूट पर्वत की ऊँचाई से देखा और राम से कहा कि कोई सेना लेकर हमारी ओर आ रहा है। ज्यों-ज्यों धूल चित्रकूट की ओर बढ़ रही थी, लक्ष्मण की परेशानी भी उतनी बढ़ती जाती थी। उस समय राम की लापरवाही को देखकर झुँझलाकर लक्ष्मण ने कहा—'आप तो ऐसे उदासीन हो गए हैं, जैसे संसार में जीना ही नहीं है! कोई सेना लेकर इधर आ रहा है, तो सोचना चाहिए कौन है? और क्यों आ रहा है?'

राम ने लक्ष्मण की व्याकुलता को देखकर उसी से पूछा—'तुम्हीं अनुमान लगाओ—कौन हो सकता है?' अब लक्ष्मण का उत्तर वाल्मीकि के शब्दों में (अयोध्या काण्ड) पढ़िये—

सम्पन्नं राज्यमिच्छंस्तु व्यक्तं प्राप्याभिषेचनम्।
आवां हन्तुं समभ्येति कैकेय्या भरतः सुतः॥

—स्पष्ट है कि राज्य प्राप्त करके भरत अपने राज्य को निष्कंटक बनाने के लिए सेना लेकर हम दोनों को मारने आ रहा है—

गृहीतधनुषावावां गिरिं वीर श्रयावहे।
अथवेहैव तिष्ठावः सन्नद्धावुद्यतायुधौ॥

—आइये हम दोनों धनुष-बाण लेकर पहाड़ पर चढ़ चलें अथवा शस्त्रास्त्र से लैस होकर यहीं मोर्चा सम्भाल लें।

सम्प्राप्तोऽयमरिर्वीर भरतो वध्य एव मे।
भरतस्य वधे दोषन्नहि पश्यामि राघव॥

—यह हमारा शत्रु भरत स्वयं ही आ रहा है और सर्वथा मारने योग्य है। हे राघव! मैं भरत के मारने में कोई दोष नहीं देखता।

पूर्वापकारिणं हत्वा नह्यधर्मेण युज्यते।
पूर्वापकारी भरतस्त्यागे धर्मश्च शाश्वतः॥

—पहले घात करनेवाले को मारने में कोई पाप नहीं लगता। भरत ऐसा ही है, अतः इसका परित्याग धर्मानुकूल है।

राम लक्ष्मण के उत्तर को सुनकर छटपटा गए और कहने लगे—

धर्ममर्थञ्च कामञ्च पृथिवीं चापि लक्ष्मण!
इच्छामि भवतामर्थे एतत् प्रति शृणोमि ते॥

—हे लक्ष्मण! धर्म, अर्थ, काम और इस सारे राज्य को भी मैं तुम भाइयों को सुख पहुँचाने की दृष्टि से चाहता हूँ, यह मैं तुझे विश्वास दिलाता हूँ।

नेयं मम मही सौम्य दुर्लभा सागराम्बरा।
नहीच्छेयमधर्मेण शक्रत्वमपि लक्ष्मण॥

—हे सौम्य लक्ष्मण! मेरे लिए सागरपर्यन्त समस्त पृथिवी प्राप्त करना कोई कठिन नहीं है, किन्तु मैं अधर्म से इन्द्र-पद भी प्राप्त नहीं करना चाहता।

यद्विना भरतं त्वाञ्च शत्रुघ्नं वापि मानव।
भवेन्मम सुखं किञ्चिद् भस्म तत् कुरुतांशिखी॥

—हे लक्ष्मण! भरत, तुझे और शत्रुघ्न को छोड़कर यदि मुझे कुछ सुख प्राप्त हो भी, तो ऐसे सुख को मैं आग लगाना पसन्द करूँगा।

स्नेहेनाक्रान्तहृदयः शोकेनाकुलितेन्द्रियः।
द्रष्टुमभ्यागतो ह्येष भरतो नान्यथागतः॥

—प्रिय लक्ष्मण! प्रेमविभोर हृदय से मेरे-तेरे वियोग में दुःखी भरत

मुझे और तुझे मिलने आया है, किसी और विचार से नहीं।

विप्रियं कृतपूर्वन्ते भरतेन कदा नु किम्।
ईदृशं वा भयन्तेऽद्य भरतं यद्विशङ्कसे॥

—क्या पहले कभी भरत ने तुम्हें कोई कष्ट दिया है, जिसके कारण तुम डर रहे हो और उसपर शङ्का कर रहे हो?

यदि राज्यस्य हेतोस्त्वमिमां वाचं प्रभाषसे।
वक्ष्यामि भरतं दृष्ट्वा राज्यमस्मै प्रदीयताम्॥

—यदि राज्य के कारण तुम यह बात कह रहे हो तो भरत के मिलने पर मैं उसे कहूँगा कि यह राज्य लक्ष्मण को दे दो।

उच्यमानोहि भरतो मया लक्ष्मण तद्वचः।
राज्यमस्मै प्रयच्छेति वाढमित्येव मंस्यते॥

—हे लक्ष्मण! मेरे इस राज्य देने के प्रस्ताव पर भरत हाँ ही करेगा, ना नहीं।

राम के उद्गार कितने औदार्यपूर्ण और महान् हैं! राम ने इसी प्रकार के उदात्त विचार और आचार से अपने समय के समाज को अनुप्राणित किया था। यदि समय के प्रभाव से ही सब-कुछ होता तो उसका प्रभाव लक्ष्मण पर क्यों नहीं है, जो भरत को मारने के लिए उद्यत हो गया? फिर बालि और सुग्रीव, विभीषण और रावण भी तो त्रेता में ही थे। त्रेता का जादू उन्हें क्यों नहीं प्रभावित कर रहा था? वस्तुतः बात वही है कि राम ने अपने पवित्र और उच्च आचरण से सभी विचारशील व्यक्तियों को सन्मार्ग की ओर प्रेरित किया था।

इतिहास में अनेक उदाहरण ऐसे हैं कि राजा ने अपने अन्तिम समय में उत्तराधिकारी पुत्र को छोटा देखकर राज्य का अधिकार अपने भाई को देते हुए कहा कि इसके समर्थ और योग्य होने पर इसको राजा बना देना। यदि इसमें यह क्षमता न हो तो फिर शासनसूत्र अपने हाथ में ही रखना। इस संसार से विदा लेनेवाले भाई के प्रस्ताव को भाई ने रोकर स्वीकार किया, किन्तु राज्य पाने के बाद जब चस्का लगा तो अस्ली उत्तराधिकारी को समाप्त करके भी शासन को अपने अधिकार में रखने की बात मन में आई। इस प्रकार के दो नाम मुञ्ज और वनवीर के तो बहुत ही प्रसिद्ध हैं। मुञ्ज को भोज के पिता ने और वनवीर को उदयसिंह के पिता महाराणा साँगा ने राजा बनाया था। फिर क्या कारण था कि १४ वर्ष तक अयोध्या पर शासन करके भी भरत के मन में कोई विकार नहीं आया?

भरत को नन्दिग्राम में जब राम के वन से वापस आने का समाचार दिया गया तो भरत पुलकित हो उठे और कहने लगे—

अद्य जन्म कृतार्थं मे संवृतश्च मनोरथः।
यत्त्वां पश्यामि राजानमयोध्यां पुनरागतम्॥

—आज मेरा जीवन सफल हो गया। मेरी सब मनौतियाँ पूरी हो गईं कि आज अयोध्या के अधिपति को, आपको आया हुआ देख रहा हूँ।

पादुके ते तु रामस्य गृहीत्वा भरतः स्वयम्।
चरणाभ्यां नरेन्द्रस्य योजयामास धर्मवित्॥

—भरत ने सिंहासन पर रखी राम की खड़ाऊँ स्वयं अपने हाथ से उठाकर राम के चरणों में पहनाकर अयोध्या के साम्राज्य की ओर सङ्केत करके कहा—

एतत्ते सकलं राजन्न्यासन्निवर्तितं मया।

—हे भाई! तुम्हारा यह सारा राज्य मैंने धरोहर के रूप में सुरक्षित रक्खा है, अब इसे आप सम्भालिये।

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि राम के समय का समाज राम, भरत तथा इसी प्रकार के उदात्तचरित विचारशील व्यक्तियों ने बनाया था। वह समय के प्रभाव से स्वतः नहीं बन गया था।

इसी प्रकार द्वापर में बुराइयों के बीहड़ जङ्गल को सतत जागरूक रहकर और निरन्तर घोर परिश्रम करके योगिराज कृष्ण ने समाज के वायुमण्डल को शुद्ध किया था, अतः वेद ने कहा कि प्रत्येक विचारशील व्यक्ति सद्‌गुणों के प्रचार के लिए सचेष्ट रहे तो मानव-समाज सुख और शान्ति का घर बन सकता है।

मन्त्र की दूसरी बात है शुभकर्म करनेवालों के सद्‌गुणों की सराहना करके उनका उत्साह बढ़ाना चाहिए। इससे वे और उमङ्ग से काम करेंगे तथा अन्य सामान्य व्यक्ति भी उनके यश और गौरव को देखकर शुभकर्म करने की प्रेरणा लेंगे। इसके विपरीत, यदि उनकी प्रशंसा न करके डाह और जलन से उन पर मिथ्या दोषारोपण करके उनकी टाँग खींचेंगे तो इससे समाज की बहुत बड़ी हानि यह होगी कि लोग भलाई का काम करने से कतराएँगे और परिणामस्वरूप अच्छाई के प्रचार का मार्ग अवरुद्ध हो जाएगा।

मन्त्र की तीसरी बात है कि ज्ञान को अपने आचरण का अङ्ग बनाकर ही दूसरों को उपदेश देना चाहिए, तभी कथन का प्रभाव होता है। यदि स्थिति इसके विपरीत हो तो उसका फल सन्तोषप्रद नहीं होगा, फिर तो लोग आलोचना करते हुए यही कहेंगे—

मदहवे-गुफ्तार को समझो न इख़लाकी सनद।
ख़ूब कहना और है और ख़ूब होना होना और है॥

मन्त्र की चौथी और अन्तिम बात है—हम वाणी को वश में रखके उसका इस प्रकार प्रयोग करें कि सब ओर आनन्द और माधुर्य की वृद्धि हो।

❑❑

(२३)

वर्णव्यवस्था का वैज्ञानिक रूप

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्याᳬ शूद्रोऽअजायत॥

—यजुः० ३१।११

ऋषिः—नारायणः॥ देवता—पुरुषः॥ छन्दः—निचृदनुष्टुप्॥

अन्वयः—अस्य मुखम् ब्राह्मण आसीत् बाहू राजन्यः कृतः। तदस्य ऊरू यद् वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥

शब्दार्थ—(**अस्य**) इस पूर्ण-पुरुष प्रभु की व्यवस्थानुसार (**मुखम्**) मुख के समान मुख्य गुण और कर्मों से सम्पन्न होने से (**ब्राह्मण**) ब्राह्मणवर्ण (**आसीत्**) उत्पन्न हुआ। (**बाहू**) भुजाओं के समान बल-पराक्रमयुक्त (**राजन्यः**) क्षत्रियवर्ण (**कृतः**) उत्पन्न किया। (**ऊरू**) शरीर के मध्यभाग जङ्घाओं के समान कृषि-वाणिज्यादि गुणों से युक्त (**वैश्यः**) वैश्यवर्ण उत्पन्न किया। (**पद्भ्याम्**) शरीर के सबसे नीचे भाग पग के समान शारीरिक श्रम के काम करनेवाले (**शूद्रः**) शूद्र (**अजायत**) उत्पन्न किये।

व्याख्या—वेद-प्रतिपादित समाज-व्यवस्था में मानव की समानता और एकता वह उदात्त आदर्श उपस्थित है, जिसकी उपमा अन्यत्र मिलनी असम्भव है। इस समाज-व्यवस्था के अनुसार चलनेवाले वेदानुयायी आर्यों की शिक्षा, दीक्षा, रीति, नीति, सभ्यता और संस्कृति तथा आचार-व्यवहार की गुरुता को आज प्रायः समस्त सभ्य संसार स्वीकार कर चुका है।

आर्यों का इतना उच्च चरित्र, सुव्यवस्थित राज्य और वह स्वर्गिक वातावरण कि जिसमें चौदह-चौदह वर्ष तक खड़ाऊँ ही राज्य करती रहें, क्यों हो सका? इसका मूल कारण था उनका समाज-सङ्गटनात्मक उच्चकोटि का ज्ञान, जिसको शास्त्रीय शब्दों में वर्णाश्रम धर्म कहते हैं।

वर्ण-धर्म समाज में समानता, सहानुभूति और समवेदना की भावना को उत्पन्न करने के लिए जादू है। आश्रमधर्म काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य को जड़ से उखाड़कर शान्ति-स्थापना के लिए निष्फल न जानेवाली दिव्यौषध है। अतः आइये, आज कुछ वर्णधर्म पर विचार करें।

मनुष्य सामाजिक (Social) प्राणी है। बिना समाज के उसका निर्वाह नहीं हो सकता। अकेला मनुष्य तो अपनी आवश्यकताओं की भी पूर्त्ति नहीं कर सकता। आप ही देखें कि मनुष्य यदि स्वयं ही कृषि करके

अन्न उत्पन्न करे, स्वयं ही अन्न निकाले, स्वयं ही पीसे, स्वयं ही पकावे, स्वयं कपास उत्पन्न करे, स्वयं काते, स्वयं कपड़ा सीवे, स्वयं चमड़ा तैयार करे और स्वयं ही जूता बनावे और एक क्षण बिना विश्राम किये वह अपनी ही आवश्यकताएँ पूरी करने में लगा रहे, तो भी अपने कार्यों को पूर्णरूप से करने में समर्थ न होगा, पुनः सभ्यता का विकास तो दूर की बात है। अतः आर्यों ने मानव-विकास तथा सामाजिक कार्यों का सुचारु रूप से सम्पादन करने के लिए वेद के आदेशानुसार सम्पूर्ण मनुष्य-समाज को चार भागों में विभक्त किया था और यह विभाजन नितान्त वैज्ञानिक है। यथा—

इस मानव-समाजरूपी शरीर का ब्राह्मण मुख-सदृश है, क्षत्रिय बाहुतुल्य है, वैश्य जङ्घाओं के समान है और शूद्र पैरों के सदृश है, अर्थात् मानव-शरीर में जो कार्य मुख करता है, उसको समाज में ब्राह्मण करे। जैसे कान, आँख, नाक और रसना ये चार ज्ञानेन्द्रियाँ सिर (मुख) में हैं, ठीक इसी प्रकार ब्राह्मण-समुदाय ज्ञान और विद्या का केन्द्र हो। अन्य पुरुषों की भाँति केवल सामान्य ज्ञान रखने पर मुख से उसकी उपमा उपयुक्त न रहेगी, अतः मुख जिस प्रकार ज्ञानेन्द्रियों का केन्द्र है, उसी प्रकार विविध विषयों की विद्या से विभूषित होना विप्र के लिए अनिवार्य है।

शरीर में मुख को मुख्य होने के कारण ही 'मुख' कहा जाता है। अशक्तबाहुवाले और लूले-लँगड़े भी अपना जीवन-निर्वाह सम्मान और सुख से कर लेते हैं, यदि उनके ब्राह्मण देवता (मस्तिष्क) सही-सलामत हों। मस्तिष्क विकृत होने पर तो मनुष्य, मनुष्य ही नहीं रहता। संसार उसको पागल कहता है। ठीक इसी प्रकार जहाँ परिष्कृत मार्गाभिमर्शी तत्त्वदर्शी नेता ब्राह्मण नहीं है, उस समाज का संसार में कोई मूल्य नहीं। अन्यच्च, मुख शरीर की रक्षा और पोषण के लिए प्रतिपल, प्रतिक्षण ध्यान रखता है, उसके सुख-साधन के लिए अनेक प्रकार के आहार-विहार की चिन्ता करता है, शरीर के रोगी होने पर अपनी सब इन्द्रियों से असहयोग करके कड़वी-से-कड़वी ओषधि को प्रथम स्वयं खाता है। इसी प्रकार समाज की उन्नति और विकास के लिए सुख-सम्पत्ति की वृद्धि और दुःख-दारिद्र्य के नाश के लिए प्रतिपल, प्रतिक्षण विचार करना, सतर्क रहना, ब्राह्मण का कर्त्तव्य है। स्वस्थावस्था में मुख जैसे सुन्दर दृश्य देखकर, उत्तम शब्द सुनकर, सुगन्ध सूँघकर और नाना प्रकार के स्वादु-पदार्थ खाकर अपने को आनन्दित करता है, इसी प्रकार सामाजिक अवस्था अच्छी होने पर ब्राह्मण स्वान्तःसुखाय चाहे जितना आत्मचिन्तन और साहित्यिक विवेचन करते हुए सुखपूर्वक अपना जीवन व्यतीत करे, किन्तु शरीर के अस्वस्थ होने पर मुख ने जैसे सब-कुछ भुलाकर कटु औषध का सेवन किया, इसी प्रकार समाज के लिए ब्राह्मण

को कष्ट सहने को भी सदा उद्यत रहना चाहिए। इस कार्य के सम्पादनार्थ उसे सदैव प्राणों तक की बाज़ी लगाकर कटिबद्ध रहना चाहिए। इसके अतिरिक्त मुख प्राप्त ज्ञान को वाणी से कहने का कार्य भी करता है। ब्राह्मण भी शास्त्रों का अनुशीलन करके समाज का मार्गदर्शन करे।

वेद ने ब्राह्मण के इन कर्त्तव्यों का निम्न प्रकार वर्णन किया—

संवत्सरं शशयाना ब्राह्मणा व्रतचारिणः।
वाचं पर्यन्यजिन्वितां प्र मण्डूका अवादिषुः॥

—ऋ० ७।१०३।१

'सम्पूर्ण वर्ष समाधि की शान्तवृत्ति में रहते हुए मर्यादानुसार आचरण करनेवाले तथा सत्य का मण्डन और असत्य का खण्डन करनेवाले ब्राह्मण कामनाओं को पूर्ण करनेवाली वाणी को ओजस्वी शब्दों में बोले।'

ब्राह्मणासः सोमिनो वाचमक्रत ब्रह्म कृण्वन्तः परिवत्सरीणम्।
अध्वर्यवो धर्मिणः स्विष्विदाना आविर्भवन्नि गुह्यान केचित्॥

—ऋ० ७।१०३।८

'सौम्य, शान्त, सर्वोपकारक, तपस्वी ब्राह्मण, वेद को समग्र संसार में फैलानेवाले, संसार के कार्यक्षेत्र में आते हैं और उपदेश देते हैं, अर्थात् शीतल स्वभाव, किसी से द्वेष न करनेवाला, ज्ञान-विज्ञान का अधिकारियों को उपदेश देनेवाला (पढ़ानेवाला), सत्यासत्य के निर्णय के लिए मनुष्यमात्र को उपदेश देनेवाला ब्राह्मण को होना चाहिए।'

मानव-धर्मशास्त्र भी इन्हीं कार्यों का प्रतिपादक है—

अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा।
दानं प्रतिग्रहश्चैव ब्राह्मणानामकल्पयत्॥

—मनु० १।८८

पढ़ना-पढ़ाना, यज्ञ करना-कराना, दान देना और दान लेना ब्राह्मणों का कर्त्तव्य है।

दूसरा नम्बर बाहुओं का है। 'बाहु' बल के प्रतिनिधि हैं। शतपथ ब्राह्मण '**बाहुर्वै वीर्यम्, बाहुर्वै बलम्**' कहकर यह स्पष्ट कर रहा है कि शरीर की रक्षायोग्य शक्ति होने के कारण ही इनका नाम 'बाहु' पड़ा है। इसी प्रकार बलाधिक्य से समाज की रक्षा करनेवालों को क्षत्रिय कहेंगे। बाहु सारे शरीर की रक्षा का कार्य करते हैं। शिर पर आघात हो या जङ्घा अथवा पैरों पर आघात हो तो उनकी रक्षा करने के लिए बाहुओं को सदा चौकन्ना रहना पड़ता है। यथा बाहु इस सम्पूर्ण रक्षाकार्य को मस्तिष्क की सहायता से करते हैं, तथैव समाज में क्षत्रियजन ब्राह्मण की सम्मति से रक्षा-कार्य करे।

यदि ब्राह्म और क्षात्र, दोनों शक्तियाँ परस्पर के परामर्श के बिना कार्य करेंगी तो अधिक बल का प्रयोग होकर लोकहानि की सम्भावना

रहेगी। वेद इस बात को बड़े सुन्दर शब्दों में कहता है—

यत्र ब्रह्म च क्षत्रञ्च सम्यञ्चौ चरतः सह।
तं लोकं पुण्यं प्रज्ञेषं यत्र देवाः सहाग्निना॥

—यजु० २०।२५

भाव यह है कि—'जहाँ ब्रह्म और क्षत्र, दोनों शक्तियाँ परस्पर के सहयोग से कार्य करती हैं, वहाँ सब काम पूर्ण और निर्विघ्न समाप्त होते हैं।'

इस स्थल में एक बात और विशेष ध्यान देने योग्य है कि शरीर में पाँच वायु—प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान होते हैं। इन पाँचों वायुओं को व्यवस्थित रखनेवाले जीवनशक्ति के केन्द्र प्राण बाहुओं की रक्षा में, हृदयप्रदेश में बैठे रहते हैं। इसी प्रकार जिस समाज का अथवा राष्ट्र का क्षत्रबल जितना सशक्त और व्यवस्थित होगा, उसका जीवन उतना ही सुरक्षित होगा। इसके विपरीत जहाँ इस अङ्ग में निर्बलता होगी, वहाँ प्राण प्रत्येक समय जाने की बाट जोहते रहते हैं। वेद भी क्षत्रिय के निम्न गुण-कर्त्तव्य बताता है—

ये शुभ्रा घोरवर्पसः सुक्षत्रासो रिशादसः।
मरुद्भिरग्न............॥ —ऋ० १।१९।५

'गौर वर्णवाले, विशालकाय, शत्रु को मार गिरानेवाले, मृत्यु से भी न डरनेवाले, क्षत्रियों के साथ रक्षार्थ आ।' अर्थात् शारीरिक बल-सम्पन्नता तथा ओजस्विता, निर्भयता तथा प्रबन्धरुचि आदि गुणों को रखनेवाला क्षत्रिय होता है।

अयमस्तु धनपतिर्धनानामयं विशां विशपतिरस्तु राजा।
अस्मिन्निन्द्र महि वर्चांसि धेह्यवर्चसं कृणुहि शत्रुमस्य॥

—अथर्व० ४।२२।३

'यह क्षत्रिय धनों का स्वामी हो, प्रजाओं तथा व्यापारियों का योग्य पालक होने के कारण राजा होवे। हे प्रभो! इसको इतना तेजस्वी कर कि शत्रु इसके सामने आते ही फीके हो जाएँ।' इन्हीं गुणों को मनु ने इस प्रकार प्रकट किया—

प्रजानां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च।
विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः॥

—मनु० १।८९

'समाज की रक्षा करना, सुपात्रों की सहायता करना, यज्ञ तथा अध्ययन करना, संयमी होना, ये संक्षेप से क्षत्रियों के गुण और कर्म हैं।'

तीसरा क्रम है जङ्घाओं का। जाने-आने का कार्य इनके सहारे पर ही होता है। कृषि-सम्बन्धी तथा व्यापार-सम्बन्धी सभी कार्यों का

सम्पादन बिना पुष्ट जङ्घाओं के असम्भव है। इस ओर रुचि रखनेवाले मानव-समुदाय को वैश्य नाम से पुकारेंगे। वेद वैश्यों के कर्म का निम्न प्रकार से वर्णन करता है—

इन्द्रमहं वणिजं चोदयामि स न ऐतु पुरएता नो अस्तु।
नुदन्नरातिं परिपन्थिनं मृगं स ईशानो धनदा अस्तु मह्यम्॥

—अथर्व० ३।१५।१

'मैं ऐश्वर्य-सम्पन्न वैश्य को आगे करता हूँ। वह हमारे पास आवे और हमारी आर्थिक कठिनाइयों को सुलझाने के लिए हमारा अगुआ बने। कञ्जूस, व्यापार-विरोधी और पशुवृत्तिवाले शत्रु को दूर करके वह हमें धन देनेवाला हो।'

इस मन्त्र में यह बताया कि—(१) व्यापार की ओर रुचि रखनेवाला मानव-समुदाय व्यापार के योग्य पूँजी से सम्पन्न होना चाहिए। (२) दूसरी बात यह है कि उसके समक्ष केवल अपने स्वार्थ का ही प्रश्न नहीं होना चाहिए, अपितु मानवमात्र की कठिनाइयों को हल करना उसका कर्त्तव्य है। (३) तीसरी बात यह है कि लाभ नियत हो, मनमाने मूल्य लगानेवाले कोई न हों। (४) चौथी बात यह है कि वैश्य अपनी सम्पत्ति को राष्ट्र की सम्पत्ति समझे और राष्ट्र की आवश्यकताओं की पूर्त्ति यथाशक्ति अवश्य करता रहे।

वैश्य के कर्मों का कितना सुन्दर विवेचन है! यही बात मानव-धर्मशास्त्र में कही गई है—

पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च।
वणिक् पथं कुसीदञ्च वैश्यस्य कृषिमेव च॥

—मनु० १।९०

'गो आदि हितकारी पशुओं का पालन, शुभकार्यों के निमित्त दान, यज्ञ करना, वेदादि शास्त्रों का अध्ययन करना, व्यापार करना, उचित ब्याज लेना और खेती करना—ये वैश्य के कर्म हैं।'

शरीर में चौथा भाग पैरों का है। यह सारा भव्य भवन (शरीर) इन्हीं के ऊपर खड़ा है; मुख का कार्य हो, बाहुओं का हो, जङ्घाओं का हो, ये सबकी आज्ञापालन करने को उद्यत रहते हैं। ठीक इसी प्रकार ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य की सेवा करना शूद्रों का कार्य है।

मनु ने कहा है कि—

एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत्।
एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया॥

—मनु० १।९१

'प्रेम से ब्राह्मणादि तीनों वर्णों की सेवा करना, शूद्र का यही प्रधान कार्य है।' जिस प्रकार शरीर के ये चारों भाग मिलकर, किसी को ऊँच-

नीच न समझकर समानभाव से उसकी रक्षा करते हैं, उसी प्रकार अपने गुण और कर्म के आधार पर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों को प्रेम एवं परस्पर के सहयोग से राष्ट्र की रक्षा करनी चाहिए। शरीर में शिर से पैर तक किसी भाग पर आघात पहुँचने पर जैसे सारे शरीर में उथल-पुथल मच जाती है और अङ्गविशेष के कष्ट को अपना समझकर उसे दूर करने के लिए सब अङ्ग उद्यत हो जाते हैं, ऐसे ही चारों वर्णों में परस्पर प्रेम, त्याग और सहानुभूति की भावना भरपूर होनी चाहिए। पारस्परिक प्रेम को सुदृढ़ बनाने के लिए गुण और कर्म के आधार पर मानव-समुदाय का यह निर्दोष वैज्ञानिक विभाजन है।

दुर्भाग्य

किन्तु भारत के दुर्भाग्य से कुछ औंधी खोपड़ियों ने इसको उल्टा ही समझा। जहाँ वर्णों का व्यवस्थापक यह मन्त्र प्रेम का पुनीत सन्देश देता है, वहाँ उन्होंने इसके आधार पर वर्णों में राग-द्वेष की वे गहरी खाइयाँ खोदीं जिनका पाटना आज कठिनतम कार्य हो रहा है। जहाँ 'वर्ण' प्राचीनकाल में अपने कर्मों की कमाई समझा जाता था, वहाँ मध्यकाल में उस पर जन्म की मुहर लग गई। भारत के पतन के अन्यान्य कारणों में से यह भी एक प्रमुख कारण बना। जन्ममूलक झगड़ों और बखेड़ों ने इस देश को कल्पनातीत जो हानि पहुँचाई, सारे आर्यावर्त्त का मानव-समाज प्याज़ और केले के छिलके के समान सार-विहीन हो गया। ब्राह्मणों में, क्षत्रियों में, वैश्यों में और शूद्रों में हज़ारों प्रकार की बिरादरियों का निर्माण हुआ। एक अपने से भिन्न, दूसरे को नीचा समझने लगा। बहुत-से क्षत्रियों में कन्या को उत्पन्न होते ही इसलिए मारते रहे कि उनसे बड़ा तो क्षत्रिय और कोई नहीं है, फिर कन्यादान कर किसके सामने झुकेंगे? इन अत्याचारों की बाढ़ ने शूद्रों की तो आत्मा को ही मसल डाला। दूसरे समझें तो समझें, वे बेचारे स्वयं भी अपने-आपको न छूने योग्य और घृणित समझने लगे। उनको यह विश्वास हो गया कि वस्तुतः हम पतित हैं और हमारा उद्धार नहीं हो सकता। आश्चर्य है कि ब्राह्मणादि वर्णों के समान आकार-प्रकार रखनेवाला एक मानव कुत्ते और बिल्ली से बदतर समझा गया। अन्ततः उनका अपराध क्या है, जिसके कारण उन्हें न छूने योग्य और घृणित समझा जाता है? यही न कि वे आपकी सेवा करते हैं! ऊँच-नीच की कसौटी भी कैसी हास्यास्पद है! पण्डितजी, ठाकुर साहब और लालाजी इसलिए ऊँचे हैं कि कपड़ा मैला कर देते हैं और धोबी इसलिए नीचा है कि उस मैल को धोकर कपड़ा साफ़ कर देता है! और मेहतर इसलिए नीचे हैं कि वे इस गन्दगी को दूर कर हमें शुद्ध वायु प्राप्त होने में सहायता देते हैं! है न विकृत मस्तिष्क की उपज? ये भूलें और असावधानियाँ साधारण समुदाय की हैं, यह भी बात नहीं है, आचार्य शङ्कर जैसे उद्‌भट विद्वान्

और तार्किक भी इस विषय में अपनी योग्यता और प्रतिभा का दिवाला निकाल बैठे—

"**श्रवणाध्ययनार्थप्रतिषेधात्स्मृतेश्च।**" —वे०द० १।३।३८

इस सूत्र पर भाष्य करते हुए शङ्कराचार्य जी शूद्र को वेद के अध्ययन का अनधिकारी सिद्ध करते हुए लिखते हैं—

अथास्य वेदमुपशृण्वतस्त्रपुजतुभ्यां श्रोत्रप्रतिपूरणम्।

(१) कि शूद्र यदि वेद को सुन ले तो राँगा और लाख उसके कर्ण-छिद्रों में भर देना चाहिए। (२) शूद्र श्मशान के समान है, उसके समीप बैठकर अध्ययन भी नहीं करना चाहिए। (३) शूद्र को उपदेश भी नहीं देना चाहिए। यह है भाष्यकारों की योग्यता और उदारता! ढर्रा ही ऐसा था! किसी ने सही स्थिति पर विचारने के लिए बुद्धि पर बल नहीं दिया। गौतम अपने धर्म-सूत्र में इनसे भी दस कदम आगे निकल गए। आप लिखते हैं कि—

अथहास्यवेदमुपशृण्वतस्त्रपुजतुभ्यां श्रोत्रप्रतिपूरणम् उदाहरणे जिह्वाछेदो धारणे शरीरभेदः॥ —२।३।४

कि 'शूद्र यदि वेद को सुन ले तो कानों में राँगा और लाख भरवा दें, बोले तो जिह्वा काट दें और स्मरण कर ले तो वध कर दें।' एक स्थान पर लिखते हैं कि—

जीर्णान्युपानच्छत्रवासः कूर्चादीनि। —२।१।६

कि 'शूद्रों को फटे-पुराने कपड़े-जूते आदि पहनने को दें और वे दाढ़ी रखें, अर्थात् उनको बाल कटवाने का अधिकार नहीं है।'

किन्तु वेद यह बताता है कि किन्हीं भी ग्रन्थों के अध्ययन का अधिकार किसी एक वर्ण को नहीं, अपितु जिनके पास बुद्धि है, जो उसको समझ सकते हैं, उन सभी को पढ़ने का अधिकार है—

यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः।
ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय॥

—यजु० २६।२

'जिस प्रकार मैं इस कल्याणी वाणी को मनुष्यमात्र को देता हूँ, इसी प्रकार तुम भी ब्राह्मण, क्षत्रिय, शूद्र, अपने सगे-सम्बन्धी और अति शूद्रों को भी इसका उपदेश करो।' दुःख है दूसरे शास्त्रों की दुहाई देनेवाले (सनातनी) वेद के कथन का शतांश भी पालन करते तो भारत का इतिहास ही कुछ और होता। औरों के पठन-पाठन पर प्रतिबन्ध लगाते-लगाते स्वयं भी मूर्ख रह गए। पढ़ने की आवश्यकता भी क्या थी जब बिना पढ़े-लिखे भी वही अधिकार और सम्मान प्राप्त था! अविद्या के कारण भारत में वह धाँधली मची कि जिसका वर्णन करते हुए महान् कष्ट होता है। जन्म-मूलक वर्ण-व्यवस्था ने योग्य और अयोग्य की

पहचान खो दी। विशाल और उदार दृष्टिकोण बिरादरी के कुछ मनुष्यों के आदर तक ही सीमित रह गया। परस्पर भी समवेदना और सहानुभूति सर्वथा नष्ट हो गई। इस स्थिति में जब मुसलमानों ने भारत पर आक्रमण किया तो एक राजा ने दूसरे राजा का साथ नहीं दिया, क्योंकि उनमें से कोई तोमर, कोई चौहान, कोई परिहार, कोई प्रतिहार, कोई गुर्जर, कोई सीसोदिया, कोई राठौर और कोई कुशवाहा थे। बिरादरी के झंझटों ने ही प्रेम के बन्धन शिथिल कर दिये थे। जब चौहानों पर आक्रमण हुआ तो राठौर यह सोचते रहे कि हम क्यों सहायता करें, वह कौन-सा हमारी बिरादरी का है? दूसरी बिरादरी के शासक पर आक्रमण हुआ तो इनकी भी यही धारणा रही। परिणाम यह निकला कि एक-एक करके सभी कुचले गए।

अस्तु, 'सवेरे का भूला यदि शाम तक घर आ जावे तो भूल में शुमार नहीं है' कहावत के अनुसार आज भी सब पुरानी सङ्कीर्णताओं का मुँह काला करके वैदिक वर्ण-व्यवस्था के आधार पर पुनः सङ्गठित होकर देश का सब मिलकर उद्धार करें, तो बिगड़े हुए खेल को बनने में देर न लगे। पर भारत का इतना सौभाग्य कहाँ? यहाँ तो अब भी 'अपनी-अपनी ढपली पर अपना-अपना राग' अलापा जा रहा है। अब भी वही दावा है कि ब्राह्मण का पुत्र, चाहे काला अक्षर भैंस बराबर रहे, तब भी ब्राह्मण ही है और शूद्रकुलोत्पन्न कितना ही गुणी और विद्वान् क्यों न हो, शूद्र ही रहेगा। विचारने की बात है, जब डॉक्टर का पुत्र बिना योग्यता के डॉक्टर, वकील का पुत्र केवल वकील के घर जन्म लेने से वकील, शास्त्री का पुत्र बिना शास्त्र पढ़े शास्त्री नहीं हो सकता, तो केवल जन्म लेने के कारण ब्राह्मणादि वर्ण का अधिकारी कैसे बन गया? इस पर भी तुर्रा यह कि यह विधान वेद और शास्त्रों का है—ऐसी घोषणा की गई। अतः आगे संक्षेप में शास्त्रों का पर्यालोचन तथा उसका युक्तिक्रम देख लेना अधिक समीचीन होगा।

वेदादिशास्त्र और जन्मजाति

वर्णों के गुण-कर्म-वर्णन-प्रसङ्ग में कई वेद-मन्त्रों द्वारा यह दिखाया जा चुका है कि वेद के समस्त मन्त्र गुण और कर्म की योग्यता पर वर्ण-निर्णय करते हैं। उनमें एक भी शब्द ऐसा नहीं है, जो बिना योग्यता के केवल किसी का पुत्र होने के कारण वर्ण की उपाधि देने का सङ्केत करता हो। आप जन्म से वर्ण माननेवालों की युक्तियों को तोलिये और प्रमाणों की पड़ताल कीजिये। सबसे प्रथम इसके पोषक कहते हैं कि ईश्वर की सब रचनाओं में भेद है—वृक्षों में आम, पीपल, अमरूद, अनार आदि, पशुओं में गौ, गधा, घोड़ा आदि, पक्षियों में तोता, मैना, मयूर आदि, इसी प्रकार मनुष्यों में ब्राह्मण, क्षत्रियादि भेद हैं। ऐसा कहनेवाले वर्ण और जाति एक वस्तु मानकर भारी भूल करते हैं अथवा

स्वयं वास्तविकता को जानते हुए भी स्वार्थवश साधारण जनता को भ्रम में डालते हैं। जाति का लक्षण भगवान् गौतम से पूछिए! न्यायशास्त्र में आकृति का लक्षण करते हुए वह लिखते हैं—

आकृतिरितिलिङ्गाख्या। —न्या०द० २।२।६८

इस पर वात्स्यायन मुनि भाष्य करते हैं—

यथा जातिजातिळिङ्गानि च प्रत्याख्यायन्ते तामाकृतिं विद्यात्।

जिससे जाति और जाति के चिह्न बताए जाते हैं, उसे आकृति कहते हैं। अब स्वाभाविक रूप से प्रश्न उठता है कि जाति किसे कहते हैं? तो उत्तर दिया—

समानप्रसवात्मिका जातिः। —न्या० २।२।१९

इस सूत्र पर भी वात्स्यायन मुनि का भाष्य देखिए—

''या समानां बुद्धिं प्रसूते भिन्नेष्वधिकरणेषु, यया बहूनीतरेतरतो न व्यावर्तन्ते, योऽर्थोऽनेकत्रप्रत्ययानुवृत्तिनिमित्तं तत् सामान्यम्। यच्च केषाञ्चिदभेदं कुतश्चिद्भेदं करोति तत् सामान्यविशेषा जातिरिति।''

अर्थात् 'भिन्न-भिन्न वस्तुओं में समानता उत्पन्न करनेवाली जाति है। इस जाति के आधार पर अनेक वस्तुएँ आपस में पृथक्-पृथक् नहीं होतीं, अर्थात् एक ही नाम से बोली जाती हैं, जैसे गौएँ पृथक् कितनी भी हों तो सबको गौ कहते हैं। यह एकता जाति के कारण ही उत्पन्न हुई। जाति भी दो प्रकार की होती है—एक सामान्य, दूसरी सामान्य-विशेष।' जो अनेक वस्तुओं में एक आकार की प्रतीत होती है वह सामान्य जाति है, जैसे पशु-जाति सामान्य है। यह पशुत्व गौ, भैंस, घोड़े आदि में सामान्य (एक-जैसा) है। जो किसी से भेद और किसी से अभेद कराती है, वह सामान्यविशेष जाति है, जैसे गौ। गौ की प्रतीति सब गौओं में एक-जैसी होती है, यह तो हुआ अभेद, पर घोड़े को गौ नहीं समझ सकते यह हुआ भेद, तो इसका नाम सामान्यविशेष जाति है। उक्त दोनों जातियों में से मनुष्य सामान्य जाति है। मनुष्यत्व की दृष्टि से सभी वर्ण मनुष्य हैं, न उनमें कोई ज्येष्ठ है और न कनिष्ठ। ज्येष्ठता और कनिष्ठतावाले तो गुण होते हैं। मनुष्ययोनि, क्योंकि कर्म और भोग दोनों की योनि है, अतः इसमें गुणों के साथ कर्म पर भी ध्यान देना अनिवार्य है। अतः ब्राह्मणादि वर्णों का निर्णय गुणों और कर्मों के आधार पर होने के कारण ही वर्णों का नाम वर्ण पड़ा, क्योंकि वर्ण शब्द का अर्थ गुण और कर्म है—

''वरणीया वरितुमर्हा गुणकर्माणि च दृष्ट्वा यथायोग्यं व्रियन्ते ये ते वर्णाः।''

'गुण और कर्म देखकर जो किसी समुदाय-विशेष के स्वीकार किये जावें, वे वर्ण कहलाते हैं।' निरुक्त को वर्ण का अर्थ कर्म भी अभीष्ट है—

वृतमिति कर्मनाम वृणोतीति सतः। —नि०आ० २, पा० ४

यहाँ वृञ् धातु से बननेवाले वृत शब्द का अर्थ स्पष्ट ही कर्म किया है और साथ ही हेतु दिया है—"**वृणोतीति सतः**" क्योंकि 'शुभकर्म मनुष्य को ढक लेते हैं, अतः व्रत का अर्थ कर्म है।' इसी प्रकार इसी धातु से निष्पन्न हुए वर्ण शब्द का अर्थ "**वर्णो वृणोतेः**" के आधार पर गुण और कर्म हैं। वर्ण शब्द गुण और रङ्ग के अर्थ में जो अबतक प्रचलित है, वह और वर्ण है; कृष्ण वर्ण है—ऐसा प्रयोग बहुधा बोलचाल में होता है। अतः सार यह निकला कि वृक्ष, पशु, पक्षी सामान्यविशेष जाति का केवल सामान्य जातिवाले मनुष्य के साथ उदाहरण-सामञ्जस्य नहीं घटता। पशु कहने से सब प्रकार के पशु, पक्षी कहने से सब प्रकार के पक्षी, वृक्ष कहने से सब प्रकार के वृक्ष गृहीत होते हैं, किन्तु गौ कहने से गौ-जाति के पशुओं का, तोता कहने से तोता-जाति के पक्षियों का, आम्र कहने से आम्र-जाति के वृक्षों का ही ग्रहण होता है, अन्य का नहीं। मनुष्य सामान्य जाति है। मनुष्य कहने से सब मनुष्यों का ग्रहण हो जाता है।

अतः सामान्य जाति का सामान्यविशेष जाति के साथ मिलान करना भारी भूल है। हाँ, जिस प्रकार आम्र में खट्टे-मीठे आदि गुणों का भेद होता है, वैसे तोते तोते में पढ़ने या न पढ़ने के गुण का भेद होता है, गौ गौ में न्यून और अधिक दूध आदि देने के गुण का भेद होता है। इसी प्रकार मनुष्यों में अच्छे और बुरे गुणों और कर्मों के आधार पर भेद है। इसी को शास्त्र ने वर्ण कहा है। यदि सामान्यविशेष जाति पशु-पक्षियों का-सा मनुष्य में भी कोई भेद होता तो जिस प्रकार भिन्न-भिन्न पशुओं के झुण्ड में से गौ, भैंस आदि को पृथक्-पृथक् पहचान लेते हैं, वृक्षों और पक्षियों को पृथक्-पृथक् जानते हैं, इसी प्रकार मनुष्यों के समूह में से ब्राह्मण-क्षत्रियादि को अलग से पहचान लेते, किन्तु कोई भी नहीं पहचान सकता। सभी नये मनुष्यों से मिलने पर बहुधा पूछते हैं—आप किस वर्ण के हैं? अच्छे-अच्छे ऋषि भी देखकर यह पहचान नहीं कर सके। अन्त में गुणों और कर्मों के आधार पर ही वर्ण का निश्चय किया, जन्म के कारण नहीं। छान्दोग्य उपनिषद् की एक कथा पर दृष्टि डालिये—

"**सत्यकामो ह जाबालो जबालां मातरमामन्त्रयाञ्चक्रे। ब्रह्मचर्यं भवति विवत्स्यामि किं गोत्रोऽहमस्मि इति।**"

जबाला के पुत्र सत्यकाम ने अपनी माता जबाला से पूछा कि—'माताजी! मैं ब्रह्मचर्य व्रत धारण करना चाहता हूँ, बताइए मेरा क्या गोत्र है?'

"**सा हैनमुवाच नाहं एतद् वेद तात यद् गोत्रस्त्वमसि बह्वहं चरन्ती परिचारिणी यौवने त्वामलभे। साहमेतन्न वेद यद् गोत्रस्त्वमसि। जबाला तु नामाहमस्मि सत्यकामो नाम त्वमसि स सत्यकाम एष जाबालो ब्रुवीथा इति।**"

जबाला ने उत्तर दिया कि—'पुत्र! मैं यह नहीं जानती कि तू किस गोत्र का है। मैं इधर-उधर बहुत-सों की सेवा में रही। तू मुझे जवानी में प्राप्त हुआ। सो मैं यह नहीं जानती कि तू किस गोत्र का है। बस, मैं इतना ही बता सकती हूँ कि मेरा नाम जबाला है और तेरा नाम सत्यकाम है। इसलिए तुम अपने परिचय में केवल इतना ही कहो कि मैं जबाला का पुत्र सत्यकाम हूँ।'

''स हारिद्रुमतं गौतममेत्योवाच, ब्रह्मचर्यं भगवति वत्स्याम्युपेयां भगवन्तमिति।''

'सत्यकाम हारिद्रुमत गौतम के पास आया, बोला—भगवन्! मैं आपके पास ब्रह्मचर्य-वास करूँगा। इसी इच्छा से मैं आपकी सेवा में आया हूँ।'

''तं होवाच किं गोत्रो नु सौम्यासीति स होवाच नाहमेतद्वेद भोः यद् गोत्रोऽहमस्मि, अपृच्छं मातरम् सा मां प्रत्यब्रवीत्—बह्वहं चरन्ती परिचारिणी यौवने त्वामलभे। साहमेतन्न वेद यद् गोत्रस्त्वमसि। सोऽहं सत्यकामो जाबालोऽस्मि भोः! तं होवाच नैतदब्राह्मणो विवक्तुमर्हति समिधं सौम्याहरोपत्वा नेष्ये न सत्यादगा इति।''

गौतम ने पूछा—'सौम्य! तू किस गोत्र का है?' 'भगवन्, मैं नहीं जानता कि मैं किस गोत्र का हूँ। मैंने अपनी माता से पूछा था, उसने मुझसे कहा—इधर-उधर सेवाकार्य करते हुए यौवनकाल में मैंने तुझे प्राप्त किया है। सो मैं नहीं जानती कि तू किस गोत्र का है। हाँ, मेरा नाम जबाला है और तेरा नाम सत्यकाम है। इस प्रकार भगवन्! मैं जबाला का पुत्र सत्यकाम हूँ।' ऋषि ने उत्तर दिया कि भाई, इतना बेलाग सत्य ब्राह्मण के अतिरिक्त और कोई नहीं बोल सकता। जा सौम्य, समिधा ले आ। मैं तेरा उपनयन करूँगा, क्योंकि तू सत्य से नहीं डिगा है।'

इस कथा से यह सुतरां स्पष्ट है कि ब्राह्मणादि को पहचानने का यदि कोई जन्मगत चिह्न होता तो सत्यकाम को देखते ही ऋषि पहचान लेते, किन्तु ऐसा नहीं हुआ। सत्य जो कि ब्राह्मण का मुख्य गुण है, उसी के आधार पर ऋषि ने उसे ब्राह्मण माना। कर्ण ब्राह्मण बनकर परशुराम के पास अस्त्र-विद्या का अभ्यास करता रहा, पर परशुराम उसे नहीं पहचान सके; और जब पहचाना तो गुण और कर्म की कसौटी पर ही; अतः वर्ण-निर्णय गुण और कर्म से ही होता है, होता रहा है और होता रहेगा।

जन्मना वर्ण के सिद्ध करने के लिए एक और हेत्वाभास दिया जाता है। लगे हाथ उसकी पड़ताल भी कर लीजिये। यथा—

निम्बु को कितना ही उत्तम खाद आदि देकर बढ़ा लीजिये, वह जिस प्रकार आम नहीं बन सकता, उसी प्रकार शूद्र कितना ही विद्वान् और धर्मात्मा क्यों न हो, वह उच्च वर्ण का नहीं हो सकता।

उत्तर—इसका निर्णय भी पूर्वलिखित युक्ति से ही हो जाता है। निम्बु और आम भिन्न-भिन्न जाति के, अर्थात् दार्शनिक परिभाषा में सामान्यविशेष जाति के वृक्ष हैं और मनुष्य है एकजाति। इसका और उसका क्या साम्य? यह युक्ति तो पौराणिक पक्ष की पुष्टि न करके हमारे पक्ष का समर्थन करती है कि जिस प्रकार खाद आदि से निम्बु का बढ़ना और गुण-सम्पन्न होना और खाद आदि के अभाव में हीनगुण होना लोकसिद्ध है, उसी प्रकार विद्यादि उत्तम गुणों से मनुष्य का ब्राह्मणादि बनना और उसके अभाव में शूद्रादि बनना सिद्ध ही है।

एक और लँगड़ी-सी युक्ति दी जाती है कि पशु, पक्षी और स्थावरों में बाह्य भेद है, किन्तु मनुष्यों और पाषाणों में आभ्यन्तर भेद है। इस भेद को कोई पारखी ही परख सकता है। सर्वसाधारण की पहुँच से यह बाहर की वस्तु है।

इसके उत्तर में हम यह पूछ लेना चाहते हैं कि इस आभ्यन्तरिक चित्र (X-ray) को लेनेवाला आज तक कोई हुआ भी है? क्योंकि इस आभ्यन्तरीय रहस्य को जानने में आपके भगवान् तक फ़ेल होते रहे हैं। देखिये, रामायण में सीता को खोजते हुए राम और लक्ष्मण को आता देखकर संत्रस्त सुग्रीव ने हनुमान् को उनका परिचय लेने के लिए भेजा। हनुमान् ब्राह्मण-वेश में आकर उनसे संस्कृत में वार्त्तालाप करने लगे। हनुमान् के विशुद्ध संस्कृत-भाषण-चातुर्य से प्रभावित होकर राम ने गुण के आधार पर उसको ब्राह्मण की उपाधि से विभूषित करते हुए लक्ष्मण को कहा—

नानृग्वेदविनीतस्य नायजुर्वेदधारिणः।
नासामवेदविदुषः शक्यमेवं विभाषितुम्॥
नूनं व्याकरणं कृत्स्नमनेन बहुधा श्रुतम्।
बहुव्याहरतानेन न क्वचिदप्यशब्दितम्॥

'यह हनुमान् चारों वेद और व्याकरण का महान् पण्डित प्रतीत होता है, क्योंकि बिना इतनी योग्यता के इस प्रकार कोई भाषण नहीं कर सकता।' अब बताइये, जब 'भगवान्' भी इस आभ्यन्तरीय भेद को नहीं जान सके तो और कौन जानेगा? वस्तुतः बात यह है कि इस प्रकार का कोई भेद है ही नहीं। सब मनुष्य आँख, कान, नाक आदि से समान हैं। उनमें भेद करनेवाले तो उत्तम-अधम गुण-कर्म हैं और उन्हीं के आधार पर वैदिक वर्ण-व्यवस्था है। जन्म से तो यह व्यवस्था तीनों कालों में नहीं बन सकती।

कर्म से वर्ण के कुछ दूसरे प्रमाण

वेदों के प्रमाण दिये जा चुके हैं। चारों वेदों में कोई ऐसा सङ्केतमात्र भी नहीं है, जहाँ से जन्म से वर्ण-व्यवस्था को आश्वासन मिल सके। अब आप मनुस्मृति को देखें—

सावित्रीमात्रसारोऽपि वरं विप्रः सुयन्त्रितः।
नायन्त्रितस्त्रिवेदोऽपि सर्वाशी सर्वविक्रयी॥

—मनु० २।११८

'केवल गायत्री मन्त्र जाननेवाला नियमनिष्ठ ब्राह्मण, आचार-व्यवहार की मर्यादा से हीन चारों वेदों के पण्डित से अच्छा है।'

वित्तं बन्धुर्वयः कर्म विद्या भवति पञ्चमी।
एतानि मान्यस्थानानि गरीयो यद्यदुत्तरम्॥

—मनु० २।१३६

'धन, बन्धु, आयु, विद्या और कर्म, इन पाँचों के कारण संसार में सम्मान होता है। किन्तु इनमें आगे, अर्थात् धन से बन्धु, बन्धु से आयु आदि के कारण अधिक सम्मान होता है और सबसे अधिक सम्मान के स्थान कर्म और विद्या हैं।' यहाँ 'जन्मांश', जन्म का नाम भी नहीं है।

आचार्यस्त्वस्य यां जातिं विधिवद्वेदपारगः।
उत्पादयति सावित्र्या सा सत्या साजरामरा॥

—मनु० २।१४८

इस पर कुल्लूक भट्ट का भाष्य देखिये—

आचार्यः पुनर्वेदज्ञोऽस्य माणवकस्य यां जातिं यज्जन्म विधिवत् सावित्र्येति साङ्गोपनयनपूर्वकं सावित्र्यनुवचनेनोत्पादयति सा जातिः सत्या अजरा अमरा च। ब्रह्मप्राप्तिफलत्वात्॥

अर्थात् 'वेदज्ञ आचार्य जिस वर्ण में जन्म दे देता है, वह वर्ण ही उसका स्थिर समझा जाता है।'

योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः॥

—मनु० २।१६८

इस पर भी कुल्लूक की टीका देखिये—

यो द्विजो वेदमनधीत्यान्यत्रार्थशास्त्रादौ श्रमं यत्नातिशयं करोति स जीवन्नेव पुत्र-पौत्रादिसहितः शीघ्रं शूद्रत्वं गच्छति।

'जो द्विज वेद न पढ़कर अर्थशास्त्रादि के अध्ययन में यत्न करता है, वह जीवित ही पुत्र-पौत्रादि-सहित शूद्र हो जाता है।' अब विचारिये, वेद को छोड़कर अन्य ग्रन्थ के अध्ययन से भी ब्राह्मण यदि पुत्र-पौत्रादि-सहित शूद्र हो जाता है तो क्या बिना पढ़ा-लिखा व्यक्ति ब्राह्मण ही बना रहेगा? इस अनुपात से तो शूद्र ही नहीं, महाशूद्र हो जाएगा।

शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम्।
क्षत्रियाज्जातमेवन्तु विद्याद्वैश्यात्तथैव च॥

—मनु० १०।६५

'कर्मों की अच्छाई-बुराई से शूद्र ब्राह्मण हो जाता है और ब्राह्मण

शूद्र। यही बात क्षत्रिय और वैश्य के लिए भी है।' इनके अतिरिक्त मनुस्मृति में ही दसियों प्रमाण हैं, किन्तु विस्तार-भय से उन्हें छोड़ते हैं।

महाभारत में भी पच्चीसियों श्लोक इसी भाव के पोषक हैं। यहाँ थोड़े-से उद्धृत करते हैं—

यस्तु शूद्रो दमे सत्ये धर्मे च सततं स्थितः।
तं ब्राह्मणमहं मन्ये व्रतेन हि भवेद् द्विजः॥

—म०भा०अ० २१६

'जो शूद्र दमी, सत्यवक्ता और धर्मपरायण है, उसको मैं ब्राह्मण मानता हूँ, क्योंकि ब्राह्मण उत्तम कर्म से ही बनता है।'

भरद्वाज मुनि भृगु से शङ्का करते हैं—

कामः क्रोधः भयं लोभः शोकश्चिन्ता क्षुधा श्रमः।
सर्वेषां नः प्रभवति कस्माद्वर्णो विभज्यते॥

—म० भा० शा० प० अ० १८८

कि महाराज! 'काम, क्रोध, भय, लोभ, शोक, चिन्ता, भूख और थकावट जब हम मनुष्यों को समान लगती है, तब फिर वर्णों का विभाग कैसा?' भृगु बोले—

नाविशेषोऽस्ति वर्णानां सर्वं ब्राह्ममिदं जगत्।
ब्रह्मणा पूर्वसृष्टा हि कर्मभिर्वर्णतां गतम्॥

'मनुष्यों को ईश्वर ने समान ब्राह्मण ही उत्पन्न किया था, अपने भिन्न-भिन्न कर्मों ने ही उन्हें वर्णों में विभक्त किया।'

कामभोगप्रियास्तीक्ष्णाः क्रोधिनः प्रियसाहसाः।
त्यक्तस्वधर्मा रक्ताङ्गास्ते द्विजाः क्षत्रताङ्गताः॥

'जिन ब्राह्मणों ने अपनी रुचि संसार के सुख भोगने में और साहसी कर्म करने की ओर कर दी, वे ब्राह्मण से क्षत्रिय बन गए।'

गोभ्यो वृत्तिमास्थाय पीताः कृष्युपजीविनः।
स्वधर्मान्नानुतिष्ठन्ति ते द्विजाः वैश्यताङ्गताः॥

'व्यापार और कृषि की ओर जिन ब्राह्मणों का झुकाव हो गया, वे वैश्य बन गए।'

हिंसानृतप्रिया लुब्धाः सर्वकर्मोपजीविनः।
कृष्णाः शौचपरिभ्रष्टास्ते द्विजाः शूद्रताङ्गताः॥

'हिंसक, लालची और पवित्रतारहित ब्राह्मण शूद्र बन गए।'

इत्येतैः कर्मभिर्व्यस्ताद्विजा वर्णान्तरङ्गताः।
धर्मो यज्ञः क्रिया तेषां नित्यन्न प्रतिषिध्यते॥
इत्येते चत्वारो वर्णा येषां शास्त्री सरस्वती।
विहिता ब्रह्मणा पूर्वं लोभाच्चाज्ञानतां गताः॥

'इन कर्मों के कारण ही ये द्विज क्षत्रियादि वर्ण के हो गए। इन सब को धार्मिक यज्ञादि क्रिया का पूर्ण अधिकार है। ये चारों वर्ण जिनकी वेदवाणी है, पहले सब ब्राह्मण थे, तपस्या के अभाव में अज्ञानी हो गए।'

यक्ष ने युधिष्ठिर से पूछा—**ब्राह्मण्यं केन भवति?**

युधिष्ठिर ने उत्तर दिया—

शृणु यक्ष! कुलं तात न स्वाध्यायो न च श्रुतम्।
कारणं हि द्विजत्वेतु वृत्तमेव न संशयः॥

'हे यक्ष, सुनो! ब्राह्मण बनने में न जन्म कारण है, न अध्ययन, न अनुभव। ब्राह्मण बनने में उत्तम गुण ही कारण हैं।'

वृत्तं यत्नेन संरक्ष्य ब्राह्मणेन विशेषतः।
अक्षीणवृत्तो न क्षीणो वृत्ततस्तु हतो हतः॥
चतुर्वेदोऽपि दुर्वृत्तः स शूद्रादतिरिच्यते।
योऽग्निहोत्रपरो दान्तः स ब्राह्मण इति स्मृतः॥

'आचार की सबको रक्षा करनी चाहिए, विशेषकर ब्राह्मण को, क्योंकि आचार है तो सब-कुछ है; और यदि आचार गया तो सब-कुछ गया। चारों वेदों को जाननेवाला भी यदि आचारहीन है, तो वह शूद्र से भी निकृष्ट है। जो उत्तम कर्म करता है और आचारवान् है, वही ब्राह्मण है।'

अन्य प्रमाण

धर्मचर्या जघन्यो वर्णः पूर्वं पूर्वं वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ।
अधर्मचर्यया पूर्वो वर्णो जघन्यं वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ॥

—आपस्तम्ब सू० २।५।११

'आचार्य की दीक्षा के समय तक तथा पश्चात् भी धर्माचरण से निकृष्ट वर्ण उत्तम हो जाता है; अधर्माचरण से उत्कृष्ट वर्ण निकृष्ट हो जाता है।' यहाँ '**जातिपरिवृत्तौ**' का अर्थ जो लोग ''दूसरे जन्म में'' करते हैं वे भूल करते हैं, क्योंकि मनु ने स्पष्ट लिखा है कि—''दीक्षा-जन्म में'' आचार्य पिता और गायत्री माता होती है।

कहीं-कहीं पुराणों में यथार्थता छलक पड़ी है—

पुरुघ्नस्तु गुरुगोवधाच्छूद्रत्वमगमत्। —वि० पु० ४।१।६४

गुरु की गौ मारने से पुरु शूद्र बन गया।

नाभारो नेदिष्ठपुत्रस्तु वैश्यतामगमत्। —वि० पु० ४।१।१४

नेदिष्ठ का पुत्र नाभारा वैश्य बन गया।

यतीयांस एकाशीति जायन्ते याः पितुरादेशकराः महाशालीका महाश्रोत्रिया यज्ञशीलाः कर्मविशुद्धा ब्राह्मणा बभूवुः॥

इस पर पं० गोविन्ददास व्यास भागवत की बालबोधिनी टीका पृ० ३५३ पर इस प्रकार लिखते हैं—'जयन्ती (ऋषभदेव की पत्नी) के शेष ८१ पुत्र पिता के आज्ञाकारी, महाशीलवान्, वेद को सम्यक् जाननेवाले विशुद्ध कर्म करके ब्राह्मण हुए।'

शुनक के पुत्र चारों वर्णों के हुए—

पुत्रो गृत्समदस्यासीच्छुनको यस्य शौनकाः।
ब्राह्मणाः क्षत्रियाश्चैव वैश्याः शूद्रास्तथैव च॥

—वा०पु० ९१।४५

'गृत्समद ऋषि का पुत्र शुनक था। उस शुनक के पुत्र ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र इन चारों वर्णों के हुए और शौनक कहलाए।'

युक्ति और प्रमाणों से यह सुतरां सिद्ध है कि सब मनुष्य समान हैं। उनकी उत्कृष्टता और निकृष्टता गुण-कर्म से होती है, स्वभाव से नहीं। मानव-समाज की आवश्यकता-पूर्त्ति की दृष्टि से ऋषियों ने उसे चार भागों में विभक्त किया है। वस्तुतः इससे उत्तम श्रम-विभाग के आधार पर समाज की व्यवस्था नहीं हो सकती।

अतः मध्यकाल की रूढ़ियों के काँटों को मार्ग में साफ़ करके देश को सुसंघटित और व्यवस्थित बनाकर स्वतन्त्रता का निर्बाध उपभोग करके अभ्युदय और निःश्रेयस् प्राप्त करना चाहिए।

❑❑

तृतीयाश्रम (वानप्रस्थ) में प्रवेश में असमर्थ वृद्धों के कर्त्तव्य

अमाजुरश्चिद्भवथो युवं भगोऽनाशोश्चिदवितारापमस्य चित्।
अन्धस्य चिन्नासत्या कृशस्य चिद्युवामिदाहुर्भिषजा रुतस्य चित्॥

—ऋ० १०।३९।३

ऋषिः—घोषा काक्षीवती॥ **देवता**—अश्विनौ॥ **छन्दः**—जगती॥

अन्वयः—नासत्या युवम् अमाजुरः भगः भवथः। युवाम् अनाशोः चित् अपमस्यचित् अन्धस्य च कृशस्यचित् अवितारा भवथः (युवाम्) रुतस्यचित् भिषजा अवितारा आहुः॥

शब्दार्थ—(नासत्या) कभी भी परस्पर असत्य, मिथ्या भाषण और अनुचित आचरण न करनेवाले **(युवम्)** तुम दोनों, अर्थात् पति-पत्नी **(अमाजुरः)** घर में वृद्धावस्था-पर्यन्त सहचारी बनकर **(भगः भवथः)** सर्वानन्दयुक्त जीवन व्यतीत करो [किन्तु कुछ आवश्यक कर्त्तव्यों का निर्वाह करते हुए] यथा—, **(अनाशौश्चित्)** भूखे को अन्न दो, **(अपमस्यचित्)** निकृष्ट जघन्य दीनजनों को भी सहारा दो, **(अन्धस्य च)** नेत्रहीन की कठिनाई का भी समाधान करो, **(कृशस्यचित्)** दुर्बल और अशक्त के भी **(अवितारा भवथः)** रक्षक बनो, **(युवाम्)** तुम दोनों पति-पत्नी को लोग **(रुतस्यचित्)** रोग-पीड़ित को **(भिषजा)** चिकित्सा द्वारा **(अवितारा)** कष्ट-निवारक **(आहुः)** कहते हैं।

व्याख्या—ऋषि दयानन्द वह साहसी महापुरुष थे जिन्होंने निष्प्राण आर्यजाति में प्राचीन आर्यों के अनुकरणीय उच्चादर्शों को पुनः प्रतिष्ठित करने का दृढ़तापूर्वक विधान किया। जिस समय भारत में अनेक स्थानों पर लड़कियों और लड़कों की जन्म से पूर्व भी विवाह की रीति मान ली जाती थी, यथा—दो देवियाँ किसी तीर्थ-यात्रा के लिए अथवा गङ्गा-स्नान के लिए गईं। कुछ दिन साथ रहने से परस्पर प्रेमभाव हो गया तो किसी देवता अथवा गङ्गा को साक्षी बनाकर परस्पर सहेली बन जाती थीं; और यदि संयोग से दोनों गर्भवती होती थीं तो गङ्गा के किनारे खड़े होकर यह प्रण कर लेती थीं कि हमारे होनेवाले बच्चों में यदि एक लड़की और दूसरा लड़का पैदा होता है, तो परस्पर वे विवाह-बन्धन में बँधकर पति और पत्नी बनेंगे। कई बार दुर्भाग्य से ऐसा भी होता था कि लड़का उत्पन्न होते ही कालकवलित हो गया तो दूसरी स्त्री के गर्भ से उत्पन्न हुई कन्या जन्मजात विधवा मान ली जाती थी। इस अवस्था में ऋषि द्वारा २५, ३६ और ४८ वर्ष के पुरुष और १६

से २४ वर्ष तक की लड़कियों के विवाह का विधान बहुत विचित्र-सा लगता है। यह कोरी कल्पना नहीं है, यथार्थ है। उदाहरणार्थ ऋषि दयानन्द जब सम्वत् १९२६ में प्रथम बार काशी में गए थे, तब क्वीन्स कॉलिज में रुडल्फ हर्नलि नामक अंग्रेज विद्वान् प्रिंसिपल थे। ये कई बार ऋषि से मिले थे। ये स्वामीजी के विचारों को जानकर जो कल्पना करते थे वह उन्हीं के शब्दों में पढ़िये—

"Hinduism is altogether in opposition to the Vedas,......If once they become thoroughly convinced of this radical error, they will no doubt abandon Hinduism at once......They can not go back to the Vedic state; that is dead and gone, and will never revive. Something more or less new must follow. We will hope it may be Christianity."

(The Arya Samaj by Lajpat Rai)

अर्थात् "वह (स्वामी दयानन्द) सम्भवतः हिन्दुओं को विश्वास दिला सकता है कि उनका वर्त्तमान हिन्दुमत वेदों के सर्वथा विरुद्ध है। ....यदि एक बार उन्हें इस मौलिक भूल का पूर्ण विश्वास हो जाय तो वे हिन्दुमत को निःसन्देह त्याग देंगे। वे वैदिक परिस्थिति की ओर नहीं लौट सकते; वह मृत है और जा चुकी है और कदापि पुनर्जीवित नहीं होगी। कुछ न्यूनाधिक नूतनता अवश्य आवेगी। हम आशा करेंगे, वह ईसाई मत होवे।"

ऋषि दयानन्द ने वैदिक सिद्धान्त को ध्यान में रखकर सारे मानव-समाज को गुण-कर्म-स्वभाव के अनुसार चार वर्णों—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों में विभक्त किया। उसी प्रकार व्यक्ति के जीवन को चार आश्रमों—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास में बाँटा। इनमें से प्रथम आश्रम ब्रह्मचर्य तो अनिवार्य है, किन्तु आगे के तीनों आश्रम ऐच्छिक और योग्यता-सापेक्ष हैं। प्रत्येक व्यक्ति अवश्य गृहस्थी बने, किन्तु वानप्रस्थ बने और संन्यासी बने—यह आवश्यक नहीं। योग्यता और क्षमता हो तो प्रसन्नता से इन आश्रमों में जावे, किन्तु पात्रता के बिना अग्रिम आश्रमों में जाना अपने और समाज के लिए हानिप्रद होगा। यद्यपि उत्तमता इसी में है कि अवस्था के अनुसार उस-उस आश्रम की योग्यता उपार्जित करे। किन्तु यदि कोई गृहस्थ वानप्रस्थ के उच्चादर्शों का निर्वाह नहीं कर सकता तो वह प्रसन्नता से गृहस्थ में रह सकता है। वेद कहता है कि इससे उसके निःश्रेयस् में कोई बाधा नहीं है। विचाराधीन मन्त्र के 'भगः' शब्द ने उसे उच्चतम स्थिति का अधिकारी बना दिया है, क्योंकि शास्त्रकारों ने भग के छह अर्थ किये हैं—

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः।
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा॥

'सम्पूर्ण ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य—इन छह का समावेश भग में है।' भग के इन छह अर्थों में अभ्युदय और निःश्रेयस्

दोनों का समावेश हो गया। मानव-जीवन का यही चरम लक्ष्य है।

किन्तु उसे वार्धक्य में पाँच कर्त्तव्यों का पालन अनिवार्य रूप से करना है। 'भूखे को भोजन देना' मनुष्य का प्रथम कर्त्तव्य है। वेद से लेकर नीतिशास्त्रों तक सर्वत्र इसका वर्णन उपलब्ध है। ऋग्वेद के दशम मण्डल का एक सौ सत्रहवाँ सूक्त इसी बात पर बड़े काव्यमय ढङ्ग से अद्भुत प्रकाश डालता है—

न वा उ देवाः क्षुधमिद् वधं ददुरुताशितमुप गच्छन्ति मृत्यवः।
उतो रयिः पृणतो नोपदस्यति, उतापृणन् मर्डितारन्न विन्दते॥

—ऋ० १०।११७।१

'प्रभु ने मरने के लिए केवल भूख ही नहीं दी है। जो खाते-पीते और गुलछर्रे उड़ाते हैं, मरते वे भी हैं। जो औरों का पेट भरने के लिए अपने साधनों का त्याग करते हैं, उससे उनका धन नष्ट नहीं हो जाता। किन्तु जो न देनेवाला है, वह कभी अपने किसी सुख देनेवाले को नहीं प्राप्त कर सकता।' अगले एक मन्त्र में—''वही वास्तव में खाता है, जो घर में आए साधनहीन भूखे को भोजन देता है। यह अपने इस औदार्यपूर्ण व्यवहार से संसार में अपने मित्रमण्डल का विस्तार करता है''—

स इद्भोजो यो गृहवे ददात्यन्नकामाय चरते कृशाय।
अरमस्मै भवति यामहूता उतापरीषु कृणुते सखायम्॥

—ऋ० १०।११७।३

वैसे तो इस सूक्त के सब मन्त्र ही इस आवश्यक कर्त्तव्य के पोषक हैं, किन्तु उनमें से निम्न मन्त्र के उल्लेख का प्रलोभन छोड़ना सम्भव नहीं हो पा रहा—

मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वध इत् स तस्य।
नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी॥

—ऋ० १०।११७।६

गीता (३।१३) में भी इसी मन्त्र के भाव का प्रतिपादन निम्न शब्दों में किया गया है—

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्व किल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥

'दूसरों को खिलाकर खानेवाले सब पापों से छूट जाते हैं। जिनके घर में भोजन केवल अपने खाने के लिए ही बनता है, वे अन्न नहीं खाते, पाप खाते हैं।' इस कर्त्तव्य में भी रस और माधुर्य उत्पन्न करने के लिए शास्त्रकारों ने विधान किया कि भूखे को यह भोजन भी श्रद्धा और आदर से देना चाहिए, तिरस्कार से नहीं। वैसे सैद्धान्तिक दृष्टि से विचारें तो प्रत्येक प्राणी अपने भोग का ही खाता है। फिर उसमें अच्छाई और बुराई अपनी भावना और व्यवहार पर निर्भर करती है। इस विषय में उर्दू के विख्यात शायर अकबर इलाहाबादी ने बहुत सुन्दर परामर्श दिया है—

तेरे घर खाना जो खाए उसका तू मम्नून[1] हो।
क्योंकि वो खाता है अपना तेरे दस्तरख़ान[2] पे॥

अत: वेद ने प्रत्येक वृद्ध गृहस्थ को पहला कर्त्तव्य बताया—भूखे को भोजन दो।

दूसरा कर्त्तव्य है—"**अपमस्य चित्**"—जो साधनों के अभाव में दु:खी हैं, जिनमें काम-काज करने की सूझबूझ तो है, किन्तु साधनों के अभाव के कारण कुछ कर नहीं पाते, ऐसे अभावग्रस्त व्यक्तियों को कुछ कारोवार के साधन जुटा देने चाहिएँ; शेष काम तो वे स्वयं कर लेंगे। मेरे परिचितों में कुछ परिवार ऐसे हैं, जो देश-विभाजन के पश्चात् साधनों के अभाव में खाने-पीने से भी तङ्ग हो गए थे। यथा-तथा हाथ-पैर मारके वे सँभले और अब वे करोड़ों का कारोबार कर रहे हैं। ऐसे श्रमी और बुद्धिमान् व्यक्तियों को यथा-सामर्थ्य सहारा देकर आत्मनिर्भर बना देना चाहिए। यह भी समाज की महत्त्वपूर्ण सेवा है।

आगे तीसरा कर्त्तव्य है—"**अन्धस्य चित्**"—जो दृष्टि से वञ्चित हो गए हैं, उनके कष्ट को समझकर उनकी सहायता करना। संसार में दृष्टिहीन व्यक्ति की असमर्थता को भी आँखवालों को समझना चाहिए। आँख एक ऐसी इन्द्रिय है, जिसके अभाव में बुद्धिमान् व्यक्ति भी पराश्रित हो जाता है। ऐसे व्यक्ति तुम्हारी सहायता के पात्र हैं। मार्ग चलते वे भटक रहे हों और आप ईश्वर की कृपा से साधन-सम्पन्न हैं और कार में कहीं जा रहे हैं तो भटकते अन्धे की उपेक्षा मत करें। यदि आपके काम में विशेष बाधा न आवे तो उस नेत्रहीन को उसके अभीष्ट स्थान तक पहुँचा दें। इतना समय न हो तो भीड़भाड़-भरे मार्ग में सड़क-पार ही करा दें। इतने से भी उस असहाय को बड़ा सहारा मिल जाएगा। अनेक व्यक्ति उनमें ऐसे हैं, जो थोड़े-से उपचार से ही कामचलाऊ दृष्टि पा लेते हैं। ऐसों को खोज-खोजकर उनके इलाज का प्रबन्ध कराना चाहिए। प्रभु ने यदि शक्ति दी हो तो ऑपरेशन आदि के कैम्प लगाने चाहिएँ। असमर्थों को चश्मे लगवाने में सहायता करनी चाहिए।

मन्त्र में चौथी बात कही—"**कृशस्य चित्**"—जो पाप-रोगी हैं, अपङ्ग हैं, कुष्ठादि व्याधियों से पीड़ित हैं, उनकी सहायता करना भी तुम्हारा पवित्र कर्त्तव्य है। वे बेचारे अपना कर्मफल तो भोग ही रहे हैं, किन्तु उस अवस्था में भी उनके कष्ट को कम करने के उपाय करते रहने चाहिएँ। इस दिशा में महात्मा गांधी के जीवन से शिक्षा लेनी चाहिए। वे नियमित रूप से एक कुष्ठी के घावों की सफ़ाई करके औषध लगाते थे। यह बहुत उच्च आदर्श का सेवा-कार्य है। शास्त्रकारों ने बलिवैश्वदेव-यज्ञ में पापरोगियों की सहायता का भी निर्देश किया है।

मन्त्र में अन्तिम और महत्त्वपूर्ण पाँचवीं बात कही है—"**रुतस्य**

---

१. कृतज्ञ; २. डायनिंग टेबल (खाने की मेज़)।

भिषजा अविता भवत''—औषध का प्रबन्ध करके रोगी का कष्ट निवृत्त करो। कुछ रोग इस प्रकार के होते हैं, जिनमें सामान्य व्यक्ति के लिए औषध का प्रबन्ध करना भी कठिन होता है। ऐसे व्यक्तियों की सहायता का भी सद्गृहस्थों को ध्यान होना चाहिए। इस विषय में दिल्ली के एक धार्मिक आर्य सज्जन का आदर्श उदाहरण लिख देना मैं आवश्यक समझता हूँ—

बात उन दिनों की है जब आर्यसमाज लोदी रोड नयी दिल्ली का जोरबाग वाला भवन नहीं था। आर्यसमाज के साप्ताहिक सत्संग आर्य हाई स्कूल के टैण्टों में लगा करते थे। उस समय के आर्यसमाज के कार्यकर्त्ता बड़े उत्साही और धार्मिक भावनाओं से ओतप्रोत थे। तब आर्यसमाज के प्रधान श्री लाला जीवनदास चोपड़ा थे, जो कुछ वर्ष पूर्व दिवंगत हो गए। श्री चोपड़ाजी बड़ी सात्त्विक भावना के आर्यपुरुष थे और सदस्यों में उनका बड़ा सम्मान था।

एक दिन साप्ताहिक सत्संग की समाप्ति पर श्री प्रधानजी ने सत्संगी भाई-बहनों को कहा कि आज शाम को चार बजे, प्रभु ने जिनको सामर्थ्य दिया है ऐसे भाई-बहन, एक-एक थैला फल लावें और साथ ही एक चाकू भी। उसके बाद जो करना है, वह मैं शाम को ही बताऊँगा।

श्री प्रधानजी की इच्छानुसार बीस-बाईस स्त्री-पुरुष फल लेकर आ गए। श्री प्रधानजी ने कहा—अब हम सब सफदरजंग अस्पताल चलेंगे। वहाँ पहुँचकर प्रत्येक वार्ड में दो-दो की ड्यूटियाँ लगाईं और उन्हें हिदायत दी कि जिस रोगी के पास कोई पूछनेवाला न आया हो और जो असहाय प्रतीत हो रहा हो, उसके पास पहुँचें और कहें कि हम आर्यसमाज के सदस्य हैं और आप लोगों की सेवा करने आए हैं। यह कहकर उसके अनुकूल फल छील-काटकर उसे फल खिलावें। यदि औषध की आवश्यकता हो तो नोट कर लें, यह सब प्रबन्ध वे स्वयं कर देंगे।

इस प्रकार वे लोग जब अस्पताल में सेवा में तत्पर हुए तो सारे अस्पताल में एक हलचल मच गई। जिस रोगी के पास जाकर ये लोग आत्मीयता से फल देते और पूछते थे, वह रोगी अश्रुपूरित नेत्रों से उन्हें देखता हुआ धन्यवाद करता था। सारे अस्पताल में इस कार्य की बड़ी सराहना हुई और सभी सदस्य इस कार्य से बहुत प्रसन्न हुए तथा भविष्य में भी आने का निश्चय करके लौटे। इसके स्थान पर आर्यसमाज के अधिकारी महीनों कथा-वार्त्ता कराते, तब भी यह प्रभाव बनना कठिन होता जो सात्त्विक सेवाभाव ने बना दिया। अतः पाँचवाँ कर्त्तव्य वेद ने रोगियों की औषधोपचार से सेवा करना बताया। जो गृहस्थ अपने वार्धक्य को इस प्रकार बिताते हैं, उनका पुण्य वानप्रस्थ से किसी प्रकार कम नहीं है। ❑❑

आजीवन आचरणीय चार उत्तम कर्म

स्व॒धया॒ परि॑हिता श्र॒द्धया॒ पर्यू॑ढा दी॒क्षया॑ गु॒प्ता य॒ज्ञे प्रति॑ष्ठिता लो॒को नि॒धन॑म्॥ —अथर्व० १२।५।३

ऋषिः—कश्यपः॥ **देवता**—ब्रह्मगवी॥ **छन्दः**—चतुष्पदा स्वराडुष्णिक्॥

अन्वयः—सरल है।

शब्दार्थ—(**स्वधया**) परिश्रमोपार्जित अपने भाग को ही ग्रहण करने से (**परिहिताः**) सबके हितकारी हों। (**श्रद्धया**) सत्यधारण में श्रद्धा से (**पर्यूढाः**) सब ओर से सबको सत्याचरण पर आरूढ़ होने की प्रेरणा करनेवाले (**दीक्षया**) सत्यभाषणादि व्रतों से (**गुप्ताः**) सुरक्षित (**यज्ञे**) विद्वानों के सत्कार, अनेक प्रकार के कला-कौशल और शुभ गुणों के दान में (**प्रतिष्ठिताः**) सब प्रकार स्थित रहनेवाले (**निधनम्**) मृत्युपर्यन्त, जीवनभर [वर्णित गुणों के आधार पर] (**लोकः**) इस लोक में सानन्द रहें।

व्याख्या—मन्त्र में चार महत्त्वपूर्ण कर्त्तव्यों की ओर मानव-समाज का ध्यान आकृष्ट कर जीवन को सुखी बनाने के लिए मृत्युपर्यन्त उन पर आचरण का परामर्श दिया है। उनमें पहला है—परिश्रम के पश्चात् जो वस्तु आपके हिस्से में आती है, उसे अमृत समझो और उसी को ग्रहण करो। अपने चातुर्य और बल के आधार पर दूसरे के भाग को हड़प करने का यत्न मत करो।

संसार के ज्ञात इतिहास में जितने भी विवाद और युद्ध हुए हैं, वे सब इसी सुनहरे उपदेश की अवहेलना के परिणामस्वरूप ही हुए हैं। भारत के प्राचीन इतिहास में राम-रावण का युद्ध विख्यात है। कारण यह था कि रावण ने मर्यादा-भङ्ग करके राम की पत्नी सीता को अपने अधिकार में रखना चाहा और समझाने पर भी जब कुमार्ग से हटने को उद्यत न हुआ तो परिणाम युद्ध हुआ, जिसमें उस (रावण) का सर्वनाश हो गया। दूसरा उदाहरण महाभारत का प्रसिद्ध युद्ध है। इस युद्ध का कारण था कि दुर्योधन हस्तिनापुर के समस्त साम्राज्य पर अपना अधिकार रखना चाहता था और अपने चचेरे भाइयों को निर्वाह के योग्य तुच्छ-सा भाग देने को भी तैयार न था।

संसार के अन्य विवादों के मूल में भी किसी-न-किसी रूप में इसी मर्यादा का अतिक्रमण दृष्टिगोचर होता है। कई स्थानों पर नाम, श्रेय अथवा वाहवाही का झगड़ा है। विचारकर देखें तो यश भी एक धन है और रुपये-पैसे की अपेक्षा भी अधिक महत्त्वपूर्ण है। जैसे सामान्य

धन के बँटवारे में हमें ईमानदारी वर्तनी चाहिए, उसी प्रकार यश को बाँटकर ही ग्रहण करना चाहिए। एक काम की सफलता में जितने भी सहयोगी रहे हों, उन सभी की योग्यता और क्षमता के अनुसार सराहना होनी चाहिए। जहाँ प्रत्येक सफलता को एक व्यक्ति स्वयं ही अर्जित करना चाहे और असफलता को दूसरों के मत्थे मढ़ना चाहे, वहीं असन्तोष और विवाद खड़ा हो जाता है। हमारे निकटभूत में दो विश्वयुद्ध हुए। एक सन् १९१४ से १९१८ तक और दूसरा सन् १९३९ से १९४५ तक हिटलर और मुसोलिनी की आपाधापी के कारण हुआ। इनके मूल में भी कारण वही था—एक देश दूसरे देश की प्रभुसत्ता को कुचलकर अपना साम्राज्य स्थापित करना चाहता था। परिणामस्वरूप ऐसे भयङ्कर युद्ध हुए जिनमें करोड़ों व्यक्तियों की जीवनहानि हुई, अरबों रुपये की सम्पत्ति नष्ट हुई और रम्य प्रासादों से सुशोभित नगर खँडहरों में परिवर्तित हो गए।

युद्धों को रोकने के असफल प्रयोग

उस-उस समय के बुद्धिमान् और शान्तिप्रिय व्यक्तियों ने इन युद्धों को रोकने के लिए बहुत प्रयत्न किये। राम और रावण में संघर्ष न हो, यह प्रयत्न रावण के बुद्धिमान् भाई विभीषण ने किया। उसने बड़े प्रेम से रावण को समझाते हुए प्रार्थना की—

''प्रसीद जीवेम सबान्धवा वयं, प्रदीयतां दाशरथाय मैथिलीम्।''

हे भाई! 'कृपा करो, सम्मानपूर्वक सीता को राम के समर्पित कर दो ताकि हमारे सब बन्धु-बान्धव कुशलक्षेम से रहें।'

युद्ध की सब तैयारी होने पर भी स्वयं राम ने अङ्गद को रावण के पास भेजकर सीता को देने का अनुरोध किया। जो सन्देश अङ्गद के द्वारा राम ने भेजा, वह एक संस्कृत के कवि के अनुसार निम्न था—

''भो लंकेश्वर दीयतां जनकजा रामः स्वयं याचते।''

'हे लङ्केश! मैं तुझसे सीता की भिक्षा माँगता हूँ, मुझे सीता दे दो!' इनसे अधिक नम्रता के शब्द नहीं हो सकते। किन्तु युद्ध रावण के सिर पर सवार था और होकर रहा।

इसी प्रकार महाभारत के युद्ध को रोकने के लिए भी बहुत प्रयत्न किये गए। उस समय के सबसे महान् व्यक्ति योगिराज कृष्ण स्वयं दूत बनकर दुर्योधन के दरबार में गए। जाते समय कृष्ण ने युधिष्ठिर से सन्धि की शर्तों के विषय में पूछा। युधिष्ठिर ने उत्तर दिया—

अस्मान् वेत्थ परान् वेत्थ वेत्थार्थान् वेत्थ भाषितुम्।
यद्यदस्मद्धितं कृष्णस्तत्तद् वाच्यः सुयोधनः॥

'आप हमारी स्थिति से परिचित हैं, जो हमारे विरोधी हैं उन्हें भी भली प्रकार जानते हैं। विवाद क्या है—इसकी भी आपको जानकारी

है और किसी बात को सभा में कैसे प्रस्तुत किया जाय, इसके भी आप ज्ञाता हैं। हमारा तो इतना ही अनुरोध है कि जिस प्रकार से भी हमारे हित की रक्षा हो सके, वे सब बातें दुर्योधन को समझाएँ।'

कृष्ण गए और बहुत-सा मार्मिक और नीतिपूर्ण वक्तव्य दरबार में दिया, किन्तु परिणाम कुछ नहीं निकला और महाभारत का युद्ध हुआ जिसमें ४७ लाख २३ हज़ार ९ सौ बीस सैनिक मारे गए।

सन् १९१४ से १९१८ तक हुए विश्वयुद्ध में एक करोड़ तीस लाख व्यक्ति मरे और एक करोड़ ६० लाख घायल हुए। इसके बाद महामारियाँ फैलीं जिनसे अकेले भारत में एक करोड़ बीस लाख व्यक्ति मर गए। इस युद्ध ने संसार को भयभीत कर दिया और उस समय के राष्ट्रों ने मिलकर एक राष्ट्रसंघ 'लीग ऑफ़ नेशन्स' की स्थापना की। सारी पृथिवी के ६४ राष्ट्रों में से ५९ इसके सदस्य थे। सभी ने यह इच्छा प्रकट की कि अपने विवादों को विचार-विनिमय और पञ्च-फ़ैसले के आधार पर निपटाया जाय। संघ की बैठकों के लिए 'हेग' में 'शान्ति-मन्दिर' की स्थापना की गई। उस समय के धनकुबेर श्री एण्डरू कारनेगी ने इसके निर्माण के लिए ३५ लाख रुपये दिये। डच पार्लियामेण्ट ने आठ लाख चालीस हज़ार भूमि के लिए दिये। नार्वे और स्वीडन ने पत्थर दिया। डेन्मार्क ने बाग़ का फ़व्वारा बनवाया। हालैण्ड ने ईंटें दीं। इटली ने संगमरमर दिया। ब्रिटेन ने दरवाज़ों के लिए रङ्गीन शीशे दिये। ब्राज़ील ने लकड़ी दी और दरवाज़े बनवाए। बेल्जियम ने लोहे के किवाड़ बनवाए। जर्मनी ने बाहर का फाटक बनवाया। स्विट्ज़रलैण्ड ने घड़ी दी। फ़ान्स ने रङ्गीन पच्चीकारी और चित्रकारी कराई। रोम ने दरियों का प्रबन्ध किया। आस्ट्रेलिया और हेरी ने मेज़ और कुर्सियाँ दीं। रूस ने एक बहुमूल्य संगेशव का गुलदान, हंगरी ने अत्यन्त सुन्दर शमादान, आस्ट्रिया ने उसे रखने योग्य बहुमूल्य रकाबियाँ दीं। अमेरिका ने कांसे और संगमरमर की मूर्त्तियाँ दीं। चीन ने उत्तमोत्तम प्याले और जापान ने मनोहर रेशम के चित्र दिये। इस प्रकार संसार के सभी देशों की अनुमति और सहायता से शान्ति-मन्दिर स्थापित हुआ।

किन्तु परिणाम वे ही ढाक के तीन पात! शान्ति स्थापित न हो सकी। थोड़े दिन के बाद ही युद्ध की विभीषिका विश्व के मानचित्र पर गहराती चली गई और शान्ति-सभा में शान्ति की बात करते हुए भी जहाँ जिसका वश चलता, वह दूसरे की गर्दन दबाने में न चूकता। शान्ति-मन्दिर की स्थापना के बाद हृदय यदि शुद्ध होते तो सैनिक साज-सज्जा पर प्रत्येक राष्ट्र का व्यय कम होना चाहिए था। जब प्रत्येक शान्ति का इच्छुक है, तो शस्त्रास्त्रों के निर्माण और बमों की क्या आवश्यकता है? किन्तु आगे चलकर प्रत्येक राष्ट्र के सैनिक व्यय में उत्तरोत्तर अधिकाधिक वृद्धि होती गई।

सन् १९३२ में समस्त संसार का सैनिक व्यय चार अरब बत्तीस करोड़ डालर से बढ़कर सन् १९३७ में सात अरब १० करोड़ डालर हो गया। यह सन् १९१४ से तीन गुणा अधिक था। सात देशों ने सन् ३२ और ३७ के बीच में ८० प्रतिशत बढ़ा दिया। ब्रिटेन का सैनिक व्यय सन् ३२ में ८ करोड़ ८२ लाख पौण्ड था जो सन् ३७ में २६ करोड़ १६ लाख पौण्ड हो गया। जर्मनी का सैनिक व्यय सन् ३२ में ६१ करोड़ ७० लाख मार्क था, वह सन् ३५ में बढ़कर ८१ करोड़ ४३ लाख मार्क हो गया। जापान का सैनिक व्यय सन् ३२ में ३७ करोड़ ३६ लाख येन था जो सन् ३८ में ७२ करोड़ ८० लाख येन हो गया। रूस का सैनिक व्यय सन् ३२ में १ अरब ४१ करोड़ २३ लाख रूबल से बढ़कर २० अरब १० करोड़ २२ लाख रूबल हो गया। सन् ३२ में अमरीका का सैनिक व्यय ६४ करोड़ १६ लाख डालर से बढ़कर ९९ करोड़ ३२ लाख डालर हो गया। अनुमान लगाया गया था कि सन् ३७ में शस्त्रास्त्रों की तैयारी पर प्रति मिनट ३०० पौण्ड व्यय हो रहा था। इन सब तैयारियों का अनिवार्य परिणाम दूसरे विश्वयुद्ध के रूप में प्रतिफलित हुआ और उसमें सब राष्ट्रों का मिलाकर अस्सी अरब पौण्ड व्यय हुआ—अनुमानतः १० करोड़ रुपया प्रतिदिन।

इस प्रकार सब ओर से विचार करने पर शान्ति का एकमात्र वेदोक्त मार्ग "**स्वधया परिहिताः**" (परिश्रम करने के बाद जो वस्तु जितनी मात्रा में अपने भाग में आवे, वही अमृतोपम ग्राह्य) ही है।

इस दिशा में वर्तमान अर्थशास्त्र के विद्यार्थी इस पर आपत्ति उठाते हुए इसे अव्यवहार्य बताते हैं; आक्षेप करते हुए कहते हैं कि वेद का अपने भाग पर सन्तुष्ट रहने का उपदेश उस समय का है, जब संसार में जनसंख्या बहुत कम थी और उपभोग की समस्त सामग्री आवश्यकता से कहीं अधिक थी। प्रत्येक व्यक्ति तृप्त था, इसलिए इस उपदेश को अपने आचरण में लाने में कोई कठिनाई नहीं थी। किन्तु ज्यों ही जनसंख्या बढ़ी, यह उपदेश प्रभावहीन हो गया, क्योंकि जिस प्रकार खाली बोरी खड़ी नहीं हो सकती, जब तक कि उसके पेट में अन्न न भरा जावे, इसी प्रकार भूखा व्यक्ति कभी ईमानदार नहीं हो सकता। "**बुभुक्षितः किन्न करोति पापम्**"—भूखा क्या पाप नहीं करता! प्रकृति का नियम यही है—खाद्य वस्तुएँ अङ्कगणितीय अनुपात (Arithmetical ratios) से एकैकशः बढ़ती हैं और खानेवाले जीवों की वृद्धि गुणोत्तर श्रेणी-अनुपात (Geometrical ratios) अर्थात् दो गुणा-क्रम—दो से चार, चार से आठ, आठ से सोलह के क्रम से होती है। इसलिए उपभोक्ता सदा अधिक और उपभोग्य वस्तुएँ सदा न्यून रहेंगी।

प्रकृति के प्रत्येक वर्ग में यह नियम देखने को मिलता है—वनस्पति-जगत्, थलचर, जलचर और नभचर में आश्चर्यजनक ढङ्ग से

वृद्धि होती है और जिस उदारता से प्रकृति उन्हें बढ़ाती है, उतनी ही क्रूरता से उनका नाश भी करके उतनी ही मात्रा में उन्हें रहने देती है, जितनी कि सन्तुलन के लिए आवश्यक है।

उदाहरण के लिए एक वट अथवा पीपल के वृक्ष को देखिये। एक वृक्ष के ऊपर लाखों फल-लगते हैं। एक-एक फल में बहुत-से बीज होते हैं। प्रत्येक बीज में उतना ही बड़ा वृक्ष उत्पन्न करने की क्षमता है। कल्पना कीजिये कि एक वृक्ष के करोड़ों बीज भूमि पर गिरकर अङ्कुरित हो जावें और आगे चलकर पूर्ण वृक्ष बनकर उन पर लाखों-लाखों फल लगें और यही क्रम जारी रहे तो समस्त पृथिवी को केवल एक वट या पीपल का पेड़ ही घेर लेगा, अन्य किसी वनस्पति अथवा प्राणी के लिए एक इञ्च भूमि भी नहीं बचेगी। किन्तु होता यह है कि इन वृक्षों पर लगे फलों में से कुछ को अनेक प्रकार के पशु-पक्षी खा-पचा जाते हैं, कुछ पृथिवी पर गिरकर पैरों-तले पिसकर नष्ट-भ्रष्ट हो जाते हैं, कुछ को अङ्कुरित होने पर कीड़े-मकोड़े काट डालते हैं, कुछ को और बड़ा होने पर भेड़, बकरी, ऊँट, हाथी आदि चर जाते हैं, कुछ आँधी-तूफ़ान में नष्ट हो जाते हैं, कुछ को मनुष्य अपने इन्धन और इमारत की आवश्यकता-पूर्त्ति के लिए काट लेते हैं। परिणाम यह होता है कि संसार में ये वृक्ष उतने ही रहते हैं, जितने कि प्रकृति को अभीष्ट हैं।

यही बात पशु-पक्षी व जलचरों की है। अन्य जीवों की अपेक्षा प्राणि-शास्त्र के जानकार मछली की तो आश्चर्यजनक वृद्धि का वर्णन करते हैं। इन जानकारों का कहना है कि **"कॉड फ़िश"** तीन वर्ष के बाद ८० से ९० लाख तक अण्डे एक बार में देती है। तीन वर्ष के बाद यदि प्रत्येक उत्पन्न हुई मछली जीती रहे और इसी अनुपात में ये मछलियाँ उत्तरोत्तर बढ़ती रहें तो केवल एक मछली से चालीस नील (४०,००,००,००,००,००,००) मछलियों की वृद्धि होकर समुद्र भर जाए। किन्तु यहाँ भी प्रकृति का वही नियम चलता है। कुछ अण्डे टकराकर ही नष्ट हो जाते हैं। बहुत अधिक मात्रा में बड़ी मछलियाँ छोटी मछलियों को निगल जाती हैं। कुछ पर बाबू लोग हाथ फेर देते हैं। मछलियाँ समुद्र में उतनी ही बच पाती हैं, जितनी कि प्रकृति को अभीष्ट हैं।

मनुष्य-संख्या की वृद्धि के लिए विशेषज्ञों ने यह सिद्धान्त माना है कि अपवाद को छोड़कर मानव-समुदाय प्रति पच्चीस वर्षों में दूना हो जाना चाहिए। वैसे इस प्रकार के उदाहरण हैं जब १५ वर्षों में ही जनसंख्या दुगुनी हो गई। अमेरिका में कुछ बस्तियों के सब प्रकार से समृद्ध होने के कारण १५ वर्ष की अल्पावधि में ही उनकी आबादी दूनी हो गई। इसी अनुपात में चाहे विज्ञान कितना ही बल लगा ले,

वह उस जनसंख्या के निर्वाह के साधन नहीं जुटा सकता। उदाहरण के लिए भारत की जनसंख्या इस समय ८० करोड़ है और देश में सबकी उदरपूर्त्ति के लिए अन्न है, किन्तु पच्चीस वर्ष बाद यह जनसंख्या फिर दूनी हो जाएगी और पचास वर्ष के पश्चात् फिर दूनी हो जाएगी। स्पष्ट है कि इस वृद्धि की आवश्यकता-पूर्त्ति के साधन कभी नहीं जुटाए जा सकते, अतः प्रकृति अपनी आबादी को नियमित रखने के लिए वनस्पति और पशु-जगत् के समान अपने नियम यहाँ भी लागू रखती है।

जहाँ-जहाँ जनसंख्या सीमा पार करने लगती है, वहाँ-वहाँ कहीं भयंकर महामारियाँ फैलती हैं, कहीं हैज़े का प्रकोप होता है, कहीं भूकम्प आदि आपत्तियाँ जीवन-संहार करती हैं और कहीं भीषण युद्ध छिड़ जाते हैं, जिनमें करोड़ों व्यक्ति मर-खप जाते हैं। अतः आपका अपने भाग पर ही सन्तुष्ट रहने का वेदोपदेश पुराना पड़ गया और आज के युग में व्यवहार्य नहीं है। युद्ध और सङ्घर्ष भी जनसंख्या को नियन्त्रित रखने का प्रकृति का एक उपाय है।

इस शङ्का का समाधान यह है कि मनुष्य एक बुद्धिजीवी प्राणी है। वह हित और अहित को ध्यान में रखकर कार्य में प्रवृत्त होता है। वेद और शास्त्र में मनुष्य की सम्पूर्ण मर्यादित दिनचर्या का वर्णन है। यदि उसके अनुसार उसका जीवन हो, तो फिर जनसंख्या-वृद्धि का प्रश्न ही नहीं उठता। पशु और पक्षी विवेकशून्य होने से प्रकृति की प्रेरणा पाकर सन्तति उत्पन्न करने में प्रवृत्त होते हैं। उत्पन्न होने पर बच्चे कैसे पलेंगे? यदि परिस्थितियाँ प्रतिकूल हैं, तो उनका उत्पादन ही न किया जाय आदि चिन्तन उनकी शक्ति से बाहर की वस्तु है। शास्त्रीय भाषा में कहें तो विधि और निषेध मानव के लिए है, अन्य जीवों के लिए नहीं।

वेद और शास्त्र ने गृहस्थ में जाने के लिए भी कतिपय योग्यताओं का होना अनिवार्य बताया है। साथ ही विवाह की एक मुख्य विधि 'सप्तपदी' में यह विशेषरूप से बताया कि सन्तान कब हो?

वर-वधू को पुरोहित उत्तर दिशा के ईशान कोण में खड़ा करके सर्वप्रथम कर्त्तव्य की ओर ध्यान आकृष्ट करने के लिए प्रथम पग रखवाता हुआ कहलवाता है—"**इषे एकपदी भव**"—मर्यादित उपायों से अन्नादि सामग्री एकत्र करने के लिए यह तेरा प्रथम पग है। दूसरा पग रखवाता हुआ पुरोहित कहता है—"**ऊर्जे द्विपदी भव**"—युक्त आहार-विहार द्वारा बलसञ्चय के लिए यह दूसरा क़दम है। निर्बल मनुष्य न खाने-पीने का आनन्द ले सकता है, न सम्मान से जी सकता है, साथ ही सन्तान के रूप में भी राष्ट्र को योग्य प्रतिनिधि नहीं दे सकता। इसके बाद तीसरा पग रखवाते हुए कहलवाया जाता है—"**रायस्पोषाय त्रिपदी भव**"—सम्पत्ति आदि जीवन को सुखमय बनाने के साधनों को जुटाने

के निमित्त यह तीसरा क़दम है। इसके बाद चौथा पग रखवाते हुए कहलवाया जाता है—"**मयोभवाय चतुष्पदी भव**"—परिवार और समाज में यथायोग्य व्यवहार के द्वारा सुख और शान्ति का वातावरण बनाने के लिए चौथा पग है, अर्थात् पहले घर में पवित्र अन्न हो, दूसरे शरीर में बल हो, तीसरे सम्पत्ति की वृद्धि की ठीक-ठीक व्यवस्था हो और चौथे सारा वायुमण्डल सुख और शान्ति से भरपूर हो। तब पाँचवाँ पग रखवाते हुए कहलवाया जाता है—"**प्रजाभ्यः पंचपदी भव**"—अब सन्तान उत्पन्न करने के लिए पाँचवाँ क़दम है। अर्थशास्त्री तो केवल अन्न की बात कह रहे थे, वेद तो मनुष्य को मनुष्य बनाने के लिए सन्तान उत्पन्न करने से पूर्व चार शर्तें आवश्यक बताता है। अतः अतिशय आबादी बढ़ने की स्थिति ही कहाँ आती है? हाँ, मनुष्य भी विचारशीलता को छोड़कर पशुवत् आचरण करने लगे तो और बात है। फिर तो प्रकृति उस पर शासन करेगी ही। अतः वेद का उपदेश अपने स्थान पर सर्वथा उचित है कि संसार में शान्ति-स्थापना के लिए आवश्यक है कि मनुष्य श्रमोपार्जित अपने भाग पर सन्तोष करे, अन्यथा अमर्यादित भोग और लोभ तो सारी वसुधा का अन्न और साम्राज्य पाकर भी तृप्ति नहीं कर पाते। ठीक ही कहा था ययाति ने—

यत् पृथिव्यां ब्रीहियवौ हिरण्यं पशवः स्त्रियः।
नालमेकेन तत् सर्वमिति मत्वा शमं व्रजेत्॥

—महा० उद्योग० ३९।६९

'सम्पूर्ण पृथिवी पर चावल-जौ से लेकर सोना, पशु और स्त्रियाँ तक जितना भी धन-जन-अन्न है, वह सब एक मनुष्य की इच्छा (तृष्णा) की पूर्त्ति भी नहीं कर सकता, इस तथ्य को हृदयङ्गम करके संयम और शान्ति से ही काम लेना चाहिए।'

प्राचीन भारत में वैदिक काल से लेकर महाभारत के कुछ पहले तक यह विचारधारा समस्त समाज के जीवन में गहरी बैठी हुई थी। ऋषियों ने इस व्यवस्था को और अधिक सरल बनाने के लिए मनुष्य की औसत सौ वर्ष की आयु को चार भागों में बाँटकर केवल गृहस्थ के २५ वर्ष ही ऐसे रक्खे थे जिनमें सांसारिक कारोबार चलाने और संग्रह करने की आवश्यकता होती थी, अतः वेद की इस मर्यादा को वे सावधानी से निभाकर शान्तिपूर्वक जीवन बिताते थे।

वेद का दूसरा उपदेश है "**श्रद्धया पर्यूढाः**"—'तुम्हारा प्रत्येक कार्य सत्य की पहचान करके उसके ऊपर आचरण करने का है।' आजकल धार्मिक क्षेत्र में इस श्रद्धा के ऊपर भी बड़ा विवाद है। मुसलमान, ईसाई और पौराणिक लोग श्रद्धा का अभिप्राय समझते हैं कि मज़हब में अक्ल को दख़ल न देना; इनमें तर्क-वितर्क करने की आवश्यकता नहीं है; जो कहा जाय, उस पर आँख बन्द करके विश्वास

करके मान लेना चाहिए। इस स्थापना के ऊपर प्रत्येक मत में अनेक प्रकार की विचित्र-विचित्र कहानियाँ प्रसिद्ध हैं, किन्तु ये सारी बातें भ्रामक और निरर्थक हैं और श्रद्धा के अपने अर्थ के ही विपरीत हैं। श्रद्धा शब्द **श्रत्** और **धा** के योग से बना है। श्रत् का अर्थ है सत्य और धा का अर्थ है धारण करना, अर्थात् पहले परीक्षा करके सत्य को जानो और फिर उसे धारण करो। दोनों ही बातों की अनिवार्यता है। सत्य को बिना जाने कुछ-का-कुछ समझकर आचरण करने लगो तो वह भी व्यर्थ है। कोई गुञ्जाफलों को अग्नि समझकर अग्नि जलाना चाहे तो कदापि नहीं जला सकता; क्योंकि वे अग्नि-कण हैं ही नहीं, अतः उनसे अग्नि जलाना भी असम्भव है। साथ ही सत्य को जान ले। किन्तु उस पर आचरण न करे, तब भी कुछ बननेवाला नहीं है। उदाहरणार्थ एक व्यक्ति ने यह तो जान लिया कि शीत-ज्वर की औषध कुनीन है। इसी तथ्य के ऊपर वह भाषण दे कि यह ज्वर कुनीन के सामने कभी ठहर नहीं सकता, किन्तु कुनीन खाए नहीं, तो इस सत्य की केवल जानकारी से उसे कोई लाभ नहीं होगा। लाभ तभी होगा जब जाने हुए सत्य पर आचरण करेगा।

महर्षि दयानन्द ने इस तथ्य को उजागर करके मज़हबी दुनिया में एक हलचल पैदा कर दी। आज बुद्धिवादी लोग चाहे ईसाई, मुसलमान और हिन्दू कोई भी क्यों न हों, या तो अपनी धर्म-पुस्तकों में वर्णित बात की बुद्धिपूर्वक सङ्गति लगाते हैं और यदि यह सम्भव न हो तो उसे अस्वीकार करने में भी उन्हें झिझक नहीं होती।

वैसे मत-मतान्तरों की दुनिया में एक युग ऐसा भी आया था, जब किसी विचारशील बुद्धिवादी व्यक्ति ने एक सत्य को अपने ज्ञान के आधार पर प्रकट किया, किन्तु वह तथ्य उनके मान्य ग्रन्थ के विपरीत था तो उसे बड़ी-बड़ी यातनाएँ दी गईं। फिर भी उसने अपने विचार नहीं बदले तो उसे मृत्यु के घाट उतार दिया गया। उदाहरण के लिए गैलिलियो, ब्रूनो, हिपेशिया आदि अनेक वैज्ञानिकों का नाम लिया जा सकता है।

गैलिलियो ने तत्कालीन मान्यता के विपरीत प्रतिपादित किया कि भूमि ही सूर्य के चारों ओर घूमती है, न कि सूर्य। इस स्थापना पर उसे बहुत बड़ा अपराधी समझा गया और पोप की अध्यक्षता में एक धर्म-निर्णायक सभा (Inquisition Court) ने उसे १० वर्ष का कारावास दिया। जो निर्णय उन्होंने किया, वह निम्न शब्दों में है—

The first proposition that the Sun is the centre and does not revolve around the earth, is foolish, absurd, false theology and heretical because expressly contrary to the "Holy Scriptures" and the second proposition that the earth is not the centre but revolves about the Sun, is absurd, false in philosophy and from theological point of view at

least opposed to the true faith.

अर्थात् गैलिलियो की "प्रथम स्थापना कि—'सूर्य केन्द्र है और वह भूमि के गिर्द नहीं घूमता' मूर्खतापूर्ण, निरर्थक, ब्रह्मविद्या की दृष्टि से भ्रमपूर्ण तथा धर्मविरुद्ध है, क्योंकि विशेष रूप से वह धर्मग्रन्थ बाइबल की मान्यता का खण्डन करती है। 'भूमि घूमती है' मूर्खतापूर्ण, तत्त्वज्ञान के विरुद्ध तथा ब्रह्मविद्या के सिद्धान्त की दृष्टि से सत्य-धर्मग्रन्थ के विरुद्ध है।"

बस, इसी अपराध में १० वर्ष का कठोर कारावास दे दिया। आगे चलकर विज्ञान कुछ और उन्नत हुआ तो धर्माचार्यों ने यह कहना प्रारम्भ कर दिया कि विज्ञान का क्षेत्र पृथक् है और धर्म का पृथक्। विज्ञान के आधार पर धार्मिक विश्वासों को नहीं छोड़ा जा सकता। यही मनोवृत्ति न्यायाधीशों के न्यायिक निर्णयों के विषय में भी थी।

पोप लियो तेरहवें (Pope Liyo XIII) ने यह आदेश् दिया कि—

"It is an impious deed to break the laws of Jesus Christ for the purpose of obeying the Magistrates, or transgress the law of the church under the precept of observing the Civil law."

अर्थात् 'मजिस्ट्रेट की आज्ञापालन के लिए ईसामसीह के आदेशों का उल्लङ्घन करना पाप है। नागरिक नियमों के प्रतिपालन के आधार पर चर्च के कानून को ठुकराना धर्मसङ्गत नहीं है।'

कुछ समय और बीतने पर यह स्थिति भी बदली और बीसवीं सदी में वे अन्धविश्वास हिल गए। यीसु मसीह भक्तों के उद्धार के लिए प्रभु से सिफ़ारिश करेगा, इस मान्यता का खण्डन करते हुए 'डिसरायली' कहता है—

"Man requires that there shall be a direct relation between the created and creator and that in these relations he shall find a solution of the perplexities of existence."

अर्थात् 'मनुष्य चाहता है कि रचयिता और उसकी सृष्टि में रहनेवाले जीवों का परस्पर सीधा सम्बन्ध हो। इस सम्बन्ध से मनुष्य अपने अस्तित्व के कठिन-से-कठिन कार्यों को सिद्ध कर लेगा।' कार्लाइल जैसों को विवश होकर अन्त में कहना पड़ा—

"He (Carlyle) did not think it possible that educated honest men could even profess much longer to believe in Historical Christianity."

अर्थात् 'मुझे यह सम्भव नहीं दिखाई देता कि कोई ईमानदार शिक्षित व्यक्ति ऐतिहासिक ईसाई मत में अधिक काल तक विश्वास रख सकेगा।'

सितम्बर सन् १९३४ में मॉडर्न चर्चमैन्स कांग्रेस बर्मिंघम (Modern Churchmen's Congress, Birmingham) में भाषण करते हुए बर्मिंघम के डॉ० बिशप ने कहा—

"The first chapter of Genesis obviously cannot be harmonised with the scientific conclusions which naturally all English children now learn as a part of their education. Our modern outlook has created a background of thought against which we cannot maintain the traditional belief in the infallibility of scriptures."

('Hindu' 17th Sept, 1934)

"बाइबल के उत्पत्ति-प्रकरण के प्रथम अध्याय की, जो स्वाभाविक तौर पर सब अंग्रेज़ बालकों को स्कूलों में पढ़ाया जाता है, वैज्ञानिक निष्कर्षों के साथ सङ्गति नहीं लगाई जा सकती। हम धर्मग्रन्थ बाइबल की निर्भ्रान्तता के सिद्धान्त को अब स्वीकार नहीं कर सकते।"

इसी सभा के सभापति प्रो० बेथूनबेकर ने जो कैम्ब्रिज में Divinity (दिव्य विधा) के प्रोफ़ेसर हैं, स्पष्ट शब्दों में कहा—

"Though in the past, the Church has treated all the New Testament as literally true, we cannot do so today. We know, it did not really happen always quite like that."

"यद्यपि भूतकाल में ईसाई गिर्जाघरों में न्यू टेस्टामेण्ट को अक्षरशः सत्य माना जाता रहा है, आज हम वैसा नहीं कर सकते। हम जानते हैं कि वस्तुतः ईसा की उत्पत्ति, उसके पुनरुत्थान आदि का वृत्तान्त ठीक उस रूप में नहीं हुए जैसा कि बाइबल में वर्णित है।"

लगभग यही स्थिति इस्लाम की हुई। वहाँ भी मज़हबी बातें बुद्धि की तुला पर तोली जाने लगीं। सर सय्यद अहमद खान ऋषि दयानन्द से इतने प्रभावित थे कि उन्होंने बहुत-सी बातों को अलङ्कार का रूप देकर उसको बुद्धि-सङ्गत बनाने का यत्न किया। सर शय्यद शैतान के विषय में लिखते हैं—"अब ख़याल करो कि कुरआने-मजीद में 'शैतान' लफ़्ज़ या नाम आया है, मगर उसकी हक़ीक़त व माहियत कुछ बयान नहीं हुई। दिन-रात हमको शैतान बहकाता है और गुनाहों में फँसाता है, मगर वजूद ख़ारिजी महसूस नहीं होता। बल्कि हम बिलयक़ीन पाते हैं कि खुद हम ही में एक क़ुव्वत है जो हमको सीधे रास्ते से फेरती है, हमको बेइन्तहा (अनेकानेक तरीक़ों से) बहकाती है। हम शैतान समझकर उसकी दाढ़ी पकड़ लेते हैं और ज़ोर से तमाचा मारते हैं। मगर जब आँख खुलती है तो अपनी ही सफ़ेद दाढ़ी अपने हाथ में और अपना ही गाल लाल देखते हैं।" (तहज़ीबुलइख़लाक़, जिल्द दो, पृष्ठ १९६) इस सन्दर्भ में मन को ही शैतान बताकर उसे बुद्धिगम्य बनाने का यत्न किया है। फिर इसके आगे पृष्ठ ३७६ पर लिखते हैं—

"उन ग़लत क़िस्सों में से जो मुसलमानों के यहाँ मशहूर हैं, एक क़िस्सा इमाम महदी आख़िरुज़्ज़माँ के पैदा होने का है। इस क़िस्से की बहुत-सी हदीसें कुतुब अहादीज़ में भी मज़कूर हैं। मगर कुछ शुबह

नहीं कि सब झूठी और मसनूई हैं।''

सनातनधर्म की दुनिया कुछ निराली है। इन्होंने भी आर्यसमाज और ऋषि दयानन्द के मार्ग को व्यावहारिक रूप में तो अपनाया है, किन्तु स्पष्ट स्वीकार करने का साहस अभी तक नहीं है। आज गङ्गा के अवतरण की कहानी कोई इस रूप में नहीं मानता कि शिवजी की जटाओं से निकलकर हिमालय पर गिरी और फिर उसे राजा भगीरथ तप करके पृथिवी पर उतार लाए। अब कोई स्त्री-शिक्षा का विरोध भी नहीं करता। हाँ, इतना साहस अभी नहीं आया है कि खुले रूप में वेदाध्ययन की वकालत करे। काशी के मूर्धन्य विद्वान् स्व० पं० गोपालदत्त दर्शन-केसरी का भाषण काशी में मैंने स्वयं सुना, जिसमें उन्होंने स्त्री-जाति की शिक्षा की पूरी वकालत की। अब स्त्री को नरक का द्वार और पैरों की जूती भी कोई नहीं बताता, अपितु गीता प्रेस गोरखपुर से निकलनेवाले मासिक पत्र 'कल्याण' के नारी अङ्क में स्त्री-जाति की महत्ता का वर्णन करते हुए कवि ने यहाँ तक लिखा कि—**''जो पै ये न होय रानी राधे कौ रकार हूतो, मोरे जानी 'राधेश्याम' आधेश्याम रहते''**, अर्थात् 'राधेश्याम में पूरी राधा को नहीं, केवल राधे के 'र्' को भी हटा दिया जाय तो राधेश्याम आधेश्याम रह जाएँगे।' इसी से स्त्री की महत्ता सिद्ध है।

प्रसिद्ध कथानकों की बुद्धिपूर्वक सङ्गति लगानी भी प्रारम्भ हो गई है, यथा शिव की जटाओं से गङ्गा के निकलने की बुद्धिपूर्वक सङ्गति यह है कि शिव हिमालय का ही एक पर्यायवाची शब्द है। हिमालय के छोटे-छोटे प्रत्यन्त पर्वत ऐसे ही हैं, जैसे सिर के पीछे की ओर जटाएँ पड़ी हों। इस स्थापना की पुष्टि इस बात से स्पष्ट रूप में होती है कि अब भी भूगोल में कालका के ऊपर की हिमालय की पहाड़ियों का नाम 'शिवालक' प्रसिद्ध है। शिव हुआ हिमालय और 'अलक' कहते हैं बालों को—जैसे शिर के बाल (जटा) पीछे की ओर होते हैं उसी प्रकार ये पहाड़ियाँ हैं, जिन्हें शिवालक कहा जाता है। 'हर' नाम भी हिमालय का है। 'हरद्वार' नाम के शहर का नाम भी हरद्वार इसीलिए रक्खा गया कि वह हिमालय पर जाने के लिए प्रवेशद्वार के समान है। अब शिव की ज़टाओं से गङ्गा निकलने की बात स्पष्ट और बुद्धिसङ्गत हो गई कि हिमालय के एक पर्वत-भाग से गङ्गा का स्रोत निकला है। किन्तु सनातन-धर्म के क्षेत्र में अभी श्रद्धा के नाम पर बहुत-कुछ करने को शेष है।

यदि श्रद्धा का वास्तविक रूप हिन्दू-समाज समझ ले तो देश का महान् कल्याण हो सकता है। देश का अरबों रुपया प्रतिवर्ष निरर्थक चला जाता है। भिन्न-भिन्न नदियों, तालाबों, समुद्रों पर विशेष-विशेष पर्वों पर पड़नेवाले स्नानों पर ही इस देश की करोड़ों रुपयों की राशि व्यय हो जाती है। प्रतिदिन नदियों के ऊपर से गुज़रनेवाली रेलगाड़ियों के डिब्बों में से, बसों में से लाखों हिन्दू-यात्री नदियों में पैसे फेंकते

हैं। मोटे रूप से सोचने पर यह राशि एक मास में लाखों में बैठती होगी। यदि यही पैसा शिक्षा अथवा स्वास्थ्य के काम आवे तो राष्ट्र का कितना भला हो सकता है!

अतः श्रद्धा के विषय में बहुत अज्ञान है और इसका निरन्तर सन्तुलित विचार देकर समाधान करना चाहिए। श्रद्धा का वास्तविक रूप नास्तिकता और अन्ध श्रद्धा दोनों के बीच में है। निर्णीत सत्य के ऊपर भी आचरण न करना नास्तिकता है और आँख मींचकर प्रत्येक बात को माथा झुकाकर मान लेना और करने लग जाना अन्ध श्रद्धा है। ये दोनों ही मानव-समाज के लिए हानिप्रद हैं।

निर्णीत सत्य को आचरण में लाने की प्रबल इच्छा और हूक ही श्रद्धा है। उसके बिना आचरण ख़ानापूरी है और इस भावना-विहीन कर्म का मन और शरीर पर कोई प्रभाव नहीं होता। वह उसी प्रकार नीरस व्यापार है, जैसे बिना साज़ का संगीत।

ऐतरेय ब्राह्मण में आया है कि यजमान अपत्नीक नहीं होना चाहिए। यदि सांसारिक पत्नी नहीं है तो न सही, एक पत्नी ऐसी है जो सदा साथ है; हाँ, भावनापूर्वक उससे परिचय की आवश्यकता है—

अपत्नीकः कथमग्निहोत्रं जुहोति, श्रद्धा पत्नी, सत्यं यजमानः, श्रद्धा सत्यं। तदित्युत्तमं मिथुनं, श्रद्धया सत्येन मिथुनेन स्वर्गाल्लोकाञ्जयतीति॥
—ऐतरेय० ३२।१०

'बिना पत्नी के अकेला कैसे यज्ञ करे? नहीं, यह अकेला नहीं है, यहाँ श्रद्धा पत्नी है और सत्य यजमान है। यह जोड़ा सबसे उत्तम है। श्रद्धा और सत्य के जोड़े से मनुष्य अपना अभीष्ट सिद्ध कर सकता है।' इसका एक आशय यह भी निकला कि श्रद्धा-(भावना)-विहीन, कर्म 'विधुर' है और सत्य-विहीन श्रद्धा 'विधवा' है। दोनों ही सामाजिक दृष्टि से पङ्गु हैं, अतः श्रद्धा ही धर्म की चेतना है। इसीलिए मन्त्र में उपदेश है "**श्रद्धया पर्यूढाः**"—आजीवन तुम्हारा प्रत्येक अनुष्ठान श्रद्धा से सुवासित हो।

उपयोगी समझकर ऋग्वेद का श्रद्धासूक्त १०।१५१।१ और उसका धारावाहिक अर्थ भी यहाँ दिया जाता है—

श्रद्धयाग्निः समिध्यते श्रद्धया हूयते हविः।
श्रद्धां भगस्य मूर्धनि वचसा वेदयामसि॥ १॥

—सच्ची भावना से प्रेरित होकर ही हम अग्नि प्रज्वलित करें। सच्ची भावना से ही तल्लीन होकर हम यज्ञ में आहुति दें। महान् परमात्मा की वेद-वाणी से सत्य भावना को ही हम अपने मस्तिष्क में धारण करें।

प्रियं श्रद्धे ददतः प्रियं श्रद्धे दिदासतः।
प्रियं भोजेषु यज्वस्विदं म उदितं कृधि॥ २॥

—हे श्रद्धे! तेरे प्रभाव से मेरा यह उत्थान दानी को प्रिय लगे; जो देने की कामना करें, उन्हें भी रुचिकर लगे। प्रजा के संरक्षक और पालक भी मेरे इस उत्कर्ष को प्रेम की दृष्टि से देखें।

यथा देवा असुरेषु श्रद्धामुग्रेषु चक्रिरे।
एवं भोजेषु यज्वस्वस्माकमुदितं कृधि॥ ३॥

—जिस प्रकार विजय और उत्कर्ष चाहनेवाले देवलोग शत्रुओं को भय-त्रस्त करनेवाले बलवानों पर प्रेम और विश्वास कर लेते हैं, उसी प्रकार मेरा उत्थान भी उनको श्रद्धायोग्य और विश्वासयोग्य लगे, मेरी शक्ति और उन्नति को वे कष्टदायक न समझें।

श्रद्धां देवा यजमाना वायुगोपा उपासते।
श्रद्धा हृदय्ययाकूत्या श्रद्धया विन्दते वसु॥ ४॥

—वायु के समान प्रबल शक्तिसम्पन्न तेजस्विजन अपनी शक्ति को रक्षा के काम में लगाते हुए याज्ञिक श्रद्धा से ओत-प्रोत होकर अपनी हार्दिक भावना से श्रद्धा की अर्चना करें और उससे परम ऐश्वर्य के अधिकारी बनें।

श्रद्धां प्रातर्हवामहे श्रद्धां मध्यन्दिनं परि।
श्रद्धां सूर्यस्य निम्रुचि श्रद्धे श्रद्धापयेह नः॥ ५॥

—हमारे प्रातः के कार्य श्रद्धापूर्वक हों, मध्याह्न व सायं के कार्य भी उसी पवित्र और सत्य भावना से हों। हे श्रद्धे! तू हमें श्रद्धामय बना दे।

मन्त्र की शेष दो बातों का कतिपय वाक्यों में केवल आशय बताना उचित होगा।

मन्त्र में तीसरा उपदेश है—"**दीक्षया गुप्ताः**"—तुम लोग दीक्षा से सुरक्षित रहनेवाले हों। शिक्षा के दो भेद हैं—एक शिक्षा और दूसरी दीक्षा। शब्दमय ज्ञान का नाम **शिक्षा** है। वह शब्दमय ज्ञान आचरण के माध्यम से जब हमारे आन्तरिक जीवन का अङ्ग बनता है, तो **दीक्षा** कहा जाता है, अतः दीक्षा ही तत्त्व की वस्तु है और वह निश्चित रूप से आत्मा की रक्षा करती है।

मन्त्र की चौथी बात है—"**यज्ञे प्रतिष्ठिताः**"—सबका जीवन याज्ञिक भावना में सब प्रकार से निहित हो। यह जड़ और चेतन संसार एक-दूसरे के सहयोग और सङ्गतिकरण से चल रहा है। यदि इस शृङ्खला की एक कड़ी भी टूट जाय तो सब काम ठप्प हो जाएँगे।

चारों वेदों में एक प्रश्न है—

"पृच्छामि यत्र भुवनस्य नाभिः"

—ऋ० १।१६४।३५; यजु० २३।६२; अथर्व० ९।१०।१४

"समस्त संसार का केन्द्रबिन्दु (धुरी) क्या है जिस पर यह चल

रहा है, जिस पर इसका अस्तित्व है?'' इस प्रश्न का चारों वेदों में एक ही उत्तर है—

''अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः''

''यह यज्ञ की भावना ही धुरी है, जिस पर यह संसार घूम रहा है।'' यज्ञ की भावना, त्यागपूर्वक भोग की भावना, खिलाकर खाने की भावना, परिवार में से लुप्त हुई तो परिवार बिखरा और राष्ट्र में से लुप्त हुई तो राष्ट्र नष्ट हुआ। यदि सारे संसार का अस्तित्व है तो यज्ञ की भावना पर। यह बात गीता में निम्न शब्दों में कही—

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥

—गीता ३।१०

''प्रभु ने मानव-समाज को यज्ञ के साथ उत्पन्न करके कहा कि इस यज्ञ की भावना का पालन करते हुए फूलो-फलो। इससे तुम्हारी सब कामनाएँ पूर्ण होंगी।''

मन्त्र के अन्तिम शब्द हैं **''लोको निधनम्''**—ये आचरण मनुष्यमात्र को मृत्युपर्यन्त करते रहने चाहिएँ।

❑❑

वेद सब सत्यविद्याओं का पुस्तक है

यस्मा॒त्प॒क्वाद॒मृतं॑ संब॒भूव॒ यो गा॑य॒त्र्या अधि॑पतिर्ब॒भूव॑।
यस्मि॒न्वेदा॒ निहि॑ता वि॒श्वरू॑पा॒स्तेनौ॑द॒नेनाति॑ तराणि मृ॒त्युम्॥

—अथर्व० ४।३५।६

ऋषिः—प्रजापतिः॥ देवता—अतिमृत्युः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

अन्वयः—यस्मात् पक्वात् अमृतं सम्बभूव यः गायत्र्याः अधिपतिः बभूव यस्मिन् विश्वरूपाः वेदाः निहिताः तेन ओदनेन मृत्युम् अतितराणि॥

शब्दार्थ—(**यस्मात् पक्वात्**) जिस परिपक्व [ओदन] से (**अमृतं**) अमृत (**सम्बभूव**) उत्पन्न हुआ है, (**यः**) जो (**गायत्र्याः**) गायत्री का (**अधिपतिः**) स्वामी (**बभूव**) था और है (**यस्मिन्**) जिसमें (**विश्वरूपाः वेदाः**) समस्त शब्दमय ज्ञानरूप वेद (**निहिताः**) निहित हैं (**तेन ओदनेन**) उस कारणभूत तत्त्व से (**मृत्युम्**) मृत्यु को (**अतितराणि**) तर लूँ।

व्याख्या—इस मन्त्र में ''**यस्मिन् वेदा निहित्ता विश्वरूपाः**''—विश्व का रूप वेद में निहित है, इसी भाव को ध्यान में रखकर ऋषि दयानन्द जी महाराज ने आर्यसमाज के तीसरे नियम में 'वेद सब सत्यविद्याओं का पुस्तक है' शब्द लिखे। अपनी इसी धारणा के अनुसार ऋषि ने वेदमन्त्रों से बीजरूप में प्रमाण उद्धृत करके इस बात का दिग्दर्शन भी कराया कि तारविद्या, जलयान तथा विमानादि समस्त वैज्ञानिक प्रक्रियाओं का संक्षिप्त और सूक्ष्म वर्णन वेद में विद्यमान है। ऋषि ने अपने महान् ग्रन्थ 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' में इन सब स्थापनाओं की पुष्टि में वेदों से प्रमाण उद्धृत किये हैं।

ऋषि के समकालीन तथाकथित पौरस्त्य और पाश्चात्य पण्डितों ने इस मान्यता की खिल्ली उड़ाई।

सायणाचार्य-लिखित चारों वेदों की भूमिका के सम्पादक श्री पं० बलदेव उपाध्याय, एम०ए० साहित्याचार्य लिखते हैं—''**कैरपि समाज-विशेषानुरागमादधानैर्वेदानां विधीयतेऽध्ययनं सहपरिश्रमेण........ परन्तु........ मन्त्रोच्चारणं कुर्वन्तः सततं कदर्थयन्ति।**''

''समाज-विशेष से प्रेम रखनेवाले कुछ लोग (अर्थात् आर्यसमाजी) बहुत परिश्रम से वेद पढ़ते हैं। किन्तु.....मन्त्रों को उच्चारण करते हुए उनकी दुर्गति करते हैं।''

अपरञ्चामी वेदेषु नवीनानामपि आधुनिकैः पाश्चात्यविज्ञान-

वेदिभिः प्राकाश्यं नीतानामाविष्काराणां धूम्रयान-वायुयान-तडिच्छकटं स्वनग्राहादीनां नैव कल्पितां सम्भावनामपि तु वास्तविकी सत्तां वेदे मन्यन्ते। सर्वेषामाविष्कृतामाविष्करिष्यमाणाञ्च विज्ञान नामाकरो वेद एवेति तेषामभिमतं मतमिवावलोक्यते। —परन्तु एषोऽपि सिद्धान्तो नैव विद्वज्जनमनोरमः।

"अन्यच्च ये लोग वेदों में आधुनिक पाश्चात्य वैज्ञानिकों के द्वारा निर्मित नवीन आविष्कार रेलगाड़ी, वायुयान, ट्राम, टेलीग्राफ़ और टेलीफ़ोन आदि की, जिनकी वेद में कल्पना भी नहीं की जा सकती थी, वास्तविक सत्ता वेद में मानते हैं। सभी वैज्ञानिक आविष्कार जो अबतक हो चुके हैं और आगे चलकर होंगे, उन सब की खान वेद को ही ये लोग स्वीकार करते हैं। परन्तु विद्वान् लोग इस मान्यता को ठीक नहीं मानते।"

यह थी मनःस्थिति इन तथाकथित वेद के विद्वानों की। सर्वप्रथम तो इन विद्वानों का ध्यान महर्षि मनु की मान्यता की ओर जाना चाहिए था। मनु ने कहा—

पितृदेवमनुष्याणां वेदश्चक्षुः सनातनम्।
अशक्यञ्च प्रमेयञ्च वेदशास्त्रमिति स्थितिः॥

—मनु० १२-९४

'शुभ और अशुभ को दिखानेवाला पितृदेव मनुष्यों का शाश्वत चक्षु वेद है। संसार के सभी रहस्य वेद और शास्त्र में हैं। यह मर्यादा है।'

भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात् प्रसिध्यति।

'अतीत, वर्तमान और भविष्य में भी होनेवाली सब बातें वेद से सिद्ध हैं' अर्थात् मानव की सर्वाङ्गीण उन्नति के लिए अपेक्षित समस्त ज्ञान वेद में है।

इन पौराणिक विद्वानों को आर्यसमाजियों की खिल्ली उड़ाने से पहले मनु की इस स्थापना पर विचार कर लेना चाहिए।

बहुत-से लोगों की, विशेषरूप से अंग्रेज़ी पढ़े-लिखों की, यह धारणा है कि स्वामी दयानन्द सरस्वती ने पाश्चात्य वैज्ञानिक उन्नति को देखकर वेद से भी उन्हीं बातों को दिखाने का प्रयत्न किया है, किन्तु ऐसी सभी बातें उनकी अनभिज्ञता के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। महर्षि के समय में तो मोटर तक का निर्माण नहीं हुआ था और विमान का आविष्कार तो सन् १९०१ में हुआ। ऋषि के सामने तो वेद और आर्ष साहित्य के अतिरिक्त और कुछ था ही नहीं। ऋषि ने पूना के १०वें प्रवचन में यह कहा भी था कि मैंने विमान बनाने की पुस्तक देखी है। आर्य विद्वान् स्वामी ब्रह्ममुनि जी ने एक अति प्राचीन भरद्वाज ऋषिकृत विमानशास्त्र को खोजकर छपवा दिया है। ऋषि ने अपनी स्थापना की पुष्टि में ऋग्वेद के ११ मन्त्र उद्धृत किये हैं जिन पर विचार करने से

वही परिणाम निकलता है, जो ऋषि ने निकाला है। ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में उद्धृत अन्तिम मन्त्र है—

द्वादशः प्रधयश्चक्रमेकं त्रीणि नभ्यानि क उ तच्चिकेत।
तस्मिन्त्साकं विशता न शङ्कवोऽर्पिताः षष्टिर्न चलाचलासः॥

—ऋ० १।१६४।४८

ऋषिकृत अर्थ—"इन यानों के बाहर भी खम्भे रचने चाहिएँ जिनमें सब कलायन्त्र लगाए जाएँ। उनमें एक चक्र बनाना चाहिए, जिसके घुमाने से सब कला घूमें। फिर उसके मध्य तीन चक्र रचने चाहिएँ कि एक के चलाने से सब रुक जाएँ, दूसरे के चलाने से आगे चलें और तीसरे के चलाने से पीछे चलें। उसमें तीन सौ बड़ी-बड़ी कीलें, अर्थात् पेच लगाने चाहिएँ कि जिनसे उनके सब अङ्ग जुड़ जायँ और उनके निकालने से सब अलग-अलग हो जायँ। उनमें साठ कलायन्त्र रचने चाहिएँ; कई-एक चलते रहें और कुछ बन्द रहें, अर्थात् जब विमान को ऊपर चढ़ाना हो तो भापघर के ऊपर के मुख बन्द रखने चाहिएँ और ऊपर से नीचे उतारना हो तब ऊपर के मुख अनुमान से खोल देने चाहिएँ; ऐसे ही पूर्व को चलाना हो तो पूर्व के बन्द करके पश्चिम के खोलने चाहियें और जो पश्चिम को चलाना हो तो पश्चिम के बन्द करके पूर्व के खोल देने चाहिएँ। इसी प्रकार उत्तर व दक्षिण में जान लेना। इस महागम्भीर शिल्पविद्या को सर्वसाधारण लोग नहीं जान सकते, किन्तु जो महाविज्ञान हस्तक्रिया में चतुर और पुरुषार्थी लोग हैं, वे ही सिद्ध कर सकते हैं।"

इस मन्त्र का भाव मेरे मस्तिष्क में था और मैं विमान-निर्माण में कुशल लोगों से समझकर वास्तविकता को परखना चाहता था। यह अवसर मुझे सन् ७५-७६ में पार्लियामेण्ट की गृहमन्त्रालय की राजभाषा-समिति का सदस्य रहने पर दो बार उपलब्ध हुआ। यह कमेटी एक बार बङ्गलौर की उस फ़ैक्ट्री में गई, जहाँ विमानों की मरम्मत का काम होता था और दूसरी बार कानपुर के विमान बनने के कारखाने में गई। दोनों स्थानों पर मैंने दो-दो घण्टे का समय मशीनरी की मूल प्रक्रिया को सामान्यतया समझने के लिए लगाया। उन विज्ञान-विशेषज्ञों से बात करने के बाद मेरी इन मन्त्रों में पूरी आस्था जम गई। एक विशेष बात जो मैंने अनुभव की, वह थी तीन चक्र की। मुझे ऐसा लगा कि सम्भवतः इस मशीनरी के विज्ञान में तीन चक्र प्रायः सर्वत्र मूल में विद्यमान हैं।

ऋषि ने जो मन्त्र उद्धृत किये हैं, इनके अतिरिक्त भी कुछ मन्त्र ऐसे हैं, जिनमें बहुत स्पष्ट शब्दों में वैज्ञानिक वर्णन है—

अनश्वो जातो अनुभीशुरुक्थ्योरथस्त्रिचक्रः परि वर्तते रजः।
महत्तद्वो देव्यस्य प्रवाचनं द्यामृभवः पृथिवीं यच्च पुष्यथ॥

—ऋ० ४।३६।१

अपने ऋग्वेद-भाष्य में इस मन्त्र का भाव ऋषि इस प्रकार लिखते

हैं—"हे मनुष्यो! तुम लोग अनेक प्रकार के अनेक कलाचक्रों तथा पशु घोड़ा के वाहन से रहित अग्नि और जल से चलाए गए विमान आदि वाहनों को बना पृथिवी, जलों और अन्तरिक्ष में जा-आकर और ऐश्वर्य को प्राप्त होके पूर्ण सुखवाले होओ।"

वेद में विद्युद्वाही रथ का भी वर्णन है—

आ विद्युन्मद्भिर्मरुतः स्वर्कै रथेभिर्यात ऋष्टिमद्भिरश्वपर्णैः।
आ वर्षिष्ठया न इषा वयो न पप्तता सुमायाः॥

—ऋ० १।८८।१

इस मन्त्र में "**विद्युन्मद्भिः**" (बिजलीवाले) "रथैः" (विमानों से) स्पष्ट में बिजली से चलनेवाले विमान का वर्णन है, जिनका आविष्कार अभी तक नहीं हुआ, किन्तु हो अवश्य सकता है।

अंग्रेज़ी पढ़कर प्राचीन विद्याओं का उपहास करनेवालों को योगिराज अरविन्द घोष ने अपनी गीता की भूमिका के पृष्ठ ३४ पर लिखा है—"संजय दिव्यदृष्टि (Clairvoyance) और दूरश्रवण (Clairvience) को पा करके दूर से युद्ध-क्षेत्र का लोमहर्षक दृश्य और महारथियों का सिंहनाद इन्द्रियगोचर करने में समर्थ हुआ था, तो कदाचित् यह बात संजय की दिव्यदृष्टि की प्राप्ति की अपेक्षा अंग्रेज़ी शिक्षितों के लिए अधिक विश्वास-योग्य होती, पर व्यासदेव ने जो दिव्यदृष्टि की शक्ति संजय को प्रदान की थी उसको गप्प कहकर हँसी उड़ाई जाती है।"

अपने माननीय ऋषि-मुनियों के ज्ञान-तारतम्य से परे रहने तथा आधुनिक पठन-पाठनोपार्जित ज्ञान को सर्वोपरि हृदयङ्गम करने से हमारे भारत के अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे लोगों में एक ऐसी हवा बह निकली है कि जिससे अपने पूर्वजों की मान-मर्यादा तो दूर रही, यदि कोई सज्जन उनकी बातें आधुनिक विज्ञान (Modern Science) से सङ्गति लगाकर प्रकट भी करे तो उसकी बेतरह हँसी उड़ाई जाती है। सबसे बड़ा कटाक्ष यह किया जाता है कि ज्यों ही विज्ञान ने कोई आविष्कार संसार के सामने उपस्थित किया, त्यों ही अपने भूताभिमानी भारतीय और विशेषकर आर्यसमाजी पुरानी अथवा नयी पुस्तकों से कुछ-न-कुछ निकालकर उसकी तुलना की कोई-न-कोई वस्तु प्रस्तुत कर देते हैं। बड़े-बड़े नगरों के चक्रदार जलकार्य (Water Works) को वाल्मीकि रामायण वर्णित अयोध्यापुरी की सड़कों के छिड़कावे के साथ जोड़ दिया जाता है। मोटरकार की तुलना "**रथेन वायुवेगेन**" अथवा राजा भोज के काष्ठ के घोड़े से कर दी जाती है। वायुयान को पुष्पक विमान के साथ मिला दिया जाता है। फ़ोनोग्राफ़ को सिंहासन-बत्तीसी की कठपुतलियों से टेलिस्कोप (Telescope), टेलीफ़ोन तथा वायरलैस टेलीग्राफ़ को ऋषि-मुनियों की दिव्यदृष्टि-श्रवणादि को ऋषि-विभूतियों के साथ मिलाकर निपटारा कर दिया जाता है। किन्तु ये सारी चमत्कारपूर्ण विभूतियाँ किस

प्रकार छोटे-छोटे सिद्धान्तों पर अवलम्बित हैं, इसका ज्ञान प्रकाशित होने पर खिल्ली उड़ानेवाले भी सोचने को बाध्य हो जाते हैं। उदाहरणार्थ जलगति-विद्या (Hydrastatics & Hydradynamics) का एक साधारण नियम लीजिये Water seeks its own level, अर्थात् 'जल अपने समतल को खोजता रहा है।' यही कारण इसके स्वाभाविक बहाव का है, क्योंकि यह हो नहीं सकता कि एक स्वच्छन्द जलराशि का एक किनारा ऊँचा और दूसरा नीचा रहे। जलराशि तुरन्त ही दोनों किनारों को समतल में ले आवेगी। जल का यह 'द्रवत्व'-गुण ही बहाव का कारण है। इस सिद्धान्त को विज्ञान का साधारण-सा विद्यार्थी भी जानता है। अंग्रेज़ी के U अक्षर के आकारवाली नाली में जल भरें तो दोनों भुजाओं में जल की ऊँचाई बराबर रहेगी। यदि कुछ भी विषमता होगी तो पानी में भी गति रहेगी। समतल होने पर ही उसमें निःस्पन्दता होगी। विज्ञान ने इसी स्पन्दन तथा चलने की प्रवृत्ति से ऐसे-ऐसे आविष्कार किये हैं कि जिन्हें देखकर चकित होना पड़ता है और इन सूक्ष्म चिन्तनों के परिणामस्वरूप मानव-समाज को अपरिमित लाभ हुआ है।

जलगति-विद्या के इसी नियम को पदार्थ-विद्या के हमारे आचार्य कणाद मुनि अपने वैशेषिक दर्शन के अध्याय ५, आह्निक २, सूत्र ४ में इस प्रकार लिखते हैं—"**द्रवत्वात् स्पन्दनम्**"। वैशेषिक में इसी स्थान पर वाटर-पम्प के सिद्धान्त को स्पष्टरूप से बतलाया गया है। वायु के बोझ से पानी उसी प्रकार दबा हुआ है, जैसे मोटे मनुष्य के भार से एक कमानीदार पलंग (Spring bed) दब जाता है। जैसे ही वह मनुष्य उसके ऊपर से उठता है, पलंग की कमानियाँ एकसाथ ऊपर को उभरती हैं और पलंग की सतह एकसाथ ५-६ इञ्च ऊँची उठ जाती है। इसी प्रकार जलयन्त्र की पानी से लगी नाली में भी वायु को हवा देने से पानी नाली में ऊपर चढ़कर इससे लगी हुई टूँटी (Inserted Spout) से बाहर हौज़ में गिरने लगता है।

वैज्ञानिकों ने इस वायु-शून्यता (Bycreating Vaccum) से पानी को २३ फुट तक ऊँचा चढ़ाने का हिसाब लगा रक्खा है। अब देखिये वैशेषिक अध्याय ५, आ० २, सूत्र ५ में इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन "**नाड्यो वायुसंयोगादारोहणम्**" अर्थात् 'नाली में वायु के न रहने से जल ऊपर को चढ़ता है।' इससे ही अगले सूत्र में "**नोदनात् पीडनात् संयुक्तं संयोगाच्च**" में हाइड्रॉलिक प्रैस (Hydraulic press) के सिद्धान्त का वर्णन किया है तथा इससे आगे के सूत्र में "**वैदिकञ्च**" कहकर अपने मत की पुष्टि वेद द्वारा की है। स्पष्ट है कि इन सब रहस्यों को इन ऋषियों ने वेद से जाना। भरद्वाज ऋषि भी अपने विमानशास्त्र में वेद का उल्लेख करते हैं। इसी सम्बन्ध में योगिराज अरविन्द का लेख भी महत्त्व रखता है—

The cosmic element is not less conspicuous in the Veda; the Rishis speak always of the worlds, the firm laws that govern them, the divine workings in the cosmos.

But Dayanand goes farther, he affirms that the truths of modern physical science are discoverable in the hymns. Here we have the sole point of fundamental principle about which there can be any justicable misgivings. I confer incompetence to advance my settled opinions in the matter.

किन्तु अब वैज्ञानिक प्रगति के साथ कुछ खुले मस्तिष्क से वेद के अध्ययन और खोजों ने अंग्रेज़ और पौराणिक मस्तिष्कों में भारी क्रान्ति ला दी है। अब पौराणिक विद्वान् भी यह स्वीकार करते हैं कि वेद में वर्णित **मित्र** और **वरुण** किन्हीं देवताओं के नाम न होकर "ऑक्सीजन" और "हाइड्रोजन" उन गैसों के नाम हैं, जिनके मिलने से पानी बनता है। इसी प्रकार अनेक वैज्ञानिक तथ्यों को वे अङ्गीकार करते हैं और उनका समर्थन भी। अत: वेद सब सत्यविद्याओं का पुस्तक है। "**यस्मिन् वेदा निहिता विश्वरूपा:**" में रञ्चमात्र भी अतिशयोक्ति नहीं है, अपितु प्राचीन ग्रन्थों का अनुशीलन हमें इस परिणाम पर पहुँचाता है कि अनेक वैज्ञानिक आविष्कार जो प्राचीन समय में थे, मध्यकाल में आकर लुप्त हो गए और आज के वैज्ञानिकों की भी अभी वहाँ तक पहुँच नहीं हो पाई है। भरद्वाज ऋषिकृत "**अंशुबोधिनी**" के विमान-अधिकरण में आए सूत्र **शक्त्युद्गमोधृष्टौ** सूत्र पर बौधायन ऋषि की वृत्ति निम्न है—

शक्त्युद्गमो भूतवाहो धूमयानशिशखोद्गमः।
अंशुवाहस्तारामुखो मणिवाहो मरुत्सखः॥

इस श्लोक में विमान की रचना और उनकी आकाश-सञ्चारी गति के आठ विभाग किये हैं—

(१) **शक्त्युद्गम**—बिजली से चलनेवाला, (२) **भूतवाह**—अग्नि, जल और वायु आदि से चलनेवाला, (३) **धूमयान**—भाप से चलनेवाला, (४) **शिखोद्गम**—पञ्चशिखी के तेल से चलनेवाला, (५) **अंशुवाह**—सूर्य-किरणों से चलनेवाला, (६) **तारामुख**—उल्कारस (चुम्बक) से चलनेवाला, (७) **मणिवाह**—सूर्यकान्त, चन्द्रकान्त आदि मणियों से चलनेवाला, और (८) **मरुत्सखा**—केवल वायु से चलनेवाला। इन विमानों में से केवल एक ही प्रकार प्रचलित है, अर्थात् तेल (पेट्रोल) के द्वारा विमान चलते हैं। सभी जानते हैं कि तेल का साधन उत्तरोत्तर क्षीण हो रहा है और एक दिन समाप्त हो जाएगा। व्ययसाध्य भी बहुत है। किन्तु वर्णित प्राचीन शैलियाँ यदि विकसित हो जावें तो ये यान मोटर से भी सस्ते रहेंगे और आज के स्कूटर से भी सुलभ होंगे। इन

विमानों की सुलभता और सरलता के कारण पुराने ऋषि तक भी इन विमानों को अपने पास रख लेते थे। भागवत में वर्णित कर्दम ऋषि का विमान इसका उदाहरण है। इतिहास से विदित होता है कि बौद्धकाल तक विमान के बनानेवाले कारीगर हमारे देश में थे। धम्मपाद के बोधि राजकुमार वत्थु पृष्ठ ४१० में इसी प्रकार के कारीगर की एक घटना का उल्लेख है।

घटना इस प्रकार है कि बोधि राजकुमार ने एक महल बनवाया। बनानेवाले कारीगर ने उसे अद्‌भुत और अनूठा बनाया। बोधिराज के मन में विचार आया कि यह कारीगर किसी दूसरे व्यक्ति का भी इसी प्रकार का महल न बना दे, इसलिए इसके हाथ कटवा लेने चाहिएँ। राजकुमार ने अपना यह विचार अपने एक साथी को बता भी दिया। राजकुमार के इस साथी ने राजकुमार के इरादे की सूचना कारीगर को दे दी।

कारीगर चिन्तित हुआ और उसने अपनी पत्नी को कहला भेजा कि वह घर-द्वार बेचकर और आवश्यक सामान गुप्तरूप से साथ लाकर राजदरबार में उस महल को देखने के लिए प्रार्थना-पत्र दे। पत्नी ने अपने पति के सन्देश के अनुसार सब व्यवस्था कर ली और राजा से आज्ञा प्राप्त करके वह महल देखने गई। उसका कारीगर पति उसे एक कोठरी में ले गया और **पुत्र दारमरुस सकुनस्स कुच्छिर्यं निसीदयित्वा बात पातेन निक्सयित्वा पलायि**—स्त्री तथा लड़कों-सहित एक गरुड़ यन्त्र पर चढ़कर भाग गया और नेपाल के काठमाण्डू में रहने लगा।

इसी प्रकार एक दूसरी कथा धम्मपाद के कथा वासुलदत्ता वत्थु पृष्ठ ९८ में लिखी है कि कौशाम्बी के राजा उदयन से उज्जयिनी के राजा चण्डप्रद्योत की शत्रुता थी। प्रद्योत ने राजा उदयन को धोखा देकर पकड़ने के लिए एक हस्तीयन्त्र तैयार करवाया। यह हाथी लकड़ी का था। इसका रङ्ग सफेद था। यह अपने-आप यन्त्र के सहारे चलता था। इस हाथी के अन्दर ६० योद्धा बैठ सकते थे। प्रद्योत ने इस हाथी को उदयन के जङ्गल में छुड़वा दिया। यह उस वन में इधर-उधर घूमने लगा। जङ्गल के रक्षकों ने इस हाथी की सूचना राजा उदयन को दी। श्वेत हाथी की सूचना पाकर उदयन उस हाथी को पकड़ने के लिए स्वयं गया, किन्तु हाथी के अन्दर बैठे सैनिकों ने आक्रमण करके उदयन को ही पकड़ लिया।

इसी ग्रन्थ की कथा विसाख वत्थु पृ० १९५ पर रानी विशाखा के महालता नाम के आभूषण की चर्चा है। यह आभूषण सिर से पैर तक था। चार महीने में ५०० सुनार इसे बना पाए थे। इसका मूल्य उस समय के किसी सिक्के के हिसाब से नौ करोड़ था। इस आभूषण में एक मोर बना था, जो प्रत्येक समय विशाखा के मस्तक पर नाचता रहता था। इससे पता चलता है कि उस समय यान्त्रिक प्रक्रिया का इतना प्रचलन

था कि सुनार जैसे कारीगर भी, जिनका यन्त्रों से सीधा सम्बन्ध नहीं होता, इस कला में दक्षता रखते थे।

भौतिक विज्ञान में भी जो उन्नति प्राचीन काल में थी, वह अद्‌भुत थी और इस समय तक भी वह आज के वैज्ञानिकों को अविदित है। अभी पीछे चन्द्रकान्त मणि का वर्णन आया है। इस मणि के द्वारा चन्द्रमा से पानी बनाया जाता था। इस पानी के द्वारा अनेक रोगों का उपचार होता था। सुश्रुत सूत्र स्थान ४५।३० में लिखा है—

रक्षोघ्नं शीतलं हृदि ज्वरदाहविषापहम्।
चन्द्रकान्तोद्‌भवं वारि पित्तघ्नं विमलं स्मृतम्॥

अर्थात् चन्द्रकान्त से बना हुआ जल शीतल, विमल, आनन्द देनेवाला, पित्त, ज्वर, दाह और विष का नाश करनेवाला है। यह चन्द्रकान्त मणि बादशाह अकबर के समय तक थी। 'आईने-अकबरी' के इंग्लिश अनुवाद में इसका वर्णन निम्न प्रकार है—

There is also a shining white stone called Chandra Kant, which upon being exposed to the moon beam's drips water.

(Ayeen-e-Akbari, P. 40)

उस समय का वैज्ञानिक धरातल कितना उत्कृष्ट था, वह भरद्वाज मुनिकृत मन्त्र, यन्त्र और तन्त्र की परिभाषाओं से विदित होता है। मुनि अपने यन्त्रार्णव के वैज्ञानिक प्रकरण में इस प्रकार लिखते हैं—

मन्त्रज्ञा ब्राह्मणाः पूर्वे जलवाय्वादिस्तम्भने।
शक्तेरुत्पादनं चक्रुस्तन्मन्त्रमिति गद्यते॥
दण्डैश्चक्रैश्च दन्तैश्च सरणिभ्रमकादिभिः।
शक्तेस्तु वर्द्धकं यत्रच्चालकं यन्त्रमुच्यते॥
मानवी पाशवी शक्तिकार्यं तन्त्रमिति स्मृतम्॥

—यन्त्रार्णव

अर्थात् 'जल और वायु के स्तम्भन से जो शक्ति उत्पन्न होती है, उसे मन्त्र कहते हैं। दण्ड, चक्र तथा दाँतों की योजना, सरणि और भ्रामक आदि के द्वारा जिस शक्ति का वर्द्धन और सञ्चालन किया जाता है, उसे यन्त्र कहते हैं। मनुष्यों और पशुओं की शक्ति से जो कार्य किया जाता है, उसे तन्त्र कहते हैं।' ये परिभाषाएँ इस बात को सिद्ध करती हैं कि उस समय के इन विद्वानों के मस्तिष्क में वैज्ञानिक प्रक्रिया बहुत परिष्कृत रूप में विद्यमान थी।

अतः इस प्रकार के युग में भारतीय विद्वानों को निष्ठापूर्वक वेद के वैज्ञानिक प्रकरणों को प्रयोगशालाओं में परीक्षण करना चाहिए और ईश्वरीय ज्ञान की अनुपम निधि से समस्त संसार को लाभान्वित करना चाहिए। ❑❑

(२७)

क्रान्तदर्शी ही कालरूपी घोड़े पर चढ़ सकते हैं

कालो अश्वो वहति सप्तरश्मिः सहस्राक्षो अजरो भूरिरेताः।
तमा रोहन्ति कवयो विपश्चितस्तस्य चक्रा भुवनानि विश्वा॥

—अथर्व० १९।५३।१

ऋषिः—भृगुः॥ **देवता**—कालः॥ **छन्दः**—त्रिष्टुप्॥

अन्वयः—सप्तरश्मिः सहस्राक्षः अजरः भूरिरेताः कालः अश्वः वहति। विश्वा भुवनानि तस्य चक्राः तं विपश्चितः कवयः आरोहन्ति॥

शब्दार्थ—(सप्तरश्मिः) सात रस्सियोंवाला **(सहस्राक्षः)** हज़ारों धुरों को चलानेवाला **(अजरः)** कभी भी जीर्ण, बुड्ढा न होनेवाला **(भूरिरेताः)** महाबली **(कालः अश्वः)** समयरूपी घोड़ा **(वहति)** चल रहा है—संसार-रथ को खींच रहा है। **(विश्वा भुवनानि)** सब उत्पन्न वस्तुएँ, सब भुवन **(तस्य)** उसके **(चक्राः)** उसके द्वारा चक्रवत् घूम रहे हैं। **(तम्)** उस घोड़े पर **(विपश्चितः)** ज्ञानी और **(कवयः)** क्रान्तदर्शी लोग ही **(आरोहन्ति)** सवार होते हैं।

व्याख्या—मन्त्र में मुख्य रूप से दो बातें कही गई हैं—पहली यह कि सम्पूर्ण भुवनचक्र को घुमानेवाला महाबली और कभी वृद्ध होकर मन्दगति न होनेवाला समयरूपी घोड़ा पूरे वेग से दौड़ रहा है। दूसरी यह कि इस महाबली और वेगवान् कालरूपी घोड़े पर ज्ञानी और दूरदर्शी लोग ही सवार होकर अपने लक्ष्य तक पहुँचते हैं, अल्पसामर्थ्य और अदूरदर्शी नहीं। इस मन्त्र में सफलतापूर्वक जीने का रहस्य बताया गया है। जो संसार में जातियों और राष्ट्रों के उत्थान और पतन के लम्बे इतिहास पर गुण-दोषों का विवेचन करके चलते हैं, वही इस घोड़े पर सवार होते हैं। ऐसे लोग वर्तमान में सुख-सुविधा प्राप्त करते हुए अपने भविष्य का निर्माण करते हैं। यही बात प्रसिद्ध इतिहासकार यदुनाथ सरकार ने इन शब्दों में लिखी है—

"Nations live on their past, in their present, for their future."

''जातियाँ भूत के आधार पर वर्तमान में भविष्य के लिए जीती हैं।'' इसके विपरीत अविवेकी, अदूरदर्शी, जो जातियों और राष्ट्रों की पतनकारी भूलों से बचने की शिक्षा नहीं लेते और उत्थान के कारण भूत के सद्गुणों को धारण नहीं करते, उनका इस घोड़े पर सवार होना तो दूर, चढ़ने के यत्न में ही नीचे गिर जाते हैं और इसकी टापों में कुचलकर मर जाते हैं। इसी कारण काल 'मृत्यु' का पर्यायवाची भी

हो गया है।

हमारे समक्ष शिक्षा लेने के लिए समस्त संसार के सभ्य देशों का विशाल इतिहास-ग्रन्थ खुला है, जिसे देखकर हम उनके अभ्युदय और पतन को जान सकते हैं और अपने जीवन के लिए पाठ पढ़ सकते हैं। पहले अपने देश के प्राचीन और अर्वाचीन इतिहास का संक्षिप्त विश्लेषण करें।

आर्यलोग जबतक उच्च वैदिक शिक्षा से अनुप्राणित होकर उस पर आचरण करते रहे, तबतक अभ्युदय और निःश्रेयस् को प्राप्त करके अपना जीवन सफल करते रहे। वे कालरूपी घोड़े के योग्य सवार रहे। इस घोड़े के सवार की दो अनुपेक्षणीय योग्यताएँ हैं—ज्ञानी और क्रान्तदर्शी होना। ज्ञानी, विद्या से प्रकाशित रहने के कारण अविद्या के चार अङ्गों—अनित्य, अशुचि, दुःख और अनात्म में तात्त्विक बुद्धि से यथावत् देखता है, अतएव उसके पास-पङ्क में फँसने का प्रश्न ही नहीं उठता। किन्तु समयरूपी घोड़े पर सवार होने के लिए उसका कवि होना, क्रान्तदर्शी और दूरदर्शी होना अनिवार्य गुण है। दूर तक विचारमन्थन से जो परिणाम को प्रत्यक्ष अनुभव नहीं करता, वह उलझनों के भँवर में फँसा रह जाता है।

क्रान्तदर्शिता को समझाने के लिए यहाँ 'पञ्चतन्त्र' की एक कहानी का सार देना उपयुक्त होगा। एक राजा की पाकशाला में आकर रोटी-दाल आदि भोज्य-पदार्थ खाने का चस्का बन्दरों के एक झुंड को लग गया। भोजन तैयार होने के समय पर बन्दर घात लगाकर बैठते और दाँव लगते ही कोई रोटी लेकर, तो कोई दाल चाटकर भाग खड़े होते। रसोइये भी बन्दरों को मारने के लिए, जो चीज़ जिसके हाथ लगती, लेकर उनके पीछे दौड़ते। इस सारे दृश्य को देखकर एक बूढ़े बन्दर ने, उन बन्दरों को समझाने का प्रयास किया कि दाल और रोटी खाने का यह चस्का किसी दिन तुम्हारे विनाश का कारण बनेगा। तुम देखते हो कि तुम लोगों के पाकशाला में घुसते ही पाचक कोई भी चीज़ हाथ में लेकर तुम्हें मारने पिल पड़ते हैं। यदि किसी दिन हड़बड़ाहट में किसी पाचक ने चूल्हे की जलती लकड़ी किसी बन्दर को दे मारी तो जलती लकड़ी के छूते ही बन्दर के बालों में आग लग जाएगी। पाकशाला के समीप ही घुड़साल है। वहाँ घोड़ों के खाने के लिए घास के विशाल ढेर हैं। बालों में आग लगने से झुलसता हुआ बन्दर उसे बुझाने के लिए घास के ढेर में जा लेटेगा और जलते बन्दर के स्पर्शमात्र से सूखी घास में आग भड़क उठेगी। घास में आग लगने से घुड़साल के घोड़े क्षत-विक्षत हो जावेंगे और जले हुए घोड़ों के घाव भरने के लिए बन्दरों की चर्बी सर्वोत्तम औषध है। परिणाम यह होगा कि पकड़-पकड़कर तुम सभी चर्बी के लिए मार डाले जाओगे, अतः मेरा परामर्श है कि इस आपत्ति से बचने के लिए यहाँ से किसी जङ्गल में निकल चलना चाहिए,

क्योंकि यहाँ रहते तुम्हें अपने को नियन्त्रित करना भी कठिन होगा।

उस बूढ़े बन्दर के सत्परामर्श को बन्दरों ने बुढ़ापे का सठियानापन समझा और उस पर ध्यान देने की आवश्यकता भी नहीं समझी। बूढ़ा बन्दर अकेला ही जङ्गल चला गया। किन्तु कुछ समय पश्चात् ही वह दुर्घटना ठीक उसी प्रकार हुई जिसका आभास उस विचारशील बन्दर को पहले ही हो गया था।

इसी का नाम क्रान्तदर्शिता अथवा दूरदर्शिता है।

वेद ने कालरूपी घोड़े के योग्य सवार बनने के लिए मनुष्य को सर्वप्रथम ज्ञानी बनने का—"**भानुमन्विहि**" (ऋ०) परामर्श दिया है, संयम और तप का उपदेश दिया है—"**ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत**" (अथर्व०), "**तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः**" (यजु०) कहकर त्यागभाव से संसार को भोगने का उपदेश दिया है। ये सभी उपदेश मनुष्य को सोच-समझकर मार्ग पर आगे बढ़ने के लिए दिये गए हैं। समाज में इस वायुमण्डल के तैयार होने पर वही दृश्य उपस्थित हो जाएगा, जिसकी झाँकी महर्षि वाल्मीकि ने रामायण में अयोध्या का वर्णन करते हुए की है।

किन्तु इसका व्यतिक्रम होने पर कोई असाधारण महात्मा ही उसको सुधारने में समर्थ हो पाता है। राम का समय आते-आते वैदिक परम्परा के भव्य-भवन में कुछ दरारें पड़ गई थीं। वासना और भोग-लालसा सीमा का अतिक्रमण करने लगी थीं। महाराज दशरथ ने ही एकाधिक विवाह कर लिये और उन सङ्कटों के बीज बो दिये जिनका परिणाम उनकी कष्टप्रद जीवनलीला-समाप्ति के रूप में परिणत हुआ।

महाराज दशरथ का प्राणान्त रात को हो गया और इसका ज्ञान महल में घण्टों बाद सवेरा होने पर हुआ। इससे उस समय के राजमहल की अव्यवस्थित स्थिति का अनुमान लगाया जा सकता है।

किन्तु इस घोर और विषम परिस्थिति से समस्त परिवार और राष्ट्र का उद्धार, विपश्चित् और क्रान्तदर्शी मर्यादा पुरुषोत्तम राम और महामना भरत ने करके सुख और शान्ति का साम्राज्य स्थापित कर दिया।

राजा दशरथ समयरूपी घोड़े की पीठ से फिसलकर गिर गए और समाप्त हो गए। बुढ़ापे में कैकेयी के साथ विवाह का कुपरिणाम भी सहन करना पड़ा।

राम और भरत की योग्यता और क्रान्तदर्शिता—राम ने राजतिलक की तैयारी होते-होते अप्रत्याशित रूप से उपस्थित वनवास के प्रस्ताव को सहजभाव से अङ्गीकार किया। इसके मार्ग में बाधक बननेवाले लक्ष्मण को भी बड़े चातुर्य से शान्त किया। इन सभी आचरणों से राम की दूरदर्शिता और व्यवहार-कौशल का पता चलता है।

उधर ननसाल से लौटने पर भरत ने परिस्थिति का अध्ययन करके

अपने राज्याधिकार के प्रस्ताव को ठुकरा दिया और राम को वापस लाने के लिए मन्त्रिमण्डल, अयोध्या के चुनींदा लोगों और तीनों माताओं को साथ लेकर प्रस्थान किया।

उधर भरत के साथ आई सेना को देखकर लक्ष्मण के मन में भरत के प्रति दुर्भाव जगे और राम को मोर्चाबन्दी करके लड़ने और भरत को मारने तक का प्रस्ताव कर दिया। राम ने लक्ष्मण को फिर सँभाला और समझाया कि भरत ऐसा कदापि नहीं कर सकते। वे मुझे और तुम्हें मिलने आ रहे हैं, किसी दूसरे विचार से नहीं।

थोड़ी ही देर में भरत पहुँच गए और भाव-विह्वल होकर राम के चरणों में गिर पड़े। उसके बाद लक्ष्मण को छाती से चिपटा लिया; राज्य कदापि ग्रहण न करने का अपना निश्चय प्रकट करके राम से वापस चलने की प्रार्थना की।

राम ने अनेक युक्ति-प्रतियुक्तियों के पश्चात् कहा कि जो पिता अपने वचन का पालन करने के लिए इस संसार से चला गया, उसका पुत्र मैं यदि १४ वर्ष बिना पूरे किये लौट जाऊँ तो "**कथमन्ये करिष्यन्ति पुत्रेभ्यः पुत्रिणः स्पृहाम्**"—तो संसार के पिता अपने पुत्रों से यह आशा कैसे कर सकेंगे कि उनके पुत्र आगे संसार में उनकी लीक पर चलकर उनके प्रण को निभाएँ?

इस सारे कथा-प्रसङ्ग के उद्धृत करने का यही उद्देश्य है कि भरत और राम दोनों का दृष्टिकोण दूरदर्शिता और औदार्य से पूर्ण था। परिणामस्वरूप कुत्सित स्वार्थ और संकीर्ण दृष्टि से जो कटुता उत्पन्न हुई थी, उसका भी पर्यवसान स्नेह और आत्मीयता में हो गया। भारत के इतिहास में भरत और राम ने परम ख्याति अर्जित की और हमारे मानसभवनों में वे आज भी जीवित-जागृत हैं, अमर हैं। इसी को कहते हैं समयरूपी घोड़े पर सवारी करना।

इतिहास का दूसरा दृश्य महाभारत का युद्ध है जो बताता है कि कुत्सित स्वार्थ से प्रेरित होकर मनुष्य कितने क्षुद्र काम करने को उद्यत होता है और हज़ार पाप करके भी समय के घोड़े की पीठ से फिसलकर औंधे मुँह गिरते हैं, कुचले जाते हैं। दुर्योधन को जो बुद्धि अन्त-समय में आई, यदि वह पहले आई होती तो विनाशलीला क्यों होती?

गदा-युद्ध में मर्यादा का उल्लङ्घन कर जब भीम ने दुर्योधन की जङ्घा तोड़ दी तो बलराम, जो भीम और दुर्योधन दोनों के ही गदा के शिक्षक-गुरु थे, भीम के इस आचरण से क्रोध में आकर कहने लगे कि भीम ने दुर्योधन के साथ अन्याय किया है, अतः मैं इसे समाप्त करूँगा। उसी समय प्रत्युत्पन्नमति कृष्ण ने बीच में पड़कर कहा कि भीम द्रौपदी के साथ दुर्योधन के अभद्र व्यवहार के कारण दुर्योधन की जङ्घा तोड़ने की प्रतिज्ञा कर चुके थे, अतः प्रतिज्ञापूर्त्ति के लिए उसका भङ्ग आवश्यक

था। इसमें अनुचित क्या है?

किन्तु इस समय दुर्योधन की शान्तबुद्धि देखने योग्य है। दुर्योधन ने विनयपूर्वक बलराम से कहा कि अब आप भीम को मारकर पाण्डवों के रङ्ग में भङ्ग मत डालिये। कवि भास के शब्दों में दुर्योधन बोला— **''जीवन्तु ते कुरुकुलस्य निवापमेघा वैरञ्च विग्रह-कथा च वयञ्च नष्टाः''**—'कुरुकुल को बुझानेवाले पाण्डवरूपी बादल जीवित-जागृत रहें। अब तो वैर-झगड़े की बातचीत और हम सभी नष्ट हो गए हैं।' कितनी उदारता और सहन-शक्ति है! यदि कृष्ण के सन्धि-प्रस्ताव के समय इस विनय का शतांश भी होता तो यह न कहता—**''सूच्यग्रं नैव दास्यामि बिना युद्धेन केशव''**—'युद्ध के बिना पाँच गाँव की तो बात ही क्या है, जितनी भूमि पर सुई की नोक टिके इतनी भूमि भी युद्ध के बिना नहीं दूँगा।' यह है अदूरदर्शिता का नमूना। अन्त में हुआ वही जिसकी भविष्यवाणी दुर्योधन के लक्षण देखकर बहुत पहले ही विदुर ने कर दी थी—

एष दुर्योधनो राजा मध्यपिंगललोचनः।
न केवलं कुलस्यान्तं क्षत्रियान्तं करिष्यति॥

अर्थात् 'यह कञ्जी आँखोंवाला दुर्योधन न केवल कौरव-कुल का, अपितु सब क्षत्रियों का विनाश कर देगा।' हुआ भी यही, १८ अक्षौहिणी सेना के ४२ लाख २३ हज़ार ९२० क्षत्रिय महाभारत के युद्ध में काम आए।

सफल जीवन के लिए अकेली योग्यता और विद्वत्ता ही आवश्यक नहीं है, अपितु वह योग्यता क्रान्तिदर्शिता में, मर्यादा-पालन में और न्याय की रक्षा में पर्यवसित होनी चाहिए। योग्यता और वीरता भीष्मपितामह में उच्चकोटि की थी। शान्तिपर्व के रूप में भीष्म के नीतिपूर्ण उपदेश अद्वितीय हैं। आजीवन अखण्ड ब्रह्मचर्य का व्रत घोर तपश्चर्या का अनूठा उदाहरण है; किन्तु जिसे क्रान्तदर्शिता कहते हैं, उसका उनमें नाम भी नहीं था। भीष्म यदि दूरदर्शी होते तो एक हुंकार में छक्के छुड़ा देते। द्रौपदी का अपमान भीष्म की उपस्थिति में भरी सभा में करने की नीचता का दुःसाहस कोई उनका ही पोता करे और वह चुप्पी साधे रहे, ऐसे दादा को जीवित नहीं मृत ही समझना चाहिए। द्रौपदी ने भी जब रक्षा की दुहाई देकर पुकार की तो व्यर्थ की धर्म की पहेली बुझानी प्रारम्भ कर दी। इस कसौटी पर कसके देखा जाय तो भीष्म का इतना दीर्घ-जीवन सर्वथा निरर्थक रहा।

कहने को युधिष्ठिर को 'धर्मपुत्र' अलंकरण से अलंकृत किया जाता है, किन्तु अपवाद को छोड़कर सूझबूझ और दूरदर्शिता इनके भी पास तक नहीं फटकी थी। धौम्य मुनि के आश्रम से जयद्रथ द्रौपदी के रूप पर आसक्त होकर उसे बलपूर्वक अपहरण करके रथ में डालकर ले-जाने लगा। द्रौपदी की चीख़-पुकार सुनकर धौम्य ने जङ्गल में पाण्डवों

को पुकारकर द्रौपदी की रक्षा के लिए भेजा। अर्जुन और भीम उधर दौड़े, जिधर जयद्रथ का रथ गया था। अर्जुन ने दूर से देखकर बाणों का निशाना लगाकर घोड़ों को लंगड़ा कर दिया और उनकी गति मन्द हो गई। समीप जाकर युद्ध हुआ और थोड़ी देर में घबराकर जयद्रथ ने द्रौपदी को रथ से नीचे धकेल दिया और जान बचाने के लिए भागा। द्रौपदी ने कहा—'यह दुष्ट जयद्रथ है, इसे छोड़ना नहीं चाहिए।' किन्तु अर्जुन ने कहा कि अब भागते का क्या पीछा किया जावे? जाने दो! और द्रौपदी को लेकर आश्रम लौट पड़े। किन्तु भीम को इतने से सन्तोष नहीं हुआ। उसने अर्जुन को कहा कि तुम इसे लेकर आश्रम में जाओ और मैं तो उसे मारकर ही वापस आऊँगा।

भीम ने तेज़ी से पीछा करके जयद्रथ को जीवित पकड़ लिया और उसकी खूब पिटाई की। बाद में यह कहकर आश्रम में घसीट लाया कि तुझे वहाँ सबके सामने ही जान से मारूँगा।

जयद्रथ ने गिड़गिड़ाकर प्राणों की भिक्षा माँगी। बस, इस पर युधिष्ठिर द्रवित हो गए और भीम को कहा—

न हन्तव्यो महाबाहो दुरात्मा अपि सैन्धवः।
दुःशलामभि संस्मृत्य गान्धारीं यशस्विनीम्॥

'हे महाबाहु भीम! यह सिन्धुराज जयद्रथ है तो दुष्ट, फिर भी अपनी बहन दुःशला को सुहाग का तथा ताई गान्धारी को बेटी के विधवा होने का जो महान् कष्ट होगा, इस बात का ध्यान करके इसे प्राणदान दे दो।' युधिष्ठिर के इस प्रस्ताव के उत्तर में द्रौपदी ने बहुत ही दूरदर्शितापूर्ण और नीतिमत्ता का परामर्श देते हुए कहा—राजन्! शत्रुओं को क्षमा भी किया जाता है, किन्तु दो प्रकार के शत्रु कभी क्षमा करने योग्य नहीं होते—

भार्याभिहर्त्ता वैरी यो यश्च राज्यहरो रिपुः।
याचमानोऽपि संग्रामे न मोक्तव्यः कदाचन॥

—महा० वन० अ० ८५, श्लोक ४६

'जो शत्रु स्त्रियों का अपहरण करना चाहे उसे और जो राज्य को छीनना चाहे, ये दो प्रकार के शत्रु क्षमा-कोटि में नहीं आते।' किन्तु युधिष्ठिर ने भावुकता में किसी की नहीं सुनी और जयद्रथ को छुड़वा दिया। किन्तु द्रौपदी की कही बात आगे अक्षरशः ठीक निकली और जयद्रथ का क्षमादान अभिमन्यु के वध का कारण बना।

युद्ध में जिन महारथियों ने मिलकर निहत्थे अभिमन्यु पर आक्रमण किया, उनमें सबसे प्रमुख जयद्रथ ही था। यह युधिष्ठिर की अदूरदर्शिता के कारण ही हुआ। महाभारत के युग में कालरूपी घोड़े के कुशल सवार तो क्रान्तदर्शी और प्रत्युत्पन्नमति योगिराज कृष्ण ही हुए, जो जीवनभर प्रतिकूल परिस्थितियों से जूझते रहे। अवैदिक प्रथाओं के प्रचलन के

कारण यह भारत-रूपी रम्य उद्यान भयङ्कर जङ्गल के सदृश हो गया था। इसमें कटीली झाड़ियाँ और अनेक प्रकार के हिंस्र जन्तुओं का ही बोलबाला था। कृष्ण ने होश सँभालते ही इनसे जूझना प्रारम्भ किया। यथा-तथा थोड़ी-सी शक्ति संगृहीत करके सर्वप्रथम कंस का विनाश किया और अपने नाना के कष्ट दूर किये।

कंस के मरने से मगधराज जरासन्ध आगबबूला हो गया, क्योंकि कंस उसका जामाता था। उसने कृष्ण को मारने के लिए बहुत बड़ी सेना के साथ आक्रमण कर दिया। कृष्ण समझते थे कि जरासन्ध के इतने बड़े सैन्य-बल के समक्ष वह ठहर न सकेंगे, अतः मथुरा छोड़कर वे पार्वत्य प्रदेश में चले गए और वहीं से अपनी थोड़ी-सी सेना से गुरिल्ला युद्ध के द्वारा जरासन्ध की नाक में दम कर दिया। अन्त में निराश होकर जरासन्ध वापस चला गया। इसके बाद खीझे हुए जरासन्ध ने एक विदेशी राजा कालयवन को मथुरा पर आक्रमण के लिए उभारा और स्वयं सहायता करने का वचन दिया।

परिस्थिति की गम्भीरता को देखकर और यह विचार करके कि किसी विदेशी राजा के चङ्गुल में देश न फँस जावे, कृष्ण ने मथुरा छोड़कर द्वारिका चले जाने का निश्चय किया। कृष्ण का अनुमान था कि उनके मथुरा छोड़ने पर जरासन्ध शान्त हो जाएगा और इस प्रकार किसी विदेशी शक्ति के इस देश में पैर जमने की बात का भय समाप्त हो जाएगा।

अतः कृष्ण अपने कुछ साथी और पारिवारिक जनों को लेकर द्वारिका चले गए। इसका वही प्रभाव हुआ—जरासन्ध शान्त हो गया। कृष्ण ने धैर्यपूर्वक अवसर की प्रतीक्षा की।

इन्द्रप्रस्थ में पाण्डवों का राज्य व्यवस्थित होने पर युधिष्ठिर के मन में राजसूय यज्ञ का विचार आया। अपनी मित्र-मण्डली और आस-पास के विचारशील व्यक्तियों से परामर्श करने के बाद विचार को अन्तिम रूप देने के लिए योगिराज कृष्ण की सम्मति लेनी आवश्यक समझी और उनसे पुनः इन्द्रप्रस्थ पधारने की प्रार्थना करने के लिए अपने सन्देशवाहक वहाँ भेजे।

कृष्ण अनुरोध को स्वीकार करके पधारे और युधिष्ठिर ने सब बातें उनके सामने रख दीं। कृष्ण ने उत्तर में कहा—विचार तो बहुत अच्छा है, किन्तु इस कार्य को सम्पन्न करने के लिए सर्वप्रथम जरासन्ध की शक्ति समाप्त करनी होगी—

न तु शक्ये जरासन्धे जीवमाने महाबले।
राजसूयास्त्वपावाप्तुमेषा राजन्मतिर्मम॥

—महा०सभा० १४।६८

—महाबली जरासन्ध के जीवित रहते हुए तुम राजसूय यज्ञ करने में सफल नहीं हो सकोगे।

तेन रुद्धा ही राजानः सर्वे जित्वा गिरिन्वजे।
कन्दरे पर्वतेन्द्रस्य सिंहेनेव महाद्विपाः॥

—सभा० १५।६३

—उसने सब राजाओं को जीतकर पहाड़ की गुफा में रोक रक्खा है, जैसे किसी सिंह ने हाथियों को घेर रक्खा हो।

वयं चैव महाराज जरासन्धभयात्तदा।
मथुरां संपरित्यज्य गता द्वारवतीं पुरीम्॥

—सभा० १४।६७

—और महाराज, इसीलिए हम लोग जरासन्ध से भयभीत होकर मथुरा छोड़कर द्वारिका चले गए हैं।

यदि त्वेनं महाराज यज्ञं प्राप्तुमभीप्ससि।
यतस्व तेषां मोक्षाय जरासन्धवधाय च॥

—सभा० १५।६८

—राजन्! यदि आप राजसूय यज्ञ करना चाहते हैं तो राजाओं को छुड़ाने के लिए और जरासन्ध को मारने के लिए प्रयत्न करना चाहिए।

युधिष्ठिर यह सुनकर निराश होने लगे और बोले—

शममेव परं मन्ये शमात् क्षेमं भवेन्मम।
आरम्भे पारमेष्ठ्यं तु न प्राप्यमिति मे मतिः॥

—सभा० १५।५

'मैं तो शान्ति को ही मुख्य मानता हूँ। शान्ति से ही मेरा कल्याण हो सकता है। अभी आरम्भ में तो सम्राट् पदवी प्राप्त करना मुझे कठिन ही प्रतीत होता है।' कभी विचार आता है कि आप, भीम और अर्जुन तीनों मिलकर जरासन्ध को जीत सकते हैं, किन्तु मस्तिष्क फिर विचलित हो जाता है।

इसको सुनकर भीम ने बहुत उत्साहप्रद बात कही—

कृष्णे नयो मयि बलं जयः पार्थे धनञ्जये।
मागधं साधयिष्याम इष्टिं त्रय इवाग्नयः॥

—सभा० १५।१३

—कृष्ण नीति में निपुण हैं, बल की मुझमें कमी नहीं है और शत्रु पर विजय प्राप्त करने में अर्जुन कुशल है। जैसे तीन अग्नियाँ यज्ञ को सफल बनाती हैं, वैसे ही हम तीनों जरासन्ध को अवश्य जीत सकते हैं।

कृष्ण ने भी सारी स्थिति पर प्रकाश डालकर कहा कि—जरासन्ध ने घोर अत्याचार करके राजाओं को बन्धन में डाले रक्खा है। जो कोई अपनी शक्ति से उन्हें छुड़ावेगा, उसे बहुत यश प्राप्त होगा। किन्तु युधिष्ठिर

हिम्मत हार बैठे और संन्यास तक की बात करने लगे।

तब जोश में आकर अर्जुन ने युधिष्ठिर की भर्त्सना की और कहा—

काषायं सुलभं पश्चान्मुनीनां शममिच्छताम्।
साम्राज्यन्तु भवेच्छक्यं वयं योत्स्यामहे परान्॥

—सभा० १६।१६

—शान्ति-प्रेमी मुनियों को भगवे पहनना बहुत सरल है, किन्तु हम शत्रुओं से लोहा लेकर साम्राज्य प्राप्त कर सकेंगे इसमें कोई सन्देह नहीं है।

इस पर योगिराज कृष्ण ने टिप्पणी करते हुए कहा—

जातस्य हि भारते वंशे तथा कुन्त्याः सुतस्य च।
या वै युक्ता मतिः सेयमर्जुनेन प्रदर्शिता॥

—सभा० १७।१

—भरतवंश में उत्पन्न हुए और कुन्तीपुत्र होने के नाते जो उचित परामर्श देना चाहिए, वही अर्जुन ने दिया है।

न स्म मृत्युं वयं विद्म रात्रौ वा यदि वा दिवा।
न चापि कंचिदमरमयुद्धेनानुशुश्रुम॥

—सभा० १७।२

—न हम यह जानते हैं कि हमारी मृत्यु रात में होगी अथवा दिन में, न हमने यह सुना है कि यदि कोई युद्ध में नहीं मरा तो वह अमर हो गया।

एतावदेव पुरुषैः कार्यं हृदयक्षोपणम्।
नयेन विधिदृष्टेन यदुपक्रमते परान्॥

—सभा० १७।३

—मनुष्यों को केवल इतने से ही अपने मन को समझा लेना चाहिए कि नीतिपूर्वक युक्तियुक्त उपाय से दूसरों के साथ आचरण करे।

ते वयं नयमास्थाय शत्रुदेहसमीपगाः।
कथमन्तं न गच्छेम वृक्षस्येव नदीस्थाः॥

—हम लोग नीतिपूर्वक जब शत्रु पर आक्रमण करेंगे तो जैसे नदी का वेग वृक्ष को उखाड़ फेंकता है, उसी प्रकार शत्रु को समाप्त करने में क्यों सफल नहीं होंगे?

व्यूढानी कैरतिबलैर्न युद्ध्येदरिभिः सह।
इति बुद्धिमतां नीतिस्तन्ममापीह रोचते॥

—मोर्चेबन्दी से सुसज्जित अत्यन्त बलवान् शत्रु से न टकराए, यह बुद्धिमानों की नीति है और यह मुझे भी ठीक लगती है।

अनवद्या ह्यसंबुद्धाः प्रविष्टाः शत्रुसद्मतत्।
शत्रुदेहमुपाक्रम्य तं कामं प्राप्नुयामहे॥

—अच्छी तरह गुप्तरूप से उस शत्रु के घर में घुस के और शत्रु के शरीर पर आक्रमण करके हम अवश्य सफलता प्राप्त करेंगे।

न शक्योऽसौ रणे जेतुं सर्वैरपि सुरासुरैः।
प्राणयुद्धेन जेतव्यः स इत्युत्पलभामहे॥

—जरासन्ध को युद्ध में कोई नहीं जीत सकता। वह तो मल्लयुद्ध से ही जीता जा सकता है। यह हमारा विचार है—

मयि नीतिर्बलं भीमे रक्षिता चावयोर्जुनः।
मागधं साधयिष्याम वयं त्रय इवाग्नयः॥

—मैं नीति की चाल को समझता हूँ, भीम में अतुल बल है और हम दोनों की रक्षा का दायित्व अर्जुन सम्भाल लेंगे। हम तीनों जरासन्ध पर अवश्य विजय प्राप्त कर लेंगे। अपमान, लोभ और बाहुबल के अभिमान के कारण निश्चय ही वह भीमसेन से लड़ना पसन्द करेगा। महाबाहु भीम अवश्य ही उसे मल्लयुद्ध में पछाड़ देंगे। इसलिए—

यदि मे हृदयं वेत्सि यदि ते प्रत्ययो मयि।
भीमसेनार्जुनौ शीघ्रं न्यासभूतौ प्रयच्छ मे॥

—यदि आप मेरे मन की बात पहचानते हैं और यदि आपका मेरे ऊपर विश्वास है तो भीमसेन और अर्जुन को मुझे धरोहर के रूप में सौंप दो।

युधिष्ठिर ने कृष्ण को रोकते हुए कहा कि आप ऐसा कदापि मत कहिये, आप तो हमारे स्वामी और आश्रयदाता हैं। मैं तो धन्य मानूँगा जब—

निहतश्च जरासंधो मोक्षिताश्च महीक्षितः।
राजसूयश्च मे लब्धो निदेशे तव तिष्ठतः॥

—जरासन्ध मारा गया, राजा लोग उसके बन्धन से छूट गए और आपके निदेशन में मैं सम्राट् बन गया।

इस प्रकार निश्चय होने पर तीनों तेजस्वी स्नातकों का वेश बनाकर मगध देश को चल दिये। जरासन्ध के दुर्ग पर पहुँचकर वहाँ रक्खी तीन बहुत बड़ी भेरियाँ फोड़ डालीं। एक बहुत बड़े प्राचीन पर्वत-शिखर को, जिस पर अनेक प्रकार की सुगन्धित वस्तुएँ और माला आदि चढ़ा रक्खी थीं, तीनों ने मिलकर अपनी विशाल भुजाओं से धक्का देकर गिरा दिया। इसके बाद नगर में प्रवेश किया। मार्ग में मालियों से बलपूर्वक पुष्पहार छीन लिये और पहन लिये। रङ्गीन वस्त्र पहने हुए, फूलों की माला और कुण्डलों से सजे हुए तीनों जरासन्ध के आवास-स्थान में प्रविष्ट हुए। लोगों से भरी हुई तीन कक्षाओं को पार करके निःशङ्क हो जरासन्ध के सामने पहुँच गए। जरासन्ध ने भी उन्हें सम्माननीय समझकर खड़े होकर उनका स्वागत किया—

उवाच चैतात् राजासौ स्वागतं वोऽस्त्विति प्रभुः।
मौनमासीत्तदा पार्थभीमयोर्जनमेजया॥

—राजा ने जब खड़े होकर स्वागत-वचन कहे तो भीम और अर्जुन मौन रहे।

तेषां मध्ये महाबुद्धिः कृष्णो वचनमब्रवीत्।
वक्तुं नायाति राजेन्द्र! एतयोर्नियमस्थयोः॥

—उनमें से बुद्धिमान् कृष्ण बोले कि राजन्! इस समय इन दोनों का मौन व्रत है।

अर्वाङ् निशीयात् परतस्त्वया सार्धं वदिष्यतः।
यज्ञागारे स्थापयित्वा राजा राजगृहं गतः॥

—'आधी रात के बाद ये तुमसे बातें करेंगे।' यह सुनकर जरासन्ध यज्ञशाला में उनके निवास की व्यवस्था करके अपने निवास-कक्ष में चला गया।

आधी रात बीतने पर जरासन्ध उन ब्राह्मणों के पास आया। जरासन्ध का यह नियम लोक-प्रसिद्ध था कि ब्राह्मण स्नातकों से वह आधी रात भी मिलने को तैयार रहता था।

किन्तु इन स्नातकों को विचित्र वेश में देखकर जरासन्ध चकित हुआ। ये तीनों भी खड़े हो गए और जरासन्ध को स्वस्ति-वचन कहते हुए एक-दूसरे को देखने लगे। जरासन्ध ने भी उन छद्मवेशी ब्राह्मणों को बैठने के लिए कहा। उन सब के बैठने पर जरासन्ध ने कहा कि आप लोग ब्राह्मण स्नातक तो नहीं प्रतीत होते, क्योंकि ब्राह्मण स्नातक शरीर पर बाहर माला और अनुलेपन धारण नहीं करते। आप लोग पुष्पमालाएँ पहने हुए हैं और आप लोगों की भुजाओं पर धनुष की डोरी के चिह्न बने हुए हैं। आप लोगों के चेहरे और मोहरे से क्षात्र तेज टपक रहा है। आप लोग ठीक-ठीक बताइये, क्योंकि—

"**सत्यं राजसु शोभते**"—क्षत्रियों में सत्य ही शोभित होता है।

आप लोगों ने चैत्यक पर्वत के शिखर को गिराकर बिना द्वार के ही दुर्ग में प्रवेश किया है और राजदण्ड की भी परवाह नहीं की है, अतः आप ठीक-ठीक बताइये कि आपके यहाँ आने का उद्देश्य क्या है?

इस प्रश्नावली को सुनकर कृष्ण ने उत्तर दिया—

स्नातकान् ब्राह्मणान् राजन् विद्ध्यस्मांस्त्वं नराधिपान्।
स्नातकव्रतिनो राजन्! ब्राह्मणाः क्षत्रिया विशः॥

—हे राजन्! हम ब्राह्मण स्नातक हैं। स्नातक ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य तीनों ही हो सकते हैं। उनके कुछ सामान्य और कुछ विशेष नियम होते हैं। विशेष नियमवाले क्षत्रिय श्री प्राप्त करते हैं। पुष्पमाला धारण

करनेवालों के पास अविचल रूप से लक्ष्मी रहती है। इसलिए हमने पुष्पमालाएँ पहनी हुई हैं। क्षत्रियों की भुजाओं में बल होता है, न कि वाणी में। यदि उसे देखने की इच्छा हो तो आज ही अवश्य देखो। हम लोग बिना द्वार के इसलिए प्रवष्टि हुए कि शत्रुओं के घर में बिना द्वार के ही घुसा जाता है। द्वार से मित्रों के घरों में प्रवेश किया जाता है। हमने आपका किया हुआ सत्कार भी इसलिए स्वीकार नहीं किया कि हम शत्रु से किये हुए सत्कार को अङ्गीकार नहीं करते।

जरासन्ध ने उत्तर में कहा कि मुझे तो स्मरण करने पर भी ध्यान नहीं आ रहा कि हमारी-आपकी शत्रुता किस कारण से और कब हुई?

कृष्ण ने कहा—तुमने निरपराध राजा लोगों को बलि के लिए बन्दी बनाकर रक्खा हुआ है, इससे बड़ा अपराध और क्या हो सकता है?

वयं हि शक्ता धर्मस्य रक्षणे धर्मचारिणः।
मनुष्याणां समालम्भो न च दृष्टः कदाचन॥

'धर्म के मार्ग पर चलनेवाले हम लोग धर्म की रक्षा करने में समर्थ हैं। मनुष्यों का इस प्रकार बलिदान हमने कभी नहीं देखा।' तुमको जातिविनाशक समझकर बन्धुओं की रक्षार्थ हम तुम्हें समाप्त करने के लिए आए हैं। तुम अपने को बहुत बली और योद्धा समझते हो, यह अनुचित है। इस दर्प और घमण्ड से बड़े-बड़े राजा लोग नष्ट हो गए।

मुमुक्षमाणास्त्वत्तो हि न वयं ब्राह्मणा ध्रुवम्।
शौरिरस्मि हृषीकेशो नृवीरौ पाण्डवाविमौ॥

'निश्चय ही हम ब्राह्मण नहीं हैं। मैं कृष्ण हूँ और ये दोनों पाण्डव हैं। हम तुझे युद्ध के लिए चुनौती देते हैं। या तो सब राजाओं को छोड़ दो अथवा तुम मरने को उद्यत हो जाओ।'

यह सुनकर जरासन्ध बोला कि मैं सब राजाओं को जीतकर लाया हूँ और हे कृष्ण! क्षत्रियों में यह परम्परा है कि वह हारे हुओं के साथ जैसी इच्छा हो व्यवहार करे। देवताओं की बलि के लिए जीते हुए राजाओं को भय से छोड़ दूँ, यह कैसे हो सकता है? मैं लड़ने के लिए तैयार हूँ। सेना के साथ लड़ो तो मेरी सेना तैयार है। एक-एक से लड़ो तो भी तैयार हूँ, दो से अथवा तीनों से एकसाथ लड़ सकता हूँ।

कृष्ण ने उत्तर में कहा—

त्रयाणां केन ते राजन् योद्धुमुत्सहते मनः।
अस्मदन्यतमेनेह सज्जी भवतु को युधि॥

'हम तीनों में से किससे तुम्हारा लड़ने का विचार है? बताइये, हम तीनों में से लड़ने को कौन तैयार हो?'

एवमुक्तः स नृपतिर्युद्धं वव्रे महाधृतिः।
जरासन्धस्ततो राजा भीमसेनेन मागधः॥

कृष्ण के इस कथन पर जरासन्ध ने भीमसेन से युद्ध करना स्वीकार किया। जरासन्ध के पुरोहित ने गन्धमाला अर्पण करके शुभकामना की। जरासन्ध ने मुकुट उतारकर बालों को बाँधा और युद्ध के लिए इस प्रकार खड़ा हो गया जैसे समुद्र में ज्वार आता है। भीम भी कृष्ण की अनुमति प्राप्त करके प्रभु-स्मरण कर युद्ध के लिए आ गया। उस समय वे दोनों वीर केवल भुजबल से एक-दूसरे को जीतने की इच्छा से आपस में भिड़ गए। दोनों ही अनेक प्रकार से दाव-पेच करने लगे और इनके इस मल्लयुद्ध को देखने के लिए हज़ारों स्त्री-पुरुष एकत्र हो गए। इन दोनों की यह कुश्ती बहुत लम्बी चली और अन्त में जरासन्ध थका-थका-सा दीखने लगा। उस समय भीम का उत्साह बढ़ाने के लिए कृष्ण ने कुछ नीतिपूर्ण वाक्य कहे जो सामान्यतया तो ऐसे लगते थे जैसे कृष्ण जरासन्ध पर दया कर रहे हों, किन्तु उनका आशय शब्दार्थ से सर्वधा विपरीत था।

कृष्ण ने कहा—

क्लान्तः शत्रुर्न कौन्तेय! लभ्यः पीडयितुं रणे।
पीड्यमानो हि कार्त्स्न्येन जह्याज्जीवितमात्मनः॥

'हे कुन्तीपुत्र! थका-माँदा शत्रु युद्ध में पीड़ित करने के लिए प्राप्त नहीं होता। यदि उसे थोड़ा और दबाया जाय तो फिर उसके मरने में सन्देह नहीं है।' अर्थात् अब जरासन्ध में दो रगड़े और लगा, बस इसी में यह समाप्त हो जाएगा।

एवमुक्तः स कृष्णेन पाण्डवः परवीरहा।
जरासन्धस्य तद्रन्ध्रं ज्ञात्वा चक्रे मतिं वधे॥

'कृष्ण के यह कहने पर भीम ने जरासन्ध की वह अवस्था समझी और फिर उसने उसे मारने का विचार किया।' कृष्ण ने भी पुनः कहा कि अब तू अपनी पूरी शक्ति लगा दे। उसके बाद भीम ने उठाकर सौ बार घुमाया और फिर भूमि पर पटककर उसे चूर-चूर कर दिया। उसकी टांगें पकड़कर बीच से चीर डाला।

बन्दी राजा लोगों को बन्धनमुक्त कर दिया गया और उनसे कहा गया कि महाराज युधिष्ठिर राजसूय यज्ञ कर रहे हैं, आप लोग उसमें सहायता करें। जरासन्ध का रथ अपनी सवारी के लिए तैयार कराया। जरासन्ध का पुत्र सहदेव अपने पुरोहित के साथ बहुमूल्य भेंट लेकर उपस्थित हुआ। भेंट लेकर उसे निर्भय होकर राज्य करने की सलाह दी और उसका राजतिलक कर दिया।

इस लम्बे कथानक को हमने इसलिए दिया कि इससे कृष्ण की क्रान्तदर्शिता का स्वरूप हमारे सामने आ जाता है। कृष्ण ने अपनी प्रबल नीति से अपने चिर-वैरी और अतिबली शत्रु को उसके घर में घुसकर बिना सैनिक-क्षति किये हुए समाप्त कर दिया। युधिष्ठिर के राजसूय

यज्ञ में सहयोग के लिए सैकड़ों राजा जुटा दिये। इस सूझ-बूझ के साथ संसार में चलने को ही कहते हैं—समयरूपी घोड़े पर सवारी करना।

इसीलिए महर्षि दयानन्द ने जो प्रशस्ति-पत्र कृष्ण को दिया वह किसी दूसरे को प्राप्त न हो सका। महर्षि ने लिखा है कि—"महाभारत में वर्णित कृष्ण के चरित्र को देखने से विदित होता है कि इस महापुरुष ने यावज्जीवन कोई पाप नहीं किया।"

अतएव इस मन्त्र में कहा गया है कि—

"**तमारोहन्ति कवयो विपश्चितः**"—इस कालरूपी अश्व पर सवारी करने का अधिकार विद्वान् और क्रान्तदर्शियों को ही है।

भारत ने अपनी अदूरदर्शिता के कारण ही दासता का अपमानजनक जीवन जिया। यहाँ के कई शासक दूसरे को नीचा दिखाने के लिए विदेशियों को आक्रमण के लिए उकसाते रहे। जयचन्द ने पृथ्वीराज को नीचा दिखाने के लिए मुहम्मद ग़ौरी को बुलाया। यह कितनी मूर्खतापूर्ण बात थी? आखिर स्वयं भी उसी के हाथों मारा गया। इतिहास की छानबीन की जाय तो सत्य यह है कि भारत को किसी ने अपने बल-पौरुष से नहीं जीता, अपितु हम परस्पर के वैर-विरोध में एक-दूसरे को नष्ट और अपमानित करने के लिए विदेशियों को अपना नेता बनाकर स्वयं लड़ते रहे। यह रोग सिकन्दर के आक्रमण से लेकर अंग्रेज़ों के राज्य तक रहा। मराठों के वर्चस्व के समय दिल्ली का बादशाह उनकी इच्छा से तख्त पर बैठता और उतरता था, फिर भी उनकी आत्मा में देश की स्वाधीनता की गौरवमयी भावना नहीं जगी। यह उनकी अक्षम्य राजनैतिक भूल है। सन् १८५७ की क्रान्ति भी इन्हीं संकीर्णताओं के कारण असफल हुई। भूतकाल की जाने दीजिये, आज भी भाषा और प्रान्तों के झगड़ों के रूप में वही पुरानी बीमारी उभर रही है और देश क्रमशः नीचे जा रहा है। त्यागी और तपस्वियों की पीढ़ी समाप्त हो रही है और अवसरवादी स्वार्थी तथा चरित्रहीन लोग उभरकर आ रहे हैं।

अतः प्रत्येक विचारशील व्यक्ति को सावधान होकर दूरदर्शिता से देश के गौरव और सम्मान की सुरक्षा के लिए तुच्छ स्वार्थों की आहुति देनी चाहिए और अच्छे संयमी और तपस्वी व्यक्तियों के हाथ में ही देश का भविष्य सौंपना चाहिए। अन्यथा जो परिणाम होगा, वह एक उर्दू शायर के शब्दों में पढ़िये—

मैं ही रुका न वक़्त की रफ़्तार देखकर,
कहता रहा वो मुझसे ख़बरदार! देखकर।
यूँ पढ़के उसने एक तरफ़ रख दिया मुझे,
जिस तरह फेंक दे कोई अख़बार देखकर॥

❑❑

(२८)

माता, भगिनी और पुत्री के समान पवित्र गौ का हनन मत करो

माता रुद्राणां दुहिता वसूनां स्वसादित्यानाममृतस्य नाभिः।
प्र नु वोचं चिकितुषे जनाय मा गामनागामदितिं वधिष्ट॥

—ऋ० ८।१०१।१५

ऋषिः—जमदग्निर्भार्गवः॥ **देवता**—गौः॥ **छन्दः**—त्रिष्टुप्॥

अन्वयः—चिकितुषे जनाय नु प्रवोचम् अनागाम् अदितिम् गां मा वधिष्ट। रुद्राणां माता वसूनां दुहिता आदित्यानां स्वसा अमृतस्य नाभिः॥

शब्दार्थ—मैं (**चिकितुषे**) प्रत्येक बुद्धिमान् व्यक्ति को (**नु प्रवोचम्**) कहे देता हूँ कि (**अनागाम्**) निरपराध (**अदितिम्**) अहन्तव्या (**गाम्**) गौ को (**मा वधिष्ट**) कभी मत मार [क्योंकि यह] (**रुद्राणां माता**) रुद्रदेवों की माता है (**वसूनां दुहिता**) वसु देवों की कन्या है और (**आदित्यानां स्वसा**) आदित्य देवों की बहिन है तथा (**अमृतस्य नाभिः**) अमृतत्व का केन्द्र है। २५ वर्ष तक ब्रह्मचर्य-व्रतपूर्वक तप करनेवाला वसु, ३६ वर्ष तक इसी प्रकार साधना करनेवालों को रुद्र और ४८ वर्ष तक तप करनेवालों को आदित्य कहा जाता है। ये ही सुसंस्कृत समाज के तीन वर्ग हैं और इनके साथ घनिष्ठ सम्बन्ध दिखाने के लिए पुत्री, बहिन और माता के रूप में गौ को बताया गया है।

व्याख्या—प्रत्येक विचारशील व्यक्ति को इस मन्त्र में एक चेतावनी दी है कि तू अपने जीवन में गौ को कभी मत मार। यह गौ निर्दोष और निरपराध है। यह गौ रुद्रदेवों की माता है, वसुदेवों की कन्या है और यह आदित्यदेवों की बहिन है। इससे भी बढ़कर यह अमरपन का केन्द्र है। तू इसकी रक्षा करके स्वयं अमर हो जाएगा।

वैदिक कोष 'निघण्टु' में परिगणित गौ शब्द के अर्थों में से यहाँ प्रकरणानुसार तीन अर्थ अपेक्षित हैं—प्रथम—वाणी, अन्तरात्मा की पुकार, दूसरा—मातृभूमि, और तीसरा—गौ नामक पशु। इन तीनों की रक्षा करके मनुष्य को अपना, समाज और राष्ट्र का कल्याण करना चाहिए।

सबसे पूर्व अन्तरात्मा की पुकार पर विचार कीजिये। मनुष्य स्वयं ऊँचा उठ रहा है अथवा नीचे गिर रहा है, इसका प्रमाण एक ही है कि वह स्वयं अपनी दृष्टि में जिसे ठीक समझता है, उस पर आचरण कर रहा है अथवा सम्पत्ति के प्रलोभन में और दुनिया की वाहवाही

की कशिश में अन्तरात्मा की अवहेलना कर रहा है। यदि वह आन्तरिक प्रेरणा पर सत्य का मार्ग ही अपनाता है, तो वह स्वयं अपनी आत्मा में अपार बल और सन्तोष अनुभव करता है। इस स्थिति में संसार के लोग उसका विरोध भी करते हैं तो इसकी उसे कोई परवाह नहीं होती, क्योंकि उसे निश्चय है कि उसने वही किया है जो उसे करना चाहिए था। यदि आचरण इसके विपरीत है, अर्थात् आत्मा जिसको अनुचित समझ रही है उसी मार्ग को किसी प्रलोभन में अपनाता है तो फिर वह संसार की नज़र में चाहे कुछ बन जाय, किन्तु स्वयं अपनी दृष्टि में वह पतित हो गया। ऐसा व्यक्ति संसार के महात्मा कहने से महात्मा नहीं बनेगा। हमें अपने गन्तव्य मार्ग का निश्चय लोगों की इच्छा पर न छोड़कर अपनी आत्मा की पुकार पर छोड़ना चाहिए। महाभारत में विदुर के उपदेश में बताया गया है कि—

य आत्मना पतपते भृशं नरः स सर्वलोकस्य गुरुर्भवत्युत।
अनन्ततेजाः समाहितः स तेजसा सूर्य इवावभासते॥ —महा०

'जो मनुष्य प्रत्येक काम से पूर्व यह देख लेता है कि इस काम के करने से मैं अपनी आत्मा के सम्मुख तो लज्जित नहीं होऊँगा, वह संसार का गुरु होने के योग्य है। उसका तेज बहुत बढ़ जाता है, उसका चित्त शान्त और प्रसन्न रहता है और वह सूर्य के समान चमकता है।' इससे मिलती-जुलती बात गीता के प्रकरण में भी कही—

उद्धरेदात्मानात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥ —गीता ६।५

'अपने-आपसे अपना उद्धार करे, अपनी दृष्टि में अपने-आपको न गिरा ले। आत्मानुमोदित आचरण करने पर मनुष्य का आत्मा बन्धु के समान सहायक होता है, उसका उत्साह बढ़ाता है; और यदि आत्मा की अनसुनी करके किसी बाह्य आकर्षण में काम करता है तो उसकी आत्मा शत्रु के समान पग-पग पर उसे लज्जित करती है।' दूसरों को प्रसन्न करने के लिए काम करनेवाला व्यक्ति सिद्धान्तहीन होता है और ऐसे व्यक्ति का कोई भरोसा नहीं कि वह कब क्या कर बैठे! परिणामतः समाज में भी वह अविश्वसनीय होकर सम्मान खो बैठता है। स्पष्ट है कि ऐसे व्यक्ति ने अपने लोक और परलोक दोनों बिगाड़ लिये। इसलिए यह गौ, अन्तरात्मा की पुकार, मनुष्य की माता के समान सदा हितकारिणी है। आत्मा की शासक-अग्रियों (वृत्तियों) से प्रकट होने के कारण यह पुत्री के समान पवित्र है, मर्यादा पालने के लिए बहिन के समान साहस बढ़ाती है, अतः इस गौ (आत्मा की पुकार) की तू कभी हिंसा मत कर!

"मावमंस्था स्वात्मानं नृणां साक्षिणमुत्तमम्।"

'मनुष्यों के सर्वोत्तम साक्षी अपनी आत्मा की कभी उपेक्षा मत करो!'

दूसरी गौ मातृभूमि है। इस माता का ऋण भी हम पर बहुत बड़ा है। हमारे शरीर का कण-कण इसी से बना है। संसार में आने पर हमारी जन्मदात्री माता तो प्रसव-वेदना से अपनी सुध-बुध खोए हुई थी, उस समय सर्वप्रथम इसी भूमि माता ने हमें अपनी छाती से लगाया। यही जीवन-भर अन्न, फल, औषध तथा अनेक पोष्य रसों से हमारे शरीर की रक्षा करती है। अन्त में हमारे शरीर से जीवात्मा के पृथक् होने पर, जब कि सब सांसारिक जनों से सम्बन्ध विच्छिन्न हो जाता है, तब भी यह मातृभूमि ही है, जो हमारे शरीर की मिट्टी को मुट्ठी-भर राख के रूप में अपनी छाती से चिपटा लेती है। इसीलिए वेदमाता ने भी मातृभूमि के इस गौरव को ध्यान में रखकर, हमें उपदेश दिया—

माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः। —अथर्व० १२।१।१२

'भूमि मेरी माता है और मैं इसका पुत्र हूँ।' **वयं तुभ्यं बलिहृतः स्याम** (अथर्व० १२।१)—'हम तेरे सम्मान की रक्षा के लिए सर्वस्व निछावर करने को उद्यत रहें।' पूर्वकाल में मातृभूमि के लिए यही निष्ठा विद्यमान थी। लम्बी दासता और उचित शिक्षा के अभाव में खेद है कि वर्तमान पीढ़ी में यह भाव-प्रवणता नहीं है।

अब तीसरे नम्बर पर गो-पशु, जिसके असाधारण गुणों के कारण कृतज्ञता और श्रद्धा की भावना से हमारी संस्कृति में उसे गोमाता कहा जाता है। प्रस्तुत मन्त्र में न केवल उसे माता कहा गया है, अपितु उसे पुत्री और भगिनी भी कहा गया है, अर्थात् जो हमारे भावनात्मक और पवित्र पारिवारिक सम्बन्ध माता, पुत्री और बहिन के साथ हैं, वे ही इस गौ के साथ हैं। वैदिक संस्कृति में उपयोगिता की दृष्टि से गौ और घोड़े का महत्त्व मनुष्य के बराबर आँका गया है। इसीलिए अथर्ववेद में उपदेश है कि—

यदि नो गां हंसि यद्यश्वं यदि पूरुषम्।
तं त्वा सीसेन विध्यामो यता नो सोऽवीरहा॥

—अथर्व० १।१६।४

'जो दुष्ट हमारे गो-धन, अश्व-धन और मनुष्यों का विनाश करता है, उसे हमें सीसे से (गोली से) बींध देना चाहिए।' यहाँ सबसे पूर्व गौ को ही गिनाया गया है।

आरे गोघ्नमुत पुरुषघ्नम्। —ऋ० १।११४।१०

इसमें पुरुषों को हानि पहुँचानेवाले से भी पूर्व गौ के मारनेवाले के विनाश की प्रार्थना की है। इसी प्रकार कल्याण की प्रार्थनाओं में भी आत्मीय जनों के साथ गौ को गिनाया गया है—

स्वस्ति मात्र उत पित्रे नो अस्तु स्वस्ति गोभ्यो जगते पुरुषेभ्यः।

—अथर्व० १।३१।४

'हमारे माता-पिता का कल्याण हो, गौओं का, प्रजाजनों का

कल्याण हो।'

गावः सन्तु प्रजाः सन्तु अथोऽस्तु तनूबलम्। —अथर्व० ९।४।२०

'गौएँ हों, बच्चे हों और शरीर में बल हो।' वेद ऐसी-ऐसी प्रार्थनाओं से भरे पड़े हैं।

गौ के सम्बन्ध में शतपथब्राह्मण में एक बहुत महत्त्वपूर्ण बात कही गई है—

साहस्रो वा एष शतधार उत्स यद् गौः। —शतपथ० ७।५।२।३४

भूमि पर टिकी हुई जीवन-सम्बन्धी जो कल्पनाएँ हैं, उनमें सबसे अधिक सुन्दर, सत्य, सरस और उपयोगी यह गौ है। इसमें गौ के लिए कहा गया है कि—"यह वह झरना है जो 'साहस्र'=अनन्त-असीम है, जो 'शतधार' सैकड़ों धाराओंवाला है।"

वस्तुतः प्रकृति ने पृथिवी पर गौ के रूप में सैकड़ों धाराओंवाला झरना खोल दिया है। पृथिवी से झरनेवाले निर्झर एक समय आता है कि सूख जाते हैं, इसके अतिरिक्त इन झरनों में सम्पूर्ण वर्ष एक-जैसा पानी नहीं झरता; वर्षा ऋतु और उसके कुछ समय बाद तक अधिक जल निकलता है और ग्रीष्म ऋतु में कम हो जाता है। इस पृथिवी के निर्झर को एक स्थान से दूसरे स्थान पर नहीं ले-जा सकते, किन्तु गौरूपी ऐसा विलक्षण झरना है कि इसकी धारा कभी सूखती नहीं, अपितु सन्ततिक्रम से सदा बनी रहती है। इसकी धारा उत्तरोत्तर बढ़ती है, कभी कम नहीं होती और इस झरने को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले-जा सकते हैं। नगर-नगर, गाँव-गाँव और घर-घर में इसे ले-जाया जा सकता है। शतपथ की इस कण्डिका के महत्त्व का दिग्दर्शन कराने के लिए मैं एक ऐतिहासिक अध्ययन प्रस्तुत करता हूँ।

कोलम्बस ने सन् १४९२ ई० में जब अमरीका की खोज की तो वहाँ कोई गौ न थी; केवल जङ्गली भैंसें थीं। लोग उनका दूध निकालना नहीं जानते थे। मांस और चमड़े के लिए उन्हें मारते थे। कोलम्बस जब दूसरी बार गया तो उसके साथ जहाज़ में बहुत-से मनुष्य थे, पर वह अपने साथ ४० गौएँ तथा दो साँड भी लेता गया ताकि दूध की आवश्यकता पूरी होती रहे। सन् १५२५ में गौ वहाँ से मैक्सिको पहुँची। १६०९ में जेम्स टाउन गई। १६४० में ४० गौओं से बढ़कर तीस हज़ार हो गईं। १८४० में डेढ़ करोड़ हो गईं। १९०० में चार करोड़ हो गईं। १९३० में छह करोड़ साढ़े छियासठ लाख हुईं। १९३५ में सात करोड़ १८ हज़ार ४५८ हो गईं।

अमरीका में सन् ३५ में ९४ प्रतिशत किसानों के पास गौएँ थीं। प्रत्येक के पास १० से ५० तक उन गौओं की संख्या थी। अमरीका में १८६० में औसत दूध वर्ष में ४६०० पौण्ड प्रति गौ था; हालैण्ड में ४५८५ पौण्ड, स्विट्ज़रलैण्ड में ६९५० पौण्ड, डेनमार्क में ५६६७

पौण्ड था। वहाँ उस समय मक्खन की पैदावार वर्ष में ७ लाख ७९ हज़ार १८२ मन थी। पनीर १२ करोड़ मन पैदा होता था।

प्राचीन भारत में गौ-धन मुख्य धन था। यहाँ की उस समय की गौ-संख्या चकित करनेवाली है। गर्गसंहिता के गोलोक खण्ड में भगवद्-ब्रह्म-संवाद में उद्योगप्रश्न वर्णन नाम के चौथे अध्याय में नन्दादि उपाधियों का वर्णन निम्नरूप में मिलता है—

श्री ब्रह्मोवाच—

कस्य वै नन्द पदवी कस्य वै वृषभानुता।
वद देवपते साक्षादुपनन्दस्य लक्षणम्॥ ३॥

'नन्द पदवी किसे प्राप्त होती है? वृषभानु नाम से किसे पुकारते हैं? हे देवपते! उपनन्द का लक्षण भी बताइये!'

गाः पालयन्ति घोषेषु सदा गो वृत्तयोऽनिशम्।
ते गोपाला मया प्रोक्तास्तेषां लक्षणं शृणु॥ ४॥

जो सदा घेरों में गौओं का पालन करते हैं, रात-दिन गौओं से ही अपनी जीविका चलाते हैं, उनका नाम मैंने गोपाल रखा है। उनके तुम लक्षण सुनो—

नन्दः प्रोक्तः सगोपालैर्नवलक्षगवां पतिः।
उपनन्दश्च कथितः पञ्चलक्ष गवां पतिः॥ ५॥

'जो सहायक ग्वालों के साथ ९ लाख गौओं का पालन करे उसे नन्द कहते हैं और जो पाँच लाख गौओं को पाले उसे उपनन्द कहते हैं।'

वृषभानुः स उक्तो यो दशलक्ष गवां पतिः।
गवां कोटिर्गृहे यस्य नन्दराजः स एव हि॥
कोट्यर्धं च गवां यस्य वृषभानुवरस्तु सः॥ ६॥

'जो दस लाख गौओं का पालन करे उसे वृषभानु कहते हैं, जिसके घर एक करोड़ गौओं का संरक्षण हो उसे नन्दराज कहते हैं और जिसके ५० लाख गौवें पाली जावें उसे वृषभानुवर कहते हैं।'

चीनी यात्री मेगास्थनीज़ ने 'इण्डिका' में लिखा है कि चन्द्रगुप्त के समय भारत की जनसंख्या १९ करोड़ थी और गौओं की संख्या ३६ करोड़ थी। अकबर के समय भारत की जनसंख्या २० करोड़ थी और गौओं की संख्या २८ करोड़ थी। सन् १९४० में जनसंख्या ४० करोड़ थी, गौओं की संख्या पौने पाँच करोड़ जिनमें से डेढ़ करोड़ युद्ध के समय में ही मारी गईं।

भारत में गोधन का ह्रास किस प्रकार हुआ, यह सन् १९४० की सरकारी रिपोर्ट के अनुसार निम्न प्रकार है—सन् १९२० में ४ करोड़ ३३ लाख ६० हज़ार गौएँ थीं। वे सन् ४० में ३ करोड़ ९४ लाख ६० हज़ार रह गईं। प्रत्येक दूरदर्शी नेता ने भारत की दशा सुधारने के लिए

गो-संरक्षण और गो-संवर्धन को आवश्यक बताया है। महर्षि दयानन्द जी महाराज ने देश की आर्थिक दशा को सुधारने के लिए जहाँ शिल्पशिक्षा को आवश्यक समझकर भारतीयों को जर्मनी भेजकर शिल्प सिखाना चाहा, वहाँ कृषि और स्वास्थ्य की दृष्टि से गो-संरक्षण को भी बहुत महत्त्व दिया। पूना के एक भाषण में उन्होंने कहा था कि देश में गो-धन क्षीण हो रहा है और एक अच्छा बैल २५ रुपये का आता है। ऋषि उस समय २५ रुपये के बैल को ही बहुत महँगा बता रहे थे, किन्तु स्वाधीन भारत में तो अब १५०० रुपये का बैल भी नहीं आता।

ऋषि ने गोवध पर प्रतिबन्ध लगाने की माँग के लिए महारानी विक्टोरिया के पास बहुत बड़ी संख्या में भारतीयों के हस्ताक्षरों से प्रार्थना-पत्र भेजने का भी विचार किया था। देश में जन-जागृति के लिए 'गो-कृष्यादि रक्षिणी सभा' की स्थापना की थी।

'गोकरुणानिधि' नाम से एक महत्त्वपूर्ण पुस्तिका लिखी, उसमें सामान्यतया सभी दुधारू पशु—भैंस, बकरी, भेड़ आदि की रक्षा की भी वकालत की, किन्तु सबसे अधिक ज़ोर गोरक्षा पर दिया है। महर्षि ने लिखा है—

"जैसे ऊँट-ऊँटनी से लाभ होते हैं, वैसे घोड़े-घोड़ी और हाथी आदि से अधिक कार्य सिद्ध होते हैं। इसी प्रकार सुअर, कुत्ता, मुर्ग़ा, मुर्ग़ी और मोर आदि पक्षियों से भी अनेक उपकार होते हैं। जो पुरुष हरिण और सिंह आदि पशु और मोर आदि पक्षियों से भी उपकार लेना चाहें तो ले सकते हैं, परन्तु सबका पालन उत्तरोत्तर समयानुकूल होवेगा। वर्त्तमान में परमोपकारक गौ की रक्षा में मुख्य तात्पर्य है। दो ही प्रकार से मनुष्य आदि की प्राणरक्षा, जीवन, सुख, विद्या, बल और पुरुषार्थ आदि की वृद्धि होती है—एक अन्नपान, दूसरा आच्छादन। इनमें से प्रथम के विना मनुष्यादि का सर्वथा प्रलय और दूसरे के विना अनेक प्रकार की पीड़ा होती है।

देखिये, जो पशु निःसार घास, तृण-पत्ते, फल-फूल आदि खावें और सार दूध आदि अमृतरूपी रत्न देवें, हल-गाड़ी में चलके अनेकविध अन्न आदि उत्पन्न कर सबके बुद्धि, बल-पराक्रम को बढ़ाके नीरोगता करें, पुत्र-पुत्री और मित्र आदि के समान पुरुषों के साथ विश्वास और प्रेम करें, जहाँ बाँधें वहाँ बँधे रहें, जिधर चलावें उधर चलें, जहाँ से हटावें वहाँ से हट जावें, देखने और बुलाने पर समीप चले आवें, जब कभी व्याघ्रादि पशु वा मारनेवाले को देखें, अपनी रक्षा के लिए पालन करनेवाले के समीप दौड़कर आवें कि यह हमारी रक्षा करेगा।

जिनके मरे पर चमड़ा भी कंटक आदि से रक्षा करे, जङ्गल में चरके अपने बच्चे और स्वामी के लिए दूध देने को नियत स्थान पर चले आवें, अपने स्वामी की रक्षा के लिए तन-मन लगावें, जिनका सर्वस्व

राजा और प्रजा आदि मनुष्यों के सुख के लिए है, इत्यादि शुभगुणयुक्त सुखकारक पशुओं के गले छुरों से काटकर जो [मनुष्य] अपना पेट भर, सब संसार की हानि करते हैं, क्या संसार में उनसे भी अधिक कोई विश्वासघाती, अनुपकारी, दुःख देनेवाले और पापीजन होंगे?

इसीलिए यजुर्वेद के प्रथम ही मन्त्र में परमात्मा की आज्ञा है कि—**'अघ्न्या यजमानस्य पशून् पाहि'** हे पुरुष! तू इन पशुओं को कभी मत मार और यजमान, अर्थात् सबके सुख देनेवाले जनों के सम्बन्धी पशुओं की रक्षा कर, जिनसे तेरी भी पूरी रक्षा होवे। और इसीलिए ब्रह्मा से लेके आज पर्यन्त आर्यलोग पशुओं की हिंसा में पाप और अधर्म समझते थे और अब भी समझते हैं, और इनकी रक्षा में अन्न भी महँगा नहीं होता, क्योंकि दूध आदि के अधिक होने से दरिद्री को भी खान-पान में मिलने पर न्यून ही अन्न खाया जाता है और अन्न के कम खाने से मल भी कम होता है। मल के न्यून होने से दुर्गन्ध भी न्यून होता है, दुर्गन्ध के स्वल्प होने से वायु और वृष्टिजल की शुद्धि भी विशेष होती है, उससे रोगों की न्यूनता होने से सबको सुख बढ़ता है।

इससे यह ठीक है कि गो आदि पशुओं के नाश होने से राजा और प्रजा का भी नाश हो जाता है, क्योंकि जब पशु न्यून होते हैं, तब दूध आदि पदार्थ और खेती आदि कार्यों की भी घटती होती है। देखो! इसी से जितने मूल्य से जितना दूध और घी आदि पदार्थ तथा बैल आदि पशु ७०० (सात सौ) वर्ष के पूर्व मिलते थे, उतना दूध, घी और बैल आदि पशु इस समय दशगुणे मूल्य से भी नहीं मिल सकते, क्योंकि ७०० (सात सौ) वर्ष के पीछे इस देश में गवादि पशुओं को मारनेवाले मांसाहारी विदेशी मनुष्य बहुत आ बसे हैं। वे उन सर्वोपकारी पशुओं के हाड़मांस तक भी नहीं छोड़ते तो **'नष्टे मूले नैव पत्रं न पुष्पम्'**—जब कारण का नाश कर दे, तो कार्य नष्ट क्यों न हो जावे? हे मांसाहारियो! तुम लोग जब कुछ काल के पश्चात् पशु न मिलेंगे, तब मनुष्यों का मांस भी छोड़ोगे वा नहीं? हे परमेश्वर! तू क्यों इन पशुओं पर, जो कि विना अपराध मारे जाते हैं, दया नहीं करता? क्या उन पर तेरी प्रीति नहीं है? क्या उनके लिए तेरी न्यायसभा बन्द हो गई है? क्यों उनकी पीड़ा छुड़ाने पर ध्यान नहीं देता और उनकी पुकार नहीं सुनता? क्यों इन मांसाहारियों के आत्माओं में दया-प्रकाश कर निष्ठुरता, कठोरता, स्वार्थपन और मूर्खता आदि दोषों को दूर नहीं करता जिससे ये इन बुरे कामों से बचें?

इससे हे धार्मिक सज्जन लोगो! आप इन पशुओं की रक्षा तन, मन और धन से क्यों नहीं करते? हाय!! बड़े शोक की बात है जब हिंसक लोग गाय-बकरे आदि पशु और मोर आदि पक्षियों को मारने के लिए ले जाते हैं, तब वे अनाथ तुम-हमको देखके राजा और प्रजा पर बड़े

शोक प्रकाशित करते हैं कि—देखो! हमको विना अपराध बुरे हाल से मारते हैं और हम रक्षा करने तथा मारनेवालों को भी दूध आदि अमृत पदार्थ देने के लिए उपस्थित रहना चाहते हैं और मारे जाना नहीं चाहते। देखो, हम लोगों का सर्वस्व परोपकार के लिए है और हम इसीलिए पुकारते हैं कि हमको आप लोग बचावें। हम तुम्हारी भाषा में अपना दुःख नहीं समझा सकते और आप लोग हमारी भाषा नहीं जानते, नहीं तो क्या हममें से किसी को कोई मारता? तो हम भी आप लोगों के सदृश अपने मारनेवालों को न्यायव्यवस्था से फाँसी पर चढ़वा देते! हम इस समय अतीव कष्ट में हैं, क्योंकि कोई भी हमको बचाने में उद्यत नहीं होता; और जो कोई होता है, तो उससे मांसाहारी द्वेष करते हैं।

ध्यान देकर सुनिये कि जैसा दुःख-सुख अपने को होता है, वैसा ही औरों को भी समझा कीजिये। और यह भी ध्यान में रखिये कि वे पशु आदि और उनके स्वामी तथा खेती आदि कर्म करनेवाले प्रजा के पशु आदि और मनुष्यों के अधिक पुरुषार्थ ही से राजा का ऐश्वर्य अधिक बढ़ता और न्यून से नष्ट हो जाता है, इसीलिए राजा प्रजा से कर लेता है कि उनकी रक्षा यथावत् करे, न कि राजा और प्रजा के जो सुख के कारण गाय आदि पशु हैं उनका नाश किया जावे। इसलिए आज तक जो हुआ, सो हुआ, [आगे] आँखें खोलकर सबके हानिकारक कर्मों को न कीजिये और न करने दीजिये। हाँ, हम लोगों का यही काम है कि आप लोगों को भलाई और बुराई के कामों को जता देवें, और आप लोगों का यही काम है कि पक्षपात छोड़ सबकी रक्षा और बढ़ती करने में तत्पर रहें। सर्वशक्तिमान् जगदीश्वर हम और आप पर पूर्ण कृपा करे कि जिससे हम और आप लोग विश्व के हानिकारक कर्मों को छोड़ सर्वोपकारक कर्मों को करके सब लोग आनन्द में रहें। इन सब बातों को सुन मत डालना, किन्तु सुन रखना! इन अनाथ पशुओं के प्राणों को शीघ्र बचाना!

हे महाराजाधिराज जगदीश्वर! जो इनको न बचावे तो आप इनकी रक्षा करने और हमसे कराने में शीघ्र उद्यत हूजिये।''

अन्त में हमारा अपनी सरकार से यही कहना है कि—जैसे पक्षियों में मोर को राष्ट्रीय पक्षी घोषित करके उसकी रक्षा का दायित्व अपने ऊपर लिया है, उसी प्रकार अविलम्ब पशुओं में गो-पशु को राष्ट्रीय पशु घोषित करके राष्ट्र की समृद्धि का पथ प्रशस्त करे और प्रजा का स्नेह एवं परमेश्वर का आशीर्वाद प्राप्त करे।

हमने वैदिक गौ शब्द के आधार पर मन्त्र के अन्तरात्मा की आवाज़, मातृभूमि और चतुष्पाद गौपरक अर्थ दिखा दिया है। विज्ञजन गौ-पदवाच्य अन्य अर्थ भी ऊहित कर सकते हैं।

❑❑

(२९)

मेरी विवशता

वि मे कर्णा पतयतो वि चक्षुर्वी३दं ज्योतिर्हृदय आहितं यत्।
वि मे मनश्चरति दूरआधीः किं स्विद्वक्ष्यामि किमु नू मनिष्ये॥

—ऋग्वेद ६।९।६

ऋषिः—बार्हस्पत्यो भरद्वाजः॥ देवता—वैश्वानरोऽग्निः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

अन्वयः—मे कर्णा वि पतयतः चक्षुः वि, हृदये आहितं यत् ज्योतिः (तत्) इदं वि। मे मनः दूरे आधीः विचरति, किं स्विद् वक्ष्यामि किम् उ नु मनिष्ये॥

शब्दार्थ—(**मे कर्णा विपतयतः**) मेरे दोनों कान इधर-उधर जा रहे हैं। (**चक्षुः वि**) मेरी आँख इधर-उधर विविध स्थानों पर पड़ रही है। (**हृदये आहितं यत् ज्योतिः**) [**तत्**] हृदय में स्थापित जो यह ज्ञानरूपी ज्योति है, वह भी अनेक स्थानों पर भटक रही है। (**मे मनः दूरे आधीः विचरति**) मेरा मन दूर-दूर चिन्ताओं में उलझा हुआ है [इस अवस्था में हे देव!] (**किं स्विद् वक्ष्यामि**) मैं क्या कहूँगा! (**किम् उ नु मनिष्ये**) और मैं क्या मनन करूँगा!

व्याख्या—इस मन्त्र में प्रभु-भक्ति के मार्ग में आनेवाली बाधाओं को क्रम से गिनाकर यह बताया गया है कि जबतक विवेक द्वारा प्रत्येक इन्द्रिय और उनके नेता मन को विषय-विकारों से विरक्त कर पवित्र नहीं कर लिया जाता, तबतक भक्ति का नाटक तो किया जा सकता है, किन्तु भक्ति नहीं हो सकती।

यों तो प्रायः आस्तिकमात्र अपने संस्कार और बुद्धि के अनुसार मन्त्रों, श्लोकों और स्तोत्रों का पाठ प्रभु-भजन के नाम पर करता है, किन्तु तात्त्विक दृष्टि से देखा जाय तो जबतक मन और इन्द्रियाँ विषयों से व्यावृत होकर समाहित नहीं होतीं, तबतक भजन कैसा?

सीधी-सादी भाषा में बड़े पते की बात कह दी है किसी सन्त कवि ने—

माला तो कर में फिरै, जीभ फिरै मुख माहिं।
मनुआ तो चहुँदिश फिरै, यह तो सुमिरन नाहिं॥

मन्त्र में कान और आँख-इन्द्रियों का उल्लेख ज्ञान-संग्रह में मुख्य होने के कारण कर दिया है, अन्यथा कुसंस्कार-जन्य विषय-लिप्सा तो नाक, जीभ और त्वचा की भी कम भयावह और हानिकर नहीं है। सुगन्धित तेलों और इत्रों की गन्ध, चम्पा, चमेली, मोतिया और रजनीगन्धा की खुशबू कामोन्माद की ओर ही व्यक्ति को धकेलती है। मुग़ल बादशाह

मुहम्मदशाह रङ्गीला और लखनऊ के नवाब वाजिदअली शाह आदि का अधिकांश समय इत्रों के चयन और रागरङ्गों में ही व्यतीत होता था। जीभ के स्वाद के आकर्षण ने संसार के अधिकांश भाग का भक्ष्याभक्ष्य-विवेक पराङ्मुख कर दिया है। मनुष्य इतना तक भी नहीं सोच सकता कि तेरी जीभ का थोड़ी देर का चस्का किसी प्राणी की जीवनलीला को ही समाप्त कर देता है। हिंसा से बढ़कर कोई दूसरा पाप नहीं। चोरी, व्यभिचार आदि से पीड़ित का कुछ शेष तो रहता है, किन्तु हिंसा में तो प्राणी का बचता ही कुछ नहीं। वही हिंसा आज के संसार में कितने विकराल रूप में है, इस सम्बन्ध में दिल्ली के प्रमुख दैनिक पत्र 'नवभारत टाइम्स' ३।१२।७८ के अङ्क में एक सर्वेक्षण के आधार पर निम्न आँकड़े प्रकाशित हुए—

संसार में केवल एक मिनट में १५० टन मांस खाया जाता है और ११० टन मछली खाई जाती है। अब इस आधार पर हिसाब लगाइये, दिन के २४ घण्टों का दो लाख सत्तर हज़ार टन होता है। यह मांस का एक छोटा-मोटा पहाड़ बन जाएगा।

इसी प्रकार त्वचा के स्पर्श से विषय का आकर्षण भी बहुत भयङ्कर है। सभी मैथुन इसी के क्षेत्र में आते हैं।

किन्तु इन तीनों ज्ञानेन्द्रियों की विषय-ज्वाला को हवा देनेवाली इन्द्रियाँ कान और आँख ही हैं। इसीलिए वेद में "**भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः**" कहा गया है। कानों से यदि भद्र ही सुनें तो अश्लील विचार और तज्जन्य व्यभिचार को अवकाश ही कहाँ है? आँखें यदि भद्र ही देखें तो मार्ग में पाप की ठोकर कहाँ लग सकती है? इसीलिए मन्त्र में कहा गया है कि मुझे तो कानों के द्वारा उत्पन्न दुःसंस्कार अपनी ओर आकृष्ट कर रहे हैं, आँखों में समाए रूपलावण्य के चित्र भटका रहे हैं। अब भी इन्हीं के खेलों में मन दूर-दूर की दौड़ें लगा रहा है। जबतक इन्द्रियाँ शान्त होकर सुपथ के पथिक न बनें, तब तक भक्ति क्या करूँ? जन्मान्ध व्यक्ति रूप-विषय को छोड़कर संसार का समस्त ज्ञान प्राप्त कर सकता है। नेत्रहीन व्यक्ति बड़े-बड़े शास्त्रज्ञ और विद्वान् हुए हैं। आँखें न होने से उनकी चित्तवृत्ति अन्तर्मुखी सरलता से हो जाती है, यही कारण है कि ऐसे व्यक्तियों की स्मरणशक्ति बहुत तीव्र होती है। ऋषि दयानन्द जी के गुरु श्री स्वामी विरजानन्द जी बाल्यावस्था में घर के अत्याचारों से दुःखी होकर निकल पड़े थे और विद्वानों का सङ्ग पाकर व्याकरण और दूसरे शास्त्रों के मर्मज्ञ बन गए थे। दण्डी स्वामी की योग्यता का परिचय इस बात से मिलता है कि ऋषि दयानन्द स्वयं यह वर्णन करते हैं कि शिक्षा समाप्त करके दो वर्ष तक आगरा में शास्त्रों का गम्भीर पर्यालोचन करते रहे। जहाँ भी उन्हें बाधा आती थी, वे गुरुजी से सम्पर्क करके उसका समाधान कर लेते थे। आर्षग्रन्थों के प्रति ऋषि दयानन्द की गहरी निष्ठा गुरु

विरजानन्द की ही देन थी। न्यायदर्शन जैसे अद्‌भुत ग्रन्थ के प्रणेता अक्षपादाचार्य गौतम मुनि के विषय में प्रसिद्ध है कि वे भी नेत्रहीन थे। अतः ज्ञान-संग्रह में श्रोत्रेन्द्रिय का मुख्य स्थान होने से सर्वप्रथम ऐसे प्रसङ्गों में कानों का वर्णन आता है।

यदि जन्म से बालक बहरा होता है तो वह गूँगा भी होता है, क्योंकि किसी भी शब्द को न सुनने के कारण वह जीभ से उसके उच्चारण का अनुकरण नहीं कर सकता, अतः चक्षुः-इन्द्रिय के सहारे केवल सङ्केत से खाने-पीने आदि का निर्वाहमात्र ज्ञान ही प्राप्त कर पाता है। हाँ, नाक, जिह्वा और त्वचा की अपेक्षा ज्ञान-संग्रह में आँख का स्थान अवश्य प्रमुख है।

अब प्रश्न है कि कान, आँख और इनके सहयोगी असंस्कृत मन के चक्रव्यूह से बाहर निकलकर किस प्रकार प्रभु की आराधना की जावे ?

इस मार्ग की सफलतापूर्वक यात्रा के लिए कुछ शास्त्रोक्त उपायों पर श्रद्धापूर्वक आचरण करना होगा। विचारपूर्वक देखा जावे तो प्रभु-भजन और आत्मदर्शन की आधारशिला, सांसारिक व्यवहार की भूमि पर ही रक्खी जाती है। अतएव इस मार्ग के उपदेष्टा महर्षि पतञ्जलि ने योग को जो चित्तवृत्ति-निरोध का नाम दिया है, उसे यम और नियम से प्रारम्भ किया है।

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह, ये पाँच यम हैं।

अहिंसा=वैर-त्याग—मन, वाणी और शरीर से किसी भी प्राणी के साथ वैर का व्यवहार न करना। वैर की भावना जागते ही चित्त क्षुब्ध और अशान्त हो जाता है। वैर रखनेवाला दूसरे का अपकार इतना नहीं कर पाता, जितना स्वयं का करता है। किसी के प्रति शत्रुता के भाव आते ही जलन और कुढ़न प्रारम्भ हो जाती है। ऐसा व्यक्ति व्याकुल और अशान्त रहता है। इसके विपरीत किसी के प्रति प्रेम और अनुराग के विचार जागते ही मन में शान्ति और प्रसन्नता उत्पन्न हो जाती है। व्यक्ति में वैर-त्याग की भावना बद्धमूल होने पर मनुष्य की आकृति से ऐसी शान्ति प्रकट होने लगती है कि उसे हिंस्र जन्तु भी प्रेम करने लगते हैं। यद्यपि यह नियम ऐकान्तिक नहीं है, क्योंकि इतिहास में इसके विरुद्ध उदाहरण भी मिलते हैं—

सिंहो व्याकरणस्य कर्त्तुरहरत्प्राणान्प्रियान्पाणिनेः।
मीमांसाकृतमुन्ममाथ सहसा हस्ती मुनिं जैमिनिम्।
छन्दोज्ञाननिधिं-जघान मकरो वेलातटे पिङ्गलम्।
अज्ञानावृतचेतसा मतिरुषां कोऽर्थस्थिरश्चाङ्गुणैः॥

अर्थात् 'व्याकरण के महान् विद्वान् पाणिनि मुनि को शेर ने मार डाला। कर्मकाण्ड के रहस्य का विवेचन करनेवाले मीमांसादर्शन के रचयिता जैमिनि ऋषि को अचानक हाथी ने पीस डाला। छन्दशास्त्र के रचयिता पिंगल ऋषि को वेला नदी के किनारे मगरमच्छ ने समाप्त कर

दिया। अत्यन्त अज्ञान से घिरे क्रोधी स्वबाव के हिंस्र जन्तुओं को गुणों से क्या लगाव रहता है?' किन्तु फिर भी अहिंसा के जादू का प्रभाव अपवादस्वरूप ही सही, पशु और पक्षियों पर भी देखा गया है। बाज़ आदि घातक पक्षियों से बचने के लिए छोटे पक्षियों को अहिंसक मनुष्यों की गोद में शरण लेते देखा गया है। वही पक्षी किसी मांसाहारी की गोद में कदापि नहीं बैठेगा, क्योंकि हिंसक और अहिंसक की पहचान मनुष्य की अपेक्षा अन्य जीवों को अधिक और विश्वसनीय होती है।

गुरुकुल काङ्गड़ी में अध्यापन के समय प्रसिद्ध योगी स्वामी सियाराम जी के विषय में एक प्रत्यक्षदर्शी ने बताया कि—धान के पुआल के जिस बिछौने पर स्वामी सियाराम जी लेटते थे, उसी में एक साँप भी आकर सो जाता था। उस साँप को एक दिन अन्य व्यक्ति ने देखकर मार डाला, इस पर स्वामी सियाराम जी बहुत अप्रसन्न हुए।

यहाँ अहिंसा के प्रसङ्ग में हम उस घटना को उद्धृत करते हैं, जिसे स्वामी श्रद्धानन्द जी ने अपनी जीवनी 'कल्याणमार्ग का पथिक' में स्वयं लिखा है। घटना उन्हीं के शब्दों में निम्न रूप में है—

अहिंसा की प्रबल विजय

मैं बतला चुका हूँ कि मैं विचित्र नास्तिक था, जो योगाभ्यास और उसकी विभूतियों पर विश्वास करनेवाला था और साथ ही हठ-प्रक्रियाओं का प्रयोग भी करता था।

मैंने सुना कि त्रिवेणी पार झूसी के जङ्गल में एक महात्मा रहते हैं, जिनके वश में एक शेर है। दिन को अन्तर्धान रहते हैं, केवल रात को उनके दर्शन हो सकते हैं। मैं अपने मित्र बुद्धसेन तिवारी के साथ, जिनको मेरी सङ्गत ने ही योग की ओर झुकाया था, सिदौसी भोजन से निवृत्त होकर शाम को पार उतर गया। घूमते हुए दस बजे आश्रम के समीप पहुँचे। एक वृद्ध केवल कौपीनधारी महात्मा को समाधिस्थ मैदान में बैठा देखा। तीन बजे तक न उनकी समाधि खुली और न हमारी आँख झपकी। तीन बजे के लगभग शेर की गर्जना सुनाई दी, फिर वह सीधा महात्मा की ओर आता दिखाई दिया। समीप पहुँचने पर उनके पैर चाटने लगा। महात्मा ने आँखें खोलीं, शेर के सिर पर प्यार का हाथ फेरा और कहा—बच्चा! आ गया? अच्छा अब चला जा! शेर ने सिर चरणों में रख दिया और उठकर जङ्गल की राह ली। उसी समय हम दोनों ने पैर छूकर महात्मा को प्रणाम किया और इस अद्वितीय विभूति पर आश्चर्य प्रकट किया। महात्मा का उत्तर कभी नहीं भूलता—यह कोई विभूति नहीं है, बच्चा! इस शेर के किसी शिकारी ने गोली मारी थी। इसके पैर में ऐसा घाव लगा कि यह चल नहीं सकता था और व्याकुलता से हृदयवेधक शब्द कर रहा था। शायद प्यासा था। मैंने पानी लाकर पिलाया और जङ्गल से जानी हुई अपनी एक बूटी लाया और

रगड़कर इसके पैर में लगाई। घाव अच्छा होने लगा। जबतक मैं दवाई लगाता रहता, यह नित्य मेरे पैर चाटता रहता। जब सर्वथा नीरोग हो गया, तब भी इसका व्यसन नहीं छूटा, नित्य मेरी उपासना की समाप्ति पर आ जाता है! सुनो बच्चा! 'अहिंसा का अभ्यास और सेवा व्यर्थ नहीं जाते।' हम पर जो प्रभाव पड़ा, वर्णन नहीं किया जा सकता।

तो यम का, प्रभु-भजन का पहला अङ्ग हुआ—अहिंसा, प्राणिमात्र को प्रेम से देखना। दूसरा यम है—''**सत्य**''। सत्य के स्वरूप को समझाते हुए महर्षि व्यास ने लिखा है—

सत्यं यथार्थे वाङ्मनसी। यथा दृष्टं यतानुमितं तथा वाङ्मनश्चेति। परत्र स्वबोधसंक्रान्तये वागुक्ता सा यदि न वञ्चिता भ्रान्ता वा प्रतिपत्ति वन्ध्या वा भवेदिति।

अर्थात् 'वाणी और मन का अर्थ के अनुकूल होना—जैसा प्रमाणों से ज्ञात हुआ है, वैसा ठीक वाणी और मन में रखना सत्य है। यदि किसी को किसी विषय का ज्ञान कराने के लिए हम वाणी का प्रयोग करते हैं और हमारी यह वाणी उस व्यक्ति को न ठगती है, न भ्रम में डालती है और न ही निष्प्रयोजन होती है—वह सत्य है।' इसके आगे ऋषि ने एक और महत्त्वपूर्ण बात सत्य के विषय में कही—

''एषा सर्वभूतोपकारार्थं प्रवृत्ता न भूतोपघाताय। यदि चैवम-प्यभिधीयमाना भूयोपघातपरैव स्यात् न सत्यं भवेत् पापमेव भवेत्॥''

'यह सत्यवाणी भी प्राणिमात्र की रक्षा करनेवाली होनी चाहिए, हिंसा करनेवाली नहीं। प्रमाणों से परीक्षित वाणी भी यदि परिणाम में हिंसा करती है तो वह सत्य नहीं, वह तो पाप ही है।' इसलिए—

''तेन पुण्यभाषेन पुण्यप्रतिरूपेण कष्टंतमः प्राप्नुयात्। तस्मात् परीक्ष्य सर्वभूतहितं सत्यं ब्रूयात्॥''

अर्थात् 'उस पुण्य का भ्रम उत्पन्न करनेवाले आचरण से अति कष्टकारक अन्धकार को प्राप्त होगा, अतः सावधानी से परीक्षा करके सब प्राणियों का हित करनेवाला ही सत्य बोले।'

इसके आगे तीसरे क्रम पर है ''**अस्तेय**''—मन, वचन और कर्म से चोरी न करना—किसी बात को न छिपाना। यह अभ्यास भी दूषित विचारों की उत्पत्ति का ही अवरोधक होगा, क्योंकि हम समाज में अपनी प्रतिष्ठा को बनाए रखने के लिए अपनी त्रुटियों को छिपाते रहते हैं। इस दोष के रहते मन में पवित्रता कैसे रह सकती है?

अब इसके आगे आया ''**ब्रह्मचर्य**''—इन्द्रियों को वश में करते हुए वीर्यरक्षा करना। प्रत्येक इन्द्रिय विषयासक्त होकर प्रहार ब्रह्मचर्य पर ही करती है, अतः जागरूक होकर इन्द्रियों का दमन करे। इससे भी मानसिक और व्यावहारिक पवित्रता आवेगी।

इसके आगे अन्तिम यम आया—"**अपरिग्रह**"।

सांसारिक भोग की वस्तुओं के प्रलोभन में फँसकर संग्रह न करना तथा विषयों और अहंकारादि दोषों का परित्याग करना। इस वृत्ति के बनने पर भी केवल शरीर की आवश्यकता-पूर्त्ति के लिए तो किसी वस्तु का ग्रहण होगा। भविष्य की सुख-प्राप्ति की आशा से संग्रह करने का झंझट समाप्त हो जाएगा।

ये पाँचों यम प्रभु-भक्ति के मार्ग के लिए अनिवार्य हैं। इस बात की महत्ता पतञ्जलि ऋषि ने निम्न सूत्र में प्रकट की—

जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम्।

—यो० द०, पा० २, सू० ३१

अर्थात् 'इन पाँचों यमों का किसी भी जाति, देश और काल से भङ्ग न होनेवाला होना चाहिए।' इनका आचरण सार्वभौम महाव्रत है। इस बात को महर्षि मनु ने और स्पष्ट किया कि—

यमान् सेवेत सततं न नियमान् केवलान् बुधः।
यमान् पतत्यकुर्वाणो नियमान् केवलान् भजन्॥

—मनु० ४।२०४

'साधक सावधानी से यमों का आचरण करे, अकेले नियमों—शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान नहीं, क्योंकि यमों की अवहेलना करके केवल नियमों पर ही बल देने से मनुष्य पतित, दम्भी और ढोंगी बन जाता है।'

इसके अनन्तर योग का दूसरा अङ्ग नियम है। नियम भी पाँच हैं—शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान।

"**शौच**"—आन्तरिक तथा बाह्य शुद्धि को कहते हैं। बाहर की शुद्धि जल से और आन्तरिक पवित्रता काम-क्रोधादि के त्याग से होती है। अन्दर की शुद्धि से मन पवित्र होता है। चित्त की एकाग्रता और इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने की शक्ति भी प्राप्त होती है।

"**सन्तोष**"—पुरुषार्थ का जो भी फल प्राप्त हो, उसमें सन्तुष्ट रहना, उससे अधिक की इच्छा न करना। सन्तोष के उदित होने से तृष्णा क्षीण हो जाती है और अत्यन्त सुख प्राप्त होता है। इस सुख की झाँकी के विषय में लिखा है—

यच्च काम सुखं लोके यच्च दिव्यं महत् सुखम्।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम्॥

'संसार में जितने भी वैषयिक सुख हैं और जो भी दिव्य महान् सुख कहलाता है, ये दोनों ही तृष्णाविनाश से जो सुख प्राप्त होता है, उसके १६वें भाग के बराबर भी नहीं हैं।'

"**तप**"—सर्दी-गर्मी, मान-अपमान, हानि-लाभ आदि द्वन्द्वों, सभी

अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थितियों में विचलित न होकर शान्त रहना। इस तप की सिद्धि से जीवन संयत हो जाता है।

इसके पश्चात् चौथा नियम है—"**स्वाध्याय**", प्रणव (ओ३म्) का श्रद्धापूर्वक अर्थ की भावना के साथ जप करना तथा वेदादि सत्य शास्त्रों को पढ़ना। यह स्वाध्याय ज्ञान-वृद्धि के साथ-साथ इष्ट देवता (प्रभु) से सान्निध्य कराता है।

इसके पश्चात् पाँचवाँ और अन्तिम नियम है—"**ईश्वरप्रणिधान**"—प्रभु के प्रति अत्यन्त प्रेम और श्रद्धा, उसी को सर्वस्व मानते हुए अपने सम्पूर्ण कर्मों को उसे समर्पित करना। इस ईश्वर-प्रणिधान से, सब कामों को प्रभु को अर्पण करने से अहंकारादि दोषों की समाप्ति होती है। प्रभु के गुणों को धारण करने से और उसकी समीपता से सम्प्रज्ञात-समाधि की सिद्धि होती है। यह योग का दूसरा अङ्ग हुआ।

इसके आगे तीसरा अङ्ग "**आसन**" है। आसन की परिभाषा है जिससे "स्थिर सुख हो।" ये आसन बहुत-से हैं। मन की एकाग्रता के साथ शरीर के रोगों को हटाने में भी आसनों का महत्त्व है।

चतुर्थ अङ्ग "**प्राणायाम**" है। मन को वश में करने के लिए तथा इन्द्रियों को निर्विकार बनाने के लिए प्राणायाम सर्वोत्तम उपाय है। महर्षि मनु ने निम्न शब्दों में प्राणायाम के महत्त्व को बताया है—

दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथा मलाः।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात्॥

—मनु० ६।७१

'जैसे अग्नि में तपाने से धातुओं के सब मल नष्ट हो जाते हैं, उसी प्रकार प्राणायाम से सब इन्द्रियों के दोष नष्ट हो जाते हैं।' छान्दोग्य उपनिषद् ६-८-२ में प्राणायाम किस प्रकार मन को वश में रखता है, इसका एक सुन्दर उदाहरण दिया है—

"**स यथा शकुनिः सूत्रेण प्रबद्धो दिशं दिशं पतित्वा अन्यत्रायतन-मलब्ध्वा, प्राणमेवोपश्रयते, प्राणबन्धनं हि सौम्य मनः॥**"

"जैसे पक्षी धागे में बँधा हुआ विभिन्न दिशाओं में उड़ान भरके भी धागे के आकर्षण से अन्यत्र बसेरा न पाकर फिर वहीं लौट आता है, उसी प्रकार मनरूपी पक्षी प्राण के धागे में बँधा हुआ इधर-उधर घूमकर कहीं आश्रय न पाकर प्राण का ही सहारा लेता है। हे सौम्य! मन प्राण के बन्धन में रहता है।" योगदर्शन में प्राणायाम का महत्त्व बताते हुए लिखा है कि—

"**ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्**" —यो० २ पा०, सू० ५५

'प्राणायाम सिद्ध होने पर प्रकाश पर पड़ा हुआ पर्दा फट जाता है और मन को एकाग्र करने की क्षमता प्राप्त होती है।'

इसके आगे पाँचवाँ अङ्ग "**प्रत्याहार**" है। इसकी साधना के

फलस्वरूप इन्द्रियों की अपने ग्राह्य विषयों की ओर दौड़ समाप्त हो जाती है। इन्द्रियों की वैषयिक प्रवृत्ति मन के साथ मिलकर जो बहिर्मुखी थी, वह अन्तर्मुखी हो जाती है। इस अवस्था में साधक को दोष प्रभावित नहीं कर पाते।

छठा अङ्ग है "**धारणा**"। मन का स्थानविशेष, नासिका के अग्रभाग, भौंहों के मध्य, रीढ़ की हड्डी, हृदयकमल आदि में टिकाना। चित्त के अन्तर्मुखी होने का लाभ धारणा से ही प्राप्त किया जा सकता है।

सातवाँ अङ्ग है "**ध्यान**"। धारणा में जहाँ चित्त को टिकाना हो, उसकी वही एकतानता बनी रहे—वह इधर-उधर न डगमगाए, इस स्थिति का नाम ही ध्यान है।

आठवाँ अङ्ग है "**समाधि**"। ध्यान करते समय साधक को अपना ध्यान का (जो चिन्तन का स्वरूप है उसका) और जिस वस्तु का चिन्तन, अर्थात् ध्येय का ज्ञान पृथक्-पृथक् बना रहता है, परन्तु जब अभ्यास के चरमोत्कर्ष के परिणामस्वरूप, अपने को और चिन्तनस्वरूप को, अर्थात् ध्यान को भूलकर केवल ध्येय में ही मग्न हो जाता है, उस स्थिति को समाधि कहते हैं।

योग के इन आठ अङ्गों में साधना की पूरी यात्रा का प्रारूप प्रस्तुत होगा। शेष अवान्तर भेद मार्ग में पड़नेवाले छोटे-मोटे पड़ावों के समान हैं। आवश्यक यह है कि दृढ़ता से मार्ग पर चलता रहे और सांसारिक व्यवहार में यम-नियम की मर्यादाओं को पूरी तरह निभाए। बिना व्यवहार-शुद्धि के योग-क्रियाओं की सिद्धि मदारी तो बना देगी, उससे अनेक प्रकार के सांसारिक लाभ भी प्राप्त किये जा सकेंगे, किन्तु वह साधक को आप्तकाम न बना पाएगी। व्यवहार-शुद्धि के साथ प्रणव का जप करता हुआ मार्ग पर बढ़ता चले। इससे बीच-बीच में आनेवाली सब बाधाएँ दूर हो जावेंगी।

पतञ्जलि ऋषि ने स्वयं यह बात लिखी है—

"**ततः प्रत्यक् चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च**"

—यो०द० ३।२९

अर्थात् 'प्रणव का जप तथा अर्थ का अनुमान करने पर अन्तरात्मा का ज्ञान हो जाता है और सभी विघ्न समाप्त हो जाते हैं।'

महर्षि व्यास ने भी कहा है कि—

"**अथैते विक्षेपाः समाधिप्रतिपक्षास्ताभ्यामेवाभ्यास-वैराग्याभ्या-न्निरोद्धव्याः ॥**"

अर्थात् 'समाधि के विरोधी विक्षेपों को अभ्यास और वैराग्य=वास्तविक ज्ञान के द्वारा रोकना चाहिए।'

अन्त में चित्त की निर्बलता के लिए पतञ्जलि ऋषि का एक और उपयोगी नुस्ख़ा देकर हम इस प्रसङ्ग को समाप्त करेंगे।

"मैत्री करुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्।" —यो० समाधि० ३३

साधना के लिए रहना तो पड़ेगा संसार में ही। संसार के लोगों से सम्पर्क का विपरीत प्रभाव मन पर न हो, उसका उपाय यही है कि सुखी पुरुषों के साथ मित्रता जोड़िये। फिर उनका संसर्ग मार्ग में बाधक न बनेगा, यद्यपि संसार में "**समानशीलव्यसनेषु सख्यम्**", अर्थात् मित्रताशील और व्यसन की समानता में ही होती है। विद्वान् और मूर्ख की, धनी तथा निर्धन की, सुखी और दुःखी की मित्रता नहीं होती। इतिहास में एक भी उदाहरण इस प्रकार का नहीं है कि दो विषम परिस्थितिवालों की मित्रता का स्नेहसूत्र सुरक्षित रहा हो।

महाभारत का द्रुपद और द्रोण का उदाहरण इस बात का साक्षी है कि जब तक द्रोण और द्रुपद अध्ययनकाल में समान स्थिति में थे, तब तक दोनों अभिन्न मित्र थे, किन्तु जब द्रुपद राजा बन गया और द्रोण अध्ययनकाल के स्नेह को स्मरण कर मिलने गया तो द्रुपद को 'मित्र' शब्द से पुकारना भी सहन नहीं हुआ।

किन्तु ये मित्रताएँ सांसारिक कार्यों में एक-दूसरे को सहयोग देने और लेने की हैं। अतएव इनमें समान स्तर की अपेक्षा रहती है। एक करोड़पति मित्र की आर्थिक क्षति में एक अकिञ्चन मित्र क्या सहयोग दे सकेगा! उनके लिए तो—

गजानां पङ्कमग्नानां गजा एव धुरंधराः॥

'यदि हाथी दलदल में फँसा हो तो उसे निकालने के लिए भी हाथी ही चाहिए।' पर आध्यात्मिक मार्ग स्वार्थ का गठबन्धन नहीं है। वहाँ तो सुखी को देखकर हृदय से उसकी शुभकामना करने की बात है। इससे चित्त में शान्ति आवेगी। अतः सुखियों के साथ मित्रता जोड़ने का ऋषि का परामर्श उचित ही है।

अध्यात्म के यात्री के लिए दूसरी बात कही 'करुणा' की। दुःखियों को देखकर आपके हृदय में करुणा और दया के भाव उत्पन्न होने चाहिएँ। यदि संसार के सामान्य व्यवहार में भी सहानुभूति और समवेदना समाप्त हो जाय तो समाज का समूचा ढाँचा ही चरमरा जाय। ठीक ही कहा है उर्दू के शायर जिगर ने—

जब तक कि ग़मे-इन्साँ[1] से 'जिगर' इन्सान का दिल मानूर[2] नहीं।
जन्नत ही सही दुनिया लेकिन, जन्नत से जहन्नुम दूर नहीं॥

दुःखी को देखकर साधारण व्यक्ति भी सहानुभूति से भर उठता है तो आत्मकल्याण के पथिक का हृदय तो बहुत कोमल और संवेदनशील होना चाहिए। इस सन्दर्भ में ऋषि दयानन्द का वह उत्तर, जो उन्होंने एक हित-चिन्तक को यह परामर्श देने पर कि—"तुम दुनिया के सुधार

---

१. प्राणिमात्र के दुःखों-कष्टों; २. द्रवित।

के झगड़े में न पड़कर साधना से मुक्तिलाभ करो'' दिया था, कितना स्वाभाविक है कि—''**समाज को इस दुःख की दलदल में छटपटाता छोड़कर मैं अपने अकेले की मुक्ति नहीं चाहता। इनके कष्ट-निवारण का यत्न करते-करते मेरी मुक्ति तो अपने-आप हो ही जाएगी।**''

योगिराज कृष्ण अपने समय के समाज के दुर्व्यसनों से उसका उद्धार करने के लिए सम्पूर्ण जीवन क्यों लगे रहे? जो साधन उनके पास हो गए थे, उनसे वे बड़े सम्मान और सुख से सारा जीवन व्यतीत कर सकते थे। स्वयं कृष्ण ने ही इसका उत्तर देते हुए कहा कि मुझे अपने लिए कुछ करने-धरने की आवश्यकता नहीं है, किन्तु समाज को सुपथ पर चलाने के लिए मैं सावधानी से अपने कर्त्तव्य-कर्मों का आचरण करता हूँ। अतः साधक के चित्त की निर्मलता और प्रसन्नता के लिए पर-दुःखकातर होना चाहिए—

बशर[1] पहलू में दिल रखता है जब तक,
उसे दुनिया का ग़म खाना पड़ेगा।

इसके आगे तीसरा कर्त्तव्य बताया—पुण्यात्माओं के पुनीत कर्त्तव्यों को देखकर और उनके यश को सुनकर मुदित होना चाहिए। दूसरों के यश को सुनकर जलने-कुढ़ने की बीमारी से बड़ी कठिनाई से पीछा छूटता है। मात्सर्य को जीतने के लिए पहले मद को जीतना आवश्यक है। जबतक अन्दर अहंकार है, तबतक दूसरे के गुण पर मुग्ध होकर उसका प्रशंसक बनना असम्भव है। अतः पुण्यकर्मा जनों को देखकर प्रसन्न होना चाहिए।

इसके आगे चौथा उपाय बताया कि मलिन वृत्ति के लोगों से उपेक्षाभाव से व्यवहार करे। समझाने से ऐसे व्यक्ति शत्रु बन जाते हैं। सम्पर्क बढ़ने से उनके ऊटपटाँग कामों को देखकर मन अशान्त ही होगा। रहीम ने ऐसों के साथ व्यवहार के लिए बहुत सुन्दर परामर्श दिया है—

रहिमन ओछे नरन सों, वैर भलो ना प्रीति।
काटे, चाटे श्वान के, दोऊ भाँति अनीति॥

इन चार प्रकार के व्यवहार का परिणाम होगा—'**चित्तप्रसादनम्**'—चित्त प्रसन्न होगा। फिर जब उपासना में बैठेंगे तो वे प्रतिकूलताएँ नाम को भी नहीं होंगी, जिनका वर्णन मन्त्र में किया गया है कि कान इधर खींच रहे हैं, आँखें उधर घसीट रही हैं। तब विषयों से विषाक्त मन क्षुब्ध नहीं होगा, अपितु मन की स्थिति कबीर के शब्दों में इस प्रकार की होगी कि—

कबिरा मन निर्मल भये, जैसे गंगा-नीर।
पाछे-पाछे हरि फिरै, कहत कबीर-कबीर॥

❑❑

---

१. व्यक्ति।

प्रभु अपराधी पर भी कृपाभाव रखते हैं

यो मृळयाति चक्रुषे चिदागो वयं स्याम वरुणे अनागाः।
अनु व्रतान्यदितेर्ऋधन्तो यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः॥

—ऋ० ७।८७।७

ऋषिः—वसिष्ठः॥ देवता—वरुणः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

अन्वयः—यः आगः चक्रुषे चित् मृडयाति, वरुणे वयम् अनागाः स्याम अदितेः व्रतानि ऋधन्तः यूयम् स्वस्तिभिः सदा न पातः॥

शब्दार्थ—(**यः**) जो प्रभु (**आगः**) अपराध (**चक्रुषे**) करनेवाले के प्रति (**चित्**) भी (**मृळयाति**) अपना दयाभाव ही रखता है (**वरुणे**) उस चुनने योग्य प्रभु के समीप (**वयम्**) हम (**अनागाः**) निष्पाप (**स्याम**) रहें। (**अदितेः**) उस अखण्ड देव के (**व्रतानि**) मर्यादाओं को (**ऋधन्तः**) जानकर आचरण करते हुए विद्वज्जन (**यूयम्**) आप सब (**स्वस्तिभिः**) अपने कल्याणप्रद उपदेशों और परामर्शों से (**सदा**) सब समयों में (**नः**) हमारी (**पात**) रक्षा कीजिये।

व्याख्या—मन्त्र में मुख्य रूप से दो बातें कही गई हैं—पहली यह कि प्रभु की दया और वात्सल्य का हाथ तो सदा ही जीव पर रहता है, किन्तु मानव-जीवन की सफलता इसमें है कि वह मर्यादा का पालन करता हुआ निष्पाप और पवित्र रहकर प्रभु की आज्ञा में उपस्थित रहे। दूसरी यह कि विद्वानों का यह कर्त्तव्य है कि वे उस अखण्डव्रती प्रभु के न्याय-नियमों को अपनी सूक्ष्म बुद्धि से जानकर सामान्य जनों को हितकारक उपदेश से पवित्राचरण का सदा परामर्श देते रहें। अब मन्त्र के प्रत्येक भाग पर क्रमशः विचार कीजिये।

मन्त्र के प्रथम भाग में कहा गया है कि प्रभु अपराध करनेवालों पर भी दयाभाव रखता है। यह बात थोड़ी पेचीदा है। इसका यह अभिप्राय नहीं कि प्रभु दुष्कर्म का फल नहीं देते और पूजा-पाठ तथा प्रायश्चित्त से क्षमा मिल जाती है। शास्त्रीय विधान तो यह है कि अशुभ और शुभ कर्मों का फल दुःख और सुख के रूप में अवश्य भोगना पड़ेगा। दयाभाव का अभिप्राय है कि दुष्कर्म का जो फल कर्त्ता के सम्मुख कष्टरूप में आता है, उसमें यह हित निहित है। यह मेरे बुरे कर्म का फल है, अतः आगे मुझे सोच-समझकर शुभ कर्म ही करने चाहिएँ, अन्यथा हाथ से लगाई गाँठें दाँतों से खोलनी पड़ेंगी। इस बात को ठीक से न समझने के कारण लोग पाप भी करते रहते हैं और उस पाप को क्षमा कराने के लिए अनेक प्रकार के दान-पुण्य भी करते रहते हैं। प्रायः डाकुओं में यह प्रवृत्ति होती है कि किसी बड़े-से सेठ को निर्दयता से लूटकर

कुछ अनाथ और विधवाओं की सहायता कर देते हैं। वे अपने मन में यह धारणा बनाते हैं कि हानि तो एक को पहुँचाई और लाभ पचास को पहुँचाकर उनकी शुभकामनाएँ प्राप्त कीं, तो अपना तो पुण्य ही बढ़ रहा है। इसी भ्रम में वे इस पाप में लगे रहते हैं।

किन्तु वैदिक सिद्धान्त यह है और बुद्धि भी इसे ही स्वीकार करती है कि सेठ को लूटने के पाप का फल कर्त्ता को किसी-न-किसी कष्ट के रूप में, चाहे वह कष्ट आर्थिक क्षतिरूप में हो या किसी और रूप में, सहना ही पड़ेगा। साथ ही पचास व्यक्तियों को जो लाभ पहुँचाया, उसका फल भी सुख अथवा लाभ के रूप में उसे प्राप्त होगा। प्रभु कर्म-फल का व्यवस्थापक है, अतः पूरी नाप-तौल से फल अवश्य मिलेगा। वेद और संस्कृतसाहित्य में ''अर्य'' शब्द स्वामी, परमात्मा और दुकानदार का वाचक है। इन तीनों में एक ही नियम काम करता है कि ये कर्मफल हिसाब से देते हैं, अन्धाधुन्ध नहीं। किसी मित्र अथवा सम्बन्धी के घर आप भोजन करें, तो आपके खाने के लिए गृहपति अनेक शाक-भाजी, मिठाइयाँ और पकवान तैयार करेगा और सब-कुछ करने पर भी प्रेम और नम्रता प्रकट करने के लिए कहेगा कि अमुक-अमुक कारण से भोजन बढ़िया तो नहीं बन सका, फिर भी रूखा-सूखा जैसा है, स्वीकार कीजिये। अब आप देखिये कि इतनी तैयारी पर भी यह कहा जा रहा है कि कुछ नहीं बन सका।

इसके विपरीत वणिक् की दुकान का दृश्य सर्वथा विपरीत होगा। पाँच या छह रुपये की ढाई सौ ग्राम मिठाई देने के लिए आपने हलवाई से कहा। वह तराज़ू के पलड़े में दो सौ ग्राम डालने के बाद से ही तराज़ू की डण्डी पर दृष्टि जमा देगा और धीरे-धीरे डालता हुआ डण्डी कुछ ही सीधी होने पर कहेगा—'लीजिये'। आप यदि डण्डी में कुछ कमी देखकर यह कहें कि—'अभी डण्डी सीधी कहाँ है, कुछ और डालो' तो वह तुनककर उत्तर देगा कि क्या ढाई सौ ग्राम पर सारा माल चढ़ा दूँ? दुकानदार की दृष्टि सदा नाप-तोल पर रहती है। स्वामी भी भृत्य को परिश्रम के अनुसार ही वेतन देता है। ठीक इसी प्रकार प्रभु भी कर्मानुसार ही फल देता है। हाँ, प्रभु के दण्ड-विधान में भी हित उसी प्रकार समाविष्ट रहता है, जैसे अपराध करने पर माता बच्चे को चपत लगाती हुई मन में उसके सुधार की भावना ही रखती है और दण्ड देते हुए भी उसका हृदय द्रवित रहता है। इसे एक उदाहरण से समझिये।

प्रभु ने हमें दस ज्ञानेन्द्रियाँ अपने कर्मसम्पादन के लिए दी हैं। मनुष्य का कर्त्तव्य है कि वह पहले बुद्धिपूर्वक ठीक ज्ञान प्राप्त करे और फिर ज्ञानानुसार उसका फल प्राप्त करने के लिए कर्म करे। उचित प्रकार से देखने-सुनने की मर्यादा वेद ने बताई—''**भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा**

भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः''—हम कानों से ऐसे शब्द सुनें जो मस्तिष्क और हृदय में सद्विचार उत्पन्न करें और आँखों से ऐसे दृश्य देखें जो प्रभु की महिमा को हृदय-पटल पर अङ्कित करें। वन-उपवन के नाना आकार-प्रकार, रूप-रङ्ग-गन्ध से सुशोभित पौधे-लता और पुष्प प्रभु की कारीगरी पर मुग्ध करनेवाले हों या किसी स्वस्थ सुन्दर युवक और युवती की रूप-सुधा एक सात्त्विक आह्लाद मन में उत्पन्न करे और प्रभु के कौशल पर मुग्ध होकर हमारे मुख से सहसा निकल पड़े—

वो ख़ुद कैसा है जिसने इन हसीनों को बनाया है?
इन्हें जब देखते हैं हम तो उसकी याद आती है॥

इस प्रकार के सद्विचार हमें उदात्त आचार के लिए प्रेरणा देंगे और हमारी इन्द्रियाँ वास्तव में इन्द्र (आत्मा) के हित-सम्पादन में सहायक होंगी। इसके विपरीत रजोगुण और तमोगुण का चश्मा चढ़ने पर दुनिया बदल जाएगी और उसके अनुसार विचार भी व्यक्ति और समाज को गिरानेवाले होंगे। इस स्थिति का भी किसी उर्दू के शायर ने अच्छा चित्र खींचा है—

दिल के जो दुश्मन हैं उनके शौक़ में रहती है आँख।
जान का मालिक जो है, उससे नज़र मिलती नहीं॥

जब व्यक्ति एक बार पथ-भ्रष्ट हो जाता है तो फिर उसे मार्ग पर लाना दुःसाध्य होता है और परिणामस्वरूप हमें प्रभु की न्याय-व्यवस्था के अनुसार दण्ड भोगना पड़ता है।

हम सांसारिक न्याय-व्यवस्था में देखते हैं कि यदि प्राप्त शक्ति और साधन का कोई व्यक्ति दुरुपयोग करता है तो उसे उस वस्तु का अनधिकारी घोषित करके वह वस्तु उससे छीन ली जाती है, ताकि उससे वह अपना और समाज का अधिक अहित न करे। जैसे कोई व्यक्ति अपने जीवन और सम्पत्ति की दुष्टों से रक्षा करने के निमित्त एक बन्दूक अथवा रिवॉल्वर रखने की अनुमति प्राप्त करने के लिए सरकार को प्रार्थना-पत्र दे, सरकार के अधिकारी विहित प्रक्रिया को अपनाकर यह जाँच करें कि जिस उद्देश्य के लिए शस्त्र रखने का अधिकार माँगा गया है, वह कहाँ तक ठीक है? प्रार्थना उचित प्रतीत होने पर उसे शस्त्र रखने का प्रमाणपत्र—लाइसेन्स दे दिया जाता है और वह उसका शिष्ट मर्यादा में उपयोग करता है। उस शस्त्र से वह न केवल अपने जीवन और धन की रक्षा करता है, अपितु पास-पड़ोस में सङ्कट उत्पन्न होने पर उनको संरक्षण देता है। इस आचरण से उसका चित्त भी प्रसन्न होता है और समाज भी उसका यशोगान करता है। इस प्रकार वह चाहे जबतक उस अधिकार का प्रयोग कर सकता है।

अब इसके दुरुपयोग के उदाहरण पर भी विचार कीजिये। सरकार से शस्त्र का लाइसेन्स तो लिया अपने जीवन और धन की रक्षा के लिए,

किन्तु शस्त्र के आते ही विचार बदल गए और उस शस्त्र के द्वारा दूसरों-के धन का अपहरण करने लगे। शनैः-शनैः इस दुष्टकर्म की भी चर्चा लोगों में होने लगी और एक ने साहस करके सरकार में रिपोर्ट भी कर दी। सरकार ने छानबीन करने पर शिकायत ठीक पाई तो आज्ञा देकर उसका लाइसेंस रद्द कर दिया।

ठीक यही प्रक्रिया हम प्रभु की व्यवस्था में भी देखते हैं। अपितु ऐसा प्रतीत होता है कि मनीषियों ने लोक में मर्यादा को बनाए रखने के लिए प्रभु की व्यवस्था के अनुसार ही अपना कानून बनाया और तदनुसार आचरण किया। अब इसी उदाहरण को अपनी इन्द्रियों पर घटाइये, जैसे पूर्व-चर्चित उदाहरण में आँख का उल्लेख हुआ है। आँख के द्वारा दृष्टि की शक्ति का दुरुपयोग हुआ और उसने द्रष्टा के वासनामय संस्कारों को भड़काया। सद्विचार कभी-कभी ग्लानि और पश्चात्ताप की भावना को उभारते हैं, किन्तु वे वासना की आँधी में उड़ जाते हैं। इस खिन्न मनोदशा का चित्रण कवि विहारी ने बड़े स्वाभाविक रूप से किया है—

लाज-लगाम न मानहीं, नैना मो बस नाँहि।
ये मुँहज़ोर तुरंग लों, ऐंचतु ही चलि जाँहि॥

आँखों के व्यसन से तङ्ग आकर कवि कहता है कि—'मैं इन आँखों को संसार की मर्यादाओं को समझाकर बहुतेरा रोकता हूँ, किन्तु मेरा वश नहीं चलता। होता यह है कि जैसे मुँहज़ोर घोड़ा जितना लगाम को खींचो उतने हठ से अपनी गति को तीव्र करता चला जाता है और सवार को अक्षम बना देता है, ठीक यही दशा आँखों ने मेरी भी कर दी है।'

इस स्थिति से उबरने का एक ही प्रकार है कि दुर्व्यसन के साधन उस आँख को ही छीन लिया जावे। आँख न रहने से उस दुर्व्यसन को क्रियात्मक रूप देने का अवसर ही न रहेगा और लम्बे समय तक उसकी आवृत्ति न होने के कारण उन दुःसंस्कारों का ही परिमार्जन हो जाएगा। इधर आँखों के अभाव में जो कष्ट उठाने पड़े, उनसे दण्ड भी भुगत गया और पश्चात्ताप और प्रायश्चित्त से सात्त्विक संस्कारों का उदय भी हुआ। लेखाजोखा पूरा होने पर अगले जन्म में आँखें फिर मिल गईं और नया जीवन प्रारम्भ हुआ। यदि आगे सदुपयोग करेगा तो दृष्टिलाभ के आनन्द का अधिकारी रहेगा।

यही है प्रभु की दया कि उसका दण्ड भी मनुष्य के कल्याण का कारण बनता है। अतः मन्त्र में पहली बात कही गई कि वह प्रभु ''**यो मृळयाति चक्रुषे चिदागः**''—अपराध करनेवाले का भी कल्याण ही करता है।

इससे आगे मन्त्र में उससे भी महत्त्वपूर्ण बात कही गई कि—''**वयं वरुणे अनागाः स्याम**''—मानव-जीवन के स्तर के अनुरूप तो स्थिति यही है कि हम वरणीय प्रभु के दरबार में निष्पाप और पवित्र रहें।

यह मानव-जीवन हमें विचारपूर्वक अपनी पाशवी प्रवृत्तियों को निर्मूल करने के लिए ही मिला है। न्यूनाधिक पशुता तो मनुष्य के साथ लगी ही रहती है, पर विवेक द्वारा उसे परिमार्जित करना ही मानव-जीवन का लक्ष्य है। किसी उर्दू के शायर ने बहुत उत्तम कहा है—

बज़ाहिर[1] सब हैं इन्साँ लेक[2], बातिन[3] की ख़ुदा जाने।
कि हैं इन्सान इनमें कितने, और हैवान कितने हैं॥

चारों वेदों में निम्न मन्त्र आता है, उसमें भी बहुत काव्यमय ढङ्ग से इस महत्त्वपूर्ण उद्देश्य की ओर ध्यान खींच गया है—

सप्तस्यासन् परिधयस्त्रिः सप्तसमिधः कृताः।
देवा यद्यज्ञं तन्वाना अबध्नन् पुरुषं पशुम्॥

—ऋ० १०।९०।१५

अर्थात् 'एक ऐसा भवन अथवा एक ऐसी यज्ञशाला है जिसकी सात परिधियाँ, चारदीवारी (Boundery walls) हैं और उनमें तीन स्थानों पर सात, सात, सात समिधाएँ रक्खी हैं। प्रभु ने इस यज्ञ का विस्तार करने के लिए जीवरूपी पशु को इसमें बाँधा है। रूपक अलङ्कार के माध्यम से यह मानव-शरीर और इसमें जीवात्मा के आने के उद्देश्य का वर्णन है। समस्त कर्मकाण्ड में सात परकोटेवाली यज्ञशाला का वर्णन कहीं नहीं है। चार, बारह और इससे भी अधिक स्तम्भोंवाली यज्ञशाला का विधान तो है, किन्तु सात परिधियोंवाली का नहीं। यह सात परिधि की यज्ञशाला मानव-शरीर ही है। आयुर्वेद के ग्रन्थ अष्टाङ्गहृदय में मानवदेह की त्वचा की सात परतें गिनाई हैं—"**सप्तत्वचो भवन्ति।**" ये ही सात चारदीवारियाँ हैं। तीन स्थानों पर सात-सात समिधाओं का विधान किसी यज्ञ में नहीं है। ये तीन स्थानों पर सात-सात समिधाएँ, सात धातुएँ, रस-रक्त-मज्जा आदि सात हैं। ये २१ समिधाएँ प्रदीप्त होकर इस यज्ञ को चलाती हैं, अर्थात् इन समिधाओं से ही यह यज्ञ क्रियाशील रहता है। इस यज्ञ का लक्ष्य यह है कि इस मानव-शरीररूपी यज्ञशाला में बँधा हुआ जीवरूपी पशु, पशुत्व की आहुति दे दे, अर्थात् विवेकपूर्वक कर्म करके काम-क्रोधादि पर विजय प्राप्त करे। विवेकरहित मानव और बच्चे को पशु नाम से वेद[4] में अभिहित किया गया है। ब्रह्मचर्यव्रतपूर्वक गुरुकुल में विद्यार्जन से यह पशुता टूटती है और इसी का एक नाम पशुयाग भी है।'

अतः मानव-जीवन की सफलता ज्ञानपूर्वक धर्माचरण में है। यद्यपि विषयों के बन्धन बहुत जटिल हैं, किन्तु विचार में इतनी बड़ी शक्ति है कि दुरूह मार्ग पर भी उसके सहारे सफलता प्राप्त की जा सकती

१. देखने में (प्रकटतः); २. लेकिन; ३. अन्दर की, मन की।
४. **वि तिष्ठन्तां मातुरस्या उपस्थान्नानारूपाः पशवो जायमानाः।**
—अथर्व० १४।२।२५

है। जिगर मुरादाबादी ने इस सम्बन्ध में बड़े पते की बात कही है—

हुस्न की हर इक अदा पे जानो-दिल सदक़े, मगर,
लुत्फ़ कुछ दामन बचाकर ही गुज़र जाने में है।

संसार के विषयों में बाँधने की बहुत बड़ी शक्ति है। 'विषय' शब्द संस्कृत व्याकरण की **'षिञ् बन्धने'** धातु से बना है। निष्पन्न शब्द से पूर्व विशेषार्थ-वाचक 'वि' उपसर्ग और जुड़ा हुआ है, इस प्रकार विषय शब्द का अर्थ हुआ जिसमें जकड़ने की बहुत क्षमता हो। किन्तु विवेक और विचार में भी वह क्षमता है कि उसके समक्ष विषय की यह लौह-शृङ्खला सूत के कच्चे धागे के समान तुच्छ है। विवेकी महापुरुषों ने काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य को तृणतुल्य सारहीन बनाकर मार्ग में तोड़-मरोड़कर फेंक दिया और दृढ़ता से गन्तव्य पथ पर दनदनाते चले गए।

अतः मनुष्यता की सार्थकता निष्पाप जीवन जीने में है।

मन्त्र के उत्तरार्ध में, जीवन में निष्पाप चलने और दृढ़ रहने के लिए उपाय बताया गया है कि आत्मोत्थान के व्रतों पर चलनेवाले तपस्वी विद्वानों के जीवन-व्यवहार को देखकर उनसे प्रेरणा लो कि इस दुनिया के फिसलन-भरे मार्ग पर वे अपने पैरों को कैसे टिका पाएँ। एक जिज्ञासु यात्री के लिए इस प्रकार के पथ-प्रदर्शक का मिलना बहुत बड़ा सहारा है। शिक्षा की समाप्ति पर आचार्य अपने स्नातकों को अन्तिम बात गाँठ बाँधकर ले-जाने के लिए यही कहता है—

"अथ यदि ते कर्मविचिकित्सा वा वृत्तिविचिकित्सा वा स्यात्, ये तत्र ब्राह्मणाः संमर्शिनो युक्ता आयुक्ता अलूक्षा धर्मकामाः स्युः यथा ते तव वर्तेरन् तथा तत्र वर्तेथाः।" —सं०वि० समावर्त्तन

यदि संसार में तुझे किसी कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य के विषय में संशय उत्पन्न हो तो जो विचारशील, अनुभवी, सहृदय और सच्चरित्र विद्वान् हों, उनसे विचार-विनिमय करके कर्म के औचित्य का निश्चय करो और उस प्रकार की परिस्थिति और कामों में वे जैसा आचरण करते हों, वैसा ही करते चले जाओ। वही धर्माचरण है, यह अपने मन में निश्चय रक्खो। वयोवृद्ध होने के साथ यदि इस प्रकार का सदाचारी व्यक्ति विद्यावृद्ध भी हो तो कहना ही क्या है! नहीं तो आचारवान् वयोवृद्ध के परामर्श को भी नीतिकारों ने महत्त्वपूर्ण माना है—

प्रवृद्धवयसः पुंसो धियः पाकः प्रजायते।
जीर्णस्य चन्दनतरो आमोद उपजायते॥

'परिपक्व आयु के मनुष्य की बुद्धि भी अनेक प्रकार के और लम्बे अनुभवों के कारण पक जाती है, जिस प्रकार पुराने चन्दन के पेड़ में सुगन्ध उत्पन्न हो जाती है।' इसके साथ ही मन्त्र में एक महत्त्वपूर्ण परामर्श उन वृद्धों को भी दिया कि—**"यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः"**—'वृद्धों का भी यह पवित्र कर्त्तव्य है कि वे पूरी शक्ति से पवित्र मार्ग पर चलने

के लिए युवकों को प्रेरित करते रहें।' समाज की इससे उत्तम कोई दूसरी सेवा नहीं है और प्रकारान्तर से आत्मिक उत्थान के लिए इससे अधिक आराधना भी दूसरी नहीं है। इस विषय में किसी उर्दू शायर ने कितना उत्तम कहा है—

काम आ ख़ल्क़े-ख़ुदा के, कि ख़ुदा के नज़दीक,
इससे बेहतर न हुई है न इबादत होगी।

आज लोग ईश्वर-भक्ति का अर्थ केवल अपना कल्याण और शान्ति समझते हैं, किन्तु तत्त्वदर्शी सामाजिक उत्थान के साथ-साथ जिससे शान्ति मिले उसी मार्ग को श्रेष्ठ मानते हैं। ऋषि दयानन्द से एक महन्त ने जब यह कहा कि—"दयानन्द! तुम क्या समाज-सुधार के पचड़े में पड़ गए? यदि तुम अविचल भाव से आत्मसाधना में लगते तो इसी जन्म में तुम्हारी मुक्ति हो जाती।" इस प्रश्न का ऋषि दयानन्द ने जो उत्तर दिया, वह स्वर्णाक्षरों में लिखने योग्य है। ऋषि ने कहा— "महात्मन्! पतन के गर्त में गिरे देशवासियों की उपेक्षा करके मैं अपने अकेले की मुक्ति नहीं चाहता; इन दीन-दुःखियों का कष्ट-निवारण करते-करते मेरी मुक्ति स्वतः हो जाएगी।"

आज समाज के वृद्ध-समुदाय में यह भावना जग जाय तो देश की कायापलट हो जाय। हमारे घर स्वर्ग बन जावें।

कार्यनिवृत्त वृद्ध और वृद्धाएँ घर में झगड़ते रहेंगे, समवयस्कों में बैठकर राजनैतिक लीडरों की आलोचना करते रहेंगे, मनोरञ्जन के लिए ताश, शतरञ्ज और चौपड़ खेलते रहेंगे, सायं-प्रातः चार मन्त्रों का पाठ करके झूमते हुए शान्ति-पाठ का मन्त्र बोल देंगे और अपने कर्त्तव्य की इतिश्री समझ लेंगे। यदि ये लोग गली-मुहल्ले बाँटकर समाज में फैली हुई बुराइयों को दूर करने के लिए बच्चों और युवकों को वार्तालाप में सद्विचार दें तो देश का उद्धार कर दें। आज लोग एक-दूसरे के बिगड़े हुए बच्चों को देखकर और एक-दूसरे की आलोचना करके सन्तुष्ट हो लेते हैं, किन्तु यह नहीं सोचते कि बच्चे समाज और देश की सम्पत्ति हैं। इनके पथभ्रष्ट होने से देश दुर्बल होकर पतनोन्मुख होता है। इसके अतिरिक्त बिगड़े युवक अपने परिवारवालों के लिए उतने हानिप्रद नहीं हैं, जितने कि दूसरों के लिए। सार यह निकला कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, अतः समाज में होनेवाले सद्गुण-दुर्गुण के परिणाम भी सुख और दुःख के रूप में उसे अवश्य सहने पड़ेंगे—

बशर पहलू में दिल रखता है जब तक,
उसे दुनिया का ग़म खाना पड़ेगा।

इसलिए शान्ति-पाठ का मन्त्र इस तत्त्व को समझाता है कि भक्त! जिस शान्ति को तू माँग रहा है, वह तब मिलेगी जब द्युलोक से भूतल तक अणु-अणु और कण-कण में वह समा जाएगी। ❑❑

(३१)

राष्ट्र शक्तिशाली कब बनता है?

भद्रमिच्छन्त ऋषयः स्वर्विदस्तपो दीक्षामुपनिषेदुरग्रे।
ततो राष्ट्रं बलमोजश्च जातं तदस्मै देवा उपसंनमन्तु॥

—अथर्व० १९।४१।१

ऋषिः—ब्रह्मा॥ देवता—ब्रह्म॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

अन्वयः—स्वर्विदः ऋषयः भद्रम् इच्छन्तः अग्रे तपः दीक्षाम् उपनिषेदुः। ततः राष्ट्रम्, बलम्, ओजश्च जातम् तत् अस्मै देवाः उपसंनमन्तु॥

शब्दार्थ—(**स्वर्विदः**) सुख-शान्ति को जानने और प्राप्त करनेवाले (**ऋषयः**) ऋषियों ने (**अग्रे**) सर्वप्रथम (**तपः**) सुख-दुःखादि द्वन्द्व-सहन की क्षमता (**दीक्षाम्**) नियम-व्रतादि को (**उपनिषेदुः**) ग्रहण किया। (**ततः**) उस तप और दीक्षा के आचरण से (**राष्ट्रम्**) राष्ट्रीय भावना (**बलम्**) राष्ट्रीय बल (**ओजश्च**) और ओज, राष्ट्रीय प्रभाव तथा रौब (**जातम्**) उत्पन्न हुआ (**तत्**) इसलिए (**अस्मै**) इस राष्ट्र के सम्मुख (**देवाः**) देव भी, शक्ति-सम्पन्न भी (**उपसंनमन्तु**) झुकें, उचितरूप से सत्कार करें।

व्याख्या—मन्त्र में मुख्य रूप से एक ही विचार दिया गया है कि देश को राष्ट्र का रूप देकर उसे शक्ति-सम्पन्न और गौरवास्पद बनाने के लिए आवश्यक है कि देशवासी तपस्वी और दीक्षित बनें। इन मुख्य गुणों के आचरण से देश में अतुल बल का उद्भव होगा और उसके ओजस्वी स्वरूप को देखकर बड़े-बड़े राष्ट्र उसके सम्मुख नतमस्तक होंगे।

अब इसपर विस्तार से विचार कीजिये। बड़े सङ्घर्ष, त्याग, तप और बलिदानों के बाद लगभग एक हज़ार वर्ष के पश्चात् १५ अगस्त सन् १९४७ को हमारा देश स्वाधीन हुआ।

स्वतन्त्रता का जो बाह्यरूप देखने में आया और जिसका बहुधा प्रचार भी किया गया, वह यह है कि अंग्रेज़ ने अहिंसा के आन्दोलन से प्रभावित होकर देश की प्रभुसत्ता भारतवासियों को हस्तान्तरित कर दी। इसी भ्रम में आकर अनेक वक्ता यह कहते सुने गए और बहुत-से लेखकों ने लिखा भी कि भारत ने रक्त की एक बूँद बहाए बिना अपनी स्वाधीनता प्राप्त की। किन्तु स्वतन्त्रता-सङ्घर्ष के इतिहास से यह तथ्य नितरां सुस्पष्ट है कि ५ मई १८५७ के मङ्गल पाण्डे के पावन बलिदान से लेकर ३० जनवरी १९४८ के महात्मा गांधी के बलिदान तक, बलिदानियों की यह इतनी लम्बी पङ्क्ति है कि उसे देखते हुए यह

उचित रूप से कहा जा सकता है कि इन स्वाधीनता के दीवानों ने अपने उष्ण रक्त से दासता की अन्धकारपूर्ण रात्रि को उषःकाल के रूप में परिवर्तित किया और उसी के बाद १५ अगस्त सन् १९४७ को स्वाधीनता का सूर्य उदित हुआ।

किस-किस प्रकार के महत्त्वपूर्ण बलिदान हुए, उसका थोड़ा-सा प्रसङ्गोपात्त दिग्दर्शन कराना जहाँ विषय के प्रतिपादन की दृष्टि से उचित है, वहाँ भारत की स्वाधीनता के भव्य भवन की नींव में लगे दृढ़ पाषाणस्वरूप उन बलिदानियों के प्रति कृतज्ञता-ज्ञापन भी अति आवश्यक है। स्वतन्त्रता की दीपशिखा पर अपने को आहुत करनेवाले इन पतङ्गों के मन में इतनी महत्त्वाकांक्षा तो चमक ही उठती थी—

शहीदों के मज़ारों पे लगेंगे हर बरस मेले।
वतन पे मरनेवालों का यही बाक़ी निशाँ होगा॥

कलकत्ते के स्थान पर दिल्ली को राजधानी बनाने के अंग्रेज़ सरकार के निर्णय को मूर्तरूप देने के लिए तत्कालीन वायसराय लॉर्ड हार्डिंग की दिल्ली के चाँदनी चौक में हाथी पर सवारी निकल रही थी। सड़कों पर लोगों की अपार भीड़ थी। मकानों की छतें दर्शनार्थी स्त्री-पुरुषों से पटी पड़ी थीं। बहुत आकर्षक और प्रभावपूर्ण दृश्य था। चारों ओर से पुष्प और हारों की वर्षा हो रही थी। इतने में एक क्रान्तिकारी ने फूलों के साथ ही वायसराय के हाथी पर बम फेंक दिया। बम के फटते ही वायसराय का अङ्गरक्षक मारा गया। वायसराय मूर्च्छित हो गए और सारे जुलूस में भगदड़ मच गई। पुलिस ने सारे चाँदनी चौक की नाकाबन्दी करके अपराधी की खोज प्रारम्भ कर दी।

पूरा प्रयत्न करने पर भी अपराधी का कुछ पता न चला। तब सी०आई०डी० की आशंकाओं के आधार पर देशभर में से ११३ व्यक्ति गिरफ्तार किये गए। इन पकड़े गए व्यक्तियों में पश्चिमी पञ्जाब के जेहलम ज़िले के भल्ला कटियाला गाँव के एक प्रतिष्ठित परिवार के नवयुवक, भाई परमानन्द जी के सहोदर, भाई बालमुकुन्द भी थे।

बालमुकुन्द का विवाह तो हो चुका था, किन्तु मुकलावा (गौना) न हुआ था। बालमुकुन्द की पत्नी का नाम रामरखी था। बालमुकुन्द को गिरफ़्तार साथियों के साथ दिल्ली की जेल में, जहाँ आजकल मौलाना आज़ाद मैडिकल कॉलिज है, एक कालकोठरी में बन्द कर दिया गया। जेल में रामरखी परिवारजनों के साथ अपने पति के दर्शन करने आई। विवाह के बाद अपने पति को देखने का रामरखी का यह पहला अवसर था। गर्मियों के दिन थे। जेल की कोठरी तङ्ग, घुटनभरी और अन्धकारपूर्ण थी। रामरखी ने अश्रुपूर्ण नयनों से पति को देखकर नमस्ते की और पूछा—"रात को सोने के लिए क्या और कहीं ले जाते हैं?" बालमुकुन्द ने मुस्कराकर उत्तर दिया—"कैदी हूँ, कोई शाही मेहमान नहीं कि

जिसकी सुख-सुविधा के लिए दिन में कहीं और रात में कहीं, विश्राम का प्रबन्ध किया जाय। इसी कोठरी में रात भी काटनी पड़ती है।'' रामरखी ने थोड़ी देर बाद पूछा—''खाने को क्या देते हैं?'' भाई बालमुकुन्द की जेब में आधी रोटी पड़ी थी, उसे रामरखी की ओर बढ़ाते हुए कहा—''ऐसी दो रोटियाँ एक समय में दी जाती हैं।'' रामरखी ने रोटी अपने दुपट्टे के कोने में बाँध ली। दिल्ली से लौटकर रामरखी अपनी ससुराल भल्ला कटियाला (ज़िला जेहलम) गई। अपने मकान की सबसे तङ्ग कोठरी में घासफूँस बिछाकर अपने पति के समान भूमि पर लेटने-बैठने लग गई। जेल की रोटी रामरखी ने चखकर देखी। उसमें उसे राख मिली हुई लगी तो अपने आटे में भी उसने राख मिला ली और उतने ही वज़न की दो रोटी दोपहर और रात को खानी प्रारम्भ कर दीं। जबतक भाई बालमुकुन्द पर केस चलता रहा, रामरखी उसी तपश्चर्यापूर्ण स्थिति में भगवान् का भजन करती रही। अन्त में केस का निर्णय हुआ। बालमुकुन्द को फाँसी पर लटका दिया गया।

यह दारुण और हृदयविदारक समाचार भल्ला कटियाला भी पहुँचा। रामरखी ने अन्न-जल त्याग दिया और ग्यारह दिन तक उसी कोठरी में मौन प्रभु-भजन करती रही। अन्तिम दिन उठकर स्नान किया, वस्त्र बदले, थोड़ा-सा स्थान गोबर से लीपकर स्वच्छ किया और आसन पर बैठकर प्रभु का ध्यान किया। अन्त में अपने पति को सम्बोधित करके कहा—''आज आपको संसार से गए हुए दस दिन बीत गए। आपकी प्रियतमा इससे अधिक आपके वियोग को सहन नहीं कर सकती।'' यह कहते हुए एक लम्बे श्वास के साथ उसने अपनी जीवनलीला समाप्त कर दी। तप और दीक्षा की भट्टी में तपे हुए ऐसे ही व्यक्तियों के बलिदान से स्वतन्त्रता की प्राप्ति हुई है।

ऐसे-ऐसे हज़ारों बलिदानों के बाद यह स्वाधीनता हमें मिली है। लोकमान्य तिलक के जीवन की एक घटना का उल्लेख किये बिना नहीं रहा जा रहा।

लोकमान्य बालगङ्गाधर तिलक को भारत से निर्वासित करके माण्डले की जेल में बन्द कर दिया गया। 'गीतारहस्य' नाम की अमर कृति उसी जेल में लिखी गई। जब वे माण्डले की जेल में थे, तभी इधर भारत में उनकी पत्नी सत्यभामा की ५५ वर्ष की वय में मृत्यु हो गई। बारत से तार द्वारा यह दुःखद समाचार माण्डले के जेलर को भेजा गया। माण्डले का जेलर तिलक की विद्वत्ता और आचार-व्यवहार की पवित्रता को देखकर उनका श्रद्धालु भक्त बन गया था। उस तार को पढ़कर उसे आघात लगा और अपने मन में निश्चय किया कि इस दुःखद समाचार को देने के लिए मुझे स्वयं जाना चाहिए; उनके दुःखी हृदय को सांत्वना के दो शब्द कहकर धैर्य भी बँधाना चाहिए।

जेलर तार का काग़ज़ हाथ में पकड़े तिलक के कमरे पर पहुँचा।

तिलक अपने ग्रन्थ के लेखन में व्यस्त थे। जेलर ने तिलक का अभिवादन करके तार का काग़ज़ उनके आगे रख दिया। तिलक ने उसे पढ़ा और उल्टा करके सामने की पुस्तक पर रख दिया। तिलक गम्भीर और निस्तब्ध भाव से बैठे रहे। जेलर का अनुमान था कि देश से निर्वासित होने से ही तिलक का हृदय खिन्न है और उस पर भी जीवनसाथी का वियोग एक वज्रपात के समान होगा। इस स्थिति में वे बहुत दुःखी और विह्वल होंगे तो मैं उनको सान्त्वना के लिए दो शब्द कहूँगा, किन्तु वहाँ दृश्य ही कुछ और था!

जेलर ने आश्चर्य से तिलक की ओर देखकर पूछा—"आपने इस तार को पढ़ा है?" तिलक ने शान्तभाव से उत्तर दिया—"हाँ, मैंने देख लिया है।" जेलर ने कहा—"इसमें आपकी पत्नी की मृत्यु का दुःखद समाचार है।" तिलक ने उत्तर दिया—"हाँ, यही बात है।" जेलर ने कहा—"मैंने अपने जीवन में आप-जैसा कठोर व्यक्ति नहीं देखा, जिसकी आँखों से अपनी पत्नी के मरने पर दो आँसू भी न गिरे।" जेलर के शब्दों ने तिलक को झकझोर डाला। तिलक ने कहा—"मेरे सम्बन्ध में तुम्हारी यह धारणा मेरे साथ न्याय नहीं है। मैं भी संसार के दूसरे गृहस्थियों के समान ही अपनी पत्नी से अनुराग रखता था। इस संसार से उसकी विदाई मेरे लिए अति दारुण और दुःखदायी है, किन्तु उसके इस वियोग के अवसर पर आँसुओं का न गिरना हृदय की कठोरता नहीं है, अपितु जेलर! वास्तव में बात यह है कि मेरी आँखों में जितने भी आँसू थे, उन्हें मैं भारतमाता की दुःखद अवस्था पर बहा चुका हूँ। अब मेरी आँखों में कोई आँसू नहीं रहा जो मेरी पत्नी के मरने पर निकलकर बाहर आता।"

मातृभूमि के प्रति कितनी भावप्रवणता है! तिलक के हृदय का चित्र खींचना हो तो एक उर्दू शायर के शब्दों में कहा जा सकता है—

ग़म तो हो हद से सिवा[1], अश्क-अफ़शानी[2] न हो।
उससे पूछो जिसका घर जलता हो और पानी न हो॥

रामप्रसाद बिस्मिल[3], अशफाकुल्ला, चन्द्रशेखर आज़ाद, भगतसिंह[4], राजगुरु, सुखदेव, खुदीराम बोस, ६३ दिन लाहौर जेल में भूखा रहकर और तिल-तिल करके अपनी जीवनवर्तिका को जलानेवाला यतीन्द्रनाथ

---

१. सवाया, बढ़कर।　　२. अश्रुवर्षा।

३. ५ अगस्त १९२५ को रामप्रसाद बिस्मिल और साथियों ने काकोरी स्टेशन पर रेल का खज़ाना लूटा।

४. ८ अप्रैल १९२९ को भगतसिंह और उसके साथियों ने असेम्बली में बम फेंका था।

५. यतीन्द्रनाथ दास ६३ दिन भूखे रहकर १३ सितम्बर १९२९ को शहीद हुए। उनका शव रेल से कलकत्ता ले-जाया गया। अन्त्येष्टि में ६ लाख लोग थे।

दास', मदनलाल ढींगरा, सुभाषचन्द्र बोस और अन्य कितने ही मूल्यवान् जीवन स्वाधीनता-संग्राम की भेंट हुए।

अभिप्राय यह कि हमने अपार त्याग, घोर तपस्या और असंख्य बलिदानों के पश्चात् अपनी इस स्वाधीनता को देखा है।

किन्तु हमारा दुर्भाग्य है कि हम देश की स्वाधीनता के सङ्घर्ष के समय के सभी उदात्त गुणों को भूल गए हैं। अब चारों और स्वार्थपरता, विलासिता और भ्रष्टाचार का नग्न नृत्य हो रहा है। युवक और युवतियाँ अनुशासनहीन और बे-नकेल के ऊँट हैं। लूटपाट और डाकाज़नी की आँधियाँ चल रही हैं। देश की यह दशा एक विचारशील व्यक्ति के मन में वेदना उत्पन्न करती है—

क़िस्मत ने इसी वास्ते चुनवाए थे तिनके?
बन जाय नशेमन[1] तो कोई आग लगा दे?

पाठकवृन्द! अथर्ववेद के इस मन्त्र में देश का काया-कल्प करने के लिए कुछ अचूक योगों का वर्णन है। यदि वेद के परामर्श के अनुसार हम देशवासियों में इन विचारों को जगा सकें तो यह मातृभूमि की बहुत बड़ी सेवा होगी।

इस मन्त्र में पहली बात कही गई है किसी देश में उसके उत्थान के लिए आवश्यक है कि उसके नागरिकों में तप और दीक्षा की भावना हो। आर्यों के सांस्कृतिक दृष्टिकोण से ये दोनों शब्द बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं। योग के दूसरे अङ्ग—नियमों में 'तप' का तीसरा स्थान है। किसी भी लक्ष्य की पूर्त्ति के लिए बीच में आनेवाली समस्त बाधाओं को धैर्यपूर्वक सहते हुए आगे बढ़ते जाने का नाम तप है। इसीलिए शास्त्र में इसकी दूसरी परिभाषा '**तपो द्वन्द्वसहिष्णुत्वम्**' भी की गई है। हानि-लाभ, सुख-दुःख, सर्दी-गर्मी आदि जितने भी द्वन्द्व (जोड़े) हैं, उनकी चिन्ता न करके कर्त्तव्य-पथ पर बढ़ते चले जाना तप कहाता है। इसी भावना से मिलती किसी शास्त्रकार ने तपस्वी की निम्न परिभाषा की है—

यस्य कार्यन्न विघ्नन्ति शीतमुष्णं भयं-रतिः।
समृद्धिरसमृद्धिर्वा स वै तापस उच्यते॥

'जिसके कामों में सर्दी-गर्मी, भय-प्रेम, ऐश्वर्य और निर्धनता बाधक नहीं बनते और जो निरन्तर लक्ष्य की ओर बढ़ता ही चला जाता है, उसे तपस्वी कहते हैं।' महाभारत में यक्ष और युधिष्ठिर का संवाद बहुत प्रसिद्ध है। यक्ष ने अनेक प्रश्न पूछे और युधिष्ठिर ने उनके उत्तर दिये। उनमें एक प्रश्न है—"**तपः किं लक्षणं प्रोक्तम्**"—तप का क्या लक्षण है? युधिष्ठिर ने उत्तर दिया—"**तपः स्वकर्मवर्तित्वम्**"—अपने कर्त्तव्य का एकनिष्ठ होकर पालन करने का नाम ही तप है। राष्ट्रीय

---

१. घर-घोंसला।

दृष्टि से युधिष्ठिर की तप की परिभाषा बहुत ही उपादेय है। भारत में स्वाधीनता के बाद से कर्त्तव्यपालन की भावना तो प्रायः लुप्त हो गई है। अंग्रेज़ों के शासन में दण्ड के भय से लोग अपने-अपने काम में जुटे रहते थे। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद से वह दण्ड का अंकुश निकल गया। अब साधारण-सा कर्मचारी भी प्रान्त और केन्द्र में बिरादरी और रिश्तेदारी की कड़ियाँ जोड़कर रखता है और जबतक धैर्यपूर्वक लम्बी लड़ाई की तैयारी न करें, तबतक आप उसमें कुछ सुधार नहीं कर सकते।

कर्त्तव्यपालन के लिए दृढ़ निष्ठा तबतक उत्पन्न नहीं होगी, जब तक कि देशवासियों का चारित्रिक धरातल ऊँचा न हो। अतः 'चाणक्य-सूत्र' नाम के छोटे-से ग्रन्थ में राजनीति के कुशल कर्णधार आचार्य चाणक्य ने तप की परिभाषा करते हुए लिखा—"**तपः सारः इन्द्रियनिग्रहः**" तप का निचोड़ जितेन्द्रियता है। अतः राष्ट्र में शक्तिसञ्चार और समृद्धि के लिए वेद सर्वप्रथम नागरिकों में तप को अपनाने का परामर्श देता है। तप में भी सौष्ठव और निखार लाने के लिए वेद ने कहा—नागरिकों में '**दीक्षा**' भी होनी चाहिए।

संस्कृत व्याकरण में **दीक्ष धातु** के मौण्ड्य, इज्या, नियम, व्रत और आदेश, ये पाँच अर्थ लिखे हुए हैं। सार यह निकला कि राष्ट्र के उत्थान के लिए अच्छे व्रत, नियम और मिलकर काम करने के कुछ सङ्गठन बनाकर देश का शारीरिक, बौद्धिक और आर्थिक विकास करना चाहिए। ये सभी उत्कर्ष के साथ दीक्षा में समाहित हैं।

तप और दीक्षा के आचरण का लाभ यह होगा कि देश में राष्ट्रभाव जागृत होगा। एक नागरिक दूसरे के कष्ट को अपना कष्ट समझकर उसके निवारण में सहयोग करेगा। हमारे पैर में काँटा चुभता है, तो समस्त शरीर में वह वेदना अनुभव करता है। आँख घायल पैर को देखती है, हाथ काँटे को निकालने के लिए दौड़ पड़ते हैं और जबतक उस कष्ट के कारण काँटे को नहीं निकाल फैंकते, तबतक शान्ति से नहीं बैठते। दीक्षा भी समस्त राष्ट्र में इसी आत्मीयता की भावना को उत्पन्न करेगी।

इस भावना के आते ही देश में "**बलम् ओजश्च जातम्**"—प्राण-शक्ति का सञ्चार होगा, राष्ट्रवासियों का स्वाभिमान जाग जाएगा और फिर ऐसे सङ्गठित देश के सामने "**देवा उपसन्नमन्तु**"—अच्छे-अच्छे शक्तिशाली राष्ट्र भी घुटने टेककर नतमस्तक होंगे।

राष्ट्र को शक्तिशाली और सम्मानित बनाने के लिए दूसरा कोई मार्ग नहीं है। इसके लिए आवश्यक है कि देश के वातावरण और शिक्षा को तप और दीक्षा के पवित्र मार्ग की ओर मोड़ा जावे।

❑❑

(३२)

उल्लासमय जीवन की रूपरेखा

इन्द्र श्रेष्ठा॑नि द्रवि॑णानि धेहि चित्तिं॒ दक्ष॑स्य सुभग॒त्वम॒स्मे। पोषं॑ रयी॒णामरि॑ष्टिं त॒नूनां॑ स्वा॒द्मानं॑ वा॒चः सु॑दिन॒त्वमह्ना॑म्॥

—ऋ० २।२१।६

ऋषिः—गृत्समदः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

अन्वयः—इन्द्र अस्मे श्रेष्ठानि द्रविणानि दक्षस्य चित्तिम् सुभगत्वम् रयीणाम् पोषम् तनूनाम् अरिष्टिम् वाचः स्वाद्मानम् अह्नाम् सुदिनत्वम् धेहि॥

शब्दार्थ—हे (**इन्द्र**) परमैश्वर्य के भण्डार प्रभो! (**अस्मे**) हमारे लिए (**श्रेष्ठानि**) उत्तम (**द्रविणानि**) धन (**दक्षस्य**) नैपुण्य और बल की (**चित्तिम्**) प्रसिद्धि (**सुभगत्वम्**) सौभाग्य (**रयीणाम्**) ऐश्वर्यों की (**पोषम्**) पुष्टि (**तनूनाम्**) शरीरों की (**अरिष्टिम्**) नीरोगता (**वाचः स्वाद्मानम्**) वाणी की मधुरता (**अह्नाम्**) दिनों की (**सुदिनत्वम्**) शोभनता (**धेहि**) प्रदान कर!

व्याख्या—सफल और उल्लासमय जीवन के लिए जितनी वस्तुओं की आवश्यकता है, वे सब इस मन्त्र में गिना दी गई हैं। भक्त ने प्रभु को 'इन्द्र' शब्द से पुकारकर फिर अपनी आवश्यकता की सूची प्रस्तुत की है। माँगा उसीसे जाता है, जिसके पास याचित वस्तु हो और आवश्यकता से अधिक हो। इसलिए यहाँ याचना इन्द्र से की गई है। संस्कृत व्याकरण की दृष्टि से इन्द्र शब्द 'इदि' धातु से बना है। इदि का धात्वर्थ लिखा है—परम ऐश्वर्य। ज्ञान, बल, उत्तम स्वास्थ्य और रुपया-पैसा, ये सभी ऐश्वर्य हैं, किन्तु परम ऐश्वर्य की कोटि में आने के लिए इनमें कुछ विशेषता अपेक्षित है। वह ज्ञान जो शब्दों तक सीमित है, बहुत-कुछ जानकारी देता हुआ भी जाननेवाले को दुःख से नहीं छुड़ाता, अपितु और दुःख में धकेलता है।

संस्कृत के एक कवि ने अपने एक पद्य में "**मूर्खस्य चाष्टौ गुणाः**"—मूर्ख की आठ विशेषताएँ गिनाई हैं जिनमें कुछ ये हैं—खूब खाना, खूब सोना, निश्चिन्त रहना। जितना बिना पढ़ा-लिखा आदमी खा सकता है, उतना पढ़ा-लिखा नहीं। मथुरा का एक-एक चौबा पाँच-पाँच सेर रबड़ी खा जाता है। श्री के० एम० मुन्शी, जब उत्तर प्रदेश के राज्यपाल थे, मथुरा गए। उन्हें वहाँ पहुँचकर ध्यान आया कि यहाँ के चौबों की खाने में बहुत प्रसिद्धि सुनी है, किसी को खिलाकर देखना चाहिए। उन्होंने मथुरा के ज़िलाधीश को बुलाकर कहा कि सबसे अधिक खानेवाले एक चौबे को हमारी ओर से भोजन का निमन्त्रण दिलवाइये

और उसकी पसन्द की चीज़ें और मात्रा भी पुछवाइये। ज़िलाधीश ने जानकारों के माध्यम से एक इस प्रकार के चौबे को गवर्नर साहब की ओर से निमन्त्रण दिलवा दिया और उसने खाने की जो चीज़ें तथा मात्रा बताईं उनमें पूरी, कचौरी, सब्ज़ी, रायता आदि के साथ पाँच सेर रबड़ी बताई। दूसरे दिन ठीक समय पर चौबेजी पधारे और गवर्नर साहब ने स्वयं बड़ी श्रद्धा से भोजन कराया। सब मिलाकर उसने इतना खाया कि सम्भवतः एक बार में एक बैल भी न खा सके। भूखा व्यक्ति निश्चिन्तता से पैर फैलाकर जितना सोता है, उतनी नींद पढ़े-लिखे को कहाँ आ सकती है! अतः केवल अक्षरों की पढ़ाई से तो बिना पढ़ा-लिखा कहीं अच्छा! शास्त्रकारों ने विद्या की परिभाषा की—**''सा विद्या या विमुक्तये''**—'विद्या वास्तव में वह है, जो दुःख से छुड़ा दे, अपनी त्रुटियों को बता दे और उन्हें छोड़ने के लिए प्रेरणा करे।' यदि यह न हो, तो विद्वत्ता के भ्रम में मनुष्य ज्ञान का बोझ उठाकर कुढ़ता और दुःखी होता रहता है। विद्या के लिए प्रसिद्ध है कि विद्या विनय देती है—**''विद्या ददाति विनयम्''**, किन्तु अधिकांश को विद्या के अहंकार में आप उद्दण्ड देखेंगे।

पण्डितराज जगन्नाथ संस्कृत के अन्तिम और अद्वितीय कवि माने जाते हैं। उनके घमण्ड का नमूना, उनके द्वारा रचित 'भामिनी विलास' नाम के ग्रन्थ के पहले श्लोक में से देखिये—

दिगन्ते श्रूयन्ते मदमलिनगण्डाः करटिनः,
करिण्यः कारुण्यास्पदमसमशीलाः खलु मृगाः।
इदानीं लोकेऽस्मिन् खरतरशिखानां पुनरयम्,
नखानां पाण्डित्यं प्रकटयतु कस्मिन् मृगपतिः॥

'मदोन्मत्त हाथी दिशाओं के अन्त में सुने जाते हैं', अर्थात् दिग्गज सुने ही जाते हैं, उन्हें आजतक देखा किसी ने नहीं। ध्वनि यह निकली कि इसी प्रकार बड़े-बड़े प्रकाण्ड पण्डित सुने ही जाते हैं, हमें तो देखने को कोई मिला नहीं। **''करिण्यः कारुण्यास्पदम्''**—हथिनियाँ तो दया की पात्र हैं, अर्थात् विदुषी महिलाएँ तो दया करने के योग्य हैं, प्रतिस्पर्धा के नहीं। '**असमशीलाः खलु मृगाः**' बेचारे हरिण तो घास-फूस खाकर निर्वाह करनेवाले हैं, अर्थात् साधारण विद्वान् तो यथा-तथा अपना गुज़ारा करते हैं। तो **''इदानीं लोकेऽस्मिन् खरतरशिखानां पुनरयम्''** इस समय इस संसार में तेज़-नुकीले **''नखानां पाण्डित्यं प्रकटयतु कस्मिन् मृगपतिः''** नाखूनों के प्रहार का नैपुण्य यह किसपर प्रकट करे? अर्थात् मेरी कोटि का कोई दूसरा विद्वान् नहीं है, जिससे शास्त्रचर्चा करके मैं अपनी योग्यता का प्रकाश कर सकूँ। कितनी अकड़ है पण्डितराज में!

इसी प्रकार भर्तृहरि अपने समय के महान् वैयाकरण और रससिद्ध कवि थे। भर्तृहरि के तीनों शतकों की पद्यरचना से प्रकट होता है कि

इस विद्वान् का शब्दकोष पर असाधारण अधिकार था। यदि ये कोई महाकाव्य लिखते तो निःसन्देह वह सर्वातिशायी होता। यों तो अपने समय में ये सभी कवि अपने को बेजोड़ समझते थे, तभी तो भवभूति ने भी अपने विषय में लिखा—"**उत्पत्स्यते मम तु कोऽपि समानधर्मा, कालो ह्ययन्निरवधिर्विपुला च पृथिवी**", अर्थात् 'मेरे समान इस समय कोई नहीं है तो क्या? यह काल का प्रवाह असीम है और यह पृथिवी भी कितनी विस्तृत है, कोई-न-कोई आगे तो उत्पन्न हो ही जाएगा।' कविवर हर्ष नैषध में लिखते हैं—"**ग्रन्थग्रन्थिरिह क्वचित् क्वचिदपि न्यासिप्रयत्नान्मया**........**मास्मिन् खलः खेलतु**", अर्थात् 'मैंने अपनी इस काव्यरचना में कहीं-कहीं जान-बूझकर कुछ गाँठें डाली हैं, पेचीदगियाँ पैदा की हैं। इसलिए कि इसके अध्ययन में मूर्ख ही कबड्डी न खेलते रहें, किन्तु इन सब का तुलनात्मक अध्ययन एक सहृदय पाठक को अपना मत अभिव्यक्त करने को बाध्य करता है कि चाहे पद्यकाव्य के रूप में तरङ्ग में आकर ही भर्तृहरि ने ये शतक लिखे हैं, किन्तु भर्तृहरि की जो अद्भुत सूझ और स्वाभाविक शब्दविन्यास है, वह बेजोड़ है।'

तुलना कीजिये हर्ष के नैषध के एक पद्य से—

ईशाणिमैश्वर्यविवर्तमध्ये लोकेशलोकेशय लोकमध्ये।
तिर्यञ्चमप्यञ्चरसानभिज्ञ रसज्ञतोपज्ञसमज्ञमज्ञम्॥

इस पद्य में अनुप्रास की भरमार है, किन्तु अनुप्रास के प्रलोभन में प्रसाद-गुण लुप्त हो गया और कवि का भाव शब्दों के भँवर में उलझ गया। पाठक जितनी देर में चिन्तन से अर्थ तक पहुँचता है, तबतक रस-स्रोत सूख जाता है।

अब भर्तृहरि का एक पद्य देखिये—

"**मात्सर्यमुत्सार्य विचार्य कार्यमार्याः समर्यादमिदं वदन्तु।**" कितनी ललित पदावली है! प्रसाद-गुण भी तिरोहित नहीं हो पाया। ऐसे व्याकरण और साहित्य के महान् पण्डित थे भर्तृहरि। किन्तु घमण्ड इनका भी देखिये! अपने व्याकरण के ज्ञान के विषय में इन्होंने लिखा—"**मामदृष्ट्वा गतः स्वर्गमकृतार्थः पतञ्जलिः**"—'महान् वैयाकरण पतञ्जलि मुझे बिना देखे इस संसार से चला गया तो अकृतार्थ ही रह गया।' मुझे देख लेता तो उसे अपनी वास्तविकता का पता चल जाता। स्पष्ट है कि भर्तृहरि व्याकरणशास्त्र में अपनी कोटि का किसी को नहीं समझते। किन्तु संसार की ठोकरें खाने के बाद जब विशुद्ध विद्या का नेत्र खुला तो दुनिया बदल गई। अपने अन्दर आए इस परिवर्तन को भर्तृहरि ने स्वयं नीतिशतक के पद्य में लिखा है—

यदा किञ्चिज्ज्ञोऽहं द्विप इव मदान्धः समभवम्,
तदा सर्वज्ञोऽस्मीत्यभवदवलिप्तं मम मनः।

यदा किञ्चित्-किञ्चिद् बुधजनसकाशादवगतम्,
तदा मूर्खोऽस्मीति ज्वर इव मदो मे व्यपगतः॥

'जब मैं बहुत थोड़ा जानता था तो यौवन में मस्त हाथी के समान मेरा मन विद्या के घमण्ड में चूर था। उस अभिमान में मैं अपने को सर्वज्ञ मानता था। जब वास्तविक विद्वानों की सङ्गति में मुझे कुछ-कुछ ज्ञान हुआ तो पता चला कि मैं तो मूर्ख हूँ, मुझे तो कुछ भी नहीं आता! यह समझ आने पर मेरा वह अभिमान ज्वर के समान उतर गया और मैं शान्त हो गया हूँ।'

अतः परम ऐश्वर्य में उस ज्ञान को ही पुकारा जा सकता है जो मनुष्य को सांसारिक क्लेशों से छुड़ा दे। शक्ति भी प्रशंसा के योग्य वही है, जो दुःखियों के कष्टनिवारण के लिए अन्याय और शोषण का प्रतिरोध करे। इसी प्रकार धनरूपी ऐश्वर्य भी परम वही होगा जो विपन्न और अभावग्रस्तों का पालन करे। प्रभु में ये तीनों प्रकार के परमैश्वर्य हैं, अतः हे इन्द्र! परमैश्वर्य के भण्डार प्रभो! "**श्रेष्ठानि द्रविणानि धेहि**"— तू मुझे श्रेष्ठ, अत्यन्त पवित्र, जिसको धर्मपूर्वक अर्जित किया हो, ऐसा "**द्रविणानि**" धन, ऐश्वर्य दे! अधर्म और अन्याय से उपार्जित अर्थ, अनर्थ है, वह तो मेरे पतन का कारण होगा, उत्थान का नहीं।

दुर्योधन ने राजसूय यज्ञ के अवसर पर पाण्डवों को भेंट में आई अपार सम्पत्ति को लोभ के वशीभूत होकर अन्याय से जुआ खेलकर हड़प लिया, किन्तु वह अपार ऐश्वर्य उसके सर्वनाश का कारण बना। अतः मन्त्र में श्रेष्ठ धन की प्रार्थना की गई। श्रेष्ठ धन वही है, जो किसी को बिना सताए और सरल मार्ग से उपार्जित किया जावे।

इससे आगे मन्त्र में प्रार्थना की कि मुझे धन के साथ दक्षता और बल भी दो! बिना दक्षता और निपुणता के धन का सदुपयोग नहीं कर पाऊँगा। दक्ष का दूसरा अंर्थ बल भी है। धन की रक्षा के लिए बल भी अपेक्षित है। ये सब चीज़ें न केवल मेरे निर्वाह का साधन बनें, अपितु "**सुभगत्वम्**"—मेरे सौभाग्य और यश का कारण बनें। यशस्विता और कीर्त्ति ही तो जीवन है—"**यस्य कीर्तिः स जीवति।**" मेरे नैपुण्य पर दूसरे लोग जीवन की दिशा प्राप्त करने की आशा करें और मेरे बल के संरक्षण में निर्भय हों, यह सौभाग्ययुक्त ख्याति मेरी हो। इसके आगे विशेषण आया "**रयीणां पोषम्**"—आय के स्रोत स्थायी हों। व्यय करते समय धन के क्षीण होने की चिन्ता न हो, आवश्यक व्यय को मैं निश्चिन्त हो प्रसन्नता से वहन कर सकूँ। इसके आगे "**तनूनाम् अरिष्टिम्**"— मुझे स्वस्थ शरीर मिले। शरीर यदि रोगी हुआ तो मैं जीवन का बोझ ढोनेवाला बनूँगा, उसका आनन्द न ले सकूँगा।

अमेरिका की फ़ोर्ड कम्पनी के स्वामी हेनरी फ़ोर्ड के पास अथाह धन था, किन्तु शारीरिक दशा यह थी कि वह डेढ़ पाव दूध नहीं पचा

सकता था। उसके लिए वह धन किस काम का? साथ ही शरीर जब रोगी है तो बलहीन भी होगा। बलहीन मनुष्य न सम्पत्ति की रक्षा कर सकता है, न सम्मान पा सकता है। "**ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्**"—इस मन्त्र का एक अर्थ बिना खींचतानी के यह भी है कि—'यह संसार बलवानों के लिए है, निर्बलों के लिए नहीं।' मुख में ३२ दाँतों के बीच में जीभ डरती और काँपती रहती है। यदि खाने में भूलचूक से किसी दाँत की चपेट में आकर घायल हो जाती है, तो तड़प जाती है, किन्तु यही जीभ जब कोई दाँत दुर्बल होकर हिलने लगता है, तो उसे ही ठोकर मारती है। ठीक यही दशा संसार की है। किसी नीतिकार ने ठीक ही कहा है—

..........सखा भवति मारुतः।
स एव दीपनाशाय कृशे कस्यास्ति सौहृदम्॥

'जलती हुई अग्नि को और बढ़ाने के लिए वायु उसका मित्र बनकर सहायता करता है, किन्तु वही वायु दुर्बल दीप को बुझा देता है।' दुर्बल से कौन मित्रता करता है?' अतः मन्त्र में कहा कि आपसे माँगा हुआ धन, बल, नैपुण्य और सौभाग्य सब बेकार हो जाएँगे यदि शरीर रोगी और क्षीण होगा। अतः प्रभो! नीरोग शरीर दीजिये।

इससे अगली प्रार्थना और भी महत्त्वपूर्ण है कि—"**स्वाद्मानं वाचः**"—मुझे वाणी की मधुरता दीजिये! इस सद्गुण के बिना धन, बल, नैपुण्य और सुन्दर स्वास्थ्य भी मनुष्य को सुख और शान्ति नहीं दे सकते। कठोर वाणी की अग्नि में सब-कुछ भस्म हो जाता है।

महाभारत-युद्ध के अनेक कारणों में से एक कारण वाणी का दुरुपयोग भी है। दुर्योधन प्रकृत्या महत्त्वाकांक्षी और ईर्ष्यालु तो था ही, किन्तु बिना सोचे-समझे द्रौपदी, अर्जुन, कृष्ण, नकुल, सहदेव और भीम के वचन और उपहासपूर्ण व्यवहार ने उस अग्नि को और भड़का दिया।

शकुनि ने धृतराष्ट्र से दुर्योधन के दुःखी होने की बात कही और उसके प्रतिकार का उपाय भी सुझाया। धृतराष्ट्र ने दुर्योधन को बुलाकर कहा—'तुम्हारे पास किसी वस्तु की कमी नहीं है। तुम्हारे लिए भी पाण्डवों-जैसा सभागार बनाया जा सकता है। तुम पाण्डवों की समृद्धि को देखकर कुढ़ो मत!' धृतराष्ट्र के इतना कहने पर दुर्योधन की व्यथा उसी के शब्दों में पढ़िये—

हे भारत! युधिष्ठिर के सभाभवन में मय नामक शिल्पी ने बिन्दु-सर के रत्नों से, जिसके ऊपर स्फटिक मणि भी लगी हुई थी, ऐसा फ़र्श रचा है कि मुझे वह कमलों से सजी पानी से लबालबभरी वापी प्रतीत हुई।

वस्त्रमुत्कर्षति मयि प्राहसत् स वृकोदरः।
शत्रोर्ऋद्धिविशेषेण विमूढं रत्नवर्जितम्॥

—महा० २।४६।२७

—मैंने पानी से भरी बावड़ी समझकर जब कपड़े भीगने से बचाने के लिए ऊपर उठाए तो भीम खिलखिलाकर हँस पड़ा। उसके हँसने में एक भाव यह भी था कि उसके पास अपार ऐश्वर्य है और मैं रत्नरहित हूँ।

उस अवस्था में यदि मेरा वश चलता तो मैं भीम को मार गिराता। यदि मैं इस प्रकार का साहस करता तो निश्चय ही मेरी भी वही दशा होती जो कृष्ण के सम्मुख बोलने पर शिशुपाल की हुई थी। शत्रु के द्वारा इस प्रकार का उपहास मुझे जलाए डाल रहा है।

पुनश्च तादृशीमेव वापीं जलजशालिनीम्।
मत्त्वा शिलासमां तोये पतितोऽस्मि नराधिप॥ २९॥

—आगे चलकर मुझे कमलों से सजी फिर बावड़ी दिखाई पड़ी। मैंने पहले के समान इसे भी पत्थर ही समझा और मैं पानी में गिर पड़ा।

तत्र मां प्राहसत्कृष्णः पार्थेन सह सुस्वरम्।
द्रौपदी च सहस्त्रीभिर्व्यथयन्ती मनो मम॥ ३०॥

—मुझे पानी में गिरा देखकर कृष्ण और अर्जुन ठहाका मारके हँसे और द्रौपदी भी और स्त्रियों के साथ हँस पड़ी। इस उपहास से मुझे मर्मान्तक वेदना हुई है।

पाण्डवों द्वारा आज्ञा पाकर उसके सेवक मेरे लिए दूसरे कपड़े लाए और मैंने वे पहने।

अद्वारेण विनिर्गच्छन् द्वारसंस्थानरूपिणा।
अभिहत्य शिलां भूयो ललाटेनास्मि विक्षतः॥ ३२॥

—हे राजन्! और भी जो धोखा हुआ, वह भी सुनिये! एक दीवार में द्वार-सा प्रतीत होता था। जब मैं उससे निकलने लगा तो मेरा मस्तक दीवार से टकराकर घायल हो गया।

मेरा दीवार से यह टकराना दूर से नकुल और सहदेव ने देख लिया और दोनों ने खेद प्रकट करते हुए मुझे अपनी बाहुओं से थाम लिया।

उवाच सहदेवस्तु तत्र मां विस्मयन्निव।
इदं द्वारमितो गच्छ राजन्निति पुनः-पुनः॥ ३४॥

चकित-सा होकर सहदेव मुझे बार-बार कहने लगा—'राजन्! द्वार यह है, वह नहीं।'

उसी समय भीमसेन ने पुकारके और हँसके कहा—'धृतराष्ट्र-पुत्र! द्वार यह है, वह नहीं।'

इस सारे प्रसङ्ग से स्पष्ट है कि पाण्डवों का गर्वमिश्रित यह प्रहास और धृतराष्ट्र-पुत्र कहके पुकारना, जिससे दुर्योधन को अन्धा कहना ध्वनित होता है, साधारण बात नहीं है। यह व्यावहारिक दृष्टि से बहुत बड़ी भूल है।

किसी उर्दू के शायर ने इस स्थिति में बहुत ही उचित परामर्श दिया है—

मेरे हाले-जुनूँ पै हँसनेवाले यह भी सोचा है?
हँसी जब हद से बढ़ती है तो फिर आँसू निकलते हैं॥

अतः इस मन्त्र में मधुर वाणी माँगी गई। नम्रतापूर्ण मधुर वाणी जादू का-सा प्रभाव करती है। इसके लिए भी महाभारत का एक दूसरा प्रसङ्ग देखिये—

गीता-ज्ञान द्वारा अर्जुन का मोहभङ्ग होने पर जब युद्ध प्रारम्भ होने ही वाला था, उस समय युधिष्ठिर समुद्र के समान विशाल दोनों सेनाओं की हलचल देखकर—

विमुच्य कवचं वीरो निक्षिप्य च वरायुधम्।
अवरुह्य रथात् क्षिप्रं पद्भ्यामेव कृताञ्जलिः॥ ७॥

अपना कवच उतारकर और शस्त्रास्त्रों को एक ओर रखकर शीघ्र ही रथ से उतर, हाथ जोड़कर—

धर्मराज युधिष्ठिर पितामह को देखकर मौन, पूर्व में खड़ी शत्रु-सेना की ओर चला। अर्जुन भी युधिष्ठिर को शत्रु-सेना की ओर जाता देखकर अपने रथ से उतरकर पीछे-पीछे चल दिया। अर्जुन को जाता देखकर कृष्ण भी पीछे-पीछे चल दिये और उनके पीछे भीम, नकुल, सहदेव और राजा लोग भी चल दिये। पर कहाँ और क्यों जा रहे हैं, यह किसी को भी कुछ पता नहीं था। उन सब को परेशान देखकर श्रीकृष्ण हँसकर बोले—मैंने युधिष्ठिर का उद्देश्य जान लिया है—

एष भीष्मं तथा द्रोणं गौतमं शल्यमेव च।
अनुमान्य गुरून् सर्वान् योत्स्यते पार्थिवोऽरिभिः॥ १७॥

'यह भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य और शल्य की अनुमति लेकर शत्रुओं से युद्ध करेगा।'

अनुमान्य यथाशास्त्रं यस्तु युध्येन्महत्तरैः।
ध्रुवस्तस्य जयो युद्धे भवेदिति मतिर्मम॥

'जो शास्त्रानुसार अपने से बड़ों की अनुमति लेकर युद्ध करता है, उसकी विजय निश्चित होती है।' उधर युधिष्ठिर को आता हुआ देखकर कौरवों के बहुत-से सैनिक यह अनुमान करने लगे कि हमारी सेना की विशालता को देखकर यह युद्ध न करने का विचार प्रकट करने आ रहा है।

सोऽवगाह्य चमूं शत्रोः शरशक्तिसमाकुलाम्।
भीष्ममेवाभ्ययात्तूर्णं भ्रातृभिः परिवारितः॥ ३०॥

—युधिष्ठिर शस्त्रों से सुसज्जित शत्रु-सेना में भाइयों से घिरा हुआ शीघ्र ही भीष्म के समीप पहुँचा।

तमुवाच ततः पादौ कराभ्यां पीड्य पाण्डवः।
भीष्मं शान्तनवं राजा युद्धाय समुपस्थितम्॥ ३१॥

—राजा युधिष्ठिर ने युद्ध के लिए समुद्यत भीष्म के दोनों चरण पकड़कर कहा—

आमन्त्रये त्वां दुर्धर्ष त्वया योत्स्यामहे सह।
अनुजानीहि मां तात आशिषश्च प्रयोजय॥ ३२॥

—हे तात! आपके साथ युद्ध करने की आपकी अनुमति लेने के लिए हम आपकी सेवा में आए हैं। कृपया आज्ञा देकर और आशीर्वाद देकर हमें अनुगृहीत कीजिये।

भीष्म युधिष्ठिर के श्रद्धापूर्ण स्नेह-वचनों को सुनकर गद्गद हो गए और बोले—

प्रीतोऽहं पुत्र युध्यस्व जयमाप्नुहि पाण्डव!
यत्तेऽभिलषितं चान्यत्तदवाप्नुहि संयुगे॥ ३४॥

—हे पुत्र! तेरे इस व्यवहार से मैं बहुत प्रसन्न हूँ। मैं युद्ध करने की अनुमति देता हूँ और विजय का आशीर्वाद भी। युद्ध में तुम्हारी सब कामनाएँ सफल हों।

व्रियतां च वरः पार्थ किमस्मत्तोऽभिकांक्षसि।
एवं गते महाराज न तवास्ति पराजयः॥ ३५॥

—और भी जो तुम मुझसे चाहते हो, कहो। इस व्यवहार के होते हुए तुम्हारा पराभव नहीं हो सकता।

अर्थस्य पुरुषो दासो दासस्त्वर्थो न कस्यचित्।
इति सत्यं महाराज बद्धोऽस्म्यर्थेन कौरवैः॥ ३६॥

—मनुष्य आवश्यकताओं का दास है, आवश्यकताएँ किसी के आधीन नहीं होतीं, अतः तथ्य यही है कि उस अर्थ से ही कौरवों ने मुझे बाँध दिया है।

इसीलिए कुरुनन्दन! मैं तुमसे नपुंसकों की-सी बातें कर रहा हूँ। मुझे दुर्योधन ने अर्थ से पङ्गु बना दिया है। इसीलिए मैं तुमसे कहता हूँ कि युद्ध को छोड़कर तुम मुझसे जो चाहो, मैं करने को उद्यत हूँ।

युधिष्ठिर के स्नेहपूर्ण और मधुरभाषण का यह प्रभाव द्रोण, कृप और शल्य पर समानरूप से हुआ और प्रत्येक ने पाण्डवों के विजय की कामना की। इतना ही नहीं, बड़ों की अर्चना के बाद युधिष्ठिर कौरव-सेना की ओर अभिमुख होकर बोले—

अथ सैन्यस्य मध्ये तु प्राक्रोशत् पाण्डवाग्रजः।
योऽस्मान् वृणोति तमहं वरये साह्यकारणात्॥ ८९॥

—सेना के बीच में खड़े होकर युधिष्ठिर ने ऊँचे स्वर से पुकारके

कहा—जो हमें ठीक मार्ग पर समझकर हमसे मिलने का इच्छुक हो, मैं उसे गले लगाने को उद्यत हूँ।

दुर्योधन का भाई युयुत्सु युधिष्ठिर के इस व्यवहार को देखकर और मुग्ध होकर धर्मराज कुन्ती-पुत्र को बोला—

अहं योत्स्यामि भवतः संयुगे धृतराष्ट्रजान्।
युष्मदर्थं महाराज यदि मां वृणुषेऽनघ॥ ९१॥

—मैं आपकी ओर से कौरवों से लड़ने को उद्यत हूँ यदि आप मुझे अपना सकें।

युधिष्ठिर ने प्रेमपूर्वक उत्तर दिया—

वृणोमि त्वां महाबाहो युद्ध्यस्व मम कारणात्।
त्वयि पिण्डश्च तन्तुश्च धृतराष्ट्रस्य दृश्यते॥ ९३॥

'हे महाबाहो! मैं तुम्हें स्वीकार करता हूँ। तुम युद्ध में हमारी सहायता करो। धृतराष्ट्र के नामलेवा तुम ही रहोगे, यही प्रतीत होता है।'

दुर्योधन का सहोदर भाई युयुत्सु महाभारत-युद्ध के अन्त तक पाण्डवों के साथ अपने सगे भाइयों से लड़ता रहा। यह प्रभाव मधुर भाषण और न्यायपूर्ण व्यवहार का होता है। इसलिए मन्त्र में मीठी वाणी की प्रार्थना की। इन सब के अन्त में एक और माँग की—''**सुदिनत्वमह्नाम्**''—मेरा प्रत्येक दिन आह्लादमय हो! जबतक जिऊँ, सानन्द और प्रसन्न होकर जिऊँ।

❑❑

(३३)

भक्तिरस का आनन्द कौन ले सकता है?

हृत्सु पीतासो युध्यन्ते दुर्मदासो न सुरायाम्।
ऊधर्न नग्ना जरन्ते॥ —ऋ० ८।२।१२

ऋषिः—मेधातिथिः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—आर्षीगायत्री॥

अन्वयः—पीतासः हृत्सु युध्यन्ते सुरायां दुर्मदासः न नग्नाः ऊधः न जरन्ते॥

शब्दार्थ—(**पीतासः**) पीये हुए, आकर्षणपूर्वक ग्रहण किये हुए (**हृत्सु**) हृदयों में (**युध्यन्ते**) युद्ध करते हैं, हलचल पैदा कर देते हैं। (**सुरायाम्**) मद्य में (**दुर्मदासः न**) मदोन्मत्त हुओं के समान (**नग्नाः**) नग्न शिशु के सदृश निश्छल भक्तजन ही (**ऊधः न**) मातृ-स्तनों के अमृतोपम दुग्ध के समान तेरे मिलन के आनन्द को (**जरन्ते**) स्तुति द्वारा प्राप्त करते हैं।

व्याख्या—इस मन्त्र में एक अनोखी अध्यात्मरस-मिश्रित भाव-गरिमा झलक रही है। उसी ललक ने मुझे कुछ पङ्क्तियाँ लिखने को प्रेरित किया है। बहुत समय पहले एक पत्रिका में मैंने एक लेख पढ़ा था कि इस मन्त्र के आधार पर कुछ पाश्चात्य विद्वान् भारतीयों पर यह आरोप लगाते हैं कि प्राचीन आर्यावर्त्त में शराब का खुलकर प्रयोग होता था और लोग शराब के नशे में पागल होकर आपस में लड़ते थे। किन्तु मन्त्र के शब्दों पर थोड़ा ध्यान देने से ये आरोप थोथे और निःसार सिद्ध हो जाते हैं।

मन्त्र के शब्द हैं "**हृत्सु पीतासः युध्यन्ते**", शब्दार्थ हुआ 'हृदयों में पीये हुए युद्ध करते हैं।' यह हृदय और मस्तिष्क में पी हुई कोई और वस्तु है, शराब नहीं। शराबसहित सभी पेय पेट में जाते हैं, हृदय में नहीं। हृदय और मस्तिष्क में पागलपन और वासना का तूफ़ान उत्पन्न करनेवाले तो काम-क्रोधादि विषय हैं। मादक द्रव्य का नशा तो कुछ घण्टों में उतर जाता है, उतर सकता है, किन्तु इन विषयों का नशा या तो सर्वनाश होने पर उतरता है अथवा किसी सौभाग्यशाली को सद्विचारों का अमृत मिल जावे, तब उतरता है। इनके अतिरिक्त तीसरा मार्ग नहीं है।

इस तथ्य को इतिहास के माध्यम से स्पष्ट किया जा सकता है। महाभारत में दुर्योधन के चरित्र को देखिये। वह प्रारम्भ से ही पाण्डवों के उत्कर्ष को चाहे वह यश के रूप में हो, धन और समृद्धि के रूप में हो, देखकर जलता था। राजसूय यज्ञ के समय उसके दुर्भाग्य से उसे राजाओं से प्राप्त होनेवाली भेंटों को स्वीकार करने का काम मिल गया।

पाण्डवों ने तो उसे प्रसन्न रखने के लिए यह गौरवपूर्ण पद दिया था, किन्तु दुर्योधन के मन पर इसका उलटा ही प्रभाव हुआ और वह पहले की अपेक्षा और भी जलने-भुनने लग गया। प्रत्येक क्षण वह अशान्त रहता था। उसका खाना-पीना, सोना-हँसना सब समाप्त हो गया। शकुनि ने धृतराष्ट्र को जो दुर्योधन की दसा बताई है, उससे उसकी दुर्दशा स्पष्ट है। यह है काम-क्रोधादि विषयों का नशा, जो उतरने का नाम नहीं लेता, उत्तरोत्तर बढ़ता ही जाता है। पाण्डव वनवास के लिए चले गए, तब भी उसकी जलन नहीं मिटी। उन्हें वहाँ भी चिढ़ाकर दु:खी करने की योजनाएँ रात-दिन सोचने लगा। अन्ततः चाण्डाल-चौकड़ी ने मिलकर यह षड्यन्त्र रचा कि रथ, घोड़े आदि पूरे ठाठबाट के साथ वन में चलकर आखेट और आमोद-प्रमोदसहित वनविहार करे। इससे पाण्डव चिढ़ेंगे तो उसे बड़ा आनन्द आएगा।

किन्तु इनके दुर्भाग्य से हुआ यह कि वन में रहनेवाले गन्धर्वों ने इनकी वह दुर्गति की कि सारी शान धूल में मिला दी। कर्ण को भी अपमानित होकर भागना पड़ा और दुर्योधन को तो बन्दी ही बना लिया गया।

यह बात जङ्गल में कष्ट का समय काटते पाण्डवों तक पहुँची। इन भाइयों में भीम दूसरी मनोवृत्ति का था। यह समाचार जानकर वह बहुत प्रसन्न हुआ, किन्तु युधिष्ठिर पर इसकी प्रतिक्रिया आर्योचित हुई। युधिष्ठिर ने अपने भाइयों को कहा कि हमारे वन में रहने पर हमारे भाई का अपमान हमारा अपमान है। गन्धर्वों की भर्त्सना करनी चाहिए और दुर्योधन तथा महिलाओं को उनसे मुक्त कराना चाहिए। भीम इस प्रस्ताव से सर्वथा असहमत था। उसने कहा—'धर्मराज! गन्धर्वों को दुर्योधन के द्वारा हमारे साथ किये गए पापपूर्ण व्यवहार का भी तो पता है, अतः मैं तो समझता हूँ कि हमें प्रसन्न करने के लिए ही इन्होंने उनको सबक़ सिखाया है।' इस पर युधिष्ठिर ने एक बहुत उत्तम बात कही—

भवन्ति भेदा ज्ञातीनां कलहाश्च वृकोदर!
प्रसक्तानि च वैराणि कुलधर्मो न नश्यति॥

—महाभा० ३।२३२।२

—भाई-बन्धुओं में मतभेद और झगड़े होते आए हैं, किन्तु भीम! विरोध के होते हुए भी कुल की मर्यादा नहीं समाप्त हो जाती।

दुर्योधनस्य ग्रहणाद् गन्धर्वेण बलात् प्रभो!
स्त्रीणां बाह्याभिमर्षाच्च हतं भवति नः कुलम्॥

—गन्धर्वों के द्वारा दुर्योधन के पकड़े जाने से और महिलाओं को भी नियन्त्रण में लेने से हमारे कुलगौरव का विनाश हुआ है।

युधिष्ठिर के अनुरोध से वे दोनों भाई गए और अर्जुन ने गन्धर्वराज

चित्रसेन से घोर युद्ध करके दुर्योधन को छुड़ाया। निगृहीत दुर्योधन को लेकर गन्धर्व युधिष्ठिर के पास आए। युधिष्ठिर ने गन्धर्वों को धन्यवाद दिया और उन्हें विदा किया। दुर्योधन को भी छोटा भाई समझकर कहा—

मा स्म तात पुनः कार्षीरीदृशं साहसं क्वचित्।
नहि साहसकर्तारः सुखमेधन्ति भारत॥

—३।२३५।२६

—प्रिय भाई! ऐसा दुःसाहस फिर मत करना! इस प्रकार साहस करनेवाले, कभी सुखी नहीं रहते।

दुर्योधन बहुत लज्जित हुआ और उसने कर्ण से कहा कि इतना अपमान हुआ है कि किसी को मुँह दिखाने योग्य नहीं रहे। कर्ण भी तो इसी थैली का चट्टा-बट्टा था। कर्ण ने कहा—इसमें दुःखी होने की क्या बात है? पाण्डवों ने अपने कर्त्तव्य का पालन किया है—

कर्त्तव्यं हि कृतं राजन् पाण्डवैस्तव मोक्षणम्।
नित्यमेव प्रियं कार्यं राज्ञो विषयवासिभिः॥

—महा० ३।२३८।३६

'पाण्डवों का यह कर्त्तव्य था कि तुम्हें छुड़ाते, क्योंकि प्रजाजनों को राजा का सदा हित करना चाहिए।' परिणाम यह हुआ कि थोड़े दिनों के अवसाद के बाद दुर्योधन पाण्डवों के प्रति सद्भावना के स्थान पर और भी उग्र वेग से रात-दिन उन्हें सताने की बात सोचने लगा।

वेद में ऐसे विषयों के उन्माद की उपमा शराब के नशे से दी गई है। वह बहुत महत्त्वपूर्ण है। संसार के पहलवानों की कुश्ती चित होने पर समाप्त हो जाती है; चित हुआ पहलवान कुछ हीनता अनुभव करके प्रतिद्वन्द्वी के वर्चस्व को स्वीकार कर लेता है, किन्तु शराबी की कुश्ती का दृश्य ही और है। उनका फ़ैसला चित-पट पर नहीं है। उसे तो इतना विवेक ही नहीं है कि वह चित होने पर अपनी पराजय स्वीकार करे। शराबी में तो जबतक शक्ति रहेगी, वह उलझता ही चला जावेगा। थककर शिथिलता आई तो कुछ विश्राम लेकर फिर लड़ पड़ेगा। उससे छुटकारा तो उसके समाप्त होने पर ही मिलेगा, अतः इन विषयों के सम्बन्ध में अन्यत्र वेद में कहा है—"**दृषदेव प्रमृण—रक्ष इन्द्र**" (अथर्व० ८।४।२२)—'जैसे पत्थर पर किसी वस्तु को पीस डालते हैं, वैसे ही इन विकार-राक्षसों की पीसकर चटनी बना डालो!' इनके सर्वथा निःसत्त्व होने पर ही इनसे पीछा छूट सकता है। आखिर दुर्योधन के मन में भी विवेक जगा, किन्तु तब जबकि सर्वस्व स्वाहा हो गया। उसकी भी एक झाँकी कविवर भास ने 'उरु-भङ्ग' में प्रस्तुत की है—

महाभारत की अन्तिम और निर्णायक लड़ाई भीम और दुर्योधन के मध्य गदायुद्ध की थी। बलराम दोनों के ही गदा-शिक्षक थे। अपने

इन दोनों शिष्यों के गदा-सञ्चालन का कौशल देखने के लिए उपस्थित थे। योगिराज कृष्ण और चारों पाण्डव तथा कौरव-बन्धु दर्शकों में चारों ओर से घिरे हुए थे। भीम का पलड़ा बल में भारी था और गदा-चालन की दक्षता में दुर्योधन भीम से अधिक श्रेष्ठ था। दोनों की घमासान लड़ाई चल रही थी। कुछ-न-कुछ दुर्योधन ही हावी लग रहा था। कृष्ण ने इस सन्दिग्ध स्थिति को देखकर अपनी जङ्घा पर हाथ मारकर भीम को सङ्केत किया। श्रीकृष्ण का सङ्केत पाते ही भीम ने गदा-युद्ध के नियम को भङ्ग करके दुर्योधन की जङ्घा पर गदा का प्रहार कर उसकी जङ्घा तोड़ डाली और दुर्योधन पृथिवी पर गिर पड़ा। इस अन्याय को देखकर बलराम आगबबूला हो गए और गदा हाथ में लेकर कहने लगे—"मैं इस अपराध के दण्डस्वरूप भीम को जान से मारूँगा!" दुर्योधन ने कहा—"आप यह दण्ड क्यों देते हैं?" बलराम ने कहा—"भीम ने गदायुद्ध के नियम के विपरीत छल करके तुमको जीता है।" दुर्योधन ने कहा—"बस, मेरे लिए इतना प्रमाणपत्र बहुत है कि '**यद्येवं समवैषि मां छलजितं भो राम! नाहं जितः**'—'यदि आप समझते हैं कि भीम ने मुझे छल से जीता है, तो इसका अर्थ यह हुआ कि मैं पराजित नहीं हुआ।' किन्तु आप अब भीम को मारकर पाण्डवों के रङ्ग में भङ्ग मत डालिए, क्योंकि "**जीवन्तु ते कुरुकुलस्य निवापमेघाः वैरञ्च विग्रहकथा च वयञ्च नष्टाः**"—कुरुकुलरूपी अग्नि को बुझानेवाले बादलरूपी पाण्डव जीवित रहें, वैर-झगड़े की कहानी और हम—सभी-कुछ तो नष्ट हो गए हैं, अब उन्हें प्रसन्नता से रहने दें।"

ओ दुर्योधन! जो सद्बुद्धि तुम्हें इस विनाश के पश्चात् आई है, यदि इसका कुछ भी अंश पहले आया होता तो यह विनाश क्यों होता? अतः मन्त्र में कहा—"**हृत्सु पीतासः युध्यन्ते दुर्मदासो न सुरायाम्**"—ये कामादि विकार मस्तिष्क में आने पर शराबी के समान पागल बनाकर लड़ा मारते हैं। कामादि छह विकारों में कम कोई नहीं है। कामातुरों के विनाश की कहानियों से संसार का इतिहास भरा हुआ है।

महात्मा बुद्ध के जीवन को ही ले लीजिये—राजकुमार सिद्धार्थ (बुद्ध) स्वभाव से ही सात्त्विक प्रकृति के थे। किसी वृद्ध को देखा तो चिन्ता करने लगे कि एक दिन मेरी भी यही अवस्था होगी। एक शव को देखा तो मृत्यु की विभीषिका से जैसे संसार में उनके लिए कुछ आकर्षण ही नहीं रहा। ज्यों-ज्यों वयस्क होते गए, उनकी उदासीनता भी उत्तरोत्तर बढ़ती गई।

महाराज शुद्धोदन पुत्र की यह मनोदशा देखकर चिन्तित हुए और विचारने लगे कि कोई ऐसा उपाय किया जाय कि सिद्धार्थ संसार के राग-रङ्ग में कुछ रुचि लेने लगे। ऐसे युवकों को माता-पिता 'विवाह' करके संसार की ओर आकृष्ट करना चाहते हैं, किन्तु सिद्धार्थ विवाह

शब्द तक को सुनना पसन्द नहीं करता था। एक दिन महाराज ने अपनी यह चिन्ता एक वृद्ध अनुभवी मन्त्री को कही और अनुरोध किया कि कोई ऐसा उपाय सोचिये कि सिद्धार्थ विवाह करना स्वीकार कर ले। मन्त्री ने विचार करके कहा—मैं एक उपाय करता हूँ, उसके पश्चात् ही आपको कुछ विशेष बताऊँगा।

वृद्ध मन्त्री ने उस समय के राजाओं को सूचना भेजी कि अमुक तिथि को कपिलवस्तु में कुमारी कन्याओं की एक प्रतियोगिता राजकुमार सिद्धार्थ के सभापतित्व में सम्पन्न होगी। विशिष्ट योग्यता-सम्पन्न कन्याओं को पुरस्कार भी दिया जाएगा। कृपया अपनी पुत्रियों को उसमें भाग लेने भेजें।

निर्धारित तिथि को कन्याएँ अपने सेवकों और संरक्षकों के साथ आईं। समारोह प्रारम्भ हुआ। राजकुमार सिद्धार्थ पहले तो इस सभा में ही जाने को उद्यत न थे, किन्तु जब यह कहा कि यह महाराज की इच्छा है, तो शिष्टाचारवश चले गए। उन्हें बता दिया गया कि जिस कन्या को आप कला-विशेषों में निपुण समझें, उसे लाए हुए पुरस्कारों में से योग्यतानुसार देते जावें। राजकुमार की रुचि तो थी नहीं, वे केवल गले में पड़ा ढोल बजा रहे थे। जो भी लड़की सङ्गीत, भाषण, निबन्ध और चित्रादि प्रदर्शन करती, ये प्रत्येक को जो पुरस्कार हाथ में आता पकड़ा देते। पुरस्कार तो विशेष योग्यतावालों के लिए होते हैं, प्रत्येक के लिए नहीं। हुआ यह कि पुरस्कार समाप्त हो गए। उसी समय महाराज दण्डपाणि की लड़की यशोधरा की बारी आई। कन्या बहुत योग्य और निपुण थी। उसकी योग्यता और भाषण-कला ने राजकुमार को भी आकृष्ट किया। भाषण समाप्त होने पर राजकुमार ने देखा कि पुरस्कार सब समाप्त हैं। वे सोच ही रहे थे कि किया क्या जावे? इतने में राजकुमारी यशोधरा ने सिद्धार्थ की ओर अभिमुख होकर कहा कि क्या राजकुमार को मेरी योग्यता किसी पुरस्कार के योग्य प्रतीत नहीं हुई? राजकुमार ने प्रसन्नमुद्रा में कहा—'तुम्हारी योग्यता सबसे विशिष्ट है।' यह कहकर अपनी अङ्गुली में से अंगूठी निकालकर राजकुमारी की ओर बढ़ा दी। राजकुमारी ने विनीतभाव से अङ्गूठी लेकर और फिर राजकुमार को ही वापस करते हुए कहा—'राजकुमार इतने सहृदय और कला-प्रेमी हैं कि अपनी अङ्गूठी ही पुरस्कार में देने को उद्यत हो गए, तो उनके साथ यह व्यवहार कैसे किया जा सकता है कि उनके हाथ की शोभा की उपेक्षा करके अपने हाथ को सुसज्जित किया जावे? यह अङ्गूठी तो आपकी अंगुली में ही सजती है।'

प्रतियोगिता समाप्त हो गई। वृद्ध मन्त्री एक कोने में बैठा सब-कुछ देखता रहा। मन्त्री ने महाराज शुद्धोदन से कहा कि राजकुमार महाराज दण्डपाणि की पुत्री यशोधरा के साथ विवाह के लिए उद्यत

हो सकते हैं। आप इस सम्बन्ध में दण्डपाणिजी से सम्पर्क स्थापित करें। महाराज शुद्धोदन ने महाराज दण्डपाणि को यह प्रस्ताव भेजा कि बेटी यशोधरा का विवाह यदि आप सिद्धार्थ के साथ सम्पन्न करने को सहमत हो जावें तो इससे हमें बहुत प्रसन्नता होगी।

श्री दण्डपाणि ने राजकुमार के विषय में जानकारी प्राप्त करके उत्तर दिया कि मेरी पुत्री में क्षत्रियोचित गुण हैं, किन्तु आपके पुत्र की प्रवृत्ति ब्राह्मणों जैसी है; जबतक उसकी इस रुचि में परिवर्तन न हो, इन दोनों का गृहस्थ-जीवन सुखदायी नहीं होगा। महाराज ने मन्त्री के द्वारा कुमार सिद्धार्थ को यह बात कहलवाई।

मन्त्रीजी जानते थे कि यशोधरा को प्राप्त करने के लिए सिद्धार्थ को जो कहा जाएगा, करने को तैयार हो जाएगा।

मन्त्री ने सिद्धार्थ से कहा—''राजकुमार! आपके पिताजी ने आपके विवाह के लिए महाराज दण्डपाणि को प्रस्ताव भेजा था कि आप यशोधरा का विवाह सिद्धार्थ के साथ कर दें। महाराज दण्डपाणि ने उत्तर में कहा है कि मेरी पुत्री के साथ विवाह के लिए राजकुमार को क्षत्रियोचित गुण अर्जित करने चाहिएँ। तभी विवाह करना उचित है।''

सिद्धार्थ ने मन्त्री से पूछा—''वे क्या गुण हैं?'' मन्त्री ने कहा—''क्षत्रिय कुमार को अश्वारोहण, लक्ष्यवेधन, अन्य शस्त्रास्त्र-सञ्चालन, प्रजा में शान्ति-स्थापन और विद्रोह-शमनादि के उपायों में नैपुण्य प्राप्त करना चाहिए।'' सिद्धार्थ ने कहा—''ये तो कोई कठिन कार्य नहीं हैं।'' मन्त्री ने उत्तर दिया—''प्रश्न तो रुचि का है। यदि इच्छा जागृत हो जाय तो इन सभी में बहुत शीघ्र निपुणता प्राप्त की जा सकती है।'' सिद्धार्थ ने कहा—''हम इन सभी का अभ्यास करेंगे।''

फिर क्या था! घुड़सवारी शुरू हुई। शस्त्रास्त्र-सञ्चालन का अभ्यास प्रारम्भ हुआ और इन सबमें कुशलता प्राप्त करने पर यशोधरा के साथ पाणिग्रहण हुआ। यह है काम की करामात!

विवाहानन्तर फिर संसार का वास्तविक रूप प्रकट होने लगा। विषय से विरक्ति होने लगी। संसार निःसार दीखने लगा। किसी नीतिकार ने अनुभव की बात कही है—किसी विषय को भोगने के बाद जो विवेक जागता है, यदि वह पहले हो जाता तो ''**को न मुच्येत बन्धनात्!**''—तो संसार में बन्धनों से कौन न छूट जाता!

पुनः सिद्धार्थ का मन संसार से उचाट हुआ। गृहत्याग का निश्चय कर लिया। संयोग की बात, जो दिन घर छोड़ने के लिए निश्चित किया थां, उसी दिन यशोधरा ने पुत्र को जन्म दिया। अब सिद्धार्थ की एक और परीक्षा की घड़ी आ गई। मोह के संस्कार कुलबुला रहे थे कि बच्चे का मुख देखते चलना चाहिए। ये विचार रात्रि में दीपक से प्रकाशित प्रसूतिका-गृह के द्वार तक खींच ले गए। द्वार पर पहुँचकर फिर मन

में आया कि जब सब-कुछ छोड़कर ही जाना है तो बच्चे की आकृति के संस्कार मन पर क्यों अङ्कित किये जावें? इन विचारों के प्रबल होते ही न केवल प्रसूतिगृह से वापस आ गए, अपितु घर छोड़कर ही चल दिये। यह है काम-विकार के सङ्घर्ष की कहानी। इसलिए वेद-मन्त्र में कहा कि मन में आए हुए ये विषय मनुष्य को शराबी के समान पागल बनाकर बुद्धिहीन ऊलजलूल काम करवा डालते हैं।

इससे आगे मन्त्र में बहुत महत्त्वपूर्ण और अन्तिम बात कही— **''ऊधर्न नग्रा जरन्ते''**—'जिस प्रकार नग्न शिशु मातृस्तनों का दुग्धामृत पीता है, उसी प्रकार शिशु के समान विषय-विकारों से परे हो जा।' तभी तू प्रभु-मिलन के आनन्दामृत का पान कर सकेगा। एक हिन्दी कवि ने यौवन की उधेड़वुन से तङ्ग आकर लिखा है, जिसका सार यह है कि यौवन ने मन को इतना विक्षिप्त बना डाला है कि—**''छूटता न पीछा वासना की सेवकाई से।''** बालकपन को स्मरण करके लिखता है—

आहा कितने भले थे वे दिन मिला था मन,
योग सुखदायी न वियोग दुःखदायी से।
तंग आ गया हूँ इतना तरुणाई से कि,
चाहता हूँ पौथना किसी की शिशुताई से।

मैं इस यौवन से इतना तङ्ग आया हूँ कि इसके बदले में किसी का बालकपन मुझे मिल जाए तो उसे लेकर शान्ति प्राप्त करूँ। प्रभु-कृपा करके हमारे विवेकचक्षु को खोल दें, ताकि हम कामादि विषयों के विषैले प्रभाव से बचकर मानव-जीवन के साफल्य के लिए जगज्जननी के स्तनों का आनन्दामृत पी सकें।

❑❑

(३४)

यह मिट्टी का घर मेरी मञ्जिल नहीं

मो षु वरुण मृन्मयं गृहं राजन्नहं गमम्।
मृळा सुक्षत्र मृळय॥ —ऋ० ७।८९।१

ऋषिः—वसिष्ठः॥ **देवता**—वरुणः॥ **छन्दः**—आर्षीगायत्री॥

अन्वयः—(हे) राजन् वरुण अहम् मृन्मयम् गृहम् मा उ सुगमम्। (हे) मृळा, सुक्षत्र, मृळय॥

शब्दार्थ—हे **(राजन्)** हे सर्वप्रकाशक **(वरुण)** वरणीय प्रभो! **(अहम्)** मैं **(मृन्मयम्)** मिट्टी के बने हुए **(गृहम्)** घर को, शरीर को **(मा)** नहीं **(उ)** निश्चय ही **(सुगमम्)** सुखकारक, जीवन का लक्ष्य [समझूँ, मानूँ] हे **(मृळा)** सुखस्वरूप **(सुक्षत्र)** सब सङ्कटनिवारक! **(मृळय)** हमें सुख और शान्ति प्रदान कर।

व्याख्या—इस मन्त्र में प्रभु के लिए जो सम्बोधन हैं, उनका मन्त्र के आशय को समझने के लिए बहुत महत्त्व है। पहला सम्बोधन है—**राजन्**। यह शब्द दीप्त्यर्थक राजृ धातु से निष्पन्न हुआ है, अतः राजा शब्द का अर्थ हुआ दीप्तियुक्त, प्रकाशयुक्त। प्रकाशपुञ्ज तो सूर्य है, किन्तु आगे चलकर लोक में इस शब्द के अर्थ ने जो निखार पाया, उसके आधार पर ऐसा प्रकाश जिसमें कोमलता और स्निग्धता भी हो, वह राजा है। जैसा कि प्रसिद्ध है "**राजा प्रकृतिरंजनात्**"—प्रजा को सुखी और प्रसन्न रखनेवाला ही राजा कहा जाता है। प्रजा का अर्थ सन्तान भी है। जिस प्रकार बुद्धिमान् माता-पिता सन्तान के हित में सदा तत्पर रहते हैं, दण्ड देते समय भी स्निग्धता उपेक्षित नहीं होती, वही गुण योग्य राजा में भी होना चाहिए। महाकवि कालिदास ने दिलीप का वर्णन करते हुए रघुवंश में कहा है—

प्रजानां विनयाधानाद् रक्षणाद् भरणादपि।
स पिता पितरस्तासां केवलं जन्महेतवः॥

'प्रजा की सुशिक्षा, रक्षा और पालन करने के कारण राजा दिलीप ही उनका पिता था। उनके अपने पिता तो केवल उन्हें उत्पन्न करनेवाले थे।' इसलिए शासन की सफलता की दृष्टि से हिन्दी कवि रहीम ने सूर्य की अपेक्षा चन्द्रमा की प्रशंसा की है, क्योंकि चन्द्रमा के प्रकाश में जो आह्लादकता है, उसका महत्त्व अनोखा है। नीतिकारों ने भी राजनीति के लिए जो उपदेश दिया है उसमें कहा है—"**न श्रेयः सततं तेजो न नित्यं श्रेयसी क्षमा।**"—न सदा तीखापन अच्छा और न सदा मृदुता अच्छी। दोनों का ही यथावत् प्रयोग प्रजा को मर्यादित रखता है।

किन्तु प्रजा में राजा की वत्सलता की छाप रहे तो प्रजा में हर्षोल्लास रहता है। रहीम ने अपने पद्य में कहा—

रहिमन राज सराहिये, जो शशि के सम होय।
रवि को कहा सराहिबौ, उगै तरैयनु खोय॥

रहीम कहते हैं—'चन्द्र-नीति को व्यवहार में लानेवाला राज्य ही प्रशस्य होता है। चन्द्रमा जहाँ अपने प्रकाश से सारे आकाश को अन्धकार-रहित और आह्लादक बनाता है, वहाँ अपनी-अपनी परिधि में नक्षत्रों को भी चमकने का अवसर देता है। किन्तु सूर्य में यह बात नहीं है। उसके उदयाचल पर आते ही नक्षत्र तो छिप ही जाते हैं, चन्द्रमा भी यदि आकाश में हो तो सर्वथा श्रीहीन हो जाता है।' प्रभु संसार का ऐसा राजा है, जो जीव के स्वतन्त्र कर्तृत्व को अक्षुण्ण रखता है। एक सन्मित्र के समान शुभ विचार के आने पर जीव के हृदय में प्रसन्नता और उत्साह उत्पन्न करके उसके सम्पादन के लिए सत्परामर्श देता है, और यदि दुष्कर्म करने का विचार मन में उदित होला है तो प्रभु उसके हृदय में भय, शङ्का और लज्जा उत्पन्न करके उस काम से जीव को हटने का सङ्केत करता है। पापी से पापी जीव को भी सत्कर्म का फल सुख और पुण्यात्मा के दुष्कर्म का फल दुःख होता है। पापी के सत्कर्म पर जुर्माना नहीं और धर्मात्मा के अनुचित कर्म करने पर रियायत नहीं।

सार यह निकला कि 'रंजनात् राजा' का आदर्श वह प्रभु ही है, अतः इस मन्त्र में प्रभु को **राजन्** शब्द से सम्बोधित किया।

मन्त्र में दूसरा सम्बोधन है—**वरुण**। वैदिक और लौकिक साहित्य में वरुण-विषय में इतना कुछ वर्णित है उसमें से वरुण के वास्तविक स्वरूप को निकालकर समझना कठिन हो जाता है। वरुण की कहानी महाभारत से लेकर ऐतरेय ब्राह्मण तक बिखरी पड़ी है। पौराणिक साहित्य में वरुण जल का देवता है। भारत की स्वाधीनता के पश्चात् जब नौसेना का पुनर्गठन हुआ और उसके लिए युद्धपोतों का निर्माण हुआ तो उन युद्धपोतों पर आदर्श वाक्य (मोटो) के रूप में लिखने के लिए वेद-मन्त्र के "**शं वरुणः**" प्रतीक को चुना गया। इसमें भी वही भाव कारण है कि वरुण जल के देवता हैं और ये पोत सदा जल में ही रहेंगे, अतः इसमें काम करनेवालों की कुशलता, जल के देवता वरुण की कृपा पर ही निर्भर है, अतः वेद के प्रतीक द्वारा प्रार्थना की गई कि "**शं वरुणः**"—वह वरुण प्रभु हमें सुख और शान्ति दे!

वैदिक सन्ध्या में मनसापरिक्रमा के तीसरे मन्त्र में "**प्रतीची दिग् वरुणोऽधिपतिः**" आता है। इसका शब्दार्थ है कि 'पश्चिम दिशा का स्वामी वरुण है।' यहाँ भी ऐसा ही लगता है कि विभिन्न दिशाओं पर विभिन्न देवताओं का आधिपत्य है। पश्चिम दिशा में सकुशल यात्रा करने अथवा रहने के लिए वरुण की प्रसन्नता आवश्यक है। ऐतरेय ब्राह्मण

में शुनःशेप की कहानी तो बहुत ही उलझानेवाली है। वहाँ तो वरुण के पाशों का भी स्पष्ट वर्णन है। पाश्चात्य विद्वानों को इसी से भ्रम हुआ कि प्राचीन वैदिक लोग देवताविशेष को प्रसन्न करने के लिए नरबलि दिया करते थे।

किन्तु यहाँ इन सब के विशेष विश्लेषण का अवसर नहीं है। ऐतरेय ब्राह्मण की कहानी के तात्त्विक रूप को आर्य विद्वान् स्वर्गीय श्री पण्डित शिवशङ्कर शर्मा काव्यतीर्थ ने 'वैदिक इतिहासार्थनिर्णय' नामक ग्रन्थ में और गुरुकुल काङ्गड़ी के कार्यनिवृत्त आचार्य वेदगवेषक श्री पण्डित प्रियव्रत जी वेदवाचस्पति ने 'वरुण की नौका' नामक ग्रन्थ में सुतरां स्पष्ट कर दिया है। जिज्ञासु पाठक उन ग्रन्थों का मनन करके अपनी ज्ञान-पिपासा को शान्त कर सकते हैं। मनसापरिक्रमा के मन्त्र का भाव यह है कि वरुण—वरने के योग्य प्रभु—प्रतीची अथवा पश्चिम दिशा का अधिपति है। इसका अभिप्राय है, जहाँ हमारी आँखों की पहुँच नहीं है और जो हमारी बुद्धि के लिए अचिन्त्य है, सर्वव्यापक प्रभु वहाँ भी हमारी रक्षा के लिए विद्यमान हैं। दिशाओं का विभाजन सूर्योदय के कारण पूर्व दिशा को केन्द्र मानकर किया गया है। सूर्य की ओर मुख करके खड़े हों तो सामने पूर्व, पीठ-पीछे पश्चिम, दाएँ हाथ की ओर दक्षिण और वाम हस्त की ओर उत्तर दिशा हुई, अतः पश्चिम का अर्थ हुआ परोक्ष स्थान। एक आस्तिक को प्रभु को सर्वव्यापक समझकर उसकी रक्षा-शक्ति का भरोसा होना चाहिए। ठीक कहा है भाषा के कवि ने—

जाको राखे साँइया, मारि न सक्कै कोय।
बाल न बाँका हुइ सकै, जो जग वैरी होय॥

अतः भक्त सब ओर मन को घुमाकर उसकी सत्ता की प्रतीति करता है। अतः धातु के आधार पर ऋषि दयानन्द जी महाराज ने वरुण का सीधा अर्थ किया—''**वृणोति भक्तान्, व्रियते वा भक्तैः।**'' प्रभु के उपासक संसार के समस्त आकर्षणों को ठुकराकर उसका वरण करते हैं, इसी कारण प्रभु को वरुण कहते हैं।

कठोपनिषद् में आचार्य यम ने तीसरा वर माँगने पर नचिकेता को खूब परखा। उसे बहलाने के लिए कहा—'क्या व्यर्थ की वस्तु माँगते हो? हाथी, घोड़े, सोना, चाँदी, सुन्दर स्त्रियाँ, जो माँगने की चीज़ें हैं, वह माँगो।' आचार्य के उत्तर को सुनकर और कुछ गम्भीर होकर नचिकेता ने कहा—'आचार्यवर! क्या इन वस्तुओं को प्राप्त करके मैं मृत्यु से निर्भय हो जाऊँगा?' आचार्य ने उत्तर दिया—'वह तो नहीं होगा। जैसा अन्य श्रीसम्पन्न लोगों का जीवन होता है, वैसा तुम्हारा हो जाएगा।' नचिकेता ने कहा—'गुरुवर! जिसके सिर पर मौत की नङ्गी तलवार लटक रही हो, उसकी रुचि इन राग-रङ्गों में क्योंकर हो सकती है? इसलिए

आचार्यवर! '**तवैव वाहाः तव नृत्यगीते**'—ये घोड़े और नाच-गाने आपको मुबारक रहें! मुझे तो आप मृत्यु के दुःख से छूटने का उपाय बताइये!' यहाँ नचिकेता ने संसार के समस्त सुखोपभोगों को लात मारकर उसे वरण किया, इसलिए उसे वरुण कहते हैं।

इसी प्रकार प्रभु भी उपासक की आस्था और व्यवहार को देखकर भक्त को चुनता है। जैसाकि उपनिषद् में कहा—"**यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः**"—जिसका प्रभु स्वयं वरण करते हैं, यह सौभाग्य उसी को मिल सकता है।

यौवन की देहली पर खड़े मुंशीराम (स्वामी श्रद्धानन्द) जब नास्तिकता की आँधी में उड़े चले जा रहे थे, तब उनके सौभाग्य से ऋषि दयानन्द बरेली पधारे। मुन्शीराम के पिता श्री नानकचन्द शहर-कोतवाल थे और ऋषि की सभाओं की व्यवस्था का दायित्व भी इन्हीं पर था। कोतवाल नानकचन्द ने जब यतिवर दयानन्द को देखा और भाषण सुना तो उनको लगा कि मेरे पुत्र मुन्शीराम के समस्त सन्देह इस महात्मा से मिलकर निवृत्त हो जावेंगे। वे शाम को जब घर लौटे तो ऋषि दयानन्द की प्रशंसा करके पुत्र को प्रेरणा की कि मेरा विश्वास है वह महात्मा तुम्हारी सब शङ्काएँ निवृत्त कर देंगे। पिता के अनुरोध का आदर करके मुंशीराम ऋषि दयानन्द के भाषण में चले गए। ऋषि की भव्य आकृति से और युक्तियुक्त भाषण से प्रभावित भी हुए, किन्तु मन में अब भी यही धारणा थी कि यह साधु भी मेरे प्रश्नों का उत्तर न दे सकेगा।

भाषण समाप्त हुआ और मुंशीराम करबद्ध होकर प्रश्न पूछने आगे बढ़े। ऋषि का सङ्केत पाकर ज्यों ही पूछना प्रारम्भ किया कि तत्काल माक़ूल उत्तर मिला। दो-तीन बार ही प्रश्नोत्तर की आवृत्ति हुई होगी कि सब प्रश्न भूल गए। सोचने पर भी कुछ सूझता ही न था। तब हाथ जोड़कर कहा—'महाराज! अब कल पूछूँगा।' स्वामीजी ने कहा—'कल ही सही।' मुंशीराम को अपनी इस स्थिति पर बहुत आश्चर्य था कि मुझे क्या हुआ? अगले दिन पूछने के लिए पूरी तैयारी की और सभा के समय भाषण में पहुँचे। भाषण समाप्त होते ही मुंशीराम ने कुछ पूछने के लिए प्रार्थना की। ऋषि की अनुमति मिलते ही पूछना प्रारम्भ ही किया था कि फिर पहले दिन की-सी दशा हो गई। सब होश गुम हो गए और मौन होना पड़ा। अन्त में हाथ जोड़कर मुंशीराम ने कहा—'महाराज! आपके सम्मुख वाणी तो मेरी चलती नहीं, पर भगवान् के ऊपर विश्वास तो मेरा अब भी नहीं जमा।' तब ऋषि ने उत्तर में कहा—'मैंने यह कब कहा था कि मैं प्रभु में तुम्हारी आस्था उत्पन्न कर दूँगा? यह तो जब वही कृपा करेगा, तभी होगी।' स्वामी श्रद्धानन्द ने अपनी जीवनी में लिखा है—'आगे चलकर वही हुआ कि प्रभु पर मेरी अटूट

श्रद्धा हुई।' तो प्रभु को इस कारण भी वरुण करते हैं कि वह भक्त को चुनता है।

तीसरा सम्बोधन **मृळा** है।

प्रभु सुखस्वरूप हैं। संसार की वस्तुओं में जो सुख की अनुभूति होती है, वह भी उस प्रभु की व्यापकता के कारण ही होती है। किन्तु मनुष्य की आत्मा इस प्रकार के आनन्द के लिए व्याकुल रहती है जिसका क्रम नित्य नया हो और अविच्छिन्न रहे। यह योग्यता संसार के किसी पदार्थ में नहीं है। भूखे को भोजन, प्यासे को पानी बहुत आनन्ददायक प्रतीत होता है, किन्तु कब तक? जबतक कि शरीर को उसकी आवश्यकता है। बिना आवश्यकता और इच्छा के वही दुःखप्रद प्रतीत होने लगता है। साथ ही, जो वस्तु पहले-पहल मिलती है, बड़ी आकर्षक और सुखकर लगती है। किसी झोंपड़ी में रहनेवाले को सब सुविधा-सामग्री से युक्त मकान दे दें तो उसे वह बहुत अच्छा लगता है, किन्तु वही मकान कुछ समय के पश्चात् उसके लिए महत्त्वहीन हो जाता है, क्योंकि उस प्रकार के मकान में रहना अब उसका जीवन-स्तर हो गया, उसमें उसके लिए कोई नवीनता नहीं रही। यह योग्यता संसार की किसी वस्तु में नहीं है, जो नित्य नयी होती जाय और उसका आकर्षण कम न हो। नशे की भी यही बात है। सेवन करनेवाला उस मादकता के प्रलोभन में मादक वस्तु की मात्रा बढ़ाता-बढ़ाता अन्ततः अपना सर्वनाश ही कर लेता है, अतः आत्मा के अभिलषणीय आनन्द का केन्द्र तो वही सुखस्वरूप प्रभु है। इसीलिए मन्त्र में उसे सुखस्वरूप कहा गया।

मन्त्र में चौथा सम्बोधन **सुक्षत्र**—कष्टनिवारक है। यदि कोई कर्मफल ही भोगना हो तो बात दूसरी है, अन्यथा घोर सङ्कट में से भी मनुष्य ऐसे सुरक्षित बच निकलता है जिसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। लोक में इस प्रकार की घटनाएँ प्रायः होती रहती हैं। कुछ वर्ष हुए, झरिया (बिहार) की कोयले की खानों में वर्षा का पानी भर गया और पचासों मज़दूर अन्दर ही रह गए। दुर्घटना के बाद पानी के पम्प लगाकर खानों का पानी निकालना प्रारम्भ किया और खाली होते-होते आठ-दस दिन लग गए। इतने दिन के बाद भी तीन मज़दूर बेहोशी की अवस्था में जीवित निकल आए। अब आप सोचते रहिये कि यह कैसे सम्भव हुआ? पर हुआ—यही उसकी लीला है! शिमला से सोलन आती हुई एक बस मोड़ पर सन्तुलन बिगड़ने से पहाड़ पर से कलाबाज़ी खाती हुई एक बहुत गहरी खड्ड में जा गिरी और सभी यात्री समाप्त हो गए, किन्तु एक माता की गोद से एक छोटा-सा बालक बस के लुढ़कते ही खिड़की से उछलकर कुछ दूर एक मूँज के झुण्ड पर इस प्रकार जा टिका जैसे किसी ने उठाकर लिटाया हो।

सम्भवतः सन् ७५ की बात है। दिल्ली के पालम हवाई अड्डा पहुँचने

से पहले वसन्तविहार के पास एक विमान-दुर्घटना हुई। उसमें केन्द्रीय मन्त्री कुमारमङ्गलम् की मृत्यु हो गई, किन्तु उसके पास की सीट पर ही गोला गोकर्णनाथ के बालगोविन्द वर्मा (केन्द्रीय स्टेट मिनिस्टर) सर्वथा सुरक्षित बच गए। उन्होंने बताया कि विमान जब गिरने लगा तो वे अचेत हो गए और दुर्घटना के लगभग एक घण्टे बाद जब उनकी आँख खुली तो वे अपनी विमान की सीट पर इस प्रकार बैठे हुए थे, जैसे विमान में से सीट उठाकर बाहर रख दी हो। इसलिए मन्त्र में प्रभु को **सुक्षत्र**, अर्थात् कष्ट से भली प्रकार त्राण=रक्षा करनेवाला बताया।

प्रभु को पुकारने के बाद भक्त अब अपनी कथा कहता है—हे प्रभो! "**अहं मृन्मयम् गृहं मा उ सुगमम्**—मैं तेरी व्यवस्था के अनुसार इस मिट्टी के घर में हूँ।"

यहाँ शरीर को मिट्टी का घर कहा है। वेद में इस शरीर का वर्णन विभिन्न स्थानों पर भिन्न-भिन्न प्रकार से किया गया है। कहीं इसे "**दैवीं नावं स्वरित्राम्**" दिव्य नौका कहा गया है, कहीं इसे "**अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पूः**" आठ चक्र और नौ द्वारोंवाली देवताओं की पुरी कहा गया है, कहीं इसे "**अश्वत्थे वो निषदनं पर्णे वो वसतिष्कृता**" पेड़ के पत्ते के समान क्षणभङ्गुर कहा गया है। ये सब भिन्न-भिन्न प्रकार के वर्णन क्यों? क्या इस प्रकार से एक ही वस्तु को अच्छी और बुरी, दृढ़ और क्षणभङ्गुर बताना परस्पर-विरोध नहीं है?

वस्तुतः यह बात नहीं है। ये सभी वर्णन सार्थक हैं। न इनमें अतिरञ्जना है, न अयथार्थता। जिस लक्ष्य को लेकर ये वर्णन हैं, वह बहुत वैज्ञानिक और महत्त्वपूर्ण है। संसार में भिन्न-भिन्न मनोवृत्ति के मनुष्य होते हैं। कोई स्वभाव से बहुत दुरभिमानी और उद्धत होते हैं। ऐसों के लिए संसार और शरीर को क्षणभङ्गुर बताना उसे मार्ग पर लाने के लिए उचित ही है। जो हीनभावना के मारे निराश और हताश हैं, उन्हें उत्साहित करने के लिए शरीर को देवनगरी ही कहना ठीक है। संसार को तरने के लिए दिव्य नाव बताना भी हताश रोगियों के लिए सञ्जीवनी का काम करने जैसा होगा। अतः विभिन्न मनोवृत्ति के मनुष्यों के लिए ये सभी वर्णन उचित और साभिप्राय हैं।

प्रस्तुत मन्त्र में 'मानव-शरीर को मिट्टी का घर' बताया है। इसका यह अभिप्राय नहीं है कि हम इसे तुच्छ समझकर इसकी उपेक्षा करें और इसका ठीक ढङ्ग से रखरखाव न करें। शास्त्रकारों ने शरीर को स्वस्थ और स्वच्छ रखने के लिए पर्याप्त निर्देश दिये हैं। है तो यह मिट्टी का घर, किन्तु एक कुशल गृहपति मिट्टी के घर को भी इतना साफ़-सुथरा और व्यवस्थित रखता है कि निवासी को वह सुविधा शानदार कोठियों में भी उपलब्ध नहीं होती जो इस मिट्टी के घरौंदे में है। फिर यह मिट्टी का घर साधारण घर नहीं है। इसमें रचयिता ने वह कौशल

दिखाया है कि इसका एक-एक पुर्ज़ा अमूल्य है। यदि एक पुर्ज़ा नष्ट हो जाय तो संसार का कोई कारीगर वैसा पुर्ज़ा नहीं बना सकता। नाक कटने पर आजकल कृत्रिम नाक लग जाती है, जो रङ्गरूप में असली नाक जैसी लगती है, किन्तु अस्ली नाक के अग्रभाग में जो गन्धग्रहण करने की क्षमता है, वह इसमें नहीं है, न हो सकती है। आँख के स्थान पर पत्थर की कृत्रिम आँख भी लगती है। वह भी देखने-भालने में तो आँख-जैसी ही लगती है, किन्तु देखने की ज्योति न आजतक उसमें कोई डाल सका है, न डाली जा सकती है। डॉक्टर लोग प्रभुनिर्मित आँख में आए हुए मोतियाबिन्द आदि दोषों को दूर करने की योग्यता ही उपार्जित कर सके हैं, इससे अधिक नहीं। यही मिट्टी की गाड़ी, इसका विवेक से प्रयोग किया जाय तो मानव-जीवन के चरमलक्ष्य—मोक्ष तक पहुँचा देती है।

मन्त्र कह रहा है—वस्तु के स्वरूप को समझकर इसका ठीक-ठीक मूल्याङ्कन करो। संसार की वस्तुओं के उपयोग में वह दृष्टि होनी चाहिए जो आभूषण खरीदते समय सुनार की होती है। आप स्वर्णकार के पास मीनाकारी से सुसज्जित गुलूबन्द बेचने जाइये और स्वर्णकार से उस गुलूबन्द के मीना और कारीगरी की प्रशंसा करके अधिक मूल्य देने के लिए कहिये। आपकी बात सुनकर स्वर्णकार आपकी बात का उपहास करता हुआ कहेगा—'इस गुलूबन्द में मेरे काम का तो केवल सोना है। मैं उसी का मूल्य दूँगा। मीना और कारीगरी चाहे जितनी आकर्षक हों, मेरे काम की नहीं।'

ठीक यही दृष्टिकोण एक विवेकी का शरीर के प्रति भी होना चाहिए। किन्तु लौकिक कवियों ने, चाहे वे किसी भी भाषा के रहे हों, शरीर के मोहक वर्णनों से लोगों को बहुत पथभ्रष्ट किया है। कवि लोग बालों को रेशम का लच्छा, यौवनकाल के काले बालों को काले साँप, दाँतों को मोती, मुख, हाथ और पैरों को कमल, और भी शरीरावयवों को कितना बढ़ा-चढ़ाके वर्णन करते हैं! युवा तो शरीर की सँभाल में ही लगा रहता है। किसी उर्दू शायर ने अन्योक्ति द्वारा अच्छा विश्लेषण किया है—

बुलबुल! मैं जानता हूँ, है जो तेरी हक़ीक़त[1]।
इक मुश्ते-उस्तुख़्वाँ[2] पे, दो पर[3] लगे हुए हैं॥

शायर कहता है—बुलबुल! शायरों ने तुझे चाहे कुछ बताया हो, किन्तु मैं तेरी वास्तविकता जानता हूँ। एक मुट्ठीभर हड्डियों के ऊपर दो पङ्ख लगे हैं। बस यह है बुलबुल का स्वरूप।

वेद कहता है और शास्त्र उसका स्पष्टीकरण करते हैं कि जिन

१. यथार्थता, अस्लियत; २. मुट्ठीभर हड्डियों; ३. पङ्ख।

कारणों से यह शरीर बना है, वे सब तुच्छ हैं, किन्तु उन्हें महत्त्वपूर्ण बनाने में परम कौशल निर्माता का है। इसके साथ ही इसमें निवास करनेवाले जीव की योग्यता की भी कसौटी यह है कि इस बन्धन में से मोक्ष का स्वातन्त्र्य उपलब्ध करे।

योगदर्शन में पतञ्जलि ऋषि योग के दूसरे अङ्ग नियमों में से पहले "**शौच**" का वर्णन करते हुए लिखते हैं—"**शौचात् स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः**"—जब साधक के मन में पवित्रता की भावना बद्धमूल होती है तो उसे अपने अङ्गों से भी ग्लानि होने लगती है; नाक, कान, मुख आदि सभी तो गन्दगी से भरे हैं। रात-दिन सफ़ाई करते हैं, फिर भी गन्दे-के-गन्दे! तो जो व्यक्ति अपने शरीरावयवों के सम्बन्ध में यह विचार रखता है, वह दूसरे के शारीरिक सौन्दर्य पर मुग्ध नहीं हो सकता। इसलिए "**परैरसंसर्गः**" ऐसे साधक का दूसरों से संसर्ग छूट जाता है। इस सूत्र पर भाष्य करते हुए व्यास ऋषि ने एक पद्य लिखकर शरीर की वास्तविकता का चित्र-सा खींच दिया है—

स्थानाद्बीजादुपष्टम्भात्स्यन्दनान्निधनादपि।
कायमाधेय शौचत्वात् पण्डिता ह्यशुचिं विदुः॥

बुद्धिमान् मनुष्य पाँच कारणों से शरीर को अपवित्र मानते हैं—

(१) **स्थानात्**—जिस स्थान में, अर्थात् माता के गर्भाशय में यह शरीर बना, वही अपवित्र था। अपवित्र स्थान में बना शरीर कैसे पवित्र हो सकता है?

(२) **बीजात्**—जिन कारणों से, पिता के शुक्र और माता के शोणित से इसका निर्माण हुआ है—जब वे ही अशुद्ध थे तो यह कैसे शुद्ध हो सकता है?

(३) **उपष्टम्भात्**—धारक तत्त्व मांस-मज्जा-अस्थि-मलादि जो इस शरीर को सहारा देते हैं, वे सभी गन्दे हैं। सबसे गन्दा मल है और शरीर का आधार वही है—"**मलायत्तं बलं पुंसाम्।**"

(४) **स्यन्दनात्**—जो चीज़ें अनेक द्वारों और छिद्रों से मूत्र, पुरीष, स्वेदादि बाहर निकलती हैं, वे सभी मलिन हैं, तो इनसे परिपूर्ण शरीर कैसे शुद्ध हो जाएगा?

(५) **निधनात्**—मृत्यु होने पर इस शरीर का गन्दा रूप स्पष्ट हो जाता है। जीवित अवस्था में आत्मा के प्रभाव से गन्दे परमाणु दबे रहते हैं, अतः पाँचवाँ हेतु शरीर की वास्तविकता को बताने के लिए दिया—**निधनात्** अर्थात् मृत्यु से। इसलिए वेद में कहा—"**अहं मृण्मयं गृहं मा उ सुगमम्**"—मैं इस मिट्टी के मकान को ही सुख का कारण और मञ्जिल न समझूँ, अपितु इसके द्वारा साधना करके "**मृडा सुक्षत्र**" हे सुखस्वरूप! सङ्कटनिवारक! आप तक पहुँचकर मोक्ष का आनन्द ले सकूँ। ❑❑

(३५)

यथायोग्य व्यवहार

म॒हो म॒हानि॑ पनयन्त्य॒स्येन्द्र॑स्य॒ कर्म॒ सुकृ॑ता पु॒रूणि॑।
वृ॒जने॑न वृ॒जि॒नान्त्सं पि॑पेष मा॒याभि॒र्दस्यूँ॑र॒भिभू॑त्योजाः॥

—ऋ० ३।३४।६

देवता—इन्द्रः॥ ऋषिः—विश्वामित्रः॥ छन्दः—भुरिक्पङ्क्तिः॥

अन्वयः—अभिभूत्योजाः वृजनेन मायाभिः वृजिनान् दस्यून् संपिपेष। अस्य महः इन्द्रस्य पुरूणि महानि सुकृता कर्म पनयन्ति॥

शब्दार्थ—(**अभिभूत्योजाः**) शत्रुओं को पराजित करनेवाले बल से युक्त राजपुरुष (**वृजनेन**) बल से (**मायाभिः**) चातुर्यपूर्ण बुद्धियों से, कपटपूर्ण युक्तियों से (**वृजिनान्**) पापी (**दस्यून्**) साहसी दुष्कर्मियों को (**संपिपेष**) पीस डालें, नष्ट कर दें। (**अस्य**) इस (**महः**) श्रेष्ठ (**इन्द्रस्य**) सम्पूर्ण ऐश्वर्ययुक्त पुरुष के (**पुरूणि**) बहुत (**महानि**) बड़े (**सुकृता**) किये गए पुनीत कार्यों के योग से (**कर्म**) कार्यों की (**पनयन्ति**) प्रशंसा करते हैं, अर्थात् पापियों को समूल नष्ट करके अपने आचरण पवित्र और धर्मयुक्त ही रखने से इनके आदर्श कर्म प्रशंसित होते हैं।

व्याख्या—इस मन्त्र में दो महत्त्वपूर्ण तथ्य उद्घाटित हुए हैं—(१) संसार में स्वभावतः कुछ मनुष्य काम-क्रोधादि प्रवृत्ति के होते हैं और अपनी निकृष्ट कामनाओं की पूर्त्ति के लिए छल-कपट और दुःसाहसपूर्ण पग उठाने में भी नहीं हिचकते। सत्परामर्श का उनके ऊपर कोई प्रभाव नहीं होता। भलमनसाहत से उनके प्रति किये गए सद्व्यवहार को वे परोपकारी की दुर्बलता समझते हैं। (२) ऐसे दुष्टों से अपने को और समाज को सुरक्षित रखने के लिए तथा सदाचार का मार्ग प्रशस्त करने के लिए, भले व्यक्तियों को भी कठोर होकर बल-प्रयोग से ऐसे दुष्टों को संपिपेष, पीस डालना चाहिए, निर्दयतापूर्वक उनका नाश कर देना चाहिये तथा उनके संहार के लिए छल-कपट और कौटिल्य भी करना पड़े तो अवश्य करना चाहिये। तभी इन दुष्टों से अपनी और संसार की रक्षा की जा सकती है।

महाराज भर्तृहरि ने मनुष्य-समाज को चार कोटियों में बाँटा है—

तद्यथा—

एके सत्पुरुषाः परार्थघटकाः स्वार्थान्परित्यज्य ये,
सामान्यास्तु परार्थमुद्यमभृतः स्वार्थाविरोधेन ये।
तेऽमी मानुषराक्षसाः परहितं स्वार्थाय निघ्नन्ति ये,
ये निघ्नन्ति निरर्थकं परहितं ते के न जानीमहे॥

१—एक प्रकार के वे उत्तम लोग हैं, जो अपने स्वार्थ का त्याग करके दूसरों का हित करते हैं।

२—दूसरे सामान्य लोग हैं जिनके स्वार्थ को हानि न पहुँचती हो तो यथाशक्ति परोपकार भी करते हैं।

३—तीसरे राक्षस-कोटि के लोग हैं, जो अपने स्वार्थ के लिए दूसरों के हित का नाश कर देते हैं।

४—चौथी कोटि के वे लोग हैं, जो निष्प्रयोजन ही परहित का विघात करते हैं। भर्तृहरि जी कहते हैं—उन्हें किस कोटि में रक्खूँ यह समझ नहीं आता।

उक्त भेद न्यूनाधिक सदा रहे हैं और सदा रहेंगे। तीसरी और चौथी कोटि के मनुष्य निकृष्ट वृत्ति के होते हैं, जिनसे समाज सदा भयाक्रान्त रहता है। उन पर किसी त्याग, दया, दाक्षिण्य और उदारता का कोई प्रभाव नहीं होता। ऐसे व्यक्तियों से निपटने के लिए वेद के व्याख्येय मन्त्र में एकमात्र उपाय बतलाया है—"**वृजनेन वृजिनान् सम्पिपेष मायाभिर्दस्यून्**" अर्थात्—'दस्यु और पाप-मार्गियों को बल से पीस डालो।' उनका पराभव सच्चे और सरल मार्ग से सम्भव न हो तो माया और कौटिल्य के द्वारा उनका विनाश करो।

संसार का सम्पूर्ण इतिहास इस तथ्य का साक्षी है। महर्षि विश्वामित्र ने एक यज्ञ का अनुष्ठान किया, किन्तु राक्षसों के उत्पात के कारण यज्ञ को बीच में ही स्थगित कर महाराज दशरथ के दोनों राजकुमारों को माँग लाए, उन्हें धनुर्विद्या सिखाई और जब यह निश्चय हो गया कि राक्षसों के प्रतिकार का उचित उपाय हो गया है तब, पुनः यज्ञ का अनुष्ठान किया। ऋषि ने यह लम्बा मार्ग इसलिए अपनाया कि वे जान गए थे कि निकृष्ट कोटि के व्यक्ति शक्ति की भाषा को ही समझते है! उनका यज्ञ सफल हुआ। यदि कहीं इसके विपरीत सौम्य उपाय का प्रयोग किया गया, तो वे आततायियों के द्वारा लज्जित किये गए और सताए गए। महाभारत का इतिहास इसका साक्षी है। जयद्रथ को द्रौपदी का अपमान करने पर मारने को तुले हुए भीम को महाराज युधिष्ठिर ने अपनी तयेरी बहन दुःशला और ताई गान्धारी का वास्ता देकर छुड़ा दिया—

न हन्तव्यो महाबाहो दुरात्माऽपि सैन्धवः।
दुःशलामभिसंस्मृत्य गान्धारीञ्च यशस्विनीम्॥

'हे भीम! सैन्धव जयद्रथ है तो दुष्ट, पर बहन दुःशला के सौभाग्य और ताई गान्धारी के दुःख का विचार करके इसे मारो मत!' द्रौपदी ने युधिष्ठिर के इस शान्ति-प्रस्ताव का उसी समय विरोध करते हुए कहा—

भार्याभिहर्त्ता वैरी यो यश्च राज्यहरो रिपुः।
याचमानोऽपि संग्रामे न मोक्तव्यः कदाचन॥

—महाभा० वनपर्व, अध्याय ८५

'राजन्! दो प्रकार के शत्रु क्षमा करने योग्य नहीं होते—एक वे जो भार्या का अपहरण करते तथा जिनकी दृष्टि स्त्रियों पर रहती है, और दूसरे वे जो राज्य का अपहरण करना चाहते हैं। ये दो प्रकार के शत्रु बार-बार प्राणदान माँगें तब भी इन्हें छोड़ना नहीं चाहिए।' किन्तु युधिष्ठिर ने द्रौपदी के इस परामर्श पर ध्यान नहीं दिया और जयद्रथ को छुड़वा दिया। परिणाम यह निकला कि चक्रव्यूह की लड़ाई के समय यह जयद्रथ ही अभिमन्यु की मृत्यु का कारण बना, अतः यह निष्कर्ष निकला कि निकृष्ट व्यक्तियों पर उत्तम व्यवहार का कोई प्रभाव नहीं होता। वे सज्जनों के सद्व्यवहार को उनकी दुर्बलता समझते हैं और उनका विनाश करते हैं। प्रायः सभी नीतिशास्त्रकार इस बात पर एकमत हैं—

यस्मिन् यथा वर्तते यो मनुष्यस्तस्मिंस्तथा वर्तितव्यं स धर्मः।
मायाचारो मायया वर्तितव्यः साध्वाचारः साधुना प्रत्युपेयः॥

—महाभारत ५।३७।७

'जैसे के साथ तैसा बरतना चाहिए, यही धर्म है। छली-कपटियों से उसी प्रकार का व्यवहार करके उन्हें नियन्त्रित रखना चाहिए और सरलता से व्यवहार करनेवालों के साथ सरलता से चलना चाहिए।' यही बात पुनः कही गई है—

यथा वध्ये वध्यमाने भवेद्दोषो जनार्दन!
स वध्यस्यावधे दृष्ट इति धर्मविदो विदुः॥

'जो पाप, न मारने योग्य को मारने में होता है, वही मारने योग्य को न मारने में भी होता है। ऐसा धर्मतत्त्ववित् कहते हैं।'

व्रजन्ति ते मूढधियः पराभवं, भवन्ति मायाविषु येन मायिनः।
प्रविश्य हि घ्नन्ति शठास्तथाविधान्नसंवृतांगन्निशिता इवेषवः॥

—भारविः

'जो मायावियों के साथ सरलता से चलते हैं, वे मूर्ख असफल होते हैं। उनको मायावियों की कुटिल चालें उसी प्रकार नष्ट कर देती हैं, जैसे बिना कवचवाले के शरीर को प्रविष्ट हुए तीखे बाण नष्ट कर देते हैं।' आचार्य चाणक्य भी यही मत रखते हैं—

नात्यन्तं सरलैर्भाव्यं गत्वा पश्य वनस्थलीम्।
छिद्यन्ते सरलास्तत्र वक्रास्तिष्ठन्ति पादपाः॥

'बहुत सीधा भी नहीं बनना चाहिए। जङ्गल में जाके देखो, वहाँ सीधे वृक्ष ही काम के समझके काटे जाते हैं और टेढ़े आनन्द से खड़े रहते हैं।' इसीलिए इस मन्त्र में कहा गया—''**वृजनेन वृजिनान्त्संपिपेष**'' पापी मायावियों को बलपूर्वक नष्ट कर दो!

महाभारत में 'मूषक मार्जार' कथा के माध्यम से उत्कृष्ट नीति के

स्वरूप का दिग्दर्शन कराया गया है। युधिष्ठिर के पूछने पर भीम ने कहा—

अत्राप्युदाहरन्तीमितिहासं पुरातनम्।
मार्जारस्य च संवादं न्यग्रोधे मूषकस्य च॥ १८॥[1]

वटवृक्ष पर रहनेवाले चूहे और बिलाव की एक पुरानी कहानी कही जाती है। किसी बहुत बड़े वन में एक विशाल वटवृक्ष था जो अनेक प्रकार की बेलों से ढका हुआ था और जिस पर भिन्न-भिन्न प्रकार के पक्षी निवास करते थे॥ १८॥ उस वटवृक्ष की जड़ में सौ छेदों का बिल बनाकर एक अत्यन्त बुद्धिमान् 'पलित' नाम का चूहा रहता था। उसी वृक्ष की शाखों पर पक्षियों को सतानेवाला 'लोमश' नाम का बिलाव भी सानन्द रहता था॥ २२॥ सूर्य के छिपने पर एक चाण्डाल आकर नित्य ही जीवों को फँसाने का यत्न किया करता था॥ २३॥ वह चाण्डाल ताँतों के जाल को ठीक प्रकार से लगाकर अपने घर जाकर सो जाया करता था और प्रात: होते ही जाल को देखने आ जाता था॥ २४॥ उस जाल में नित्य ही रात को अनेक प्रकार के मृग फँसते थे। एक रात को बहुत चौकन्ना वह बिलाव भी जाल में फँस गया॥ २५॥ उस प्रतिदिन के आततायी शत्रु को जाल में फँसा जानकर बहुत बुद्धिमान् पलित निर्भय होकर स्वच्छन्द घूमने लगा॥ २६॥ उस वन में निश्चिन्त होकर भोजन की खोज में घूमते हुए उसने बड़े दिनों के बाद मांस देखा॥ २७॥ पलित जाल में फँसे अपने शत्रु की खिल्ली-सी उड़ाता हुआ मांस पर चढ़कर खाने लग गया। मांस खाने में तत्पर एक बार उसकी दृष्टि उठी और उसने देखा कि उसका एक भयङ्कर शत्रु हरिक नाम का नेवला एक बिल में से उसकी ओर झाँक रहा है॥ २७॥ उस चूहे की गन्ध से खाने के लिए जीभ लपलपाता वह दो पैरों को ऊपर उठाकर ठहरा हुआ है। इसके अतिरिक्त पलित ने देखा कि उसका एक और शत्रु तीखी चोंचवाला और रात को शिकार के लिए घूमनेवाला 'चन्द्रक' नाम का उल्लू भी उसकी ओर गात लगाए एक वृक्ष की शाख पर बैठा है। उल्लू और नेवला के बीच में फँसे हुए उसको प्राण-रक्षा की बहुत बड़ी चिन्ता उत्पन्न हो गई। उस घोर सङ्कट के समय, जबकि मृत्यु सम्मुख दिखाई दे रही थी, वह गम्भीरता से रक्षा का उपाय सोचने लगा। उसने विचारा कि अब जो भूमि पर चलूँ तो नेवला मार खाएगा और यहीं रहूँ तो उल्लू झपटेगा और जाल से छूट जाऊँ तो बिलाव मार खावेगा। नीतिशास्त्र में निपुण, विचारशील, बुद्धिमान् व्यक्ति इस प्रकार सङ्कट उत्पन्न होने पर किंकर्त्तव्यविमूढ़ होकर निराश नहीं होते। मुझे तो इस समय इस बिलाव की शरण लेने के अतिरिक्त इस सङ्कट से छूटने का और कोई

---

१. महा० शान्ति पर्व, अ० १३६-१-१८।

उपाय नहीं दिखता। यह भी इस समय बड़ी विपत्ति में है और मैं इसका बहुत बड़ा काम कर सकता हूँ। इस समय तीनों शत्रुओं से अपनी रक्षा करने के लिए मैं बिलाव की ही शरण लेता हूँ। मैं क्षत्रियनीति का सहारा लेकर पहले इसका हित करता हूँ। मेरा विचार है कि सङ्कट में फँसा हुआ यह भी मेरे सन्धि-प्रस्ताव का स्वागत करेगा। नीतिशास्त्र के आचार्यों का मत है कि बलवान् शत्रु से सङ्कट उपस्थित होने पर अपने विरोधी का भी आश्रय ले लेना चाहिए। इसके पश्चात् अर्थगति के रहस्य को जाननेवाले और कौन-से समय सन्धि और युद्ध उपयुक्त होता है, इसके भी वेत्ता पलित ने बिलाव के समक्ष इस प्रकार सन्धि-प्रस्ताव रखा—हे बिलाव! मैं यह बात प्रेम के कारण ही कह रहा हूँ। ईश्वर की कृपा है कि तुम जीवित हो। मैं तेरा जीवन ही चाहता हूँ, क्योंकि इसी में हम दोनों का कल्याण है। हे मित्र! तुम दुःखी मत हो, तुम पहले के समान सानन्द जीवित रहोगे। मैं तुम्हारे लिए अपने प्राणों की बाज़ी लगाकर भी तुम्हारी विपत्ति का निवारण करूँगा। मेरे विचार में एक उपाय आ रहा है, जिसके अनुष्ठान से तुम्हारा छुटकारा हो सकता है। ये मेरे दोनों ओर दुर्मति नेवला और उल्लू घात लगाए बैठे हैं। ये दोनों ही तुम्हारा कुछ नहीं बिगाड़ सकते। इस कारण इस समय मेरी रक्षा हो सकती है। यह चञ्चल आँखोंवाला उल्लू हुंकारता हुआ वृक्ष की शाखा पर बैठा मुझे बार-बार देख रहा है, इससे मैं बहुत भयभीत हूँ। सज्जनों की मित्रता सात पग साथ-साथ चलने पर हो ही जाती है, फिर तुम तो मेरे पड़ोसी हो। मैं तुम्हारे साथ वही करूँगा जो पड़ोसी के लिए उचित है। तुम मृत्यु से निर्भय हो जाओ। हे बिलाव! तुम मेरी सहायता के बिना अपने जाल को नहीं काट सकते। यदि तुम मुझे अभयदान दो तो मैं तुम्हारे बन्धनों को काट डालूँगा। जो किसी पर आश्वस्त नहीं होता और जो स्वयं भी किसी का भरोसा नहीं करता, विवेकी जन संसार में उन दोनों की ही प्रशंसा नहीं करते, क्योंकि वे दोनों सदा ही परेशान रहते हैं। इसलिए परस्पर हमारा प्रेम बढ़े, हम दोनों का सच्चा मिलन हो। अवसर को खोकर काम बिगाड़नेवालों की बुद्धिमान् प्रशंसा नहीं करते। तुम मेरी इस तत्त्व की बात को सुनो, मैं तुम्हें जीवित रखना चाहता हूँ और तुम भी मुझे सुरक्षित रखना चाहते हो। कोई लकड़ी के सहारे पर गहरी और चौड़ी नदी को पार करता है। इसमें वह लकड़ी को पार करता है और लकड़ी उसे पार करती है। हम दोनों का कल्याण करनेवाला इसी प्रकार का सुयोग होगा। मैं तुम्हें पार लगाऊँगा और तुम मुझे।' इस प्रकार पलित दोनों के हित की युक्तियुक्त बात कहकर समयानुसार उसके उत्तर की प्रतीक्षा करने लगा।

इसके पश्चात् नुकीले दाँतोंवाला वैदूर्यमणि के समान चमकीली आँखों से चूहे को धीरे से देखकर लोमश बोला—'हे सौम्य! मैं तुम्हारे

प्रस्ताव की प्रशंसा करता हूँ कि तुम मुझे जीवित रखना चाहते हो। तुम इसमें कल्याण देखते हो तो इसे शीघ्र कर डालो। सोचने में समय नष्ट मत करो! मैं बहुत सङ्कट में हूँ और तुम मुझसे भी अधिक विपत्ति से घिरे हो तो सङ्कटग्रस्त हम दोनों की सन्धि हो जानी चाहिए, इसमें अधिक मत सोचो! जो समयानुसार इस समय कर्त्तव्य है उसे शीघ्र कर डालो! ईश्वर हम दोनों को सफल करें। मेरे सङ्कट से छूटने पर तुम्हारा किया कार्य व्यर्थ नहीं जाएगा। मैं नतमस्तक हूँ, तुम्हारा भक्त और शिष्य हूँ तथा तुम्हारा हित करनेवाला आज्ञाकारी हूँ और तुम्हारी शरण में आया हूँ।' पलित ने बिलाव की यह बात सुनकर और उसे अपने वश में आया समझके ये सार्थक वचन कहे—'मैं नेवले से बहुत भयभीत हूँ, मैं तेरी गोद में प्रवेश करता हूँ। मेरी रक्षा करो! मुझे मारना मत! मैं तुम्हें बन्धनमुक्त करने में पूरा समर्थ हूँ। मेरी उल्लू से भी रक्षा कर! यह नीच भी मुझे खा जाना चाहता है। मैं तेरे बन्धनों को काट दूँगा, यह विश्वास दिलाता हूँ। तुम शीघ्र आओ, तुम्हारा कल्याण हो। तुम मेरे प्राणों के समान प्रिय मित्र हो। हे बुद्धिमन्! तुम्हारी कृपा से मैं जीवन पा सकूँगा। इस अवस्था में जो भी मैं तुम्हारा हित कर सकता हूँ, करूँगा। तुम आज्ञा दो। हे मित्र! हम दोनों की सन्धि पक्की रही।' पलित चूहा अपने इस मन्तव्य को बिलाव से स्वीकार कराके आश्वस्त हो गया। विद्वान् मूषक निश्चिन्त होकर बिलाव की छाती से चिपटकर ऐसे सो गया जैसे बालक माँ-बाप से। इसके बाद चूहे को बिलाव के शरीर के साथ चिपटा देखकर नेवला और उल्लू निराश होकर अपने-अपने स्थानों को चले गए। देशकाल को समझनेवाले पलित ने बिलाव के शरीर के साथ चिपटे हुए ही धीरे-धीरे उसके बन्धन काटने प्रारम्भ कर दिये, किन्तु बन्धन से घबराते हुए बिलाव ने पलित को धीमे काटता हुआ देखकर कहा—'हे सौम्य! तुम शीघ्रता क्यों नहीं कर रहे हो? हे शत्रु-विनाशक! शीघ्र जाल को काटो, नहीं तो सामने से चाण्डाल आ जाएगा!' इस प्रकार शीघ्रता के लिए कहनेवाले अदूरदर्शी और अपने वशवर्ती बिलाव को अपनी सुरक्षा का ध्यान करते हुए पलित ने कहा—'हे मित्र! तुम चुप रहो, शीघ्रता मत करो और न उधेड़बुन में पड़ो। इस विषय में मैं ही अवसर को जानता हूँ। मैं समय को अपने हाथ से नहीं जाने दूँगा। असमय में प्रारम्भ किया काम, करनेवाले को लाभप्रद नहीं होता। उसी काम को समय पर किया जाय तो वह बहुत लाभप्रद होता है। समय से पूर्व छूटे हुए तुमसे ही मुझे ख़तरा पैदा हो जाएगा, इसलिए समय की प्रतीक्षा करो। हे मित्र! इतनी शीघ्रता क्यों कर रहे हो? ज्यों ही हाथ में हथियार लिये आते हुए चाण्डाल को देखूँगा, तब थोड़ा-सा भी डर पैदा होने पर तुरन्त तेरे बन्धन काट दूँगा। उस समय छूटे हुए तुम वृक्ष पर ही चढ़ोगे। तुम्हें अपने जीवन की रक्षा से बढ़कर और किसी बात से मतलब नहीं होगा।

हे लोमश! उस समय भयाक्रान्त होकर तुम्हारे भागने पर मैं बिल में घुस जाऊँगा और तुम वृक्ष की शाखा पर चढ़ जाओगे।'

इस प्रकार अत्यन्त बुद्धिमान् भाषण-निपुण पलित के कहने पर अपने जीवन की इच्छावाला लोमश बिलाव सोच में पड़ गया और देर करनेवाले चूहे से बोला—'हे मित्र! सज्जन पुरुष अपने मित्रों के काम को देर से इस प्रकार नहीं करते।' बुद्धिमान् शास्त्रज्ञाता पलित ने लोमश बिलाव को कहा—'तुम अपने लाभ को देखकर जो कह रहे हो वह मैंने सुन लिया है। मैं भी अपना हित देखकर जो कहता हूँ वह सुन!' जो मित्र बुद्धि से मर्यादित किया जा सकता है और जो मित्र भयातुर है उससे अपनी सुरक्षा में सावधान रहने की आवश्यकता है, जैसे हाथ को साँप के मुख से बचाने के लिए सतर्कता की आवश्यकता है—

कृत्वा बलवता सन्धिमात्मानं यो न रक्षति।
अपथ्यमिव तद्भुक्तं तस्यानर्थाय कल्पते॥

बलवान् से सन्धि करके जो अपनी सुरक्षा का ध्यान नहीं करता वह बदपरहेज़ की तरह अपना विनाश करता है। न कोई किसी का मित्र होता है और न कोई किसी का सुहृत्। अपने मतलब से मतलब निकाला जाता है, जैसे पालतू हाथियों से जङ्गली हाथी पकड़े जाते हैं। काम हो चुकने पर करनेवाले की कोई परवा नहीं करता, इसलिए सब काम कुछ-न-कुछ शेष रखने चाहिएँ। उस अन्तिम समय में तो तुम डर के मारे भागते हुए मुझे पकड़ नहीं सकोगे। हे लोमश! अधिकांश बन्धन मैंने काट दिये हैं। केवल एक शेष छोड़ा है, उसे मैं तुरन्त काट डालूँगा, तुम निश्चिन्त हो जाओ। सङ्कट में फँसे उन दोनों के बातचीत करते हुए वह रात बीत गई और लोमश के ऊपर भय सवार हो गया। इसके पश्चात् प्रातःकाल काला-काला, कुरूप, घुटे हुए सरवाला, रूखा, कुत्तों से घिरा हुआ, छोटे कानोंवाला, चौड़े मुखवाला, भयङ्कर, हाथ में शस्त्र लिये हुए परिध नाम का चाण्डाल दिखाई दिया। यमदूत के समान भयङ्कर उसे देखकर डरे हुए बिलाव ने पलित को कहा—'अब क्या करोगे?' उसी समय चूहे ने बचे हुए बन्धन को काट डाला। उससे छुटकारा पाते ही बिलाव पेड़ पर चढ़ गया। वह उस भय से छूटा हुआ और भयङ्कर शत्रु से भी छुटकारा पाकर पलित बिल में घुस गया और बिलाव वृक्ष की शाखा पर चढ़ गया।

यह है आर्य संस्कृति की आदर्श नीति का स्वरूप! न किसी को धोखा दो और न किसी के धोखे में आओ। किसी के सहारे यदि कुछ लाभ उठाया है तो उसका भी प्रत्युपकार करो, केवल अपने स्वार्थ तक ही न रहो, नहीं तो वह अनार्यत्व होगा, आर्यत्व नहीं।

चूहा यदि चाहता तो उल्लू और नेवले के चले जाने पर बिलाव को जाल में जकड़ा छोड़कर जा सकता था, किन्तु यह आर्यत्व तो क्या,

मनुष्यत्व भी नहीं है।

जयचन्द ने मुहम्मद ग़ौरी को पृथ्वीराज के मुकाबिले पर जिताया, किन्तु जीतने पर ग़ौरी ने जयचन्द को भी मरवा डाला। राजा दाहर ने निष्कासित अल्लाफी मुसलमानों को शरण दी और सेना में अच्छे-अच्छे पदों पर नियत किया, किन्तु मुहम्मद बिन क़ासिम के आक्रमण करने पर जब उन्हें युद्ध में भेजा तो वे कृतघ्न बनकर अल्ला हो-अकबर का नारा लगाकर क़ासिम से जा मिले और दाहर को परास्त करा दिया। यह अनार्य नीति है। ऐसों से उनके स्वभाव को समझकर ही निपटना चाहिए।

□□

(३६)

दानी का अक्षय कल्याण होता है

यद॒ङ्ग दा॒शुषे॒ त्वमग्ने॒ भ॒द्रं क॑रि॒ष्यसि॑। तवेत्तत् स॒त्यम॑ङ्गिरः॥

—ऋ० १।१।६

ऋषिः—मधुच्छन्दा॥ **देवता**—अग्निः॥ **छन्दः**—निचृद्गायत्री॥

अन्वयः—हे अंग हे अग्ने हे अङ्गिरः त्वम् दाशुषे भद्रं करिष्यसि। तव इत् तत् सत्यम्॥

शब्दार्थ—हे **(अंग)** हे विश्व के अङ्गभूत विराट्! हे **(अग्ने)** हे विश्व को तेजप्रकाश और ज्ञानदाता परमात्मन्! हे **(अंगिरः)** हे विश्व के प्राणस्वरूप विधाता! **(त्वम्)** आप **(दाशुषे)** दानशील पुरुष के लिए, पुण्यात्मा के लिए **(भद्रं करिष्यसि)** कल्याण करते हैं। **(तव इत् तत्)** आपका ही वह **(सत्यम्)** सत्य है, अटल नियम है।

व्याख्या—मन्त्र के दो भाग हैं। पहले में प्रभु की स्तुति है और दूसरे में उसके कार्य का वर्णन है। दोनों ही भाग बहुत महत्त्वपूर्ण हैं।

पहले मन्त्र-पठित प्रभु के विशेषणों पर विचार कीजिए। पहला विशेषण है **अङ्ग**। इसका अभिप्राय है कि विराट्‌रूप से यह विश्व भगवान् के अङ्ग के समान है, जैसे—यह भूमि प्रभु के चरणों के समान है, द्यौ अर्थात् समस्त तेजोमय ऊर्ध्व जगत् प्रभु के शिर के समान है, विशाल अन्तरिक्ष उसके पेट के समान है, पर्वत उसके शरीर की अस्थियों के समान हैं, बहते हुए नदी-नाले उस शरीर की नस-नाड़ियाँ हैं, सूर्य और चन्द्रमा उसके दोनों नेत्रों के समान हैं और प्रवहमान वायु उसका श्वासोच्छ्वास है।

दूसरा विशेषण है **अग्नि**। इसके अर्थ का बहुत व्यापक क्षेत्र है। वेद-व्याख्याता आचार्य यास्क ने इसके अर्थगौरव को देखकर ही अपने और शाकपूणि आदि आचार्यों के मतों को दिखाते हुए बताया है कि यह शब्द एक धातु से नहीं, अपितु—**इण् गतौ, अञ्चू गतिपूजनयोः, दह भस्मीकरणे और णीञ् प्रापणे**—चार धातुओं से निष्पन्न हुआ है। अधिक विस्तार में न जाकर यहाँ अग्नि की सङ्गति इस प्रकार लगा लीजिये कि सृष्टि के आदि में ''**हिरण्यगर्भ**'' अग्नि और ज्योति का पुञ्ज ही तो इस समस्त संसार का बृहत् शरीर था, उसी से अनन्त लोक-लोकान्तरों का प्रादुर्भाव हुआ।

इसके पश्चात् तीसरा विशेषण है **अंगिरः**। प्राणों का भी प्राण होने से उस अग्निरूप प्रभु को अंगिरः कहा गया। इसके नष्ट होने पर नाश अवश्यम्भावी परिणाम है, अतः उस प्रभु का मन्त्रोक्त **अंगिरः** नाम कितना

यथार्थ है!

अब प्रश्न है—वह ऐसा प्रभु करता क्या है? उत्तर मिला—"**भद्रं करिष्यसि**"—वह प्राणिमात्र का कल्याण करता है।

विश्व के किसी प्राणी के शरीर की रचना, जो हमारे विचार में बेतुकी और बेढङ्गी लगती है, उस पर गम्भीरता से सोचेंगे तो आप निश्चय से इस परिणाम पर पहुँचेंगे कि उस प्राणी को उसकी सुविधा की दृष्टि से वैसा ही शरीर मिलना चाहिए था। इस प्रकार के शरीर के अभाव में वह अपनी जीवन-यात्रा चला ही नहीं सकता था। ऊँट का शरीर हमको और आपको बहुत टेढ़ा-मेढ़ा और बेतुका लगता है, किन्तु विचारिये कि ऊँट को ये लम्बे-लम्बे पैर तथा टेढ़ी और लम्बी गर्दन न मिली होती तो वह इतने ऊँचे-ऊँचे वृक्षों से अपना भोजन कैसे ग्रहण करता? हाथी के इतने भारी और विशाल शरीर में सूँड का होना कमाल की चीज़ है, जिसमें लपेटकर वह वृक्षों के मोटे तनों को तोड़कर अपने आहार की पूर्त्ति करता है और पृथिवी पर पड़ी छोटी-से-छोटी चीज़ सुई तक को भी आसानी से उठा लेता है। घड़ों पानी सूँड में भरकर मुँह खोलकर पेट में उँडेल देता है। अजगर को इतना विशाल और स्थूल शरीर दिया कि वह सरलता से हिलजुल भी न सके। यदि ऐसा न होता तो न जाने वह कितने प्राणियों का नित्य संहार करता, किन्तु उसकी भी प्राणरक्षा होती रहे, इसके लिए उसके श्वास में एक विचित्र बल दिया कि जिससे भूख लगने पर दूर से भी प्राणियों को खींच लेता है और अपनी भूख मिटा लेता है। साथ ही उसकी पूँछ में घण्टी का-सा विचित्र शब्द भी दिया जिसे सुनते ही चतुर जीव दूर भागकर अपनी प्राण-रक्षा कर सकें। यह तो रही साधारण कल्पना की बात कि मङ्गलमय प्रभु जीवमात्र का कल्याण करता है, किन्तु अक्षय कल्याण '**दाशुषे**' 'दानशील' का ही होता है। उसके भण्डार सदा भरपूर रहते हैं। सूर्य और चन्द्र रात-दिन अपने प्रकाश दान करते हैं। क्या इस दान से उनमें कोई न्यूनता आई? समुद्र से बादल जल ग्रहण कर सारे भूमण्डल को आप्लावित करता है। क्या इस दान से समुद्र की जलराशि न्यून हुई? वस्तुतः संसार-चक्र चलने का नियम ही यही है कि यहाँ आदान और प्रदान का चक्र घूमते रहना चाहिए। इसमें आया ठहराव संसार के विनाश का सूचक है। गीता में कहा गया है—

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्ट कामधुक्॥

—गीता ३।१०

प्रभु ने इस संसार को यज्ञ के साथ उत्पन्न किया है और वेद में उपदेश दिया है कि तुम यज्ञ के भाव और कर्म से ही फूल और फल सकते हो, यह यज्ञ ही तुम्हारी सब कामनाएँ पूरी करेगा। जड़-जगत्

भी यज्ञ के आधार पर ही चल रहा है। पृथिवी से उत्पन्न अन्न और ओषधियों की आप यज्ञ की अग्नि में आहुति देते हैं। अग्नि में डाली हुई आहुति को सूर्य अपनी किरणों के द्वारा मेघ में परिवर्तित करता है। बादलों से वृष्टि होती है और वर्षा से अनन्त ओषधियाँ और फूल-फल उत्पन्न होते हैं। जैसाकि महर्षि मनु ने लिखा है—

अग्नौ प्रास्ताहुतिस्तावदादित्यमुपतिष्ठते।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः॥

—मनु० ३।७६

'अग्नि में डाली हुई आहुति आदित्य को पहुँचती है। सूर्य से बादल बनकर वर्षा होती है। वर्षा से अन्न उत्पन्न होता है और उस अन्न से जीवों का पालन-पोषण होता है।' यह चक्र यदि इसी प्रकार घूमता रहता है तो संसार ठीक चलता रहता है और जहाँ इसमें गतिरोध उत्पन्न होता है, वहीं अव्यवस्था उत्पन्न हो जाती है। यही बात संसार के व्यवहार-चक्र पर भी पूरी घटती है। हमारे प्रत्येक कार्य में समाज का सहयोग प्राप्त होता है, उसी प्रकार हमें भी दूसरों के कार्यों में अपनी शक्ति और क्षमता के अनुसार त्याग के लिए उद्यत रहना चाहिए। यदि अपना ही सुख और अपना ही हित देखा और इसी की प्रतिक्रिया दूसरों पर भी वैसी ही हुई तो यह संसार नरक बन जाएगा।

इसलिए संसार यज्ञिय भावना से, त्याग से चलता है। जहाँ इसमें विराम हुआ कि संसार का विनाश हुआ। इसीलिए इस पवित्र नियम को भङ्ग करनेवाले व्यक्तियों को वेदादि शास्त्रों में राक्षस और समाज का शत्रु बताया गया है—

मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वध इत्स तस्य।
नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी॥

—ऋ० १०।११७।६

'स्वार्थी और अविवेकी व्यर्थ ही अन्न ग्रहण करता है। तथ्य है कि यह उसका जीवन नहीं है, अपितु मृत्यु है, क्योंकि इस प्रकार का घोर स्वार्थी न अपना भला करता है और न मित्रों का। केवल अपने ही खाने-पीने का ध्यान रखनेवाला अन्न नहीं खाता, पाप खाता है।' इसी बात को गीता में भी बड़े काव्यमय ढंग से कहा गया—

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति॥

—गीता ३।१६

'इस यज्ञ के चक्र को जो नहीं घुमाता, अर्थात् जो भोग के साथ त्याग नहीं करता, वह पापी और विषयी है और हे अर्जुन! उसका जीवन व्यर्थ है।' वेद में कहा—

स इद् भोजो यो.......ददाति, अन्नकामाय चरते कृशाय।

—ऋ० १०।११७।३

'उसी का खाना खाना है, जो घर-आए भूखे को अन्न देकर स्वयं खाता है।' ऐसे दयालु का जीवन सुखी होता है और वह संसार में अपने मित्र बना लेता है। वेद के इसी सूक्त में बड़े काव्यमय ढंग से और भी उपदेश दिया—

न वा उ देवाः क्षुधमिद् वधं ददुरुताशितमुप गच्छन्ति मृत्यवः।
उतो रयिः पृणतो नोपदस्यति उत अपृणन्मर्डितारं न विन्दते॥ १॥

'प्रभु ने मृत्यु का कारण केवल भूख को ही नहीं बनाया है, अपितु जो भरपेट खाते हैं, वे भी मरते हैं। देनेवाले का धन नष्ट नहीं होता, अपितु वह एक प्रकार से उसकी भविष्यनिधि में जमा होता है। स्मरण रक्खो, बिना त्याग किये तुम अपने हितैषी नहीं बना सकते।' एक संस्कृत कवि ने भी बहुत सुन्दर कहा है—

बोधयन्ति न याचन्ते भिक्षाचारा गृहे-गृहे।
दीयतां दीयतान्नित्यमदातुः फलमीदृशम्॥

'घर-घर माँगने के लिए घूमते भिखारी शिक्षा देते फिर रहे हैं, माँग नहीं रहे। क्या शिक्षा दे रहे हैं? हे संसार के सम्पन्न लोगो! जो तुम्हारे पास है, उसका नित्य दान करो! यदि नहीं दोगे तो तुम भी हमारी तरह घर-घर जाकर हाथ फैलाओगे।'

अतएव इस प्रकृत मन्त्र में **''दाशुषे भद्रं करिष्यसि तव इत् तत् सत्यम्''** प्रभु का यह अटल नियम है कि वह दाता का अक्षय कल्याण करता है।

❑❑

(३७)

प्रभु का उपस्थान त्यागवृत्ति से ही सम्भव

उप त्वा जामयो गिरो देदिशतीर्हविष्कृतः।
वायोरनीके अस्थिरन्॥ —साम० १३

ऋषिः—प्रयोगः॥ देवता—अग्निः॥ छन्दः—गायत्री॥

अन्वयः—हविष्कृतः जामयः देदिशतीः गिरः। वायोः अनीके त्वा उप अस्थिरन्॥

शब्दार्थ—(हे अग्ने) [यह पहली ऋचा से अनुवृत्ति है] हे उपासनीय देव! (**हविष्कृतः**) भक्ति करनेवाले की (**जामयः**) स्त्रियों के समान (**देदिशतीः**) अत्यन्त त्यागवाली (**गिरः**) वाणी (**वायोः अनीके**) वायु के मण्डल में (**त्वा**) आपका (**उप अस्थिरन्**) उपस्थान करती हैं।

व्याख्या—प्रभु के भक्तों की वाणी जो यज्ञादि कर्मों में दान, त्याग तथा विरक्त भाव का उच्चारण करती है, वे वाणियाँ इस वायुमण्डल में भरी हुई हैं और मानो प्रभु का ही उपस्थान कर रही हैं। जो प्रभु की भक्ति में अग्रसर होते हैं उन्हें सांसारिक पदार्थों से लगाव कम हो जाता है। वे अपने पास होनेवाली समस्त सुख-सुविधा की सामग्री सुपात्रों को प्रदान करने के लिए उद्यत रहते हैं। प्रभु-भक्त में त्याग-भावना की प्रधानता होनी ही चाहिए, जिस प्रकार मन्त्र में उपमा देकर समझाया गया कि स्त्री का जीवन त्यागमय होता है।

संसार के पदार्थों को त्यागपूर्वक भोगने का प्रभु का आदेश है—'**तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः**' (यजुर्वेद)। समस्त यज्ञानुष्ठानादि शुभकर्मों में यही भावना ओत-प्रोत है। '**अयन्त इध्म आत्मा**' मन्त्र में सबसे अधिक त्याग का उपदेश है। त्याग-भावना की प्रचुरता के लिए अग्निहोत्र में एक बार समिदाधान के समय यह मन्त्र बोला जाता है और इसी मन्त्र को बोलकर ५ घृत-आहुतियाँ दी जाती हैं। इस प्रकार इस मन्त्र का छह बार पाठ किया जाता है। यह मन्त्र बड़े सबल शब्दों में यज्ञानुष्ठाता को प्रेरणा करता है कि अपनी लक्ष्याग्नि को प्रदीप्त रखने के लिए तुम्हें उसका ईंधन बनने को उद्यत रहना होगा। इस त्याग का फल तुम्हें भी समृद्धि के रूप में प्राप्त होगा। अग्नि को समिधा प्रदीप्त करती है, फिर वह समिद्ध अग्नि पर्जन्य को जन्म देती है। पर्जन्य वृष्टि करता है, वृष्टि से अन्न, औषध, फल, फूल उत्पन्न होते हैं। वे अन्न-औषधादि मनुष्यादि के जीवन का आधार बनकर उन्हें समृद्ध करते हैं। समृद्ध और सम्पन्न मानव-समाज को मर्यादित उपभोग के साथ उन पदार्थों का त्याग करना

चाहिए। बिना त्याग-भावना के यह उपकार का क्रम अवरुद्ध हो जाएगा और स्वार्थ की दुष्प्रवृत्ति जगेगी जो परिणाम में दुःख और विनाश में पर्यवसित होगी। त्याग से प्राप्त भोग अमृत है, जिससे समस्त संसार में विकास और उल्लास का वातावरण थिरकता दिखाई देता है। स्वार्थ और तज्जन्य अमर्यादित उपभोग वह दावानल है जिसमें लहलहाता हरा-भरा संसाररूपी वन भस्म हो जाता है। जङ्गल में भड़की अग्नि दो ही अवस्थाओं में शान्त होती है—एक तो जलाने के लिए तिनका तक न रहे, तब अपने-आप बुझ जावेगी; दूसरे, प्रभु-कृपा से कोई घटा उठकर मूसलाधार वर्षा की झड़ी लगा दे। स्वार्थ और भोग की आग भी सर्वनाश करके ही शान्त होती है अथवा किसी के शेष पुण्य कर्मविपाक के फलस्वरूप विवेक का सुन्दर-सरस झरना प्रवाहित होकर उसके चित्त को शान्त करके कल्याण का मार्ग दिखा दे, जैसे विषयोपभोग की अग्नि में छटपटाते ययाति के मुख से ये वचन निकले थे—

यत् पृथिव्यां ब्रीहियवौ हिरण्यं पशवः स्त्रियः।
नालमेकेन तत् सर्वमिति मत्वा शमं ब्रजेत्॥

'पृथिवी पर उपभोग की, खाने-पीने की वस्तु जौ-चावलों से लेकर बड़ी-से-बड़ी चीज़ें स्वर्ण, गौ, घोड़े और रूपवती स्त्रियाँ, मनुष्य का सन्तोष और मर्यादा का बाँध टूट जावे तो एक व्यक्ति को भी तृप्त नहीं कर सकतीं।'

इस रहस्य को समझकर मनुष्य विषयों से मन हटाकर ही शान्ति प्राप्त कर सकता है। इसके अतिरिक्त कोई मार्ग नहीं है। अतः वेद ने त्याग को जीवन में मुख्यता देने के लिए प्रेरणा की। त्याग जीवन में कैसे सुख का कारण बनता है, यह कपिल मुनि ने सांख्यदर्शन में प्रतिपादित किया है—

श्येनवत् सुखीदुःखी भवति त्यागवियोगाभ्याम्॥

'जैसे श्येन (बाज़) पक्षी अपने मुख में मांस का टुकड़ा लिये जा रहा हो और उस टुकड़े को स्वयं अपनी चोंच में से छोड़ दे तो यह स्थिति उसे सुखी रखती है। इसके विपरीत कोई प्रबल पक्षी श्येन पर झपटकर बलपूर्वक उस चोंच में दबे मांस के टुकड़े को छीन ले तो इससे उसे दुःख होता है।' ठीक यही अवस्था मनुष्य की भी है। यदि वह विवेकपूर्वक अपनी प्रिय-से-प्रिय वस्तु का त्याग करता है तो उसके मन में सुख ही होता है; इसके विपरीत यदि कोई बलपूर्वक छीन ले तो उसे दुःख होगा। पहली स्थिति का नाम त्याग है, वह सुखी बनाती है; दूसरी स्थिति का नाम वियोग है और वियोग की अवस्था में मनुष्य दुःखी होता है।

परिणाम यह निकला कि त्यागपूर्वक भोग की भावना ही संसार को सुख और शान्ति दे सकती है। जहाँ त्याग है, वहाँ प्रेम है। जहाँ

स्वार्थ और आपाधापी है, वहाँ द्वेष है। द्वेष दु:ख देता है और प्रेम सुख। जहाँ ध्येय 'त्याग' होता है, वहाँ जीवन में कर्त्तव्यपालन की प्रधानता होती है; जहाँ ध्येय 'भोग' होता है, वहाँ भोगप्राप्ति के अधिकार की प्रधानता होती है। इसलिए वेद ने "**आयुर्यज्ञेन कल्पताम्**"—सम्पूर्ण जीवन को त्यागपूर्वक बिताने का उपदेश दिया।

विचारणीय मन्त्र में त्याग के उपमानरूप में एक स्त्री के जीवन को रखकर त्याग के लिए प्रेरणा दी है। वास्तव में स्त्री का जीवन त्याग का मूर्तरूप है। स्त्री वय के प्रथम भाग में माता-पिता के घर लालित-पालित होती है। उस समय यह उसकी कल्पना में भी नहीं होता कि एक दिन उसे यह अपना समझा जानेवाला घर छोड़कर एक अपरिचित घर की ओर प्रस्थान करना होगा। पुरुष इस त्याग पर थोड़ा विचार करके देखें कि यह स्त्री का कितना मूक त्याग है? पितृ-गृह-परित्याग तो स्त्री-जीवन के त्याग की भूमिका है। आगे उसका त्याग देखिये सन्तति के पालन-पोषण में। सन्तान के पालन में जो माता का त्याग है, वह जो निरन्तर और प्रसन्नतापूर्वक कष्ट झेलती है उसका वर्णन नहीं हो सकता। सन्तान को कष्ट होने पर माता रात-रात जगके काट देती है। गहरी नींद में माता के सोते हुए बालक मल-मूत्र कर देता है तो तत्क्षण बिना किसी झुँझलाहट के उसे शुद्ध-स्वच्छ करके सुलाती है और फिर किसी प्रकार कुछ झपकियाँ लेकर प्रभात करती है। बच्चे के आर्तस्वर को सुनकर माता अपने तन-मन की सुध-बुध भूल जाती है, इसीलिए तो माता के त्याग का मूल्याङ्कन करते हुए वेद ने माता का स्थान प्रभु की बराबरी का दिया है—

वस्याँ इन्द्रासि मे पितुरुत भ्रातुरभुञ्जतः।
माता च मे छदयथः समा वसो वसुत्वनाय राधसे॥

—ऋ० ८।१।६

'हे प्रभो! आप मेरे सांसारिक पिता से उत्कृष्ट हैं और सम्पत्ति का बँटबारा करते समय नाक-भौं सिकोड़नेवाले भाई से भी आप कहीं महान् हैं, किन्तु हे दयामय! माता की नैसर्गिक हितकामना, उसके अनुपम त्याग को देखकर मैं माता को आपकी बराबरी का ही स्थान देना चाहता हूँ।' जैसे आप अपने श्रेष्ठकर्मी भक्तों का कल्याण करते हैं, माता के हृदय में भी सन्तान की हितकामना उससे कम नहीं होती।

महाभारत में यक्ष ने युधिष्ठिर से प्रश्न किया है—"**किं स्विद् गुरुतरं भूमेः**"—भूमि से भारी क्या है? युधिष्ठिर ने उत्तर दिया—"**माता गुरुतरा भूमेः**"—पृथिवी से भी भारी माता है। वैज्ञानिक चाहे पृथिवी का भार बता दें, किन्तु क्या कभी माता का भार तोला जा सकता है? कभी नहीं। कोई माँ अपने बेटे को कितना महान् देखना चाहती है, इसका वर्णन कोई नहीं कर सकता। चाणक्य-जैसे नीतिशास्त्र के

नीरस पण्डित ने अपने सूत्र में लिखा—"**सर्वावस्थासु माता भर्तव्या**"— चाहे मनुष्य स्वयं किसी भी स्थिति में हो, किन्तु माता की सुख-सुविधा का उसे पूरी सतर्कता से ध्यान रखना चाहिए। स्त्री बहन के रूप में भी जो भाई के लिए त्याग की भावना रखती है, वह भी बहुत पवित्र और आदर के योग्य है। स्त्री की ससुराल चाहे कितने भी समृद्ध घर में हो, किन्तु उसे जो भरोसा और जो गर्व अपने पिता और भाइयों पर होता है, वह अद्वितीय है। उसमें एक अनूठा सौन्दर्य और माधुर्य होता है! द्रौपदी ने कृष्ण के समक्ष दुःशासन के द्वारा सभा में किये गए अपने अपमान, दुर्योधन और कर्ण के द्वारा किये गए परिहास पर क्षुब्ध होकर कहा—कृष्ण! मेरे तिरस्कार का बदला लेने की शक्ति पाण्डवों में नहीं रही तो मेरे पुत्र अभिमन्यु को अपना नेता बनाकर कौरवों से लड़ेंगे और "**पिता मे योत्स्यते वृद्धः सहपुत्रैर्महारथैः।**"—मेरा बूढ़ा पिता मेरे महारथी भाइयों के साथ युद्ध करके मेरे अपमान का बदला लेगा।

स्त्री पत्नी के रूप में भी पति के लिए समर्पित होकर जो त्याग करती है, वह भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। सार यह निकला कि जिस प्रकार स्त्री की समस्त आयु उपकार करते-करते दूसरों को सुख-सुविधा पहुँचाने में बीतती है, उसी प्रकार जहाँ तक हो सके, मनुष्य को दूसरों को सुख-सुविधा पहुँचाने के लिए सयत्न रहना चाहिए।

❑❑

(३८)

धनार्जन का सत्परामर्श

परि चिन्मर्तो द्रविणं ममन्याद् ऋतस्य पथा नमसा विवासेत्।
उत स्वेन क्रतुना सं वदेत श्रेयांसं दक्षं मनसा जगृभ्यात्॥

—ऋ० १०।३१।२

ऋषिः—कवष ऐलूषः॥ **देवता**—विश्वेदेवाः॥ **छन्दः**—निचृद्त्रिष्टुप्॥

अन्वयः—मर्तः चित् द्रविणम् परि ममन्यात् ऋतस्य पथा नमसा आविवासेत्। उत स्वेन क्रतुना संवदेत श्रेयांसम् दक्षम् मनसा जगृभ्यात्॥

शब्दार्थ—(**मर्तः**) मानव को (**चित्**) उचित है कि (**द्रविणम्**) धन को (**परि**) परिश्रम से (**ममन्यात्**) अर्जित करे (**ऋतस्य**) ऋजुता और सचाई के (**पथः**) मार्ग का, व्यवहार का (**नमसा**) विनयपूर्वक (**आविवासेत्**) आचरण करे। (**उत**) और (**स्वेन**) अपने (**क्रतुना**) पुनीत कर्म से (**संवदेत**) धन को प्रकट करे। (**श्रेयांसम्**) उत्तम कल्याणकारी (**दक्षम्**) व्यवसाय के व्यवहार को (**मनसा**) मनोयोगपूर्वक (**जगृभ्यात्**) ग्रहण करे।

व्याख्या—मन्त्र में धनार्जन के लिए कुछ महत्त्वपूर्ण परामर्श दिये गए हैं—

पहला—यह कि धन को परिश्रम से कमाने की सोचो, झटके की कमाई का प्रलोभन मन में मत आने दो।

दूसरा—यह कि व्यवहार में सत्य को हाथ से मत जाने दो।

तीसरा—यह कि व्यवहार में नम्रता और शालीनता रहे।

चौथा—अन्तिम यह कि व्यवसाय को अपनी रुचि के अनुसार चुनो ताकि वह काम तुम्हारा मनोरञ्जन भी करे, बोझ बनकर ऊबानेवाला न हो।

संसार में, संसार के ढंग से जीवनयापन के लिए, धन अनिवार्य है। निर्धन व्यक्ति पङ्खकटे पक्षी के समान है, जो नाममात्र जीवित है; न कहीं जा-आ सकता है और न पेट की आग ही बुझा सकता है। निर्वाह की आवश्यकता के पश्चात् मनुष्य की समाज में सम्मानपूर्वक जीने की इच्छा होती है। पैसे के अभाव में आपके सब सद्गुण निरर्थक-से लगते हैं और समुदाय में जो सम्मान मिलना चाहिए, वह भी नहीं मिलता। किसी संस्कृत के प्राचीन कवि ने निर्धन मनुष्य का एक बहुत ही यथार्थ चित्र खींचा है—

दारिद्रयादॄ्धियमेति ह्री परिगतः प्रभ्रश्यते तेजसः,
निस्तेजाः परिभूयते परिभवान्निर्वेदमापद्यते।
निर्विण्णः शुचमेति शोकनिहतो बुद्ध्या परित्यज्यते,
निर्बुद्धिः क्षयमेत्यहो निधनता सर्वापदामास्पदम्॥

'दरिद्रता का पहला अभिशाप यह है कि मनुष्य सम्पन्न व्यक्तियों में पहुँचकर झेंपा-झेंपा-सा रहता है। प्रत्येक समय हीनता अनुभव करनेवाले मनुष्य का तेज नष्ट हो जाता है। निस्तेज व्यक्ति को कोई भी और कभी भी दुत्कार देता है। समय-समय पर तिरस्कृत व्यक्ति उदास रहने लगता है। उदासीन और उपेक्षित व्यक्ति को शोक घेर लेता है। शोकातुर रहनेवाले व्यक्ति की बुद्धि ठीक काम नहीं करती और बुद्धिहीन मनुष्य का विनाश हो जाता है। इसलिए निर्धन होना सब आपत्तियों का घर है।'

निर्धनता के लिए एक अन्य कवि ने भी बहुत उत्तम कहा है—

एकोहि दोषो गुणसन्निपाते, निमज्जतीन्दोरिति यो बभाषे।
नूनन्न दृष्टं कविनापि तेन, दारिद्र्यदोषो गुणराशिनाशी॥

कविवर कालिदास ने एक स्थान पर लिखा है कि—"बहुत-से गुणों में एक दोष इस प्रकार डूब जाता है, जैसे चन्द्रमा में धब्बा।" इसी पर आक्षेप करते हुए कवि ने लिखा है कि—"कालिदास की दृष्टि दरिद्रतारूपी दोष पर नहीं गई। दरिद्रता ऐसा दुर्गुण है, जो एक ही सब गुणों को नष्ट कर देता है।"

दरिद्र निर्लज्ज भी हो जाता है, इस पर एक कवि की सूझ देखिये। एक अकिंचन किसी धनी से याचना करता हुआ कहने लगा—'मुझे अपनी आवश्यकता प्रकट करते हुए अत्यन्त लज्जा अनुभव हो रही है। इस बार मेरी सहायता कीजिये, फिर कभी नहीं आऊँगा।' इस पर धनी ने उसकी कुछ सहायता की, किन्तु कुछ ही दिन बाद वह फिर पहुँच गया। उसे पुनः आया देखकर सम्पन्न व्यक्ति ने पूछा—'तुम तो कह रहे थे मैं फिर कभी नहीं आऊँगा, अब तुम कैसे आ गए?' याचक ने जो उत्तर दिया, सुनिये—

हृदि लज्जोदरे वह्निः स्वभावादग्निरुच्छिखः।
तेन मे दग्धलज्जस्य पुनरागमनन्नृप॥

'लज्जा का निवासस्थान हृदय था। पेट में भूख की आग जली। अग्नि की लपट स्वाभाविक रूप से ऊपर को जाती है, परिणाम यह हुआ कि पेट की आग ने लज्जा भस्म कर दी। जब रोकनेवाली लज्जा ही समाप्त हो गई तो मैं आपकी सेवा में दोबारा आ गया।'

वेद में भी दरिद्रता की निन्दा बड़े काव्यमय ढंग से की गई है—

अरायि काणे विकटे गिरिं गच्छ सदान्वे।
शिरिम्बिठस्य सत्वभिस्तेभिष्ट्वा चातयामसि॥

—ऋ० १०।१५५।१

"दरिद्रता का पहला दुर्गुण यह है कि वह मनुष्य को अनुदार और अदानी बना देती है। दूसरा दुर्गुण 'काणे'। जैसे काणा मनुष्य संकोचवश किसी को नज़र भरकर नहीं देखता, लज्जित-सा होता रहता है, ऐसे ही दरिद्री भी सम्पन्नों को देखकर हीनभावना से कुण्ठित रहता है। तीसरी बात कही 'विकटे'—भयङ्कर, कुरूप। दरिद्री की आकृति रूखी और डरावनी बन जाती है। इसलिए हे निर्धनता! तू बस्तियों को छोड़के, "गिरिं गच्छ"—पहाड़ और जङ्गलों में चली जा। जहाँ बस्ती में तू रहती है, वहाँ ऊपर कहे दुर्गुणों के अतिरिक्त "सदान्वे" सदा लड़ाई-झगड़े होते रहते हैं। परस्पर का प्रेम और सौमनस्य नष्ट हो जाता है।"

वैदिक प्रार्थनाओं में कहा गया है—**वयं स्याम पतयो रयीणाम्**—'हमारे समाज के सब मनुष्य ऐश्वर्यशाली हों'; **मूर्धाहं रयीणां मूर्धा समानानां भूयासम्** (अथर्व०)—'मैं ऐश्वर्यों का मस्तक बनकर रहूँ', अर्थात् धनार्जन की योजनाएँ मेरे मस्तिष्क से आविर्भूत हों और मैं अपने बराबरवालों में उनका नेता बनकर रहूँ; **नाभिरहं रयीणां नाभिः समानानां भूयासम्**—'मैं ऐश्वर्यों का केन्द्र बनकर रहूँ, अपने समकक्षों की गतिविधियाँ भी मेरे चलाने से चलें।'

अतः वेद संसार में मानवजीवन को सम्पन्न, सुखी और उत्तम गुण-कर्मों का केन्द्र बनाने की प्रेरणा देता है।

इसके साथ ही वेद कहता है—धन संसार में बहुत-कुछ है, किन्तु सब-कुछ नहीं है। धन के ऊपर धर्म का नियन्त्रण रहना चाहिए। जहाँ यह अंकुश नहीं रहता, वहीं कभी न बुझनेवाली विलासिता की भीषण आग जल उठती है।

भारत का महाभारतकाल और उसके बाद मुग़लकाल तक का इतिहास उसी का निदर्शन है। यह देश धन-धान्य और सब प्रकार के वैभव से पूर्ण था। यहाँ खाने-पीने के पात्र भी सोने और चाँदी के हुआ करते थे। श्री गणपतराय द्वारा लिखित 'विश्वासघात' नामक यवनकालिक इतिहास में उल्लिखित है कि एक विश्वासघाती ने भूमि के अन्दर बने राजा दाहर के कोषागार का पता मुहम्मद-बिन-क़ासिम को दिया। दाहर का खज़ाना सोने, चाँदी, हीरों तथा जवाहरात से भरा हुआ था। उस कोष में ६ हज़ार सोने की मूर्त्तियाँ थीं। एक बड़ी मूत्ति ६ फुट ऊँची थी और उसका वज़न ३० मन सोना था। यवन आक्रान्ता खच्चरों और ऊँटों पर लादकर यहाँ से सोना-चाँदी ले गया। महमूद ग़ज़नवी ने सोमनाथ मन्दिर को जब नष्ट किया तो लाखों रुपये के हीरे और जवाहरात मन्दिर के खम्भों और दीवारों में जड़े हुए थे। सोमनाथ की मूर्त्ति बिना

किसी अवलम्ब के बीच में लटकी हुई थी। बहुत देर तक उनकी समझ में न आया कि इसे कैसे तोड़ा जावे। अन्त में बादशाह के नजूमियों ने परिणाम निकाला कि आसपास की दीवारों में चुम्बक लगाया हुआ है, उसी के आकर्षण से यह मूर्त्ति बिना सहारे के टिकी है। जब दीवार तोड़ने की तैयारी हुई तो पुजारियों ने हाथ जोड़के प्रार्थना की—''यह हमारे उपास्य देव की प्रतिमा है, आप इसके बदले में हमसे यथेच्छ सोना-चाँदी ले लीजिये, किन्तु इसे न तोड़िये।'' बादशाह ने कड़क के उत्तर दिया—''हम बुतशिकन हैं, बुतपरस्त नहीं'', अर्थात् 'हम मूर्त्ति-भञ्जक हैं, मूर्त्ति-पूजक नहीं', अतः आदेश देकर आसपास की दीवारें तुड़वा दीं। दीवारें टूटते ही सोमनाथ की मूर्त्ति भूमि पर गिर पड़ी। उस मूर्त्ति को तोड़ने के लिए जब गदा का प्रहार किया गया तो लाखों रुपये के हीरे जो मूर्त्ति में भरे हुए थे, बाहर निकल पड़े और मूर्त्ति के टुकड़े-टुकड़े हो गए। मन्दिरों में चढ़ावे के सोने और चाँदी के ढेर लगे रहते थे, क्योंकि उस समय के तथाकथित धर्म-ग्रन्थों में इस प्रकार के वचन लिखे गए कि मन्दिर में चाँदी के दान से अमुक फल मिलता है और सोना-दान से अमुक, इसलिए धर्मस्थान सोने-चाँदी से पटे पड़े रहते थे, जिसका कुछ-कुछ अनुमान आज भी दक्षिण के तिरुपति के मन्दिर के चढ़ावे से कर सकते हैं।

'देश की बात' नाम की पुस्तक में, जो अग्रेज़ों के शासनकाल में ज़ब्त थी, एक उल्लेख है कि अकबर ने अपने वज़ीर को खज़ाने की विद्यमान आर्थिक स्थिति का आकलन करके ब्यौरा प्रस्तुत करने को कहा। आदेश के पश्चात् तीन महीने बीतने पर भी जब वज़ीर ने कोई उत्तर न दिया तो बादशाह ने पूछा—''हमने तीन माह हुए आपसे खज़ाने की स्थिति बताने को कहा था, आपने अभी तक कोई उत्तर नहीं दिया?'' इस पर वज़ीर ने कहा—''बादशाह सलामत! आपने जब से आदेश दिया था, तभी से सात सौ आदमी तराज़ू-बाट लेकर प्रतिदिन काम के पूरे समय खज़ाने के सोना-चाँदी तोलने में लगे रहते हैं, अभी तक वे पूरी नाप-तोल नहीं कर पाए और जबतक काम पूरा न हो जावे, मैं आपको कैसे उत्तर दे सकता था?'' भारत कितना समृद्ध देश था, इन लेखों से अनुमान करिये! इन इतिवृत्तों से परिणाम निकलता है कि धार्मिक संस्कार और उच्चचरित्र के अभाव में धन भी अभिशाप बन जाता है। वह सुख न देकर दुःख देता है, अतः किसी उर्दू के शायर ने ठीक ही कहा है—

तंगदस्ती[1] भी बुरी, माल[2] की कसरत[3] भी बुरी।
बस इन्हीं बातों से ईमान बदल जाता है॥

---

१. हाथ की तंगी, दरिद्रता; २. धन-वैभव; ३. अधिकता।

अत्यधिक निर्धनता भी मनुष्य को बुराई की ओर धकेलती है। अर्थशास्त्री कहते हैं, जैसे ख़ाली बोरी खड़ी नहीं हो सकती, जबतक कि उसके पेट में अन्न न भर दिया जावे, उसी प्रकार भूखा व्यक्ति भी ईमानदार नहीं रह सकता। संस्कृत के कवि ने भी ठीक ही कहा है— "**बुभुक्षितः किन्न करोति पापम्**"—भूखा मनुष्य कौन-सा पाप करने को नहीं उतारू हो जाता!

अतः धन को अपेक्षित महत्त्व तो देना ही चाहिए। इसमें दो ही बातों की सावधानी आवश्यक है—पहली अर्जन-प्रक्रिया और दूसरी उपभोग की मर्यादा।

धन कमाने के विषय में वेद के इस मन्त्र में कहा गया—धन परिश्रम से कमाओ! एक स्थान से लेकर दूसरे स्थान पर जमा करने का नाम कमाना नहीं है। अस्ली कमाई तो देश का उत्पादन बढ़ाने में है। ऐसे व्यवसाय और काम, जिनकी न्यूनता की पूर्त्ति के लिए देश को परमुखापेक्षी होना पड़ता है, देश के बुद्धिमान् नागरिकों को परिश्रम करके उनका उत्पादन करना चाहिए।

स्वाधीनता-प्राप्ति के पश्चात् भारत ने इस दिशा में अच्छी प्रगति की है। संसदीय समितियों में देश के औद्योगिक प्रतिष्ठानों को देखने का सुयोग प्राप्त हुआ। भारत हैवी इलैक्ट्रिकल्स रानीपुर, एच०एम०टी० बङ्गलौर, कानपुर और बङ्गलौर के विमानों के कलपुर्ज़े जोड़ने और मरम्मत के प्रतिष्ठान, भिलाई का रशियन सहयोग से चलनेवाला स्टील का कारख़ाना आदि औद्योगिक क्षेत्र में ऐसी उपलब्धियाँ हैं, जिन पर भारत उचितरूप में गर्व कर सकता है। किन्तु इस सफलता के साथ स्वार्थ और कामचोरी की दुर्बलताएँ जो हमारी लम्बी दासता के कारण हमारे मस्तिष्क में घर कर गई हैं और जो इस समय भी हमारी प्रगति के मार्ग में बाधक बन रही हैं, उन्हें सद्विचार और उचित प्रताड़न के द्वारा भी साथ-साथ सुधारना होगा। यदि हमारे कर्मचारी परिश्रम के साथ ईमानदार भी हों तो देश गत ४० वर्षों में ही संसार के समृद्ध देशों की श्रेणी में खड़ा होता। प्रतिवर्ष लाखों टन अन्न भीगकर गोदामों में सड़ने और तस्करी से बर्बाद हो जाता है। प्रायः समाचारपत्रों में देश के अन्न के गोदामों में से लाखों मन गेहूँ की चोरी का मामले प्रकाश में आए हैं, अतः श्रमपूर्वक अर्जन और उसकी पूरी पवित्रता और सतर्कता से रक्षा प्रथम कर्त्तव्य होना चाहिए।

हमारी वैदिक संस्कृति में श्रम के बड़े गुण बखाने गए हैं—"**कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य आहितः**" (अथर्व०)—'मेरे दाएँ हाथ में श्रमशीलता है, तो सफलता मेरे बाएँ हाथ का खेल है।' वेद में "**अकर्मा**" और निठल्ले को "दस्यु" कहा है। ब्राह्मणग्रन्थ और औपनिषद् साहित्य में "**पापो नृषद्वरो जनः**" कहकर आलसी और प्रमादियों की

निन्दा की गई है। "**शेरतेऽस्य पाप्मानः श्रमेण प्रपथेहताः**"—परिश्रमी व्यक्ति के मार्ग में आनेवाली सब बाधाएँ उसके तप से नष्ट हो जाती हैं। किसी शायर ने भी बहुत प्रेरणाप्रद बात कही है—

चले चलिये कि चलना भी दलीले-कामरानी[1] है।
जो थककर बैठ जाते हैं, उन्हें मंज़िल नहीं मिलती।

इसलिए धनार्जन के लिए इस मन्त्र में पहली बात कही श्रम और उद्योग से धन कमाओ!

मन्त्र में दूसरी बात कही, व्यापार में ऋत-स्पष्टता और सत्यनिष्ठा होनी चाहिए। स्पष्ट और सत्याश्रित लेन-देन में समय की बचत और निश्चिन्तता रहती है। ग्राहक को यह भरोसा होना चाहिए कि मुझे चीज़ ठीक दी जा रही है, ठीक भाव पर दी जा रही है। इसमें मेरे साथ कोई धोखा नहीं हो सकता। विचारके देखिये, ऐसे व्यवहार में कितना बोझ हल्का हो जाता है! आज तो यह हालत है कि घण्टों भाव तय करने में मग़ज़-खपाई करनी पड़ती है, फिर भी यह निश्चिन्तता नहीं होती कि चीज़ हमें ठीक और उचित मूल्य पर मिल गई है। किसी देश के सुसंस्कृत होने का पैमाना ही यह है कि वहाँ व्यवहार में सत्य कितना है?

मन्त्र की तीसरी बात है व्यवहार में नम्रता और शिष्टभाषा का प्रयोग होना चाहिए। आज इस व्यवहार में भी बहुत सुधार की आवश्यकता है। किसी वस्तु के गुण-दोष के विषय में दुकानदार से पूछिये। शायद ही आपको कोई ऐसा मिलेगा जो सन्तोषजनक और शान्तभाव से आपको उत्तर दे।

भारत को आदर्श देश बनाने के लिए हमें निर्दिष्ट उपदेशों को अपने व्यवहार में लाना चाहिए।

❑❑

---

१. प्रभुता (सफलता-प्राप्ति) की युक्ति (साधन)।

(३९)

दाव मत लगा, परिश्रम से कमा-खा

अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित्कृषस्व वित्ते रमस्व बहु मन्यमानः।
तत्र गावः कितव तत्र जाया तन्मे वि चष्टे सवितायमर्यः॥

—ऋ० १०।३४।१३

ऋषिः—कवष ऐलूषः॥ **देवता**—अक्षकृषिप्रशंसा॥ **छन्दः**—त्रिष्टुप्॥

अन्वयः—अक्षैः मा दीव्यः कृषिम् इत् कृषस्व, वित्ते बहु मन्यमानः रमस्व। कितव तत्र गावः, तत्र जाया, तत् अर्यः अयं सविता मे विचष्टे॥

शब्दार्थ—(**अक्षैः**) पासों से (**मा**) नहीं (**दीव्यः**) खेल, जुआ कभी मत खेल (**कृषिम्**) खेती को (**इत्**) ही (**कृषस्व**) परिश्रम से कमा (**वित्ते**) परिश्रम से प्राप्त धन को (**बहु मन्यमानः**) अधिक महत्त्व देता हुआ [उसी में] (**रमस्व**) प्रसन्न, सन्तुष्ट रह। (**कितव**) हे जुआरि! (**तत्र**) इसी परिश्रम की कमाई में ही (**गावः**) गौ आदि सम्पत्ति है (**तत्र जाया**) इस श्रमार्जित धन में ही सब गृहस्थ-सुख है (**तत्**) यह बात (**अर्यः**) न्यायकारी स्वामी (**अयं सविता**) प्रेरक प्रभु ने (**मे**) मुझे (**विचष्टे**) भली प्रकार दिखला दी है।

व्याख्या—वैदिक संस्कृति में परिश्रम की कमाई को पवित्र माना गया है—ऐसी कमाई, जिससे देश की समृद्धि बढ़े और जो दूसरों के भरण-पोषण का भी आधार बने। खेती उसी प्रकार की जीविका की प्रतीक है। बिना परिश्रम के और अधिक मात्रा में आया धन एक-साथ समाज में असन्तुलन पैदा करता है। दूसरे, इस प्रकार की कमाई मांसाहार आदि व्यसनों को प्रोत्साहित करती है। विजयी बिना परिश्रम के अकल्पित धन पाकर व्यसनों में विनष्ट होता है और हारनेवाले का कुटुम्ब भूखों मरने पर विवश होता है। इस अभाव के कारण डाके, हत्या आदि अपराधों में लिप्त हो जाते हैं। महाभारत के समय में हुए द्यूतक्रीड़ा के परिणाम को भारत अबतक भोग रहा है।

इस समय यह हमारा दुर्भाग्य है कि देश के कर्णधार सरकारी आय को बढ़ाने के लिए जनता में इन दुष्प्रवृत्तियों का प्रचार करते हैं। प्रायः प्रत्येक छोटे-बड़े प्रान्त की लॉटरी चलती है, जिसके टिकट अधिकांश में निर्धन व्यक्ति ही ख़रीदते हैं, फिर टिकटों के नम्बरों के भी झगड़े पड़ते हैं, केस चलते हैं। सफल होने पर सरकार उस मोटी राशि पर टैक्स लेती है, इससे पूर्व लाखों रुपये टिकट-बिक्री के नाम पर बटोरती

है। कोई विचार नहीं करता कि यह क्या हो रहा है? ग़रीब जनता पेट काटकर लालच में टिकट ख़रीदती है और लाखों में से जो एक सफल होता है उसका मस्तिष्क उस धन को देखकर वैसे ठिकाने नहीं रहता। यह भी जुआ है और यह तुरन्त बन्द होना चाहिए। अभी कुछ काल पूर्व राजस्थान राज्य लॉटरी द्वारा किये गए एक सर्वेक्षण के अनुसार भारत में प्रतिवर्ष लॉटरी के माध्यम से ३०० करोड़ रुपये का व्यवसाय होता है तथा १५ करोड़ रुपये से कुछ अधिक के टिकट बिकते हैं। इस जुए का इतिहास भी पर्याप्त पुराना है। यह शब्द जर्मन भाषा के ''लोटो'' शब्द से निकला है, जिसका अर्थ है 'भाग्य की परीक्षा'। पासे डालकर जुआ खेलना भी भाग्य की परीक्षा ही थी, किन्तु इस लॉटरी को सर्वप्रथम सन् १५३० के आस-पास इटली की सरकार ने व्यवसाय के रूप में परिवर्तित किया। इसके १० वर्ष बाद इस लॉटरी का प्रचलन फ्रांस में हुआ और फ्रांस में इसका विरोध भी प्रारम्भ हुआ। वहाँ की संसद् में इसे नियमविरुद्ध किये जाने की माँग की, किन्तु सरकार ने इस माँग को स्वीकार नहीं किया और फ्रांस ने भी इसे एक व्यवसाय का रूप दिया। १६वीं सदी में फिर यह खेल इंग्लैण्ड में भी प्रारम्भ हुआ। इसके बाद यह भारत में आया। यहाँ कुछ विचारशील व्यक्तियों की दृष्टि इसके कुप्रभावों पर पड़ी। इसके विरुद्ध अदालतों में मुकद्दमे दायर हुए। कई न्यायालयों ने सीधे जुए की संज्ञा न देते हुए स्वीकार किया कि इससे जुए की प्रवृत्ति को बढ़ावा मिलेगा, अतः नैतिक दृष्टि से इस पर प्रतिबन्ध लगाया जाना चाहिए। कुछ ही वर्ष पूर्व कश्मीर शासन ने इसे जुए का ही एक रूप समझकर इस पर प्रतिबन्ध लगा दिया।

किन्तु भारत के अन्य राज्यों में सरकारी रूप में और संस्थाओं के रूप में भी यह बुराई बढ़ रही है। प्राइवेट संस्थाएँ भी सरकार से ही स्वीकृत हैं। अब स्वास्थ्य मन्त्रालय के निर्देशानुसार नसबन्दी करानेवालों को पैसों के अतिरिक्त पाँच लॉटरी-टिकट भी दिये जाएँगे। अभी तमिलनाडु में एक महिला को मिले ऐसे ही टिकट पर एक लाख रुपये का इनाम भी मिल चुका है। इससे इसे और प्रोत्साहन मिलेगा।

इधर राजस्थान राज्य लॉटरी ने अन्य राज्यों को चुनौती देते हुए प्रथम पुरस्कार एक करोड़ एक लाख रुपये का घोषित कर दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि उसके ४० लाख टिकट हाथों-हाथ बिक गए। टिकट-ख़रीद इतनी बढ़ी कि दस रुपये का टिकट १५ में बिका। पाँच रुपये प्रतिदिन कमानेवाले व्यक्ति का दो दिन का पारिश्रमिक चाहे नष्ट हो, किन्तु सरकार को तो लगभग ९० लाख का लाभ हो ही गया।

सरकार एक ओर समाजवादी व्यवस्था की बात करती है तो दूसरी ओर लॉटरी-पुरस्कार की राशि करोड़ तक करती है, इससे बढ़कर समाजवाद का उपहास क्या होगा? आज ऐसी परिस्थिति आ चुकी है

कि बड़ी कम्पनी के डायरेक्टर से लेकर दो सौ रुपये प्रतिमास पानेवाले मज़दूर तक प्रतिमास चाय-पान की दूकान की तरह कुछ रुपये वह लॉटरी-टिकट पर भी नियमित रूप से व्यय करता है। यह भी एक प्रकार का नशा है। यहीं तक नहीं, काले धनवाले भी अपने पैसे को सफ़ेद करने के लिए इसका सहारा लेते हैं। समाचारों के अनुसार एक फ़िल्म-अभिनेता ने अपने पिछले वर्ष की आयकर-रिटर्न में २५० इनामी टिकट दिखाए थे जिनसे उसे २५ लाख रुपये की आय हुई थी।

अत: भारतीय परम्परा की दृष्टि से इस पर तुरन्त प्रतिबन्ध लगना चाहिए और इसके विरुद्ध आन्दोलन द्वारा जनमत जागृत होना चाहिए।

इसलिए वेद ने इस कुत्सित कर्म का निषेध किया और श्रम से देश की समृद्धि को बढ़ानेवाले खेती जैसे कामों को करने का परामर्श दिया। जिस श्रम से देश का अभाव नहीं मिटता और समृद्धि नहीं बढ़ती, वह कमाई प्रशंसनीय नहीं है। परिश्रम के नाम पर तो भिखारी भी सारे दिन परिश्रम करता है, परन्तु उस श्रम के विनिमय में देश को कुछ नहीं मिलता, अतएव वह निन्दनीय और त्याज्य है।

श्रमार्जित थोड़े धन के लिए बी वेद ने कहा—"**रमस्व बहु मन्यमान:**"—तू श्रम से उस फल को पाकर प्रसन्न हो और थोड़े को भी अधिक मान! तेरी मानसिक सात्त्विकता और शान्ति के लिए यह कमाई झटके की लाखों की कमाई से कहीं अच्छी है।

इस पवित्र कमाई के लिए आवश्यक है कि जनता में धार्मिक संस्कार बद्धमूल हों। धर्म की जड़ में से जो अर्थ की शाखा फूटकर निकलेगी, उसमें स्वाभाविक रूप से धार्मिक संस्कार होंगे। ऐसी सात्त्विक और धार्मिक कमाई में यथाशक्ति दूसरों के अभाव की पूर्त्ति की भावना होगी।

देश को प्रगति-पथ पर डालने के लिए और समाज के स्वस्थ विकास के लिए गम्भीर चिन्तन, तथा समाज में प्रतिष्ठित और श्रेष्ठ समझे जानेवाले व्यक्तियों के आचरण और व्यवहार में परिवर्तन की आवश्यकता है। आज चारों ओर तड़क-भड़क और दिखावे का प्राबल्य है। प्रत्येक व्यक्ति शानदार कोठी, चमचमाती कार, बढ़िया फ़र्नीचर जुटाने के फेर में शीघ्र धन जमा करना चाहता है। वह समझता है कि इन वस्तुओं के आते ही मैं बड़ा बन जाऊँगा। यदि इसके विपरीत सच्चरित्र, सात्त्विक और सादा रहन-सहनवाले व्यक्तियों को सम्मान मिलने लगे और इन तड़क-भड़कवालों की उपेक्षा होने लगे तो समाज में स्वस्थ वातावरण बनने लगेगा।

आज दुर्भाग्य यह है कि देश में उच्चपदासीन व्यक्तियों के जीवन में से वह सादगी मिट गई है। कहाँ है आज सरदार पटेल की-सी सादगी? सरदार पटेल की पुत्री मणिबेन ने अपने पिता की सेवा के विचार से

संसार के सब सुखों को ठुकरा दिया। पिता के लिए भोजन बनाना, धोती-कुर्त्ता आदि के लिए सूत कातना, अन्य भी आवश्यकताओं की पूर्त्ति के लिए जुटे रहना और इसी में परम सन्तोष और प्रसन्नता अनुभव करना—यह था दृश्य स्वाधीन भारत के गृहमन्त्री के गृह का। मणिबेन अपने हाथ के कते सूत से पिता के वस्त्र तैयार कराती थीं और उनकी आवश्यकता-पूर्त्ति के बाद जो बचता था, उसमें अपने वस्त्रों का निर्वाह करती थीं, अतः सदा उनके पास वस्त्रों की कमी ही रहती थी। अपनी जीर्ण साड़ियों की मरम्मत कर-करके काम में लाती रहती थीं।

स्व० श्री महावीर त्यागी ने, जो संसद्-सदस्यता के समय सन् ६८ और ६९ में मीनाबाग़ में मेरे पड़ोसी थे, एक दिन बातचीत के प्रसंग में सुनाया कि वे किसी काम से सरदार पटेल को मिलने गए। उनके सत्कार के लिए मणिबेन कुछ खाने-पीने को लाईं। मणिबेन की धोती शिर पर फटी थी। यह देखकर श्री त्यागी ने, जैसाकि उनका विनोदी स्वभाव था, मणिबेन को कहा कि—''तुझे देखके कौन भारत के गृहमन्त्री की लड़की कहेगा? सड़क के किनारे पर बैठ जावे तो लोग भिखारिन समझकर पैसे फैंकने शुरू कर देंगे।'' सरदार पटेल ने हँसते हुए कहा—''त्यागी कह तो ठीक ही रहा है। लगती तो मणिबेन ऐसी ही है।'' मणिबेन ने कहा—''सब ठीक है, पिताजी की आवश्यकता-निवृत्ति के बाद जो सूत बचता है, मुझे निर्वाह तो उसी में करना है।''

इस दृश्य को देखकर और उच्च आदर्श की बात को सुनकर किसके मन में सादा जीवन के लिए आदर के भाव उत्पन्न न होंगे?

भारत की स्वाधीनता के प्रारम्भिक काल में जो अन्तरिम सरकार बनी, उसमें डॉ० राजेन्द्रप्रसाद खाद्यमन्त्री थे। अन्न की कमी उस समय भी थी। डॉ० प्रसाद ने अपने मन्त्रित्व-काल में ख़ालिस गेहूँ की रोटी नहीं खाई। वे कहते थे—''जैसा अन्न मेरे देशवासियों को उपलब्ध है, मेरा कर्त्तव्य है कि मैं भी वैसे में ही निर्वाह करूँ।'' राष्ट्रपति होते हुए भी उनका वही सादा बिहारी भोजन, चबैना और सत्तू था और नङ्गे पाँव घूमते रहते थे।

अतः भारत का उद्धार करना है तो उन पवित्र आदर्शों को अपने जीवन का अङ्ग बनाना होगा।

इस पवित्र मन्त्र में उसी भोग-लिप्सा को त्यागकर कृषि जैसे पवित्र साधनों से स्वयं निर्वाह करते हुए और देश की आवश्यकता पूर्त्ति में सहायक बनकर अपने जीवन को सफल बनाने का परामर्श है। ❑❑

प्रथमा संस्कृति

अच्छिन्नस्य ते देव सोम सुवीर्यस्य रायस्पोषस्य दद्वितारः स्याम।
सा प्रथमा सँस्कृतिर्विश्ववारा स प्रथमो वरुणो मित्रोऽअग्निः॥

—यजुः० ७।१४

ऋषिः—वत्सारः काश्यपः॥ **देवता**—विश्वेदेवाः॥ **छन्दः**—स्वराड्जगती॥

अन्वयः—(हे) देव सोम! सुवीर्यस्य अच्छिन्नस्य ते रायस्पोषस्य ददितारः स्याम। सा प्रथमा विश्ववारा संस्कृतिः वरुणः अग्निः सः प्रथमः मित्रः॥

शब्दार्थ—हे (**देव सोम**) दिव्यगुणयुक्त, चराचर जगत् के रचयिता! (**सुवीर्यस्य**) महान् बलयुक्त (**ते**) आपके (**अच्छिन्नस्य**) अखण्ड, अक्षय (**रायस्पोषस्य**) ज्ञानैश्वर्य के परिपोषक [और] (**ददितारः स्याम**) देनेवाले, प्रचार करनेवाले हम सदा रहें। (**सा**) वह (**प्रथमा**) सबसे पहली और उत्तम (**विश्ववारा**) सम्पूर्ण संसार के द्वारा स्वीकार करने योग्य (**संस्कृतिः**) विद्या-सुशिक्षाजनित नीति, व्यवहारपद्धति है, (**वरुणः**) वरने योग्य, स्वीकार करने योग्य (**अग्निः**) प्रकाशस्वरूप (**सः**) वह, आप (**प्रथमः**) आदिमूल और उत्कृष्ट (**मित्रः**) हितभावना से त्राण करनेवाले, प्राणिमात्र का कल्याण करनेवाले आप ही हैं।

मन्त्र में कहा गया है कि इस चराचर जगत् का आदिमूल, अक्षय ज्ञानैश्वर्य का भण्डार सच्चे मित्र के समान हितसाधक वह प्रभु ही है। उसीने हमारे संसार में आते ही अपनी सर्वोत्कृष्ट संस्कृति लोक और परलोक साधने के लिए हमें दी। हमारा कर्त्तव्य है कि हम अपने और समाज के कल्याण के लिए उस उत्तम धर्ममार्ग को अपनाकर संसार को सन्ताप से बचावें।

व्याख्या—जिन परिष्कृत भावनाओं और संस्कारों के आधार पर समाज में मनुष्य अपने व्यवहार से इस प्रकार के उदाहरण प्रस्तुत करता है कि जिसमें व्यक्ति का केवल अपना स्वार्थ सिद्ध न होकर मानवमात्र का और यथासम्भव प्राणिमात्र का हित हो, उन विचार-परम्पराओं का नाम ही संस्कृति है। संस्कृति-पदवाच्य उत्कृष्ट गुण, व्यक्ति में स्वतः उत्पन्न नहीं होते, अपितु सुशिक्षित अनुभवी माता, पिता, गुरु और समाज के वयोवृद्ध व्यक्तियों की प्रारम्भ से ही प्राप्त होनेवाली सुशिक्षा के परिणामस्वरूप उत्पन्न होते हैं।

छोटे बच्चे को कोई भी वस्तु दीजिये, यदि वह उसके हाथों की पकड़ में है तो उसे तुरन्त पकड़कर अपने मुँह की ओर ले जाएगा। कुछ बड़ा होने पर वही बालक जिन्हें अपना समझने लगता है, उन्हें

अपनी प्रिय वस्तु भी देने लगता है। ये ही विचार आयु के साथ मस्तिष्क के विकसित होने पर उत्तरोत्तर बढ़ते हैं और इनके आधार पर ही परिवार, वर्ग और समाज के भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के साथ व्यवहार के कुछ नियम नियत होते जाते हैं, इन्हें ही एक उन्नत समाज की भाषा में संस्कृति कहा जाता है।

इस विश्लेषण से यह स्पष्ट हुआ कि अपनों के लिए व्यक्ति अपने स्वार्थ की उपेक्षा करके त्याग करने को उद्यत हो जाता है। इस त्याग के परिणामस्वरूप हुई अपनी हानि से और दूसरे के लाभ से उसे दुःख न होकर सुख होता है। इतने उदात्त मानवीय गुणों से अनुप्राणित कोई भी समाज और राष्ट्र सुसंस्कृत और महान् कहलाता है।

समाज और देश की उन्नत और अवनत दशा को मापने का एक ही मापदण्ड है और वह है संस्कृति। संस्कृति की उल्लिखित परिभाषा के आधार पर जब हम वैदिक संस्कृति से अनुप्राणित भारत के अतीतकाल को देखते हैं, तो स्वाभिमान से मस्तक उन्नत हो जाता है।

वैदिक संस्कृति में जीवन-यापन का जो उच्च आदर्श रक्खा है, वह संसार को स्वर्गधाम बनानेवाला है।

वेद ने मनुष्य की तो बात ही क्या है, प्राणिमात्र को आत्मतत्त्व की दृष्टि से अपना बताया है—

यस्मिन्त्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥ —यजु० ४०।७

'जो ज्ञानी समस्त प्राणियों के सुख-दुःख को अपने सुख-दुःख जैसा समझता है, उस समदर्शी मनुष्य को शोक और मोह नहीं होता।' इसी मन्त्र के भाव के आधार पर गीता में कहा—

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गविहस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥

'विद्वान् ब्राह्मण, गौ, हाथी, कुत्ते और चाण्डाल में समान रूप से सुख-दुःख अनुभव करनेवाला आत्मा तो एक-जैसा ही है।' महाभारत में व्यास ऋषि ने धर्म का मुख्य स्वरूप बताते हुए कहा—

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम्।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषान्न समाचरेत्॥

'धर्म का सार सुनो और सुनके उस पर आचरण करो। वह तत्त्व की बात यह है कि जिस आचरण को तुम अपने लिए पसन्द नहीं करते, उसे दूसरों के साथ कभी मत करो।'

अन्यत्र भी यही बात बहुत प्रभावशाली ढंग से कही—

श्लोकार्धेन प्रवक्ष्यामि यदुक्तं ग्रन्थकोटिभिः।
परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्॥

'जो बात विवेचकों ने करोड़ों पोथे रचकर प्रकट की है, उसे मैं आधे श्लोक में कहता हूँ—दूसरों की भलाई के काम करना ही धर्म है, मानवता है और दूसरों को दुःख देनेवाले काम करना ही पाप है—पशुता है।'

यह तो हुआ सिद्धान्त, इसको व्यावहारिक रूप में हम जब आर्यों के पुरातन इतिहास में देखते हैं तो एक विस्मयमिश्रित सुख की अनुभूति होती है। अब से लाखों वर्ष पूर्व लिखे रामायण के इतिहास में अयोध्या नगरी और समस्त देश के निवासियों का जो उच्चकोटि का व्यवहार वर्णित है, वह अनुपम है—

कामी वा न कदर्यो वा नृशंसः पुरुषः क्वचित्।
द्रष्टुं शक्यमयोध्यायां नाविद्वान्न च नास्तिकः॥

'सारी अयोध्या में कामी, कायर, क्रूर, अविद्वान् और नास्तिक नहीं था।'

नानाहिताग्निर्नायज्वान्न क्षुद्रो वा न तस्करः।

'प्रतिदिन यज्ञ न करनेवाला, अनुदार, स्वार्थी और चोर कोई नहीं था।'

सर्वे नराश्च नार्यश्च धर्मशीलाः सुसंयताः।

'सभी स्त्री-पुरुष धार्मिक और उच्चकोटि के संयमी थे।'

द्रष्टुं शक्यमयोध्यायां नापि राजन्यभक्तिमान्।

'समस्त प्रजा सुखी थी और सारे राज्य में राजद्रोही भी कोई नहीं था।'

छान्दोग्य उपनिषद् अध्याय ११ में वर्णित है कि प्राचीनकाल में केकय देश के राजा अश्वपति के पास सत्य, यज्ञ, इन्द्रद्युम्न आदि मुनि मिलने आए। एक प्रसङ्ग उपस्थित होने पर राजा अश्वपति ने अपने राज्य की व्यवस्था के विषय में कहा—

न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपः।
नानाहिताग्निर्नाविद्वान्न स्वैरी स्वैरिणी कुतः॥

'मेरे देश में कोई चोर नहीं है, न कोई कृपण और न शराबी है, यज्ञ न करनेवाला कोई नहीं है, अविद्वान् कोई नहीं है, चरित्रहीन नहीं है, और जब दुश्चरित्र पुरुष ही नहीं है तो दुराचारिणी स्त्री होने का तो प्रश्न ही नहीं है।'

महाभारत के शान्तिपर्व के ७०वें अध्याय में इसका और विस्तार किया गया है। महाराज अश्वपति अपने देश के ब्राह्मणों के विषय में कहते हैं—

न च मे ब्राह्मणोऽविद्वान् नाव्रती नाप्यसोमपः।
अध्यापयन्त्यधीयन्ते यजन्ते याजयन्ति च॥

'मेरे राज्य में कोई ब्राह्मण अविद्वान्, व्रतहीन और मद्यपान करनेवाला नहीं है। ब्राह्मण पढ़ते हैं, पढ़ाते हैं और यज्ञ स्वयं करते तथा कराते हैं, दान देते और लेते हैं। ब्राह्मणों के शास्त्रोक्त कर्मों का पालन करते हैं।' आगे और आलङ्कारिक ढंग से अपने अन्दर एक राक्षस के प्रवेश को रोकते हुए कहा—

पूजिताः संविभक्ताश्च मृदवः सत्यवादिनः।
ब्राह्मणा मे स्वकर्मस्था मा ममान्तरमाविश॥

'मेरे राज्य में ब्राह्मणों का आदर होता है, वे भी अपने कर्त्तव्य का निष्ठा से पालन करते हैं। मेरे राज्य के ब्राह्मण दयालु और सत्यवादी हैं, अतः तू मेरे अन्दर प्रवेश मत कर!'

ब्राह्मणान् परिरक्षन्ति संग्रामेष्वपलायिनः।
क्षत्रिया मे स्वकर्मस्था मा ममान्तरमाविश॥

'मेरे राज्य के क्षत्रिय ब्राह्मणों के रक्षक हैं, युद्ध में शत्रु के सम्मुख वीरता से युद्ध करते हैं, अतः मेरे क्षत्रिय भी अपने कर्त्तव्य का पालन करते हैं। इसलिए तू मुझमें प्रवेश मत कर!'

कृषिगोरक्षवाणिज्यमुपजीवन्त्यमायया।
अप्रमत्ताः क्रियावन्तः सुवृत्ताः सत्यवादिनः॥

'कृषि, गोपालन, व्यापार आदि काम सरलभाव से करनेवाले सदा जागरूक, निरन्तर क्रियाशील सदाचारी और सत्यवादी—

संविभागं दमं शौचं सौहृदञ्च व्यपाश्रिताः।
मम वैश्याः स्वकर्मस्था मा ममान्तरमाविश॥

उत्पादन का ठीक विभागशः उपभोग करनेवाले, जितेन्द्रिय, मन-वचन-कर्म से पवित्र, मित्रता का निर्वाह करनेवाले मेरे वैश्य भी कर्त्तव्य-परायण हैं। इसलिए तू मुझमें प्रवेश मत कर!' अन्त में और कहा—

न मे राष्ट्रे विधवा ब्रह्मबन्धुर्न ब्राह्मणः कितवो नोत चौरः।
नायाज्ययाजी न च पापकर्मा न मे भयं विद्यते राक्षसेभ्यः॥

'मेरे राष्ट्र में कोई विधवा नहीं है, कोई ब्राह्मणद्वेषी ब्राह्मण नहीं है। कोई जुआरी और चोर नहीं है। कर्मकाण्ड से अनभिज्ञ कोई यज्ञ नहीं कराता और सारे राज्य में कोई भी पापी नहीं है। इसलिए मुझे राक्षसों से कोई डर नहीं है।'

ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्या ह्यत्र शूद्राश्च धार्मिकाः।
नानावृष्टिभयं तत्र न दुर्भिक्षन्न विभ्रमः॥

'जिस राज्य में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र धर्मपरायण होते हैं, वहाँ सूखा, अकाल और किसी दैवी विपत्ति का कोई डर नहीं होता।' कितनी निर्दोष और पवित्र शासन-व्यवस्था है!!

रघुवंश में रघु के राज्य का वर्णन करते हुए कालिदास लिखते हैं कि जब रघु के पुत्र का जन्म हुआ तो पुत्र-प्राप्ति की प्रसन्नता में महाराज ने आदेश दिया कि आज के दिन हमारे बन्दीगृहों में जितने भी बन्दी हों उन्हें राजकुमार के जन्मोत्सव की प्रसन्नता में छोड़ दिया जाय। इस पर कालिदास लिखते हैं—

न संयतस्तस्य बभूव रक्षितुर्विसर्जयेद्यं सुतजन्महर्षितः।

'प्रजा के रक्षक रघु के राज्य में जेलख़ानों में कोई बन्दी नहीं था, जिसे बन्धनमुक्त करके वह पुत्रोत्सव में वृद्धि कर लेता।' इस कारण उसने कुछ हाथियों की शृङ्खलाएँ कटवाकर और कुछ घोड़ों के रस्से खुलवाकर उन्हें स्वतन्त्र करके पुत्रोत्सव को मनाया।

वैदिक संस्कृति के युग में यह था सामाजिक जीवन, जो इस समय के बड़े कहलानेवाले किसी भी राष्ट्र में नहीं है। सभी देशों में चोरी, डाके, हत्या और बलात्कार जैसे जघन्य अपराध होते हैं। सन् १९६२ में हिन्दी के विख्यात लेखक, अनुभवी सांसद स्व० सेठ गोविन्ददास अमरीका गए और ६ मास तक निरन्तर घूमकर अमरीका की स्थिति का अध्ययन करते रहे। उन्होंने भारत में आकर अपने भ्रमण के विषय में 'धर्मयुग' में एक लेख लिखा जिसमें अमरीका के सरकारी कागज़ात के आधार पर जो अपराध-तालिका दी, उससे यह निष्कर्ष निकला कि अमरीका में एक मिनट से भी कम समय में एक बड़ा अपराध हो जाता है। इंग्लैण्ड में लोग चोरों से आतङ्कित होकर अपने घर के सब सामान का बीमा कराके रखते हैं।

सारे संसार का वायुमण्डल अशान्त और विक्षुब्ध है। वैज्ञानिकों का मस्तिष्क संहारक अस्त्रों के आविष्कार में लगा हुआ है। एक देश के आविष्कृत अस्त्र के विषय में ज्यों ही दूसरे राष्ट्रों को सूचना मिलती है, उन-उन देशों के वैज्ञानिक उसकी अपेक्षा अधिक घातक अस्त्र के अनुसन्धान में संलग्न हो जाते हैं। आज विश्व बारूदी सुरङ्ग पर बैठा हुआ है। न जाने कब धमाका हो और संसार विनष्ट हो जाय!

मनुष्य को कुपथ से सुपथ पर विचार ही ला सकते हैं और वे जीवनदायी विचार वैदिक संस्कृति में ही हैं। इस संस्कृति में भौतिक उन्नति से कोई विरोध नहीं है। भारत के अतीतकाल में यहाँ भी भौतिक उत्कर्ष कम नहीं था। कतिपय अंशों में वैज्ञानिक उन्नति भी चौंकानेवाली थी। राम के राज्य का वर्णन करते हुए वाल्मीकि ने लिखा है—

''**अदंशमशकं राज्यं नष्टव्यालसरीसृपम्**''—'राम के राज्य में मक्खी-मच्छर, साँप और बिच्छू सब समाप्त कर दिये थे।' इसका अर्थ है कि उनका रहन-सहन उच्चकोटि के ज्ञान से युक्त था। सम्पूर्ण राष्ट्र में किसी अविद्वान् का न होना भी उन्नति की पराकाष्ठा है। उत्कर्ष की चरम सीमा पर समझे जानेवाले अमरीका में आज भी करोड़ों निरक्षर

हैं। ४।९।८३ के रविवासरीय 'नवभारत' में "अमेरिका का हर पाँचवाँ प्रौढ़ अनपढ़" है, शीर्षक से आलोक भट्टाचार्य का एक लेख प्रकाशित हुआ था। लेख के कुछ अंश इस प्रकार हैं—

"हाल ही में अमेरिकी नागरिकों ने रोनाल्ड रेगन के उस प्रस्ताव के ख़िलाफ़ तीखी प्रतिक्रिया ज़ाहिर की, जिसमें अमेरिकी राष्ट्रपति ने प्रौढ़शिक्षा के मद में ख़र्च होनेवाली राशि में ५० प्रतिशत की कटौती करते हुए उसे शस्त्रनिर्माण में जोड़ने की पेशकश की थी। अमेरिकी जनता का यह प्रतिवाद शिक्षा के प्रति उनके आग्रह का द्योतक नहीं माना जाना चाहिए, न ही इसे उनकी युद्ध-विरोधी मानसिकता के रूप में लिया जाना चाहिए। यह तो अमरीकी जनता द्वारा उस आसन्न घोर सङ्कट को रोकने के लिए तिलमिलाकर उठाया गया क़दम है, जो अशिक्षा के अभिशापस्वरूप निकट भविष्य में सारे अमेरिका को ग्रसने की तैयारी कर रहा है। वास्तव में न्युक्लीय शक्ति और आधुनिकतम मारक अस्त्र-शस्त्रों से विश्व में सर्वाधिक सम्पन्न होने का दम भरनेवाला भौतिकता का मारा यह एकाधिकारवादी देश शिक्षा के सन्दर्भ में आज लगभग चरम विपन्नता के कगार पर खड़ा है और इस पर तुर्रा यह कि अशिक्षा के इस पञ्जे से मुक्ति के लिए अमेरिकी सरकार में वह तड़प नहीं दिखाई देती, जो सम्प्रति वहाँ के बचे-खुचे कुछ शिक्षितों ने दिखाई है। वैसे सरकारी आँकड़ों के अनुसार अमेरिका में निरक्षरों की संख्या १ प्रतिशत से भी कम है, लेकिन यहाँ यह जान लेना बहुत ही रोचक होगा कि अमेरिकी सरकार के आँकड़ाबाज़ों ने "निरक्षर" की परिभाषा क्या बना रक्खी है। उनके अनुसार निरक्षर उसे ही कहा जाएगा, जिसने १४ वर्ष की उम्र पार कर लेने के बाद भी पाँचवीं कक्षा की पढ़ाई न की हो। ज़ाहिर है कि सरकार की इस परिभाषा को अमेरिका के शिक्षाविद् और समाजसास्त्री नहीं मानते।"

हाल ही में टैक्सास विश्वविद्यालय ने अपनी "एडल्ट पर्फ़ार्मेन्स लेवल प्रोजैक्ट" योजना के अन्तर्गत जो सर्वेक्षण किया, उसके परिणाम चौंकानेवाले हैं। इस सर्वेक्षण के अनुसार सरसरी तौर पर जिन्हें चिट्ठी-पत्री भी पढ़नी नहीं आती, अमेरिका में ऐसे लोगों (यानि फ़ंक्शनली इल्लिटरेट) की संख्या फ़िलहाल तीन करोड़ दो लाख है। तीन करोड़ सैंतालीस लाख लोग बिल्कुल ही पढ़ नहीं पाते। पाँच करोड़ इक्कीस लाख लोगों को दैनंदिन जीवन में काम आनेवाले प्राथमिक स्तर का हिसाब-किताब नहीं आता। चार करोड़ आठ लाख लोगों को सरकार के कर्त्तव्यों, नागरिकों के अधिकारों आदि के बारे में कोई ज्ञान नहीं है। 'यू०एस० न्यूज़ ऐंड वर्ल्ड रिपोर्ट' पत्रिका के अनुसार अमेरिका के हर पाँच प्रौढ़ व्यक्तियों में एक व्यक्ति व्यावहारिक रूप में बिल्कुल ही अनपढ़ है। न्यूयॉर्क शहर में किये गए एक साम्प्रतिक सर्वेक्षण के अनुसार

वहाँ १४ से २१ वर्ष की आयु-सीमा के तरुणों में से ८ प्रतिशत बिल्कुल ही निरक्षर हैं, दूसरे शहरों की हालत भी कमोबेश यही है। जो पढ़े-लिखे हैं उनकी शिक्षा का स्तर भी इतना घटिया है कि उन्हें वस्तुतः शिक्षित नहीं कहा जा सकता, भले ही वे साक्षर हों। सर्वेक्षण के अनुसार १३ प्रतिशत स्नातकों का शैक्षणिक स्तर छठी कक्षा के अनुकूल है। ओहियो विश्वविद्यालय के ४२ प्रतिशत छात्र-छात्राओं को उनके अंग्रेज़ी और गणित विषयों में निहायत कमज़ोर और अल्पज्ञान की वजह से विशेष कक्षाओं में जाने को बाध्य किया गया है। यही स्थिति मिसौरी विश्वविद्यालय की भी है। अमेरिका के प्रसिद्ध समाजशास्त्री और इतिहासकार डॉ० क्रिस्टोफर लैश के अनुसार ''कैलीफ़ोर्निया विश्वविद्यालय के ४० प्रतिशत से ६० प्रतिशत तक छात्र-छात्राओं को कमज़ोर अंग्रेज़ी को सुधारने के लिए विशेष कक्षाओं में जाना पड़ता है। विश्वविद्यालय में प्रवेश के लिए ली जानेवाली योग्यता-परीक्षा में ७५ प्रतिशत छात्र अनुत्तीर्ण होते हैं।'' यह है शैक्षणिक स्थिति इस बड़े राष्ट्र की। आज के इन बड़े राष्ट्रों की स्थिति को देखते हुए राज़ा अश्वपति और रामायण के समय का यह वर्णन कि सारे राज्य में कोई अविद्वान् नहीं है, कितनी बड़ी चीज़ है!

अतः मन्त्र में कहा गया है कि इस प्रथमा संस्कृति के आधार पर ही विश्व में सुख और शान्ति स्थापित हो सकती है।

❑❑

(४१)

कौन-से महान् गुण देश को स्वाधीन रख सकते हैं?

स॒त्यं बृ॒हदृ॒तमु॒ग्रं दी॒क्षा तपो॒ ब्रह्म॑ य॒ज्ञः पृ॑थि॒वीं धा॑रयन्ति।
सा नो॑ भू॒तस्य॒ भव्य॑स्य॒ पत्न्यु॒रुं लो॒कं पृ॑थि॒वी नः॑ कृणोतु॥

—अथर्व० १२।१।१

ऋषिः—अथर्वा॥ देवता—भूमिः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

अन्वयः—सत्यम् बृहत् ऋतम् उग्रम् दीक्षा तपः ब्रह्म यज्ञः पृथिवीम् धारयन्ति। भूतस्य भव्यस्य पत्नी सा नः पृथिवी नः उरुम् लोकम् कृणोतु॥

शब्दार्थ—(**सत्यम्**) सत्य (**बृहत्**) उद्यम (**ऋतम्**) सरल, निश्छल व्यवहार (**उग्रम्**) वीरता (**दीक्षा**) नियमनिष्ठा, (**तपः**) द्वन्द्वों की चिन्ता किये बिना कर्त्तव्यपालन (**ब्रह्म**) आस्तिकता (**यज्ञः**) मिलकर काम करने की भावना [ये आठ गुण] (**पृथिवीम्**) मातृभूमि की स्वाधीनता को (**धारयन्ति**) धारण करते हैं, सुरक्षित रखते हैं। (**भूतस्य**) अतीतकाल की (**भव्यस्य**) भविष्यत् की (**पत्नी**) रक्षा करनेवाली (**सा**) वह (**नः**) हमारी (**पृथिवी**) मातृभूमि (**नः**) हमारे लिए (**उरुम्**) विस्तृत (**लोकम्**) क्षेत्र को (**कृणोतु**) करे।

व्याख्या—भारत को स्वाधीन हुए ३५ वर्ष हो गए, किन्तु देश की प्रगति और देशवासियों की मनःस्थिति को देखते हुए हालत सन्तोषजनक नहीं कही जा सकती। अथर्ववेद के १२वें काण्ड का नाम पृथिवी सूक्त है। इसमें ६२ मन्त्र हैं। इन सभी मन्त्रों में देश के उत्थान, उसकी स्वाधीनता की रक्षा, नागरिकों के कर्त्तव्य आदि सभी बातों पर बहुत उच्चकोटि के विचार दिये गए हैं। हमारा विचारणीय यह मन्त्र पहला ही है। इस मन्त्र में राष्ट्रोत्थान के लिए नागरिकों में आठ गुणों का होना आवश्यक बताया गया है। उन सब गुणों पर संक्षेप से विचार कीजिये। स्वाधीनता की रक्षा और देश के विकास के लिए पहला गुण 'सत्य' बताया गया है। सत्य की अवहेलना करके कोई राष्ट्र न सशक्त हो सकता है और न समृद्ध। इसी रहस्य को समझकर हमारे ऋषि-महर्षियों ने '**सत्यमेव जयते**' का नारा बुलन्द किया था। भारत के नेताओं ने भी इसे ही अपना आदर्श माना था, किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से हम इससे बहुत दूर चले गए हैं। आज हमारे जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में असत्य का प्राबल्य है। संसद्-सदस्य और विधायक प्रारम्भ से ही असत्य का सहारा लेते हैं। निर्वाचित होने के पश्चात् व्यय-चित्र की खानापूरी में ९५ प्रतिशत

हेराफेरी करते हैं। नागरिकों के व्यवसाय और व्यापार में पद-पद पर झूठ है। खाने-पीने की वस्तुओं में मिलावट की क्या कहें! वनस्पति घी में हज़ारों टन गौ की चर्बी आयात करके मिश्रित कर दी, यह कितना जघन्य अपराध है! भारत जैसे देश में, जहाँ उसका बहुत बड़ा वर्ग गौ को पूजनीय समझता हो, उसे ही धोखा देकर गौ की चर्बी खिला दी जावे, इससे अधिक और पामरता नहीं हो सकती।

देश की इन सभी बीमारियों की एक ही अचूक औषध है और वह है सत्य व्यवहार। अतः देश की परिस्थिति में परिवर्तन के लिए आवश्यक है कि यहाँ का प्रत्येक नागरिक सत्यनिष्ठ हो। जो वह कहे, उस पर दूसरे को भरोसा और विश्वास हो।

मन्त्र में दूसरी बात कही '**बृहत्**'। लोक में बृहत् शब्द बड़े और महान् के अर्थ में प्रचलित है, किन्तु यह शब्द संस्कृत की 'बृहू उद्यमने' धातु से बना है, अतः इसका मुख्य अर्थ हुआ उद्यम, उद्योग। इस अर्थ की सङ्गति इस प्रकार भी लगाई जा सकती है कि संसार में जो उद्योगी और पुरुषार्थी होते हैं, वे ही महान् होते हैं। स्वाधीनता की रक्षा और देश की समृद्धि को बढ़ानेवाले इस दूसरे गुण की भी हमारे नागरिकों में बड़ी कमी है। यहाँ ९५ प्रतिशत लोग कामचोर हैं। सरकार के सभी संस्थान करोड़ों और अरबों के घाटे में हैं। काम करनेवालों में देश को ऊँचा और समृद्ध बनाने की उमङ्ग नहीं है। हमारे चिन्तन और व्यवहार में श्रम का आदर नहीं है। हम परिश्रम करनेवाले को छोटा समझते हैं और कुर्सी तोड़नेवाले को बड़ा। यह व्यावहारिक त्रुटि भी श्रम के उत्साह में बाधक है। भारत का आदमी छुट्टी के निर्धारित समय से एक घण्टा पहले ही ढीला पड़ जाता है और समाप्तप्राय काम को भी अगले दिन के लिए छोड़कर छुट्टी कर लेता है। इसके विपरीत जापानी श्रमी यदि आधा घण्टा या घण्टा अधिक समय लगाने से काम पूरा होता हो तो वह उसे पूरा करके ही छुट्टी करेगा। यह सद्‌गुण यहाँ के श्रमियों में भी होना चाहिए।

इसके अतिरिक्त धार्मिक शिक्षा ठीक न मिलने के कारण भारतीय लोग भाग्य के भरोसे बैठे रहते हैं। इन्हें यह ज्ञान ही नहीं है कि प्रारब्ध बनता ही पुरुषार्थ से है। प्रारम्भ शब्द का ही भूतकाल प्रारब्ध है। प्रारम्भ किया पुरुषार्थ फल देने की स्थिति में पहुँचकर प्रारब्ध, भाग्य बन जाता है। यदि पुरुषार्थ ही नहीं करेंगे तो प्रारब्ध कैसे बनेगा? वैदिक संस्कृति तो कहती है—"**कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः**" (यजु०)—सौ वर्ष तक जीने की इच्छा करो, किन्तु काम करते हुए ही। अथर्ववेद कहता है—"**कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य आहितः**"—यदि पुरुषार्थ मेरे दाएँ हाथ में है, तो सफलता मेरे बाएँ हाथ का खेल है। शास्त्रीय दृष्टि से कार्य के तीन भाग हैं—(१)

क्रियमाण, (२) सञ्चित और (३) प्रारब्ध। काम प्रारम्भ होकर जबतक समाप्त नहीं हुआ उसे क्रियमाण कहते हैं। समाप्त होने पर जबतक फल-प्राप्ति की स्थिति नहीं आती, उसे सञ्चित कहते हैं; सञ्चित का अर्थ है 'जमा' और सञ्चित कर्म जब फल देने की स्थिति में पहुँच जाता है तो उसे प्रारब्ध कहते हैं। उदाहरण से समझिये—एक कृषक फ़सल बोने की तैयारी के लिए खेत में हल चला रहा है और खेत के बिजाई-योग्य होने पर उसमें बीज बोता है—यहाँ तक के काम का नाम है क्रियमाण। बोया हुआ बीज अङ्कुरित हुआ, फिर उसकी सिंचाई-गुडाई हुई और फ़सल पककर तैयार हुई—इतनी अवधि का नाम है सञ्चित। बोया हुआ बीज अङ्कुरित-विकसित होकर फल देने की स्थिति में आ गया; अब इसके आगे फ़सल काटकर और दाने-भूसा घर में ले आया—इसका नाम हुआ प्रारब्ध। जो हल चलाकर खेती की तैयारी का काम प्रारम्भ किया था, उसका फल मिल गया, इसलिए इसे अब भूतकाल की क्रिया देकर कहेंगे, प्रारब्ध।

एक किसान खेत में चने बोकर कहे कि यदि भाग्य में, प्रारब्ध में हुआ तो गेहूँ की ऐसी फ़सल होगी कि सब घर-द्वार पट जाएँगे। स्पष्ट है कि ये चिन्तन मूर्खतापूर्ण हैं। भाग्य में तो तूने चने बोए हैं, वे ही मिलेंगे। इस विश्लेषण से यह सिद्ध है कि फलित ज्योतिष का सारा गोरखधन्धा ठगाई के लिए है। अत: काम के पहले ग्रह-नक्षत्र की बात करना कोरी मूर्खता है। नीति के महान् विद्वान् चाणक्य ने कौटिलीय अर्थशास्त्र में कहा है—

नक्षत्रमतिपृच्छन्तं बालमर्थोऽतिवर्तते।
अर्थोहि अर्थस्य नक्षत्रं किं करिष्यन्ति तारका:॥

'कार्यारम्भ के समय नक्षत्रों को पूछनेवाले बालक हैं, अपरिपक्व बुद्धि के हैं और ऐसों को कार्य में सफलता नहीं मिलती। जो काम जिस विधि से हो सकता है, वही अपनानी चाहिए, उससे ही काम होगा। उसमें ये आकाश के नक्षत्र क्या करेंगे?' अत: देश के निर्माण के लिए देशवासियों में दूसरा गुण उद्योग करने का होना चाहिए।

अब क्रमप्राप्त तीसरा गुण है '**ऋत**'। सामान्यतया ऋत शब्द सत्य का पर्याय समझा जाता है, किन्तु वेद और औपनिषत् साहित्य में यह सरल और निश्छल व्यवहार के लिए भी बहुधा प्रयुक्त हुआ है। समाज के स्वस्थ विकास के लिए इस गुण की बड़ी आवश्यकता है। इसके अभाव में दैनन्दिन व्यवहार में भी मनुष्य अनावश्यक उधेड़बुन में पड़ा रहता है। इस स्थिति में श्रम बढ़ जाता है और उपलब्धि कुछ नहीं होती, जैसे आजकल का अपने देश का राजनैतिक वातावरण है। प्रत्येक प्रदेश की शासकपार्टी गुटबन्दी की पकड़ में बुरी तरह जकड़ी हुई है। व्यर्थ का श्रम और चिन्तन देखना हो तो यहाँ देख लीजिये। बेचारा मुख्यमन्त्री

अपने प्रदेश की सुख-शान्ति की ओर कम और दिल्ली की तरफ़ अधिक देखता रहता है। गत अनेक वर्षों में यह देखने को मिला कि एक भले सांसद को दिल्ली से हटाकर प्रदेश का मुख्यमन्त्री बनाकर भेज दिया। जानेवाले ने भी यह समझा कि मेरा सम्मान बहुत बढ़ गया है, किन्तु एक वर्ष पूरा भी नहीं काट पाए और वह कहावत चरितार्थ हुई कि ''चौबेजी छब्बे होने गए थे, दूबे भी नहीं रहे।'' संसद् की मैम्बरी से त्यागपत्र दे ही बैठे थे, प्रादेशिक कुर्सी भी नीचे से साथियों ने खींच ली। ''फिरते हैं 'मीर' ख़्वार कोई पूछता नहीं।'' यह प्रजातन्त्र की दृष्टि से भी कोई स्वस्थ परम्परा नहीं है। इसके विपरीत, जीवन में सरलता हो तो मिलकर प्रदेश की कठिनाइयों का समाधान करें। स्वाधीनता के इन ४० वर्षों में जनता की प्राथमिक आवश्यकताओं की निवृत्ति भी नहीं हो पाई। अनेक प्रदेशों के देहात में पीने का पानी भी सुलभ नहीं है। महिलाओं के लिए देहात में शौचालयों की व्यवस्था तो कहीं भी नहीं हो पाई। अतः देशवासियों में आत्मीयता और एकसूत्रता की दृष्टि से ऋत का, निष्कपटता का व्यवहार परमावश्यक है।

इसके आगे आया '**उग्रम्**'=वीरता। यह गुण भी राज्य की सुरक्षा और स्थायित्व के लिए परमावश्यक है। सत्य की रक्षा के लिए शक्ति की परम आवश्यकता है। बुरी प्रकृति के व्यक्ति शक्ति के अंकुश से ही मर्यादित रह सकते हैं। संसार के प्रथम शासक और संविधान-निर्माता मनु ने दण्ड-शक्ति के प्रयोग पर विस्तार से प्रकाश डाला है—

दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वा दण्ड एवाभिरक्षति।
दण्डः सुप्तेषु जागर्ति दण्डं धर्मं बिदुर्बुधाः॥ —मनु० ७।१४

'दण्ड ही सब प्रजा पर शासन करता है, दण्ड ही जनता का संरक्षण करता है, सोते हुओं में दण्ड ही जागता है, अर्थात् दण्ड के भय से चोरी-जारी नहीं होती, इन गुणों के कारण विचारशील मनुष्य दण्ड को ही धर्म कहते हैं।'

यदि शासक के दण्ड का अङ्कुश न रहे तो—

दुष्येयुः सर्ववर्णाश्च भिद्येरन् सर्वसेतवः।
सर्वलोकप्रकोपश्च भवेद्दण्डस्य विभ्रमात्॥—मनु० ७।२४

'दण्डभय के बिना सब वर्ण दूषित हो जावें, सब मर्यादाएँ छिन्न-छिन्न हो जावें। दण्ड का ठीक-ठीक प्रयोग न हो तो सारा समाज विक्षुब्ध हो जावे।' अतः प्रजा की ठीक व्यवस्था शक्ति से ही सम्भव है। शक्ति के भय से दुष्ट निर्बल को सताएगा नहीं और निर्बल में भी यह साहस होगा कि वह अपने अधिकार की रक्षा के लिए उठ सके। क्षात्रशक्ति के दुर्बल होने पर बिचौलिये ही अपनी चौथ जनता से वसूल करने लगते हैं। बाहर के शत्रुओं से देश की रक्षा के लिए भी वीरता अनिवार्य है।

मन्त्र में इससे अगला गुण बताया '**दीक्षा**'। इस शब्द के धातु के

आधार पर 'मौण्ड्य, इज्या, नियम, व्रत और आदेश' ये पाँच अर्थ हैं। यहाँ इसका अर्थ 'नियमनिष्ठा या नीति' लेना उचित होगा। देश की रक्षा और व्यवस्था के लिए नीति-निपुणता भी परमावश्यक है। इससे शक्ति का दुरुपयोग नहीं होगा और दूसरों के आक्रामक कामों का प्रतिरोध भी हो सकेगा। महाभारतकाल में योगिराज कृष्ण की नीति-निपुणता ने ही पाण्डवों को विजयी बनाया और मर्यादा की रक्षा की। चन्द्रगुप्त मौर्य के महामन्त्री चाणक्य का भी नीति-कौशल प्रसिद्ध ही है।

इसके आगे एक बहुत महत्त्वपूर्ण गुण बताया '**तप**'। इसके भी धर्मशास्त्र और नीतिशास्त्र में अनेक अर्थ किये गए हैं और वे सभी महत्त्वपूर्ण हैं। गीता और योगदर्शन में द्वन्द्वसहन, सुख-दुःख, हानि-लाभ आदि में विचलित न होकर चलते जाने का नाम तप कहा है। महाभारत में युधिष्ठिर ने तप का अर्थ किया है—"**तपः स्वकर्मवर्तित्वम्**"— 'पूरी निष्ठा से कर्त्तव्यपालन' का नाम ही तप है। चाणक्य ने अपने सूत्र में तप की यह परिभाषा की है—"**तपः सार इन्द्रियनिग्रहः**"—तप का सार जितेन्द्रियता है। विलासी और ऐय्याश तप की पवित्रता को बनाए नहीं रख सकते।

इसके आगे मन्त्र में आया '**ब्रह्म**'। इसके भी ईश्वर, वेद, विज्ञानादि अनेक अर्थ हैं, उनमें से यहाँ आस्तिकता और धार्मिकता का भाव ग्रहण करें। इस गुण के बिना व्यक्ति के व्यवहार में पवित्रता नहीं आती। हमारे प्रत्येक अच्छे और बुरे कर्म का साक्षी भगवान् है, उससे मनुष्य बाहर के भले-बुरे कर्मों की तो बात ही क्या, मन के सङ्कल्प-विकल्प भी नहीं छिपा सकता। वह साक्षी भी ऐसा है कि जो अच्छे का अच्छा और बुरे का बुरा फल अवश्य देता है। यह ज्ञान होते ही मनुष्य अच्छे ही काम करेगा, बुरे नहीं; क्योंकि मनुष्य पाप भी तो लाभ और सुख की इच्छा से ही तो करता है। झूठ बोलता है तो सुख के लिए, चोरी आदि दुष्कर्म भी सुख की कामना से ही करता है। अतः राष्ट्र में धार्मिकता और आस्तिकता का प्रचार नितान्त आवश्यक है। भारत के प्राचीन आर्यों के जीवन में पवित्रता इन्हीं गुणों के कारण से थी। 'सैक्यूलर' शब्द के हिन्दी अनुवाद "धर्मनिरपेक्ष" ने और भी अधिक बिगाड़ किया है। संविधान की भाषा में 'असाम्प्रदायिक' अथवा 'सम्प्रदायनिरपेक्ष' शब्द का प्रचलन होना चाहिए। इस समय हमारे देश में दो सामाजिक दोष प्रबल हैं, एक ब्लैक मार्केटिंग और दूसरा रिश्वत। आपातकाल में भी ये दोनों दोष यथावत् बने रहे। ये दोष यदि निर्मूल हो सकते हैं तो आस्तिकता से।

श्री स्वामी स्वतन्त्रानन्द जी ने "आर्यसमाज के महाधन" नामक पुस्तक में कुछ आर्यसमाजी कार्यकर्त्ताओं के जीवन की विशेष घटनाओं का उल्लेख किया है। उनमें से एक महापुरुष भक्त फूलसिंह थे, जिन्होंने

कन्या गुरुकुल खानपुर और गुरुकुल भैंसवाल की स्थापना की। ये महानुभाव पटवारी थे और जिस प्रकार अन्य पटवारी किसानों से रिश्वत लेते हैं, ये भी लेते थे। इन्हें आर्यसमाज के सत्सङ्गों में जाने की रुचि हो गई। बुद्धि शुद्ध होने लगी और नियमित संध्या-हवन करने लगे। किन्तु जब भी संध्या करने बैठते, अन्दर से विचार आता कि एक ओर ईश्वर-भवन और दूसरी ओर रिश्वत! ये दोनों साथ-साथ कैसे चल सकते हैं? एक दिन निश्चय किया कि अब रिश्वत कभी नहीं लूँगा। थोड़े ही दिनों में इस बात की प्रसिद्धि हो गई और लोगों में उनका सम्मान बढ़ गया। किन्तु ज्यों-ज्यों मन पवित्र हुआ, थोड़ी-सी व्यावहारिक अशुद्धि भी चुभने लगी। अब भजन करने बैठे तो मन में विचार आने लगा, लोग तुझे महात्मा कहने लगे हैं—किन्तु तू हज़ारों रुपये लिये बैठा है! धीरे-धीरे इन विचारों के पकने पर एक दिन सर्विस के समय में लिये पैसों का योग लगाया। इसके बाद अपनी कृषि-भूमि का मूल्य लगाया तो परिणाम यह निकला कि रिश्वत में लिये पैसों को चुकाकर निर्वाह के योग्य भूमि बच जाती थी। बस, भूमि बेच दी और नौकरी जिस गाँव से प्रारम्भ की थी और जहाँ-जहाँ रहे, सब स्थानों पर पहुँचकर रिश्वत में लिये पैसे हाथ जोड़कर वापस किये। लोग आश्चर्य से उनकी मुखाकृति को देखते थे और श्रद्धा से उनके चरण छूते थे। स्पष्ट है कि मनुष्य को इतना पवित्र तो आस्तिकता और धर्म के संस्कार ही कर सकते हैं।

इसके आगे आठवाँ और अन्तिम गुण मन्त्र में गिनाया '**यज्ञ**'=मिलकर काम करना।

भारतीय अब इस कला को भूल गए हैं। इनका सम्मिलित कोई कार्य देर तक नहीं चलता। मिलकर चलने के लिए उदारता और निरभिमानता परमावश्यक है। सम्मिलित कार्य में क्षुद्र स्वार्थ की भावना तो आनी ही नहीं चाहिए।

यह शब्द 'यज्' धातु से बना है और इस धातु के देवपूजा, सङ्गतिकरण और दान, ये तीन अर्थ हैं। समुदाय में मिलकर काम करने के लिए इससे अधिक उपयुक्त दूसरा शब्द नहीं मिल सकता। जो देव हैं, विद्या, बल और आयु में बड़े हैं उनकी पूजा-आदर करो। यह समाज-सङ्गठन का पहला सूत्र है। जो सङ्गठन इन बड़ों की अवहेलना करेगा, वह यज्ञ का विध्वंस करेगा। आप इन बड़ों का आदर करके स्वयं लाभान्वित होंगे। आपके विनयपूर्ण व्यवहार से वे द्रवित होकर आपको बड़े-से-बड़े वर देने को उद्यत हो जावेंगे। यदि देव ज्ञानी हैं तो वे तुम्हें अपने ज्ञान-कोष की कुञ्जियाँ पकड़ा देंगे, विशेषकर विद्या के क्षेत्र के लिए तो यह और भी आवश्यक है। महर्षि मनु और आचार्य यास्क ने निरुक्त में कुछ श्लोकों द्वारा बड़े काव्यमय ढंग से इस तथ्य को प्रकट

किया है—

विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपायमाशेवधिष्टेऽहमस्मि।
असूयकायानृजवेऽयताय मां मा दा वीर्यवती तथा स्याम्॥

विद्या ने विद्वान् के पास आकर कहा—मैं तेरा कोष हूँ, इस कोष की सावधानी से रक्षा कर! इस कोष की कुञ्जी किसी अनधिकारी को मत पकड़ा देना! कुछ निर्देश करते हुए बताया—असूयकाय, दूसरे के यश को देखकर जलने-कुढ़नेवाले को मुझे मत देना! ऐसा व्यक्ति पढ़-लिखकर पात्रों को भी ज्ञान के प्रकाश से वञ्चित कर देगा। जो दूसरों की प्रतिभा को देखकर प्रसन्न हो, वही इस कोष का अधिकारी है। दूसरा कहा—अनृजवे, जो कपटी और कुटिल हो, वह भी मेरा अधिकारी नहीं है। ऐसा व्यक्ति भी अपनी कुचालों से समाज के वातावरण को विक्षुब्ध कर देगा। जो सरल और निष्कपट हों, उन्हें ही मेरा अधिकार देना! तीसरे अनधिकारी का निर्देश किया—आलसी और प्रमादी को भी मुझे मत देना! ऐसे व्यक्ति भी अपनी विद्या के बल पर मुफ्त के गुलछर्रे उड़ाना चाहते हैं। जो परिश्रमी और तपस्वी हों 'वही मेरे अधिकारी हैं।' ये सभी चेतावनियाँ बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। तो सबसे पहले जो ज्ञान में बड़े हैं, उन्हें समाज में उचित आदर मिले।

दूसरे नम्बर पर **'सङ्गतिकरण'**=बराबरवालों के साथ सौहार्दपूर्ण व्यवहार। क्रिया की प्रतिक्रिया अवश्य होती है। आपका औदार्यपूर्ण व्यवहार दूसरे को भी आपकी ओर आकृष्ट करेगा और आप दोनों समानता के आधार पर कार्यक्षेत्र में उतरकर अवश्य लक्ष्य तक पहुँचेंगे।

तीसरी बात है **'दान'**। जो ज्ञान में छोटे हैं उन्हें सत्परामर्श देकर मार्ग दिखाओ! जो बल में कम हैं उन्हें उनके कामों में शारीरिक शक्ति का व्यय करके सहारा दो, और जो विपन्न और निर्धन हैं उन्हें अपने श्रमार्जित धन में से उनके खड़े होने योग्य सहारा दो! आपके धन का इससे उत्तम उपयोग क्या होगा कि एक उजड़ता परिवार बस जावे! लक्ष्मी चञ्चला है, यह सदा रहनेवाली नहीं है, अतः इससे समय पर उत्तम कर्म कर लेना ही बुद्धिमत्ता है। उक्त तीनों विशेषताएँ मिलकर काम करने के लिए अनिवार्य हैं। कविवर रहीम का भी बहुत उचित परामर्श है—

पानी बाढ्यो नाव में, घर में बाढ्यो दाम।
दोऊ हाथ उलीचिये, यही सयानो काम॥

बुद्धिमान् व्यक्ति की लम्बी आयु का अनुभव भी बहुत महत्त्वपूर्ण होता है। जिस जानकारी को आप अनेक पुस्तकें पलटकर प्राप्त करेंगे, उसे आप वयोवृद्ध से उसकी जीवन की अनुभव-पुस्तक से सरलता से उपलब्ध कर सकेंगे। ऐसे अनुभवी वयोवृद्धों के लिए किसी संस्कृत कवि ने बहुत सुन्दर कहा है—

प्रवृद्धवयसः पुंसो धियः पाकः प्रजायते।
जीर्णस्य चन्दनतरो आमोद उपजायते॥

'लम्बी आयुवाले मनुष्य की बुद्धि उसी प्रकार परिपक्व हो जाती है, जिस प्रकार चन्दन के जर्जर वृक्ष में भी सुगन्ध परिपक्व रहती है।' अतः समाज में इन अनुभववृद्धों का भी उचित सम्मानपूर्वक उपयोग होना चाहिए। इस प्रकार समाज के सभी प्रकार की योग्यतावाले व्यक्ति सद्भावना से अपने कर्त्तव्य का पालन करें तो ऐसा राष्ट्र सदा स्वाधीन और स्वावलम्बी बना रहेगा।

मन्त्र के उत्तरार्ध में कहा—

सा नो भूतस्य भव्यस्य पत्नी—'वह मातृभूमि हमारे भूत और भविष्यत् की रक्षा करनेवाली हो।' वर्त्तमानकाल तो एक झीना-सा पर्दा है, नहीं तो यह भूत और भविष्यत् के गर्भ में ही रहता है। जातियाँ भी अपने अतीतकाल की अच्छाइयों और बुराइयों से शिक्षा लेकर वर्त्तमान का निर्माण करती हैं। अपने पूर्वजों के सद्गुणों को हम अपने जीवन में धारण करें। हानि पहुँचानेवाली उनकी त्रुटियों को जीवन में न आने दें तो वर्त्तमान में श्रम करके हम अपने भविष्य को उज्ज्वल बना लेंगे। प्रसिद्ध इतिहासकार यदुनाथ सरकार ने इस विषय में बहुत महत्त्वपूर्ण बात कही है—

"Nations live on their past, in their present for their future."—'जातियाँ भूत के आधार पर वर्त्तमान में काम करके भविष्यत् का निर्माण करती हैं।' मन्त्र में यही कहा है कि वह मातृभूमि भूत और भविष्यत् को सुरक्षित करके "**नः उरुं लोकं कृणोतु**" जीवन में सुविधा से सानन्द जीवन-यापन के लिए विशाल क्षेत्र और अवसर दे।

प्रभु कृपा करें कि हम अपना कर्त्तव्य निभाकर मातृभूमि को समुन्नत करें।

नसीबा जो जागा है अबके हमारा।
बिके हाथ जिनके उन्हें मोल लेंगे॥

❑❑

(४२)

साम्प्रदायिक झगड़ों को मिटाकर देश को समृद्ध करने का उपाय

जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं नानाधर्माणं पृथिवी यथौकसम्।
सहस्रं धारा द्रविणस्य मे दुहां ध्रुवेव धेनुरनपस्फुरन्ती॥

—अथर्व० १२।१।४५

ऋषिः—अथर्वा॥ देवता—पृथिवी॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

अन्वयः—विवाचसम् नानाधर्माणम् बहुधा जनम् यथौकसम् बिभ्रती पृथिवी अनपस्फुरन्ती ध्रुवा धेनु इव द्रविणस्य सहस्रं धारा दुहाम्॥

शब्दार्थ—(**विवाचसम्**) विविध भाषाओं को बोलनेवाले (**नानाधर्माणम्**) अनेक विचार और क्रियाकलापवाले (**बहुधा**) बहुत-से और बहुत प्रकार के आकार-प्रकार और रङ्ग-रूपवाले (**जनम्**) लोगों को (**यथौकसम्**) जैसे एक परिवार के छोटे-बड़े एक घर में रहते हैं [उस प्रकार से] (**बिभ्रती**) धारण करनेवाली (**पृथिवी**) मातृभूमि (**अनपस्फुरन्ती**) बिना हिले-जुले, निश्चल (**ध्रुवा**) स्थिरभाव से खड़ी (**धेनु इव**) गौ के समान (**द्रविणस्य**) धन की [अन्न, फल, फूल, सोना, चाँदी, तांबा, लोहा आदि की] (**सहस्रं धारा**) जैसे गौ के स्तनों में से दुग्धधाराएँ निकलती हैं उसी प्रकार हज़ारों धाराएँ (**दुहाम्**) हमें प्राप्त हों।

व्याख्या—यह हमारा दुर्भाग्य ही कहा जाएगा कि लम्बी दासता के बाद जब हमारी मातृभूमि स्वाधीन हुई तो दो टुकड़ों में विभक्त होकर। उस समय के हमारे कर्णधार दावे तो बढ़-बढ़के करते रहे कि हम भारत का विभाजन कभी नहीं होने देंगे। उस समय के सर्वोपरि नेता महात्मा गांधी ने तो यहाँ तक कहा कि देश का बँटवारा नहीं होने दूँगा, चाहे मुझे अपना जीवन त्यागना पड़े, किन्तु देश का बँटवारा हुआ।

यह विभाजन का कड़वा घूँट न चाहते हुए भी हमने इसलिए गले से नीचे उतारा था कि हिन्दु और मुसलमानों के प्रतिदिन के झगड़े मिट जाएँगे। मुसलमान अपनी बहिश्त का आनन्द लें और हिन्दु भारत में शान्ति से रहें।

किन्तु हमारे नेताओं ने फिर अदूरदर्शिता की कि मुसलमानों को भी यहाँ रहने की अनुमति दे दी। मि० जिन्ना ने उस समय बड़ी व्यावहारिक बात कही थी कि विभक्त हुए पाकिस्तान के हिन्दु भारत में चले जावें और भारत के मुसलमान पाकिस्तान में आ जावें, किन्तु

हमारे नेताओं को आदर्शवाद के पागलपन ने अन्धा बना दिया था। ये विभाजन के बाद भी वही घिसी-पिटी बातें कहते रहे "कांग्रेस ने दो राष्ट्र के सिद्धान्त को कभी नहीं माना है।" इनसे पूछा जा सकता है कि दो राष्ट्र के सिद्धान्त का जो कुपरिणाम देश का विभाजन है, यह तो आपने मान लिया, फिर उस सिद्धान्त का न मानना कैसे बचा रहा? इस ग़लत निर्णय के परिणामस्वरूप वे मुसलमान यहीं रह गए जिन्होंने पाकिस्तान बनने के पक्ष में अपना मत प्रकट किया था।

इस स्थापना के प्रमाण के लिए श्री अशोक मेहता द्वारा लिखित पुस्तक "पोलिटिकल माइँड ऑफ इण्डिया" (भारत का राजनैतिक मानस) नाम की पुस्तक को पढ़िये। इस पुस्तक में १९४७ के आम चुनावों के विश्लेषण से सिद्ध किया है कि इस निर्णायक निर्वाचन में ९३ प्रतिशत मुसलमान मतदाओं ने मुस्लिम लीग और देश का विभाजन करने के पक्ष में अपना मत दिया था। जिन ७ प्रतिशत मुस्लिम मतदाताओं ने मुस्लिम लीग और पाकिस्तान के विरोध में मत दिया वे मुख्यतया पश्चिमी पंजाब, सिंध और पख्तूनिस्तान के थे। ये तीनों क्षेत्र अब पाकिस्तान में हैं।

उस समय अखण्ड भारत की जनसंख्या में लगभग २३ प्रतिशत मुसलमान थे, परन्तु विभाजन के फलस्वरूप उन्हें अखण्ड हिन्दुस्तान की भूमि का लगभग ३० प्रतिशत भाग दिया गया और पाकिस्तान के नाम से इस्लामी राज्य बन गया। इस प्रकार भारत में बचे मुसलमानों का भारत पर कोई नैतिक आधार भारत की भूमि पर नहीं बनता, जैसा प्रसिद्ध विधिवेत्ता और विद्वान् डॉ० भीमराव अम्बेडकर ने, उन्हीं दिनों में प्रकाशित प्रसिद्ध पुस्तक "थॉट्स ऑन पाकिस्तान" में स्पष्ट लिखा था, "नव उदित पाकिस्तान में बचे ढाई करोड़ हिन्दुओं की भारत में रह गए, ढाई करोड़ मुसलमानों के साथ अदलाबदली हो जानी चाहिए थी। यह सर्वोत्तम समाधान था।"

अब स्थिति अधिक उलझनपूर्ण हो गई। भारत में रहे ढाई करोड़ मुसलमान फल-फूलकर तीन गुने हो गए। सन् १९५१ की जनसंख्या में मुसलमान लगभग ३ करोड़ थे जो १९६१ में ४ करोड़ बीस लाख, १९७१ में ५ करोड़ सत्तर लाख और १९८१ में लगभग आठ करोड़ हो गए। इस समय भारत की जनसंख्या में मुसलमान ११ प्रतिशत हैं। अबतक भारत में दो मुसलमान राष्ट्रपति बन चुके हैं, दो सुप्रीमकोर्ट के मुख्य न्यायाधीश। एक मुसलमान वायुसेना का प्रमुख और बीसियों मुसलमान राज्यपाल, न्यायाधीश, केन्द्र तथा प्रदेशों के मन्त्री और मुख्यमन्त्री-पदों पर आसीन रहे हैं। बिहार, राजस्थान, महाराष्ट्र और मणिपुर जैसे हिन्दुबहुल राज्यों में भी समय-समय पर मुसलमान मुख्यमन्त्री रहे हैं। जिस मुस्लिम लीग ने "द्विराष्ट्र" सिद्धान्त का

प्रतिपादन किया और राष्ट्र-विभाजन जैसा राष्ट्रद्रोही काम किया था, वह भी वर्षों से केरल राज्य की सत्ता में सहभागी रही है।

देशभर में नयी-नयी मस्जिदें बन रही हैं। पुरानी मस्जिदों का जीर्णोद्धार हो रहा है। इन मस्जिदों में लगे लाउडस्पीकर लोगों की नींद हराम करते रहते हैं।

उधर दूसरी ओर पाकिस्तान में रहे हिन्दुओं की अवस्था देखिये। सन् १९४७ में पश्चिमी पाकिस्तान में रहे हिन्दु और सिखों की संख्या एक करोड़ थी और वे वहाँ की उस समय की जनसंख्या के २३ प्रतिशत थे। अब उनकी संख्या बढ़ने की बात ही दूर है, ९० लाख से भी अधिक घटकर एक लाख से भी कम रह गई है और पाकिस्तान में उनकी हैसियत दूसरे दर्जे के नागरिक की है।

पूर्वी पाकिस्तान में हिन्दु ३० प्रतिशत थे और उनकी संख्या लगभग डेढ़ करोड़ थी। पाकिस्तान की स्थापना के समय से अबतक वहाँ की आबादी दुगुनी हो गई है, किन्तु वहाँ के हिन्दु और बौद्धों की संख्या बढ़ने की तो बात ही क्या है, आधी भी नहीं रही है।

भारत की उदारनीति और राजनैतिक पार्टियों के सत्ता में आने और रहने के प्रलोभन से मुसलमानों की मनोवृत्ति फिर दूषित हो गई है। गत कई वर्षों से उसी प्रकार के हिन्दु-मुसलमान के झगड़े होने लग गए हैं, जैसे अविभाजित भारत में हुआ करते थे। मन्दिर की आरती और मस्जिद की अज़ान पर, भारत के विभिन्न नगरों में, यहाँ तक कि भारत की राजधानी दिल्ली में भी झगड़े होते हैं। मुसलमान अपनी संख्या के अनुपात में पुलिस और दूसरे अर्धसैनिक संगठनों में मुसलमानों की भर्ती की माँग कर रहे हैं। परिणाम यह है कि जिस अशान्ति से बचने के लिए राष्ट्र का विभाजन स्वीकार किया था, वह व्यर्थ गया।

राजनेता वोट कटने और कुर्सी खिसकने के भय से मुसलमानों को खरी बात कहने में कतराते हैं और झगड़ा होने पर ऊपर की लीपा-पोती करते हैं। राष्ट्रहित में बनाए गए कानून को भी ''शरीयत'' का राग अलापकर मुसलमानों पर लागू नहीं होने देना चाहते। परिवार-नियोजन लगभग सारा हिन्दुओं के करने से हो रहा है और मुसलमान राजनैतिक उद्देश्य से और अधिक सन्तान पैदा करके अपनी संख्या बढ़ाकर सत्ता हथियाने का स्वप्न देख रहे हैं।

अरब राष्ट्रों से विभिन्न बहानों से पैसा लाकर निर्धन हरिजनों और पिछड़ी जातियों को प्रलोभन देकर मुसलमानों की संख्या को बढ़ाना भी उसी सत्ताप्राप्ति की योजना का ही एक अङ्ग है।

इसी प्रकार भारत में ईसाई मिश्नरियों की गतिविधियाँ भी कम भयङ्कर नहीं हैं। जहाँ-जहाँ उनका प्रभाव है अथवा होता जाता है, वहीं राष्ट्रद्रोह के पतङ्गे उठने लगते हैं।

अबेर-सबेर यदि भारत को सुरक्षित रखना है तो इनके अधिकारों को सीमित करके राष्ट्र को बचाना होगा। जो यहाँ सन्तुष्ट नहीं हैं, उन्हें कहना होगा कि वे अपने बहिश्त में जाकर बस सकते हैं। यह होते ही उनके चिन्तन और व्यवहार की दिशा बदल जाएगी और अन्य नागरिकों के समान देशहित के कार्यों में रुचि लेने लगेंगे।

आख़िर रहीम भी मुसलमान था, किन्तु भारतीयता के रङ्ग में रँगा हुआ था। नवाबी छिनने पर सङ्कट के दिन काटने रहीम चित्रकूट पर पहुँचे। वहाँ पहुँचते ही उन्हें भगवान् राम के वनवास के समय चित्रकूट में रहने का स्मरण हो आया और कहा—

चित्रकूट में रमि रहे, रहिमन अवधनरेश।
जापै विपता परत है, सो आवत यहि देश॥

आज के मुसलमान के समान न उन्हें मक्का याद आया और न मदीना। उर्दू के शायर साहिर लुध्यानवी ने भी बड़ा सन्तुलित दृष्टिकोण उपस्थित करते हुए लिखा था—

बिरहमन[1]! नालये-नाकूस[2] मस्जिद तक भी पहुँचा दे।
बुरा क्या है मुअज़्ज़िन[3] भी अगर बेदार[4] हो जाए॥

स्वाधीन भारत के राष्ट्रिय विश्वविद्यालयों में इस प्रकार का ही वायुमण्डल बनाना चाहिए, किन्तु भारत के भाग्यविधाता, अलीगढ़ विश्वविद्यालय को राष्ट्रिय विश्वविद्यालय की घोषित करते हैं, देश का करोड़ों रुपया व्यय करते हैं और साथ ही यह अनुमति भी देते हैं कि वह अपनी मुस्लिम चरित्र की विशेषताओं को बनाए रक्खे। जहाँ तक इस्लामिक साहित्य के अध्ययन-अध्यापन की बात है, उस पर किसी को आपत्ति नहीं हो सकती, किन्तु यहाँ तो मुस्लिम चरित्र से अभिप्राय भारतीय संस्कृति से विद्वेष है। इसको कैसे सहन किया जा सकता है?

यदि भारत के मुसलमान, ईसाई, बौद्ध, पारसी आदि इस देश को अपनी पवित्र मातृभूमि मानकर रहना चाहें तो इस मन्त्र में बहुत ही महत्त्वपूर्ण परामर्श दिये गए हैं। इस भावना से विद्वेष की काली घटाएँ छँट जाएँगी, देश की स्वाधीनता का प्रखर अंशुमाली अपने दिव्य आलोक से भारत के कोने-कोने को दीप्त कर देगा।

मन्त्र में कहा गया है कि जैसे एक परिवार में काले, गोरे, लम्बे और ठिगने मिलकर रहते हैं, जैसे परिवार में उग्र, सहनशील, भिन्न-भिन्न मनोवृत्ति के सदस्य तालमेल बैठाकर परिवार को चलाते हैं, उसी प्रकार **''नानाधर्माणम्''**—भिन्न-भिन्न प्रकार के मन्तव्यवाले, **''विवाचसम्''**—अनेक प्रकार की भाषा बोलनेवाले भी **''यथौकसम्''**—

---

१. पुजारी जी! ऐ विद्वान् लोगो! ब्राह्मणो! २. शङ्ख-ध्वनि; ३. मुल्ला, मस्जिद में अज़ान देनेवाला; ४. जाग्रत्, ज्ञानवन्त।

जैसे एक परिवार और घर में रहते हैं, उसी प्रकार ''**पृथिवी**''—मातृभूमि पर भी उसी सौहार्द-स्नेह से रहें।

यदि किसी देश का यह सौभाग्योदय हो जावे तो मन्त्र के उत्तरार्ध में कमाल की उपमा देकर कहा—जैसे कामधेनु दुधारू गौ अपने पैरों को अविचल जमाकर अपने चारों स्तनों से दूध की धारा बहा देती है, उसी प्रकार यह मातृभूमि-रूपी गौ अपने दुग्धरूप अमूल्य रत्न, सोना, चाँदी, तांबा, लोहा, गन्धक, अभ्रक, कोयला, पैट्रोल, अन्न, औषध, फूल-फलादि रूप दुग्ध की धाराओं से देश को तृप्त और आप्लावित कर दे। प्रभु कृपा करें कि भारत के नागरिक वेद के इस उपदेश के अनुसार अपना विचार और आचार बनाकर स्वर्ग का आनन्द लें।

❑❑

(४३)

प्रभु देवों का देव है

देवो देवानामसि मित्रो अद्भुतो वसुर्वसूनामसि चारुरध्वरे। शर्मन्त्स्याम तव सप्रथस्तमेऽग्ने सख्ये मा रिषामा वयं तव॥

—ऋग्वेद १।९४।१३

ऋषिः—कुत्स आङ्गिरसः॥ **देवता**—अग्निः॥ **छन्दः**—विराड्जगती॥

अन्वयः—हे अग्ने देवानाम् देवः असि अद्भुतः मित्रः वसूनाम् वसुः असि। अध्वरे चारुः वयम् तव सप्रथस्तमे शर्मन् स्याम तव सख्ये मा रिषाम॥

शब्दार्थ—हे **(अग्ने)** हे प्रकाशस्वरूप! **(देवानाम्)** देवों का **(देवः)** देव **(असि)** है। **(अद्भुतः)** विचित्र **(मित्रः)** मित्र **(वसूनां वसुः)** धनों का धन **(असि)** है। **(अध्वरे चारुः)** यज्ञ में तू सुशोभित है। **(वयम्)** हम **(तव)** तेरी **(सप्रथस्तमे शर्मन्)** अति विस्तृत शरण में **(स्याम)** हों और **(तव सख्ये)** तेरी मित्रता में **(मा रिषाम)** हम नष्ट न होवें।

व्याख्या—वह प्रभु प्रकाशस्वरूप है। संसार में भौतिक और ज्ञान का प्रकाश उसी की कृपा से हमें प्राप्त है। उसने यदि अपने प्रकाश की व्यवस्था न की होती तो हम आँखें रहते हुए भी अन्धे रहते। हमारी आँखें उसी के प्रकाश की सहायता से देखती हैं। दिन में सूर्य के प्रकाश में और रात्रि को दीपक, विद्युत् आदि, अर्थात् अग्नि की सहायता से हम देख पाते हैं। यदि यह प्रकाश का प्रबन्ध न होता तो हम अन्ध-समान होते। जैसे हमारी आँखों के लिए उसने भौतिक प्रकाश का प्रबन्ध किया, इसी प्रकार हमारी बुद्धिरूपी आँख से देखने के लिए, जानने के लिए, अपने पवित्र ज्ञान का प्रकाश वेदों के रूप में ऋषियों के अन्तःकरण में किया। यदि उसने अपने इस ज्ञान के प्रकाश से हमें अनुगृहीत न किया होता तो हमारी अवस्था पशु और पक्षियों से भी बुरी होती। न कोई हमारी भाषा होती और न कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का ही कुछ विवेक होता। अतः वह प्रकाशस्वरूप है। वह प्रभु देवों का देव है। जड़ और चेतन देव उसी से दिव्यता लेकर संसार का उपकार कर रहे हैं। सूर्य में प्रकाश और उष्णता, चन्द्रमा में वही प्रकाश शीतलतायुक्त, अग्नि में दाहकता, वायु में वेग और शोषणशक्ति, इन सब जड़ देवों में यह दिव्यता उसी महान् देव की है। उपनिषद् में बड़े रोचक ढंग से इस विषय को स्पष्ट किया है। अग्नि ने कहा—'मुझमें भयङ्कर दाहक शक्ति है, मैं संसार

को भस्म कर सकती हूँ।' अग्नि की इस गर्वोक्ति को सुनकर उसके सामने एक तिनका रखकर कहा गया, इसे जलाकर दिखाओ। अग्नि पूरे पराक्रम से तिनके को भस्म करने के लिए झपटी, किन्तु कुछ नहीं कर सकी और लज्जित होकर अनुभव करने लगी कि यह दाहक-शक्ति मुझमें मेरी नहीं, किसी और की थी। इसी प्रकार वायु को बड़ा अभिमान था कि वह संसार को उड़ा और सुखा सकता है। उसकी ओर भी वही तिनका आगे कर उड़ाने को कहा। तिनके को उड़ाने के लिए वायु अपने पूरे वेग से उसकी ओर बढ़ा, किन्तु वह उसको हिला तक न सका। उसने भी लज्जित होकर अनुभव किया कि उसमें भी वेग और शोषण-शक्ति उस महादेव की ही है। इस प्रकार सार यह निकाला गया है कि जड़-देवों में जो भी शक्ति दिखाई देती है, यह सब उसी की है। इसी प्रकार ईश्वर के भक्त महात्माओं में जो लोकोत्तर गुण दिखाई देते हैं, ये सब भी उसी की आराधना से, उसी से प्राप्त किये हैं, अन्यथा मनुष्य के पास क्या था ? इसलिए मन्त्र में पहली बात कही—"**देवो देवानामसि**"—तू देवों का देव है। इसके आगे कहा—"**अद्भुतः मित्रः**"—आप विचित्र मित्र हैं। आपकी मित्रता में जो विशेषता है, वह संसार में उपलब्ध नहीं है। संसार में मनुष्य किसी का मित्र होता है, किसी से उदासीन रहता है और किसी का शत्रु भी होता है। कोई भी व्यक्ति कितना ही ऊँचा क्यों न उठ जावे, किन्तु वह सबका मित्र नहीं हो सकता। वह सब मनुष्यों को और प्राणिमात्र को अपनी ओर से मित्र समझ सकता है, किन्तु वे सब भी उसे अपना मित्र समझें यह सम्भव नहीं है। संस्कृत के किसी कवि ने इस विषय में बहुत महत्त्वपूर्ण बात कही है—

मुनेरपि वनस्थस्य स्वानि कर्माणि कुर्वतः।
उत्पद्यन्ते त्रयः पक्षा मित्रोदासीनशत्रवः॥

'एक साधु भी जो जङ्गल में झोंपड़ी बनाकर स्वाध्याय और भजन में संलग्न रहता है, संसार में कुछ लोग उसके पवित्र जीवन में श्रद्धालु बनकर उससे मित्रभाव से बरतते हैं, कुछ लोग उससे उदासीन रहते हैं और कुछ अकारण उसके शत्रु बन जाते हैं।' यह संसार का स्वरूप है। किन्तु प्रभु तो सभी का मित्र है, इसीलिए वह अद्भुत है। संसार में लोग अपने स्वार्थ को देखकर भी मित्रता जोड़ते हैं, पर प्रभु के लिए यह भी नहीं है, इसलिए वह अद्भुत है। सांसारिक मित्रता के लिए एक स्तर भी अपेक्षित है; किसी लखपति की किसी अकिंचन से मित्रता नहीं होती, पर भगवान् का स्नेहपात्र बनने के लिए हृदय की सात्त्विकता और पवित्रता की आवश्यकता है, किसी बाह्याडम्बर की नहीं। इन सब कारणों से वह अद्भुत मित्र है। मन्त्र में तीसरा विशेषण है "**वसुर् वसूनामसि**"—वह प्रभु धनों का धन है। वसु का शब्दार्थ है बसानेवाला। यदि हृदय में पवित्रता और सात्त्विकता न हो तो दुनियावी पैसा भी बसाता

नहीं, उजाड़ता है; अनेक प्रकार के व्यसन पैसेवालों को लग जाते हैं, जो मन को अशान्त और शरीर को श्रान्त कर देते हैं। किन्तु तुम्हारी भक्ति का ऐश्वर्य वह ऐश्वर्य है कि जिसे पाने के लिए तेरे भक्त साम्राज्य ठुकराकर और महलों को त्यागकर जङ्गलों में जा पड़ते हैं, इसलिए सच्चा और तृप्तिकारक धन आपकी भक्ति का ही धन है। यज्ञादि धार्मिक कार्यों की पवित्रता और शोभा भी प्रभु के कारण है। जहाँ आप नहीं, वे धर्म दम्भ और ढोंग बन जाते हैं, उस अवस्था में उनसे उत्थान न होकर पतन होता है। **''तव सप्रथस्तमे''**—तेरी विस्तृत विश्वव्यापिनी छत्रछाया में, तेरे संरक्षण में **''शर्मन् स्यामे''**—सुखी रहें। **''तव सख्ये मा रिषाम''**—तेरी मित्रता में नष्ट न हों। प्रभु के मित्र बनने पर विनाश कैसा? संसार में भी विद्वानों के मित्र उनकी सङ्गति में रहकर अज्ञानता से पीछा छुड़ाकर बहुज्ञ और बहुश्रुत बन जाते हैं। बलवानों के मित्र शत्रुओं से निर्भय हो जाते हैं और इसी प्रकार श्रीसम्पन्नों के मित्र अपनी दरिद्रता से पीछा छुड़ा लेते हैं। फिर आप जैसे मित्र को पाकर जो ज्ञानबल और ऐश्वर्य का भण्डार है, तेरा भक्त नष्ट कैसे हो सकता है?

आप इतनी ही कृपा करें कि हम सुपथ पर चलकर शुभकर्म करते हुए आपके स्नेह के पात्र बने रहें।

❑❑

(४४)

सेनापति के गुण

अभि गोत्राणि सहसा गाहमानोऽदयो वीरः शतमन्युरिन्द्रः।
दुश्च्यवनः पृतनाषाडयुध्योऽस्माकꣳसेना अवतु प्र युत्सु॥

—यजुः० १७। ३९

ऋषिः—अप्रतिरथः॥ **देवता**—इन्द्रः॥ **छन्दः**—निचृदार्षीत्रिष्टुप्॥

अन्वयः—सहसा गोत्राणि अभिगाहमानः अदयः वीरः शतमन्युः दुश्च्यवनः पृतनापाड् अयुध्यः इन्द्रः युत्सु अस्माकं सेना प्र अवतु॥

शब्दार्थ—(**सहसा**) शीघ्र तथा शत्रु-पराजयकारी बल से (**गोत्राणि**) शत्रुओं के कुलों पर (**अभिगाहमानः**) आक्रमण करता हुआ (**अदयः**) दयारहित (**वीरः**) वीर (**शतमन्युः**) सैकड़ों प्रकार से शत्रु पर कोप प्रकट करने में समर्थ (**दुश्च्यवनः**) शत्रु से विचलित न होनेवाला (**पृतनाषाड्**) शत्रु-सेनाओं से युद्ध करने में समर्थ (**अयुध्यः**) युद्ध में शत्रुओं से अजेय (**इन्द्रः**) सेनापति (**युत्सु**) संग्रामों में और योद्धाओं के बीच में (**अस्माकम्**) हमारी (**सेनाः**) सेनाओं की (**प्र अवतु**) उत्तम प्रकार से रक्षा करे।

व्याख्या—यजुर्वेद के इस मन्त्र में सेनापति के नौ महत्त्वपूर्ण गुण गिनाए गए हैं।

सेनापति में पहला गुण "**इन्द्र**"—'परम वीरता के ऐश्वर्य से सम्पन्न' होना चाहिए। चाहे शत्रु-सेना कितनी भी क्यों न हो, उसे देखकर उसमें उत्साह की कमी नहीं आनी चाहिए। सेना की यह एक स्वाभाविक प्रक्रिया है कि—एक ओजस्वी सञ्चालक अपनी अदम्य उत्साहशक्ति और वीरता से सारी सेना में वीरता का सञ्चार कर देता है, और जहाँ सेनापति निरुत्साही और दब्बू हो, वहाँ बहुत बड़ी सेना के भी पैर उखड़ जाते हैं और उसमें भगदड़ मच जाती है। बांग्ला देश में गत भारत और पाक युद्ध में पाकिस्तान का सेनापति ही हिम्मत हार गया था और पाकिस्तान की लगभग एक लाख सेना ने घुटने टेककर हथियार डाल दिये थे। स्वाधीनता के बाद से चीन और पाकिस्तान के साथ भारतीय सेना की जितनी भी मुठभेड़ें हुईं, भारतीय सेनापति और सैनिक इस कसौटी पर खरे उतरे। चीन के युद्ध में बारतीय सेना शस्त्रों के अभाव में तिल-तिल कटके तो मर गई, किन्तु पीछे पैर रखने का नाम नहीं लिया। वीरता की कसौटी विजय नहीं है। वीरता की परख तो यह है कि अपनी मान-मर्यादा की रक्षा और कर्त्तव्यपालन के लिए अपने जीवन को निर्मोही होकर तिनके के समान तोड़ फेंके।

"भारतीय वीर" नामक राजस्थान के इतिहास की पुस्तक में स्व० आर्यविद्वान् पं० शिव शर्मा जी ने एक घटना लिखी है—

बादशाह अकबर के यहाँ एक मुस्लिम देश का शासक अतिथि के रूप में आया हुआ था। बादशाह की फ़ौजें सलामी देती हुईं बादशाह और मेहमान के सामने से गुज़र रही थीं। बादशाह सब सेनाओं का परिचय देते जा रहे थे। सब सेनाओं के बाद राजपूतों की फौज आ गई। बादशाह ने धीरे से मेहमान को कहा—'मेरी यह सेना अद्वितीय है। मेरे सारे साम्राज्य की यह रीढ़ है।' मेहमान ने सुनकर उत्तर दिया—'चेहरे-मोहरे और डीलडौल में पठानों और मुग़लों के सामने कुछ जँचते तो हैं नहीं, पर आप ठीक ही कहते होंगे!' आगन्तुक मेहमान की यह बात सामने से गुज़र रहे दो वीर युवक राजपूतों ने सुन ली और मार्च के बाद भोजन के समय जब सब वीर एकत्र हुए तो इस बात की चर्चा चल पड़ी। खाने का थाल छोड़कर अधिकांश वीर कहने लगे, 'फिर तो हम उसे वीरता दिखाकर ही खाना खावेंगे।' इस पर उन दो वीर युवकों ने, जो मेहमान से उस बात को सुनकर आए थे, सब साथियों से कहा—'इतनी-सी बात के लिए सबको भोजन छोड़ने की क्या आवश्यकता है? हम दोनों जाते हैं और उसे राजपूतों की वीरता का प्रमाण दे आते हैं।' वे दोनों गए और बादशाह के पास यह समाचार भिजवाया कि हम बादशाह के मेहमान को राजपूती वीरता का नमूना दिखाना चाहते हैं। बादशाह ने अनुमति दे दी और ये दोनों युवक, बादशाह और मेहमान के सम्मुख आमने-सामने से घोड़ों को बढ़ाते हुए आए और एक-दूसरे ने अपनी बर्छी की नोक सामनेवाले की छाती में जमाकर घोड़ों को एड़ लगा दी। बर्छी छाती से पार हो गई और फल के बाद बाँस भी छाती चीरता हुआ आगे चला गया। जब दोनों घोड़ों के सिर जुड़ गए और ये दोनों भी एक-दूसरे की तलवार की पहुँच में आ गए तो दोनों ने कड़ककर मेहमान को कहा—'वीरता लम्बे-चौड़े डीलडौल में नहीं होती, वीरता की तो कसौटी यह है कि अपनी बात पर अपने जीवन को निछावर कर दे। हम दोनों उसी राजपूती वीरता का प्रमाण दे रहे हैं। अब आगे से किसी राजपूत वीर की वीरता पर सन्देह मत करना!' यह कहकर दोनों ने तलवारें म्यान से निकाल लीं और एक-दूसरे का सिर काटकर भूमि पर गिरा दिया।

तो वेद ने सेनापति का पहला गुण बताया कि जो वीरता का अथाह सागर हो। दूसरा गुण—"**गोत्राणि सहसा अभिगाहमानः**"—जो शत्रु पर पूरी शक्ति से और शीघ्र आक्रमण करनेवाला हो। युद्ध में इस बात का भी महत्त्व है। लोक में "पहले मारे सो मीर" कहावत एक ठोस अनुभव रखती है। इससे शत्रु अपनी रक्षा की चिन्ता में ही उलझ जाता है और कुछ सँभलने के बाद ही प्रत्याक्रमण की स्थिति आती है।

आक्रमण भी पूरी शक्ति से होना चाहिए। शत्रु को निर्बल समझकर कुमुक ही थोड़ी भेजी, आक्रमण ही ढीला हुआ तो ये त्रुटियाँ शत्रु का हौसला बढ़ानेवाली होती हैं।

आचार्य चाणक्य ने अपनी नीति में मनुष्य को परामर्श दिया है कि उसे जीवन में सफलता के लिए पशु और पक्षियों से कुछ गुण सीखने चाहिएँ—

सिंहादेकं बकादेकं शिक्षेच्चत्वारि कुक्कुटात्।
वायसात्पञ्चशिक्षेच्च षट्शुनस्त्रीणि गर्दभात्॥

'एक सिंह से, एक बगुले से, चार मुर्ग़े से, पाँच कौए से, छह कुत्ते से और तीन गधे से।' चाणक्य ने इन पशु-पक्षियों के गुणों के विषय में कहा है—

य एतान् विंशति गुणानाचरिष्यति मानवः।
सर्वावस्थासु कार्येष्वजेयः सो भविष्यति॥

'जो मनुष्य इन बीस गुणों के ऊपर आचरण करेगा, वह किसी भी अवस्था में और किसी भी कार्य में असफल नहीं हो सकता।' उनमें से प्रसङ्गप्राप्त एक सिंह का गुण हमारे विषय से सम्बन्धित है—

प्रभूतं कार्यमल्पं वा यन्नरः कर्तुमिच्छति।
सर्वारम्भेण तत् कार्यं सिंहादेकं प्रचक्षते॥

'चाहे काम बड़ा हो, चाहे छोटा, मनुष्य जिस काम को करना चाहता है, उसे पूरी शक्ति और तैयारी से करना चाहिए। यह एक गुण जीवन में शेर से सीखे।' शेर चाहे हाथी पर आक्रमण करे और चाहे ख़रगोश पर, वह आक्रमण पूरी शक्ति से ही करेगा।

'मुग़लकाल का क्षय' पुस्तक में श्री इन्द्र विद्यावाचस्पति ने लिखा है कि—दिल्ली का बादशाह बहादुरशाह जीवन के अन्तिम दिनों में लाहौर में सेना के साथ गया हुआ था। बहादुरशाह के चार लड़के—अज़ीमुश्शान, रफ़ीउश्शान, जहाँदारशाह और जहानशाह थे। बादशाह इनमें से रफ़ीउश्शान को सबसे अधिक प्रेम करता था और वह लगभग निश्चित था कि गद्दी का उत्तराधिकारी वही बनेगा। बहादुरशाह अन्तिम समय में रावी के किनारे गड़े ख़ेमे में थे और बड़े दोनों बेटे अज़ीमुश्शान और रफ़ीउश्शान चारपाई के पास बैठे थे। बादशाह का शरीरान्त हो गया। रफ़ीउश्शान ने अपने को बादशाह घोषित कर दिया और बाजे बजाने का आदेश दे दिया। रफ़ीउश्शान साहसी और वीर था, किन्तु सोचता इतना था और काम आरम्भ करने में इतनी देर करता था कि प्रायः उसके काम अधूरे रह जाते थे। अज़ीमुश्शान विलासी और डरपोक था। रफ़ीउश्शान के हाथ में जड़ाऊ दस्ते की तलवार थी, उसने वह घुमानी प्रारम्भ कर दी। यह देखकर अज़ीमुश्शान के होश उड़ गए। जल्दी में जूते पहनने का

साहस भी नहीं कर सका और उठकर भागा। आगे बढ़ा तो ख़ेमे के द्वार से टकराकर पगड़ी गिर गई। उसने डर के मारे उसे उठाने की हिम्मत भी नहीं की और ज्योंही आगे बढ़ा, ख़ेमे की रस्सी में पैर उलझ गया और धड़ाम से गिर पड़ा। फिर उठ करके भागा। ऐसी बादशाहत की नींव जमानेवाले बाबर को यह कभी विचार भी नहीं आया होगा कि उसके वंश में ऐसे-ऐसे वीर (?) पैदा होंगे।

उधर बहादुरशाह का वज़ीर ज़ुल्फिकार अली काइयाँ था। उसने सोचा कि रफ़ीउश्शान जैसे घमण्डी नवयुवक के साथ निभानी बहुत कठिन होगी। यदि अज़ीमुश्शान बादशाह बनेगा तो सारे अधिकार मेरी मुट्ठी में-रहेंगे, अतः वह तुरन्त अज़ीमुश्शान के पास पहुँचा और कहा— 'बादशाह के बड़े पुत्र आप हैं। इसलिए गद्दी के मालिक आप ही हैं। आप घबराइये मत, मैं आपके साथ हूँ, सेना भी आपके आदेश का पालन करेगी, आपके छोटे भाइयों को भी आपका साथ देने को मैं तैयार कर दूँगा। इसलिए आप अपने अधिकार की रक्षा के लिए फौज की कमान सँभालिये। रफ़ीउश्शान की आपकी तुलना में क्या शक्ति है ? कुछ थोड़े-से सरदार और उनके प्रभाव के कुछ सैनिक उसका साथ देंगे तो पहली टक्कर में ही समाप्त हो जावेंगे। साहस करिये, बादशाहत आपकी है!'

इस प्रकार जुल्फ़िकार अली ने योजनापूर्वक फ़ौज और सरदार अज़ीमुश्शान के पक्ष में कर, लड़ाई का मोर्चा रावी के तट पर जमा दिया। आक्रमण की तैयारी के ढोल पिटने लगे।

यह सब परिवर्तित परिस्थिति रफ़ीउश्शान के मित्रों ने उसे बताई और शीघ्र आक्रमण करने का परामर्श दिया। उसे बादशाह बनाने के लिए दो-दो हाथ करने को तैयार होकर आ गए और यहाँ भी आक्रमण के ढोल बजने लगे।

रफ़ीउश्शान का जैसा स्वभाव था, ''ज़रा ठहरो'' यह उसका तकिया कलाम था। वह सोच रहा था कि अज़ीमुश्शान में क्या साहस है कि मुक़ाबिले पर आए! उधर जुल्फ़िकार के सङ्केत पर शाही फ़ौज अज़ीमुश्शान की कमान में आगे बढ़कर बिल्कुल पास आ गई। इस पर रफ़ीउश्शान के साथियों ने उसे हाथी पर चढ़ाकर अपनी व्यूह-रचना के साथ भिड़ने की तैयारी की। इतने में ही रफ़ीउश्शान का हाथी बिगड़कर और अनियन्त्रित होकर रावी के किनारे-किनारे भागा और एक दलदल में जा फँसा। महावत के यत्न करने पर भी हाथी निकल नहीं सका और महावत तथा रफ़ीउश्शान के साथ दलदल में समा गया।

यह है परिणाम दीर्घसूत्रता और प्रमाद का! शक्ति होते हुए भी शिथिल व्यक्ति अवसर खो बैठता है। शिवाजी की सफलता का एक रहस्य यह भी था कि वे ठीक अवसर और पूरी शक्ति से शत्रु पर टूट पड़ते थे। जब तक शत्रु सँभलकर पैर जमाते थे और प्रतिरोध करना

आरम्भ करते थे, तबतक उनकी बहुत-सी शक्ति क्षीण हो चुकी होती थी। जर्मनी के हिटलर की भी यही रणनीति थी।

तीसरा गुण बताया "**अदयः**"—शत्रु पर शीघ्र दया-द्रवित नहीं होना चाहिए। प्राचीनकाल में, युद्ध के नियमों में कुछ नियम गिनाए गए हैं जिनमें शत्रु को छोड़ने की बात भी कही है, किन्तु इसके लिए भी देखना चाहिए कि शत्रु कैसा है? इस विषय में जयद्रथ के ऊपर दया करके उसे छोड़ने के लिए भीम को जब युधिष्ठिर कह रहे थे तो द्रौपदी ने कमाल की बात कही—

भार्याभिहर्त्ता वैरी यो यश्च राज्यहरो रिपुः।
प्राणान् याचमानोऽपि न मोक्तव्यः कदाचन॥

'जिस शत्रु की दृष्टि स्त्रियों पर हो और जो राज्य छीनना चाहे, ये दो प्रकार के शत्रु कभी क्षमा करने योग्य नहीं होते।'

कर्ण निःशस्त्र होने की दुहाई देता रहा, किन्तु कृष्ण उसे मारने के लिए ही अर्जुन को कहते रहे। शत्रु पर दया करके जो मूर्खता पृथिवीराज चौहान मुहम्मद ग़ौरी को छोड़ने के रूप में करते रहे, उसका घातक परिणाम अबतक भारत को भोगना पड़ रहा है।

इससे अगला गुण सेनापति का कहा "**वीरः**"। सामान्यतया शूर और वीर पर्यायवाची समझे जाते हैं, किन्तु धातुगत अर्थ को देखते हुए दोनों में अन्तर है। शूर शब्द हिंसार्थक 'शृ' दातु से बना है, अतः यह शब्द मुख्यरूप से उस सैनिक का वाचक है, जो आदेश पर गोली चला देता है; सोचना-विचारना उसका काम नहीं। किन्तु वीर शब्द गत्यर्थक 'वीर' धातु से बना है, अतः सेना का सम्पूर्ण नीति-निर्धारणपूर्वक युद्ध करना, ये सभी बातें वीर शब्द में समा जाती हैं। ये सभी योग्यताएँ सेनापति के लिए अनिवार्य हैं।

इससे आगे का गुण बताया "**शतमन्युः**"—अनेक प्रकार से जो शत्रु पर अपना क्रोध प्रकट करे। केवल तलवार और गोली ही चलाना नहीं, अपितु रसद का भण्डार समाप्त करना, सुरङ्ग बिछाना, पानी की सप्लाई काटना, शत्रुवाहनों की गति एवं ऊर्जा-स्रोतों को नष्ट करना आदि सब बातें शतमन्यु में आ जाती हैं।

इससे आगे कहा "**पृतनाषाड्**"—शत्रुसेना को विजय करने में समर्थ। वेद और संस्कृत के पृतना शब्द से ही उर्दू और फ़ारसी का फ़ितना शब्द बना है, अतः इसका मुख्यभाव है शत्रु की नीति की चाल को समझकर अपने कौशल से उसका प्रतिकार करने में समर्थ। यह गुण सेनापति में अवश्य होना चाहिए। कृष्ण और चाणक्य की सफलताएँ इसी गुण के परिणास्वरूप थीं। कृष्ण पाण्डवों के दूत बन सन्धि का सन्देश लेकर गए तो दुर्योधन की चाण्डाल-चौकड़ी ने विषाक्त भोजन खिलाकर उन्हें समाप्त करने की योजना बनाई। दरबार समाप्त होने पर

दुर्योधन ने जब भोजन का आग्रह किया तो कृष्ण उनकी बेईमानी को पहले ही भाँप चुके थे। स्पष्ट उत्तर दिया—

सम्प्रीति भोज्यान्यन्नानि आपद्भोज्यानि वा पुनः।
न सम्प्रीयसे राजन् न चैवापद्गता वयम्॥

'या तो भोजन प्रेम में किया जाता है, या विपत्ति में। भूख ने तङ्ग कर रक्खा है, जिसने दो रोटी दे दी, खा लीं। तो पहली स्थिति तो तुमने समाप्त कर दी। मैं प्रेमपूर्वक जिस प्रस्ताव को लाया था, तुमने नहीं माना। दूसरी बात रही विपन्नावस्था की, उसमें मैं नहीं हूँ। यहाँ घर-घर मेरे लिए रोटी है।' इस सूझ-बूझ का नाम है—''**पृतनाषाट्**''।

इससे आगे अन्तिम गुण बताया ''**अयुध्यः**''—''**योद्धुमशक्यः**''—जिसके साथ लोहा न लिया जा सके, जैसे महाभारत के भीष्म, द्रोण। कृष्ण ने इन महारथियों को ''अयुध्य'' समझकर ही शिखण्डी को खड़ा करने का उपाय निकाला और द्रोणाचार्य को मारने के लिए 'अश्वत्थामा मारा गया' का शोर मचवाया।

इन गुणों से युक्त सेनापति हमारी सेनाओं की युद्धों में रक्षा करे।

❑❑

(४५)

सफल सांसारिक जीवन का प्रशस्त मार्ग

माहिर्भूर्मा पृदाकुर्नमस्तऽआतानानर्वा प्रेहि।
[१]घृतस्य कुल्याऽउपऽऋतस्य पथ्याऽअनु॥

—यजुः० ६।१२

देवता—विद्वांसः॥

अन्वयः—हे आतान त्वं अहिर्मा भूः पृदाकुर्मा भूः ते नमः अस्तु। अनर्वा घृतस्य कुल्या उप ऋतस्य पथ्या अनु॥

शब्दार्थ—हे (**आतान**) विद्वान्! (**त्वम्**) तू (**अहिः**) साँप के समान (**मा**) नहीं (**भूः**) हो, (**पृदाकुः**) बिच्छू और व्याघ्र के समान अभिमानी और छली (**मा भूः**) मत हो, (**ते**) तेरे (**नमः अस्तु**) तेरे सुखोपभोग के अन्नादि पदार्थ हैं। (**अनर्वा**) अश्व के बिना भी (**घृतस्य**) जल की (**कुल्या**) धाराओं को (**उप ऋतस्य**) सत्य की (**पथ्या अनु**) वीथियों के समान पार करनेवाला हो।

व्याख्या—संसार में सफल जीवन बिताने के लिए वेद में यह बहुत महत्त्वपूर्ण उपदेश है। उपदिष्ट व्यवहार के दो पक्ष हैं—प्रथम, व्यक्ति का स्वयं का आचरण कैसा होना चाहिए? दूसरा—अपना व्यवहार ठीक रखने पर भी दूसरा कुटिलता और क्रूरता से तुम्हें दबाना चाहे तो उससे आत्मरक्षा किस प्रकार की जा सकती है? अब क्रमशः दोनों पक्षों पर विचार कीजिए।

वेद ने मनुष्य को आदर्श मार्ग का पथिक बनाने के लिए पहले उपदेश दिया '**अहिर्मा भूः**'—तुम साँप के दुर्गुण अपने जीवन में मत आने दो!

साँप में पहला दुर्गुण यह है कि वह टेढ़ा चलता है। किन्तु मनुष्य यदि कुटिलता पर उतारू हो जावे तो साँप उसकी तुलना नहीं कर सकता, क्योंकि साँप टेढ़ा तो चलता है, किन्तु अपने घर में वह भी सीधा होकर ही प्रवेश करता है। पर मनुष्य इसके विपरीत, और स्थानों पर तो सरल होकर चलता है, किन्तु अपने घर और समाज में वह टेढ़ा चलने में चूकता नहीं है। इसका परिणाम यह होता है कि इस कुटिलता की प्रतिक्रिया दूसरे व्यक्ति पर होती है और वह भी उसी प्रकार छल-कपट से चलता है।

अंग्रेज़ी के एक विद्वान् ने इस सम्बन्ध में बहुत युक्तियुक्त बात कही है—"A bit of hatred that goes out of the heart of man comes back

to him in full force, nothing can stop it, and every impulse of life comes back to him." अर्थात् 'थोड़ा-सा भी घृणा का भाव जो मनुष्य के अपने व्यवहार से प्रकट होता है, वह उतने ही वेग से उसकी ओर लौटता है। संसार की कोई वस्तु इस प्रतिक्रिया को रोक नहीं सकती।'

रूस के प्रसिद्ध विचारक तॉल्स्तॉय ने इस विषय में एक महत्त्वपूर्ण मनोरञ्जक कहानी लिखी है—

एक कुत्ता कहीं से घूमता-फिरता एक शीशे के मकान में घुस गया। प्रवेश के पश्चात् जब उसने इधर-उधर देखा तो उसे कुत्ते-ही-कुत्ते दिखाई दिये। कुत्ते में यह स्वाभाविक दुर्गुण होता है कि वह अपने भाई-बन्धुओं को देखकर जलने-कुढ़ने लगता है। यह कुत्ता भी उस शीशे के घर में अपने प्रतिबिम्बों को देखकर बौखलाया और सोचने लगा— ये दुष्ट यहाँ भी मेरे साथ चले आए! दूसरे ही क्षण इसने उनकी ओर देखा तो इसे यह लगा कि ये मुझे घृणा-भरी दृष्टि से देख रहे हैं, यद्यपि इसे देखनेवाला वहाँ कोई था ही नहीं। यह घृणा भी स्वयं उसी के मन में उत्पन्न हुई थी जो आँखों में प्रतिबिम्बित होकर उसे दिखाई पड़ रही थी। इसने निर्णय किया कि पहला अपराध इनका यह है कि मेरे साथ इस मकान में घुस आए और दूसरा अपराध यह है कि ये मुझे घृणा-भरी दृष्टि से देख रहे हैं, अत: मैं इन्हें अवश्य दण्ड दूँगा। मनुष्य प्राय: दूसरों पर दोषारोपण करता हुआ अपने अनुचित व्यवहार को न्याय-तुला पर कम ही तोलता है, अत: इसने उन्हें भयभीत करने के लिए सोचा कि मैं क्रोध में आकर ज्यों ही गुर्राऊँगा तो ये भयभीत होकर दुम दबाकर भाग जावेंगे, किन्तु हुआ इसके विपरीत। इसने उन पर रौब डालने के लिए ज्यों ही अपनी पूँछ अकड़ाई तो उन सबकी पूँछें भी अकड़ गईं। वे सब भी तो इसी के प्रतिबिम्ब थे! किन्तु अभी यह निराश नहीं हुआ। सोचा, इन पर आक्रमण करने के लिए मैं ज्यों ही उछलूँगा तो ये सब भयभीत होकर भाग खड़े होंगे। निश्चयानुसार उन्हें डराने के लिए यह ज्यों ही उछला तो उसे ये बीसियों कुत्ते रोषपूर्ण मुद्रा में उछलते दीखे। यह उस दृश्य को देखकर भयभीत हो गया और उनके आक्रमण की आशंका से डरकर बेहोश होकर गिर गया।

यह कहानी का एक पक्ष है, इसे यहीं छोड़ दीजिये।

थोड़ी देर के बाद एक दूसरा कुत्ता उसी मकान में आया। इसने भी आकर जब इधर-उधर देखा तो इसे कुत्ते-ही-कुत्ते दिखाई दिये, किन्तु पहले कुत्ते के समान इसके मन में कुढ़न पैदा नहीं हुई, अपितु न्याय के भावों का सञ्चार हुआ और सोचने लगा—जैसा मैं हूँ वैसे ही ये हैं। मुझे इस मकान में घुसने का अधिकार है तो इन्हें क्यों नहीं? फिर इतने लम्बे-चौड़े मकान में मैं अकेला घूमूँ-फिरूँ तो क्या अच्छा लगेगा? कुछ भाइयों के आने से चहल-पहल हो गई है; अब जो आनन्द

आवेगा, वह अकेले कैसे आ सकता था? यह सोचकर भावावेश में वह उनकी ओर बढ़ा। उसे लगा कि वे भी उतने ही उल्लास की मुद्रा में उसकी ओर आ रहे हैं। उसने बड़ी प्रसन्नता से मकान की परिक्रमा की और बाहर निकल गया।

इस कहानी से लेखक ने यह सिद्ध किया कि यह संसार एक शीशे के महल के समान है और इसके निवासी हम लोग उस कुत्ते के समान हैं। चाहे आप इसे हीनोपमा कह लें, किन्तु है यह यथार्थ। यदि आप किसी से घृणा करेंगे तो प्रतिक्रियास्वरूप बदले में आप भी घृणा ही प्राप्त करेंगे। इसके विपरीत, प्रेम और सौमनस्य से मिलेंगे तो इसके बदले में सौहार्द प्राप्त करेंगे। इसलिए संसार को सुखमय बनाने के लिए वेद ने प्रथम अपने व्यवहार को सुधारने का उपदेश दिया कि तुम्हारे जीवन में साँप का टेढ़े चलने का दुर्गुण नहीं आना चाहिए। वेद में अन्यत्र कहा—"**ऋतस्य धीतिर्वृजिनानि हन्ति**"—सरलता का व्यवहार अनेक त्रुटियों को ठीक कर देता है।

अंग्रेज़ी के एक अन्य विचारक ओरिसन स्वेट मार्डन ने बहुत उत्तम कहा है—"What is this world but as you take it. Thakrey calls this world a looking glass that gives back the reflection one's own face. Frown at it, it will look sourely upon you, and laugh at it, it is a jolly companion."

अर्थात् "यह संसार क्या है? इसे तुम अपने व्यवहार से जैसा बनाते हो यह वैसा बन जाता है। थैकरे नामक विद्वान् इस संसार को एक दर्पण बताता है, जो देखनेवाले की आकृति को प्रतिबिम्बित कर देता है। दर्पण में मुँह बिगाड़कर झाँकें तो उसमें एक बिगड़ी हुई आकृति दिखाई देगी और हँसके देखें तो उसमें एक प्रसन्नचित्त साथी दिखाई देगा।" अतः मनुष्य को संसार के समक्ष न्यायपूर्ण और उत्तम व्यवहार ही उपस्थित करना चाहिए।

साँप में एक दूसरा दुर्गुण और है कि वायु में से वह विषैले अंश को अपने पास जमा कर लेता है और जिस पर भी वह क्रुद्ध होता है, दो दाँत चुभोते ही उसकी जीवन-लीला समाप्त कर देता है। इसी प्रकार कोई मनुष्य दूसरे के दुर्गुणों को उसे नीचे गिराने की दृष्टि से चुन-चुनके ध्यान में रखता है और समय आने पर उसे अपमानित करने के लिए उन्हें प्रकट करता है, तो यह दुर्गुण भी बहुत दुःखदायक है। इसका परिणाम यह होता है कि हम परस्पर एक-दूसरे के दुर्गुण तो देखते हैं, किन्तु ग्राह्य गुणों की उपेक्षा करते हैं। इस प्रकार संसार में बुराई ही बढ़ेगी, जिसका परिणाम अशान्ति और दुःख होगा।

तो संसार को सुखमय बनाने के लिए वेद का पहला उपदेश हुआ—अपना व्यवहार सरल रक्खो और दूसरों के गुणों को ग्रहण करो।

आगे वेद में दूसरी बात कही कि—"**पृदाकुर्मा भूः**"—बिच्छू मत बनो! यद्यपि मोटे रूप में देखने पर यह उपदेश अनावश्यक-सा लगता है, क्योंकि साँप की तुलना में बिच्छू की गणना ही क्या है? किन्तु गम्भीरता से विचार करने पर उसमें एक रहस्य छिपा है। वह यह कि बिच्छू की अपनी एक विशेषता है, जो साँप में नहीं है। बिच्छू का विष मारक तो नहीं होता, किन्तु दंशित व्यक्ति की व्याकुलता सर्प-दंश से अधिक होती है। लोक में यह कहावत प्रसिद्ध है कि—'साँप का काटा सोवे, बिच्छू का काटा रोवे।' बिच्छू में विष की मात्रा चाहे न्यून हो, किन्तु उसमें दर्प और अभिमान की मात्रा बहुत अधिक होती है। एक संस्कृत के कवि ने लिखा है कि—

विषकुम्भसहस्रेण गर्वन्नाप्नोति वासुकिः।
वृश्चिको बिन्दुमात्रेण करोत्यूर्ध्वं स्वकण्टकम्॥

'साँप चाहे कितना ही विषैला हो, किन्तु जब वह चलता है तो अपने फन को भूमि पर रखकर चलता है, अर्थात् उसे अपनी शक्ति का मद नहीं होता; किन्तु बिच्छू की पूँछ में चाहे विष की एक ही बूँद हो, पर वह उसी के ऊपर काँटे को उठाकर चलता है।' इसी प्रकार क्षुद्र व्यक्ति थोड़ी-सी भी शक्ति पर मदोन्मत्त होकर सारे वायुमण्डल को अशान्त कर देते हैं। वेद ने बिच्छू के उदाहरण के माध्यम से शिक्षा दी कि शक्ति पाकर अभिमान न करो! मनुष्य के पास बुद्धि, बल और धन में से कोई भी ऐसी वस्तु नहीं है जिस पर अभिमान किया जा सके। यदि किसी को अपने बल पर अभिमान हो तो यह निरी मूर्खता है। अच्छे-अच्छे पहलवानों का यह बल शरीर की एक नस में विकार आने से ही व्यर्थ हो जाता है। कुछ घण्टों के जुलाब में ही वह सब अकड़ ढीली हो जाती है। ज्ञान पर अहंकार तो सबसे बड़ी नादानी है। एक उर्दू के शायर ने बड़े पते की बात कही है—

बाहर न आ सकी तू क़ैदे-ख़ुदी[१] से अपनी।
ऐ अक़्ले-बेहक़ीक़त[२] देखा शऊर[३] तेरा॥

धन और पद का अभिमान भी व्यर्थ है। नीति के महान् विद्वान् विष्णु शर्मा ने पञ्चतन्त्र में इस बात को समझाने के लिए एक बड़ी मनोरञ्जक कहानी लिखी है—

एक राजा का एक बहुत बुद्धिमान् मन्त्री था, जो एक प्रकार से उस राज्य का सर्वेसर्वा था। एक बार उस मन्त्री ने सब राजकर्मचारियों और नगरवासियों को दावत दी। उस सहभोज में हज़ारों व्यक्तियों को भोजन करना था। एक बार की पङ्क्ति में ऐसा हुआ कि राजमहल के साधारण कर्मचारी भोजन के लिए आ गए और तभी नगर के कुछ धनी-

---

१. घमण्ड का बन्दीगृह; २. ऐ थोथी बुद्धि! ३. ढब, सलीक़ा, व्यवहार।

मानी सेठ भी आ गए। इस भीड़ में स्थान की कमी हो गई। इस स्थिति को देखकर मन्त्रीजी ने राजमहल के कर्मचारियों को कहा कि वे नगर से आए इन लोगों के लिए स्थान छोड़ दें और भोजन बाद में करें। महल के कर्मचारियों में एक झाड़ू लगानेवाले को मन्त्री का यह व्यवहार बहुत अनुचित लगा और उसने कहा कि—'हम चाहे महल के छोटे कर्मचारी हैं, किन्तु हम भी मन्त्री जी के मेहमान हैं और उनके निमन्त्रण पर ही भोजन करने आए हैं; इस प्रकार हमें हटाना हमारा अपमान है। मन्त्रीजी अपने को सर्वशक्तिमान् समझते हैं और इनकी दृष्टि में हमारा मूल्य ही कुछ नहीं है। इन्हें इसका मज़ा मैं चखाऊँगा।' इसने अपने मन में एक योजना बनाकर उसका प्रयोग किया।

प्रात:काल के समय यह झाड़ू देनेवाला महाराज के कमरे में झाड़ू लगा रहा था। उसने भाँप लिया कि महाराज ने केवल आँखें बन्द कर रखी हैं, वैसे वे जग रहे हैं। यह झाड़ू लगाते हुए बड़बड़ाया कि—'इस राज्य में भी बड़ा अन्धेरखाता है। इस राज्य के मन्त्री को कोई कुछ कहने-सुननेवाला नहीं है। यह मन्त्री महल की रानियों से बेधड़क होकर हँसी-मज़ाक करता है।' यह बात महाराज ने सुन ली और उसे डाँटते हुए कहा कि—'यह तू क्या बक रहा है?' झाड़ूवाले ने आँखें मलने का ड्रामा करते हुए कहा कि—'महाराज! आज रात को मैं एक विवाह में जगता रहा और सवेरा देखकर महल की सफ़ाई के लिए चला आया। अभी काम करते-करते मुझे नींद का झोंका-सा आ गया। महाराज, उसी झोंक में मेरे मुँह से कुछ निकल गया होगा। महाराज, मैंने क्या कह दिया?' यह सुनकर महाराज चुप हो गए और सोचने लगे—सोते में स्वप्न में भी तो मनुष्य वही देखता है, जो जगने में देखता है। यह महल का कर्मचारी है और सब स्थानों पर बेरोक-टोक जाता है और मन्त्री भी हमारे महल में रानियों के पास भी जाते रहते हैं। इस कर्मचारी ने अवश्य मन्त्री को हँसी-मज़ाक करते देखा होगा। वास्तव में यह हमारी असावधानी और त्रुटि है। मन्त्री का इस प्रकार निरंकुश आना-जाना ठीक नहीं।

इसके बाद राजा का मन्त्री पर सन्देह बढ़ता गया और धीरे-धीरे उसके सब अधिकार छीन लिये। किन्तु मन्त्री की समझ में इसका कोई कारण नहीं आ रहा था कि महाराज के व्यवहार में निष्कारण यह परिवर्तन क्यों हुआ?

अब मन्त्रीजी का सब सम्मान समाप्त हो गया और उनकी हैसियत एक साधारण नागरिक की-सी रह गई। उस अवस्था में एक दिन वह झाड़ू लगानेवाला मन्त्रीजी के सामने आ गया और मन्त्रीजी को फटे-हाल देखकर व्यंग्य से कहने लगा—'अब मन्त्रीजी किसी भोज का आयोजन नहीं करते?' उसके यह कहते ही मन्त्रीजी का माथा ठनका

और समझते देर नहीं लगी कि इस बिगाड़ के मूल में यही व्यक्ति कारण है। उसे स्मरण आया कि एक दावत में महल के कर्मचारियों को रोककर शहर के कुछ धनी-मानी लोगों को खाने पर जो बैठा दिया था, उससे रुष्ट होकर इसी ने कोई षड्यन्त्र किया है। मन्त्रीजी बुद्धिमान् तो थे ही, सँभलकर बोले—'भाई, अब हमारी अवस्था किसी दावत के योग्य कहाँ रही? किन्तु उस समय मुझसे भूल हुई थी, उसका प्रायश्चित्त मैं अवश्य करना चाहता हूँ। अब कल सपरिवार तुम मेरे घर भोजन के लिए आओ!'

यह सुनकर झाड़ू लगानेवाला बोला—'मन्त्रीजी! हम छोटे आदमी हैं। आपकी दावत खाने की हमारी हैसियत कहाँ है?' मन्त्री ने कहा—'इसका अर्थ यह निकला कि तुम मुझे क्षमादान के योग्य नहीं समझते। तुम जब तक मेरे घर सपरिवार आकर भोजन नहीं करते, मैं समझता हूँ तुमने मुझे क्षमा-दान नहीं दिया।'

मन्त्रीजी की अनुनय-विनय पर वह पसीज गया और भोजन पर आने का वचन दे दिया। दूसरे दिन यह भोजन के समय सपरिवार पहुँचा। मन्त्रीजी ने द्वार पर स्वागत किया और प्रेमपूर्वक अपने-आप परोसकर भोजन कराया। अन्त में यह सेवक विदा होते समय बोला—'मन्त्रीजी! आपने हमारे रोष का परिणाम भुगत लिया। अब हमारी प्रसन्नता का फल भी देखना।'

इसके बाद दूसरे-तीसरे दिन प्रातः के समय महाराज के कमरे में इसने अनुभव किया कि महाराज योग-निद्रा में हैं, जगते हुए केवल आँखें बन्द कर लेटे हैं। इसने अवसर देखकर फिर पहले-से सूत्र बोल दिये। इसने कहा—'हमारे महाराज भी बड़े अजीब हैं, जो टट्टी में बैठे हुए ककड़ी खाते रहते हैं।'

महाराज तो जग ही रहे थे, डाँटकर झाड़ूवाले को कहा—'तू क्या ऊटपटाँग बकवास करता रहता है?' झाड़ूवाले ने हाथ जोड़कर कहा—'महाराज! आज रात मैं एक खेल में चला गया था और रातभर जगता रहा, वहाँ से सीधा यहाँ सफ़ाई करने चला आया। यहाँ काम करते हुए मुझे नींद की एक झपकी आ गई, उसी में मेरे मुख से कुछ निकल गया होगा।'

उसने गिड़गिड़ाते हुए पूछा—'महाराज! मैंने क्या कह दिया?' यह सुनकर राजा चुप हो गया, किन्तु सोचने लगा यह तो बहुत मूर्ख है। इसने पहले भी एक दिन बकवास की थी और उसका अर्थ हमने यह लिया था कि मनुष्य जगने में जो देखता है, वही नींद में कहता है। हमने तो जीवनभर ऐसा नहीं किया कि टट्टी में बैठकर ककड़ी खाई हो। इस मूर्ख की बात पर विश्वास करके हमने एक योग्य व्यक्ति को पदावनत करके उसका बोझ अपने सिर पर लाद लिया।

दूसरे दिन दरबार लगा और उसमें अन्य व्यक्तियों के साथ वे मन्त्रीजी भी आए और नमस्ते करके पिछली सीट पर बैठने लगे।

महाराज ने प्रसन्न मुद्रा में नमस्ते ली और कहा कि—'मन्त्रीजी, आगे होकर बैठिये!' कुछ ही दिनों में धीरे-धीरे उनके सब अधिकार बहाल कर दिये और पहले-जैसा ही उनका प्रभाव जम गया।

एक दिन अवसर देखकर उस झाड़ू लगानेवाले ने मन्त्रीजी को नमस्ते की और पूछा—'मन्त्रीजी! कोई कमी तो नहीं रह गई है? हो तो बता दीजिये, वह भी पूरी कर दी जावे।'

इस कहानी को लिखकर विष्णु शर्मा ने यह समझाया है कि बड़े-से-बड़े व्यक्ति को भी सत्ता के मद में किसी का अपमान नहीं करना चाहिए। हिन्दी के विख्यात कवि अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' ने एक बहुत उत्तम कविता इस सम्बन्ध में लिखी है। कविता इतनी स्पष्ट है कि उसके लिए किसी और उल्लेख की आवश्यकता नहीं है। कविवर ने लिखा—

मैं घमंडों में भरा ऐंठा हुआ,
एक दिन जो था मुँडेरे पर खड़ा।
आ अचानक दूर से उड़ता हुआ,
एक तिनका आँख में मेरी पड़ा॥
मैं झिझक उट्ठा, हुआ बेचैन-सा,
लाल होकर आँख भी दुखने लगी।
मूठ देने लोग कपड़े की लगे
ऐंठ बेचारी दबे पाँवों भगी॥
जब किसी ढँग से निकल तिनका गया,
तब समझ ने यों मुझे ताने दिये—
ऐंठता तू किसलिए इतना रहा?
एक तिनका है बहुत तेरे लिए!!

इसलिए वेद ने विचारशील व्यक्तियों को उपदेश दिया कि तुम शक्ति पाकर नम्रता का व्यवहार मत छोड़ो! नम्रता मानवता है और उद्धतता पशुता है।

अब एक आवश्यक बात प्रकृत प्रसङ्ग में रह जाती है। यद्यपि उसका उल्लेख मन्त्र में नहीं है, किन्तु इस प्रकरण में उसकी चर्चा आवश्यक है। वह यह कि हम सरलता और सौजन्य की पराकाष्ठा कर दें, किन्तु इतने पर भी कोई हमारे साथ कपटपूर्ण व्यवहार करे और उन्मत्त होकर हमें सताए तो हम क्या करें? इसका उत्तर अथर्ववेद में दिया है—

घनेन हन्मि वृश्चिकमहिं दण्डेनागतम्॥

'तुम्हारे सद्व्यवहार करने पर भी कोई बिच्छू का-सा दर्पपूर्ण

व्यवहार करता है तो ऐसे बिच्छू को पत्थर से कुचल दो, और साँप के समान कुटिल चाल चलता है तो उसे लाठी से मार दो!' क्योंकि लातों के देव बातों से नहीं माना करते। संसार का समस्त व्यवहार इस सत्य का साक्षी है। राक्षसों के द्वारा यज्ञ में विघ्न उपस्थित करने पर विश्वामित्र ऋषि ने वेद-मन्त्रों का उपदेश नहीं दिया था, अपितु राम और लक्ष्मण को शस्त्रविद्या सिखाकर उनका संहार कराया था।

श्री योगिराज कृष्ण ने राजदूत बनकर दुर्योधन की चाण्डाल-चौकड़ी को उपदेश देकर सन्मार्ग पर लाना अवश्य चाहा था, किन्तु असफल रहे।

इसीलिए हिन्दी कवि ने लिखा--

जो मूरख उपदेश के होते जोग जहान।
दुर्योधन को बोध किन आये कृष्ण सुजान॥

अत: संसार को व्यवस्थित रखने का वेदोक्त मार्ग ही एकमात्र उपाय है जो ऊपर वर्णित किया गया।

❑❑

(४६)

तीन देवियों की घर-घर में पूजा करो!

इळा सरस्वती मही तिस्रो देवीर्मयोभुवः।

बर्हिः सीदन्त्वस्रिधः॥ —ऋ० १।१३।९

ऋषिः—मेधातिथि काण्वः॥ **देवता**—तिस्रो देव्यः॥ **छन्दः**—निचृद् गायत्री॥

अन्वयः—इडा सरस्वती मही अस्रिधः मयोभुवः देवीः तिस्रः बर्हिः सीदन्तु॥

शब्दार्थ—(**इळा**) स्तुति योग्य, प्रशंसनीय, संस्कृति, (**सरस्वती**) वाणी, मातृभाषा, (**मही**) पूजायोग्य मातृभूमि (**अस्रिधः**) हिंसारहित, कभी भी हानि न पहुँचानेवाली (**मयोभुवः**) सुख-समृद्धि देनेवाली (**देवीः**) दिव्यगुणोंवाली (**तिस्रः**) तीनों देवियाँ (**बर्हिः**) घर-घर को (**सीदन्तु**) प्रकाशित करें।

व्याख्या—मन्त्र में तीन देवियों की गुणावली का वर्णन करते हुए परामर्श दिया गया है कि ये घर-घर को प्रकाशित करें।

दुर्भाग्य से हमारे देश में इन तीनों देवियों का अनादर है। हमारी लम्बी दासता का सबसे भयङ्कर दुष्परिणाम यह हुआ है कि हम मातृ-संस्कृति, मातृभाषा और मातृभूमि के लिए जो आदर और श्रद्धा होनी चाहिए, उससे शून्य हो गए। यूँ तो मुसलमानों के भी छह-सात सौ वर्षों के शासन का भी दुष्प्रभाव हुआ, किन्तु इतना भयङ्कर नहीं जितना कि अंग्रेज़ों के ढाई सौ वर्षों का हुआ, क्योंकि मुसलमानों का शासन उग्रता और क्रूरतापूर्ण था, अतः प्रतिक्रिया के रूप में हिन्दुओं की भावना में दृढ़ता रही। मुसलमान शासकों ने विश्वविद्यालय ध्वस्त कर दिये, बड़े-बड़े पुस्तकालयों को आग लगा दी, किन्तु इन अत्याचारों से हिन्दुओं का मनोबल गिरा नहीं; उनमें यहाँ तक दृढ़ता आई कि मेधावी ब्राह्मणों ने वेदों और शास्त्रों को कण्ठाग्र करके रक्षा की। वेद की अनेक शाखाओं को स्मरण करके उनका पठन-पाठन ही जीवन का ध्येय बना लिया। उस भयङ्कर विक्षोभ के समय में। मस्तिष्क सन्तुलित रखकर संस्कृति को सुरक्षित रखना असाधारण बात है। यद्यपि लम्बे समय तक होनेवाले उन अत्याचारों से अनेक प्रकार की हानियाँ हुईं, किन्तु इतनी नहीं जितनी कि अंग्रेज़ के ढाई सौ वर्ष के शासन में। अंग्रेज़ के शासन ने भारत के सांस्कृतिक उपवन को जिस प्रकार उजाड़ा है, उसे तो समझने और अनुभव करनेवाले अभी तक भी बहुत कम हैं।

मुसलमानों के और अंग्रेज़ों के शासन के परिणाम को एक नीतिकार

के श्लोक से समझिये—

वने प्रज्वलितो वह्निर्दहन् मूलानि रक्षति।
समूलोन्मूलनं कुर्याद् वायुर्यो मृदुशीतलः॥

'जङ्गल में भड़की हुई दावानल हरे-भरे जङ्गलों को भस्म कर डालती है। यह इतनी उग्र होती है कि मानवीय प्रयत्नों से आसानी से इसे नियन्त्रित नहीं किया जा सकता। यह तो दो ही अवस्थाओं में बुझती है—या तो जङ्गल में जलाने को तिनका तक न बचे तब समाप्त होती है, अथवा प्रभु-कृपा से घटाएँ उठकर लगातार वर्षा की झड़ी लगा दें तब यह आग ठण्डी हो पाती है। यह भयङ्कर अग्नि ऊपर-ऊपर से तो वृक्षों के तनों को भस्म कर देती है, किन्तु भूमि में छिपी हुई उनकी जड़ें सुरक्षित बच जाती हैं और वर्षा ऋतु के आने पर भूमि के सिञ्चित होते ही उन जड़ों में से अङ्कुर निकलकर कालान्तर में फिर उसी प्रकार के हरे-भरे जङ्गल खड़े हो जाते हैं। किन्तु वायु, जो अनुभव करने में बड़ी कोमल और ठण्डी लगती है, वह आँधी का रूप धारण करके जब वृक्षों को उखाड़ती है तो वह भूमि में उनकी जड़ों को भी नहीं छोड़ती।'

अंग्रेज़ों का शासन वैदिक संस्कृतिरूपी उपवन के लिए आँधी के समान ही था, जिसने हृदय और मस्तिष्क की भूमि में से श्रद्धा और आस्था की जड़ों को उखाड़के फैंक दिया।

यह सब विनाश अंग्रेज़ी शिक्षा के कारण हुआ। जिन दिनों हब्शियों को पकड़कर ग़ुलाम बनाने के लिए अमरीका की मण्डियों में बेचा जाता था और उनपर अनेक प्रकार के अत्याचार होते थे, उस समय इस कुत्सित प्रथा को समाप्त करने के लिए एक 'मिस स्टो' नाम की देवी ने बड़ा आन्दोलन किया। वह इसके लिए जेल भी गई। इस विचारशीला कुमारी स्टो ने "अङ्कल टोम्स कैबिन" नाम की पुस्तक लिखकर इन हब्शी दासों पर होनेवाले अत्याचारों का वर्णन किया। इस पुस्तक के प्रारम्भ में स्टो ने कुछ महत्त्वपूर्ण बातें लिखी हैं। वह लिखती है कि—"यदि कोई देश दुर्भाग्य से पराधीन हो जावे तो उस देश के लोगों की मनोवृत्ति में हीनता आ जाती है। वे अपने-आपको तुच्छ और शासक-जाति के लोगों को महान् समझने लगते हैं, उनके खान-पान और रहन-सहन का अनुकरण करने लग जाते हैं और दुर्भाग्य से यदि शासक-जाति अपने शासितों में अपनी शिक्षा का प्रबन्ध कर दे तो फिर दासता की जड़ें उनके हृदय और मस्तिष्क में इतनी गहरी चली जाती हैं कि उन्हें उखाड़ना अत्यन्त कठिन होता है।"

स्टो के इस लेख की सचाई को हम अपनी आँखों से भारत में देख सकते हैं। जहाँ-जहाँ अंग्रेज़ी की शिक्षा पहुँचती जाती है, वहीं-वहीं पाश्चात्य वेशभूषा और खान-पान भी बदलता जाता है, और

आश्चर्य है कि स्वाधीनता के बाद इन चालीस वर्षों में जितना अंग्रेज़ी का चलन बढ़ा है, वह अंग्रेज़ों के पौने दो सौ वर्षों के शासन में भी नहीं हुआ था। स्थान-स्थान पर अंग्रेज़ी माध्यम के पब्लिक स्कूल खुल रहे हैं। प्रत्येक अपने बच्चे को उन स्कूलों में पढ़ाने को लालायित है; यदि आर्थिक विवशता से ही न पढ़ा सके तो दूसरी बात है। पैंट का दख़ल देहात तक पर हो गया है। सब अपने-अपने पारम्परीण रहन-सहन को भूल रहे हैं। पहले देखते ही कपड़ों के पहनावे से पञ्जाबी, उत्तर प्रदेशीय, बङ्गाली, मद्रासी और आन्ध्रीय पहचाना जाता था। अब पञ्जाबियों की पगड़ी छूटी, यू० पी० वालों की टोपी और धोती गई, बङ्गालियों का कुर्ता और घूमदार धोती, मद्रासियों की लुङ्गी, सब समाप्त होकर पैंट और बुश्शर्ट छा गए हैं। अतः वेद के इस मन्त्र में उद्बोधन किया गया है कि अपनी संस्कृति, भाषा और मातृभूमि की महत्ता को समझो और उसका आदर करो।

सर्वप्रथम इस मन्त्र में ''**इडा**''—संस्कृति की बात कही है। हमारे देश में प्रचलित और पल्लवित संस्कृति 'वैदिक संस्कृति' है। आजकल लोग इसे भारतीय संस्कृति कहने लग गए हैं, किन्तु यह उनकी भूल है। भारतीय संस्कृति नाम की कोई संस्कृति है ही नहीं। भारत में तो आस्तिक, नास्तिक, मुर्दे जलानेवाले, दबानेवाले, बौद्ध, पारसी, सिख, ईसाई और मुसलमान सभी हैं। सबके विचार और आचार भिन्न-भिन्न हैं, अतः भारतीय संस्कृति कोई नहीं है। हमारी संस्कृति का वास्तविक और शुद्ध नाम वैदिक संस्कृति है। वेद के शब्दों में यह प्रथमा संस्कृति है और **विश्ववारा**, विश्व से स्वीकार करने योग्य और विश्व को सुख और शान्ति देनेवाली है। वेद ने मानव को, समस्त संसार को परिवार समझकर आत्मीयता और स्नेह से परस्पर व्यवहार करने का परामर्श दिया है। वेद कहता है तुम सबमें कोई छोटा-बड़ा[१] नहीं है, तुम सब मिलकर[२] चलो, सब मिलकर विचार-विनिमय करो, तुम सब के विचारों में तथा खाने-पीने[३] में समानता हो, मैं तुम सबको समान उत्तरदायित्व के जूए में जोड़ता हूँ, प्राणिमात्र[४] में तुम्हारे जैसा ही आत्मा है, सभी को दुःख-सुख की समान अनुभूति होती है, अतः अपने स्वार्थ के लिए किसी को हानि न पहुँचाओ।

वेद के इन उच्च आदर्शों को जिसने भी पढ़ा, वह मुग्ध हो गया और मुक्तकण्ठ से प्रशंसा करने को बाध्य हो गया। प्रसिद्ध फ्रांसीसी विद्वान् लुई जैकोलियट अपनी प्रसिद्ध पुस्तक ''बाइबिल इन इण्डिया''

---

१. अज्येष्ठास अकनिष्ठास........।
२. सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि........।
३. समानी प्रपा सह वो अन्नभागः।
४. यस्मिन्त्सर्वाणि भूतानि........।

में लिखता है—

"India is the world's cradle, thence it is that the common mother in sending forth her children even to the utmost west, has unjading testimony of our origin bequeathed us the legacy of her language, her laws, her morals, her literature and her religion. Traversing Persia, Arabia, Egypt and even forcing their way to the cold and cloudy north far from the sunny soil of their birth in vain they may forget their point of departure, their skin may remain brown or become white from contact with snows of the west, of the civilizations founded by them, splended Kingdoms may fall, and leave no trace behind but some few ruins of sculptured colums, new people may rise from the ashes of the old, but time and ruin united fail to obliterate the ever legible stamp of origin."

"भारतवर्ष संसार का पालना है। वहीं से सबकी माता ने अपने बच्चों को दूर-से-दूर पश्चिम भेजा है और अपना उद्‌भव याद दिलाने के लिए अपनी भाषा, राजनियम, आचार, साहित्य और धर्म का दायभाग दिया है—वे फ़ारस, अरब और मिस्र में घूम जावें, उनसे भी आगे अपनी सुखदा मातृभूमि से दूर सर्द और धुँधले उत्तर में पहुँच जावें, वे अपने निकास को भुलाने का व्यर्थ यत्न करें या उनकी चमड़ियाँ गंदुमी रहें या बर्फ़ के सम्पर्क से सफ़ेद हो जावें, उन द्वारा स्थापित की हुई सभ्यताओं में से बड़े राज्यों का नाश हो जाए और पीछे थोड़े-से टूटे-फूटे विचित्र खम्भों के अतिरिक्त और कुछ शेष न छोड़ जाएँ, पुरानी नगरियों के खण्डहरों पर नयी नगरियाँ बस जावें, किन्तु समय और नाश मिलकर भी उन पर से उत्पत्तिस्थान के स्पष्ट ठप्पे को नहीं मिटा सकते।"

आगे जैकोलियट मनुस्मृति की प्राचीनता और उसकी सृष्टि-उत्पत्ति की वैज्ञानिकता की प्रशंसा करते हैं। मनुवर्णित सामाजिक नियमों की उपादेयता को भी अङ्गीकार करते हैं। जैकोलियट का एक और महत्त्वपूर्ण उद्धरण भी यहाँ उद्धृत करना उचित प्रतीत होता है—

We shall presently see Egypt, Judea, Greece, Rome all antiquity, in fact, copies Brahmincial society in its castes, its theories, its religious opinion and adopts its Brahmins, its priests, its levitis as they had already adopted the language. Legislation and philosophy of the ancient Vedic society whence their ancestors had depösted through the world to dessiminate the grand ideas of primitive revelation.

'हम देखेंगे कि मिस्र, जूडिया, यूनान, रोम सर्वप्राचीन देश अपने जाति-भेद, अपनी कल्पनाओं, अपने धार्मिक विचारों में ब्राह्मणसमाज का ही अनुकरण करते हैं और इसके ब्राह्मणों, इसके पुरोहितों, इसके याज्ञिकों को स्वीकार करते हैं जिस प्रकार कि पहले से ही उस प्राचीन

वैदिक समाज से उनके पुरुषा (पुरखे) सारे भूगोल में प्रारम्भिक ईश्वरीय ज्ञान के उच्च समाज की भाषा, धर्मशास्त्र और दर्शनशास्त्र को अङ्गीकार किया था, जिस समाज से उनके पुरुष (पुरखे) सारे भूगोल में प्रारम्भिक ईश्वरीय ज्ञान के उच्च वैदिक विचारों को फैलाने के लिए निकले थे।'

इनसे हमारे अंग्रेज़ी पढ़े-लिखों की वैदिक संस्कृति के प्रति जो हीनभावना है, वह दूर हो जानी चाहिए और उचित रूप से गौरव की अनुभूति होनी चाहिए।

अन्त में डॉ० वालेस, जो विकासवाद के ही आविष्कारकों में से एक हैं, वेद के प्रति उनके विचारों की झाँकी और कीजिये—

We must admit that the mind which conceived and expressed appropriate language, such ideas as are everywhere apparent in these vedic hymns could not have been in any way inferior to those of the best of our teachers and poets, our Miltons and our Tenneysons.

(Social Environment and moral progress)

—By Dr. Wallace, p. 143

'जो विचार वेद की ऋचाओं से प्रकट होते हैं, उनके लेखक उत्तम-से-उत्तम शिक्षकों और हमारे मिल्टनों तथा टेनीसनों से न्यून नहीं थे।'

अत: हमें अपनी संस्कृति देवी की पूजा करनी चाहिए। किसी संस्कृत के कवि ने वैदिक संस्कृति के बहुत हृदयहारी गुणों का वर्णन किया है कि वैदिक संस्कृति क्या है—

या जाता तुहिनाचलस्य शिखरे तप्तात्मनां शान्तये,
या लक्ष्मी मदनाशिनी क्षितिभुजां या ब्रह्मतेजोमयी।
या प्रेम्णा वसुधातले सुरपुरादुत्कर्षमातन्वती,
त्रैलोक्ये महिमानमञ्चतु नवं सा संस्कृतिर् वैदिकी॥

'जिस संस्कृति का जन्म त्रिविष्टप् में ऋषियों के हृदय में त्रिविध तापों को शान्त करने के लिए हुआ, जिस संस्कृति की पावन विचारधारा से राजाओं का धन का मद समाप्त हो जाता है, जिस संस्कृति में ब्राह्मतेज का वर्चस्व सुशोभित रहता है, जो स्नेहिल विचारधारा से संसार को स्वर्ग से भी सुन्दर बनाती है, वह वैदिक संस्कृति समस्त संसार में अपने अनूठे प्रभाव से सुशोभित रहे।'

यह हुई मन्त्र में वर्णित इडा देवी की बात।

इसके बाद दूसरी देवी है **''सरस्वती''**—मातृभाषा। इसकी भी हमारे देश में पूजा तो क्या, अनादर ही हो रहा है। संविधान में हिन्दी को राष्ट्रभाषा स्वीकार करके भी अभी अंग्रेज़ी का मोह हमसे नहीं छूटता। इस मूर्खता के कारण अनेक बार विदेशों में हमारे राजनयिकों को अपमानित भी होना पड़ा है। रूस में विजयलक्ष्मी राजदूत बनकर गईं

तो उनके सब परिचय-पत्र अंग्रेज़ी में थे। रूस में उन्हें अस्वीकार करते हुए कहा कि या तो ये पत्र भारत की भाषा में होने चाहिएँ अथवा रूस की भाषा में। किसी अन्य देश की भाषा में ये स्वीकार नहीं किये जा सकते। अपनी लोकसभा और राज्यसभा का दृश्य देखिये, यह प्रतीत ही नहीं होता कि हम भारत में हैं। बड़े कहलानेवाले घरानों का दृश्य देखिये, दुधमुँहे बालक होश सँभालते ही अंग्रेज़ी बोलते हैं। हम जिस अंग्रेज़ी बोलने पर और अंग्रेज़ी रहन-सहन पर गर्व करते हैं, वहाँ दूसरे देशवासी हमें देखकर क्या सोचते हैं, यह एक अमेरिकन पत्रकार हैनरी सैंडर ने चित्रित किया है जो भारत के ३४ वर्ष के स्वाधीन देश को देखने के लिए आया और यहाँ से जाकर जिसने भारत के विषय में अमेरिका के पत्र 'प्रोग्रैसिव' में लेख लिखा। उस लेख का अपेक्षित भाग निम्न है—

"अंग्रेज़ों के चले जाने के बाद पिछले ३० वर्षों में झण्डे के सिवाय भारत में और कुछ परिवर्तन नहीं आया है। भारतीय एक-दूसरे से जिस प्रकार व्यवहार करते हैं, उसमें भी उनके औपनिवेशिक मस्तिष्क की झलक मिलती है। जब वे किसी भारतीय से ही बात करते हैं, तो धीरे-धीरे उनका वार्त्तालाप अंग्रेज़ी में बदल जाता है। शायद भारतीय यह भूलना ही नहीं चाहते कि उन्हें उनके अंग्रेज़ शासकों ने लिखाया-पढ़ाया है। एक भारतीय व्यवहार और आचरण में अपने को यूरोपीय से घटकर ही मानता है। जब वह किसी भारतीय के साथ बात करे या रहे, अपने को योरोपीय का नौकर-सा मानता है। जब मैं भारत पहुँचा तो मैंने बराबर हिन्दी में बात करने की कोशिश की, लेकिन मुझे लगा कि यह सब व्यर्थ है, बल्कि भारतीय हिन्दी में बात करना अपना अपमान समझते हैं।" यह है प्रतिक्रिया एक विदेशी पर्यटक की।

हमें तीव्र आन्दोलन करके इस मनोवृत्ति को परिवर्तित करना चाहिए और उत्तर भारत में बलपूर्वक अंग्रेज़ी का विरोध करना चाहिए। राजनैतिक कारणों से तमिलनाडु, बङ्गाल आदि प्रदेश हिन्दी का विरोध करते हैं, उन्हें उनके मार्ग पर चलने देना चाहिए। वे अंग्रेज़ी अपने प्रदेश में चलाना चाहें तो चलावें, किन्तु हिन्दीभाषी प्रदेश में सरकारी कार्यालयों में अंग्रेज़ी का प्रचलन कठोरता से रोकना चाहिए। कुछ समय में ही हमारी इस क्रियाशीलता से उनकी मनोवृत्ति बदलेगी और हिन्दी के प्रति सहनशीलता उत्पन्न होगी। हिन्दीभाषी प्रदेश में पत्रों के पते देवनागरी में ही लिखने चाहिएँ।

इस प्रकार हमारी मातृभाषा देवी हमारे घरों में प्रतिष्ठित होगी और उसकी पूजा होगी।

मन्त्र में तीसरी देवी **'मातृभूमि'** की पूजा कही। इसके लिए भी भारत में बहुत करना शेष है। यदि मातृभूमि की स्वाधीनता की रक्षा

और समृद्धि का विचार भारतीयों में दृढ़ हो जावे तो इससे हमारे चिन्तन और व्यवहार दोनों ही बदल जावेंगे। फिर हमारे सरकारी प्रतिष्ठान घाटे में नहीं चलेंगे। कार्यालयों में बाबुओं की मेज़ों पर फ़ाइलों के ढेर नहीं लगे रहेंगे। जब भारत का कृषक खेतों में घोर परिश्रम करके, मज़दूर कारख़ानों में जी-तोड़ मेहनत करके और उत्पादन बढ़ाकर, देश के वैज्ञानिक उपयोगी आविष्कार करके, भारत का अध्यापक-वर्ग बच्चों के कोमल हृदय और मस्तिष्क में सच्चरित्रता और मातृभूमि की भक्ति की भावना बद्धमूल करके, माता-पिता पूरे परिश्रम से बच्चों का शारीरिक और मानसिक विकास करने में अपनी शक्ति को खपाएँगे, तब इस तीसरी देवी मातृभूमि की प्रतिष्ठा और पूजा होगी। इस सम्बन्ध में अन्य कई मन्त्रों की व्याख्या में लिखा जा चुका है, अपेक्षा हो तो वहाँ से सहायता लें।

❑❑

(४७)

नश्वर संसार से शाश्वत लाभ-प्राप्ति के लिए पुरुषार्थ करो!

अ॒श्व॒त्थे वो॑ नि॒षद॑नं प॒र्णे वो॑ व॒स॒तिष्कृ॒ता।
गो॒भाज॒ इत्कि॑लासथ॒ यत्स॒नव॑थ॒ पूरु॑षम्॥

—ऋ० १०।९७।५

ऋषिः—भिषगाथर्वणः॥ **देवता**—ओषधीस्तुतिः॥ **छन्दः**—अनुष्टुप्॥

अन्वयः—वः निषदनम् अश्वत्थे, वः वसतिः पर्णे कृता यत् गोभाजः किल असथ पूरुषम् सनवथ॥

शब्दार्थ—[हे मनुष्यो!] (**वः**) तुम्हारी (**निषदनम्**) जीवनस्थिति (**अश्वत्थे**=अश्वः-स्थे) कल तक भी न ठहरनेवाले शरीर पर है और (**वः वसतिः**) तुम लोगों का वास (**पर्णे**) चञ्चल पत्र के समान कम्पित होनेवाले प्राण पर (**कृता**) किया हुआ है। इस पर भी तुम (**गोभाजः किल असथ**) इन्द्रियों के भोगों में संलग्न हो, अतः सावधान होकर (**पूरुषम्**) पूर्ण पुरुष प्रभु को (**सनवथ**) प्राप्त करो!

व्याख्या—मन्त्र में दो बातें मुख्यरूप से कही गई हैं। पहली यह कि इस संसार में कोई भी वस्तु ठहरनेवाली नहीं है। यह सब खेल थोड़े ही दिन रहता है। दूसरी यह कि इसकी भङ्गुरता को समझकर पुरुष हो तो पुरुषार्थ करके उस परम पुरुष प्रभु को प्राप्त करो। खाने-पीने आदि भोग की वस्तुओं को जुटाने का नाम ही पुरुषार्थ नहीं है। अस्ली पुरुषार्थ तो सांख्यकार कपिल मुनि के शब्दों में "**त्रिविध-दुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः**" है, अर्थात् 'तपश्चर्या द्वारा मोक्ष-प्राप्ति का नाम वास्तविक पुरुषार्थ है।'

संसार शब्द का अर्थ है जो नियमपूर्वक सरक रहा है, चल रहा है; जगत् शब्द का भी वही अर्थ है, जो गति कर रहा है। ये सभी शब्द इस तथ्य को प्रकट कर रहे हैं कि यहाँ कुछ भी टिकनेवाला नहीं है। आचार्य यास्क ने वार्ष्यायणि आचार्य का मत बताते हुए संसार के परिवर्तन को प्रकट करनेवाले ये भावविकार बताए हैं—'**षड्भावविकारा भवन्तीति वार्ष्यायणिर्जायते, अस्ति, विपरिणमते, वर्धते, अपक्षीयते, विनश्यति।**' कोई भी सांसारिक पदार्थ, 'जायते'—पैदा होता है, 'अस्ति'—फिर उसकी दूसरी स्थिति आई है, इसके बाद तीसरी श्रेणी आई 'विपरिणमते'—उसका विपरिणाम होता है, फिर 'वर्धते'—जितनी वह चीज़ बढ़ सकती है, बढ़ती है। इसके आगे 'अपक्षीयते' उसका धीरे-धीरे ह्रास होता है और अन्त में 'विनश्यति'—वह वस्तु नष्ट हो जाती है।

जो विचारशील मनुष्य संसार के इस रूप को समझता है वह विद्या, बल और धन को प्राप्त करके मदोन्मत्त नहीं होता। हमारी आँखों-देखी बात है, इन्दिरा जी के प्रधानमन्त्रित्व-काल में आपातस्थिति लागू होने पर जिस इन्दिरा के प्रभाव को भारतीय अप्रमेय समझते थे, सन् ७७ के जनता-शासनकाल में वही इन्दिरा एक सामान्य महिला के समान पुलिस द्वारा पकड़ी जाकर एक साधारण मजिस्ट्रेट के सामने हाज़िर हुई। इतिहास ने फिर करवट बदली और अबतक के राजनैतिक इतिहास में यह अभूतपूर्व घटना हुई कि इतने स्वल्पकाल में प्रजातान्त्रिक रूप से वही इन्दिरा फिर प्रधानमन्त्री के पद पर बैठीं और जोश उबाल खाने लगा कि एक दिन उनका मनचला बेटा प्रातः यह कहकर मुस्कराता हुआ घर से निकला कि "अम्मा! मेरे हवाई जहाज़ की कलाबाज़ी देखना" और एक-डेढ़ घण्टे बाद ही हवाई जहाज़ के साथ गिरकर संसार से विदा ले गया! क्या सुन्दर कहा किसी शायर ने—

रौनक़ चमन में आ गई, लेकिन न भूलना,
शायद ख़िज़ाँ छिपी हो, बहारों के आस-पास।

उधर देखिये पड़ोसी देश पाकिस्तान में राजनीति के पर्दे पर कैसे-कैसे मार्शल और डिक्टेटर उभरे और चन्द दिन तूती बजाकर विस्मृति के गर्त में विलीन हो गए।

वह अहङ्कारी भुट्टो, जिसने हिन्दुस्तानियों को कुत्ता कहा, वह अपने द्वारा ही कुर्सी पर प्रतिष्ठापित सैनिक सर्वाधिकारी द्वारा महान् अपराधी के समान फाँसी पर चढ़ा दिया गया।

ईरान और रूस में भी जो कुछ हुआ, वह भी हमारे सामने का ही तमाशा है। ईरान का मानी शाह जो "आर्य-मिहिर" कहलाने में गर्व अनुभव करता था और जिसने कुछ ही वर्ष पहले संसार के सबसे अधिक मूल्यवान् और सुन्दर तख़्ते-ताउस पर बैठकर अपनी ताजपोशी का जश्न मनाया था, वह रातोंरात अपने बीवी-बच्चों के साथ ईरान से उड़ भागा और कुछ समय के बाद एक सामान्य व्यक्ति के समान संसार से चल बसा।

हमारी आँखों के सामने ही रूस में जिस स्टालिन के सङ्केत के बिना पत्ता तक नहीं हिलता था, कुछ ही दिनों में परिस्थिति यहाँ तक बदली कि मरे हुए स्टालिन की कब्र तक लोगों ने उखाड़ फेंकी, पर इन सबसे बढ़कर जो ख्रुश्चेव के साथ हुआ, वह अत्यन्त दारुण और दुःखदायक है। घटना-विवरण निम्न है—

कम्युनिस्ट पार्टी रूस के भूतपूर्व महासचिव निकिता ख्रुश्चेव जिन परिस्थितियों में १४ अक्टूबर सन् १९६४ को अपदस्थ किये गए थे, उससे उन्हें गहरा आघात लगा था। बाद में सरकारी पेंशन के विषय में ख्रुश्चेव ने कहा कि भीख माँगकर खा लूँगा, किन्तु पेंशन स्वीकार नहीं करूँगा। स्वर्गीय ख्रुश्चेव का यह दुःखद चित्र, उनकी आत्मकथा-

सम्बन्धी पुस्तक ''डिक्टेटर ऑन ए पेंशन'' में प्रस्तुत किया गया है। इस पुस्तक के लेखक मास्को के मार्क्सवादी इतिहासकार श्री राग मेदवेदेव हैं। श्री मेदवेदेव को सोवियत नेताओं ने ''एकमेव'' विपक्षी के रूप में स्वीकार किया था। लेखक का कहना है कि ख्रुश्चेव ७० वर्ष के हो जाने के बाद भी पर्याप्त स्वस्थ थे और उनमें अत्यधिक उत्साह था, वह प्रतिदिन चौदह से सोलह घण्टे तक काम करते थे।

बाद में उनका महत्त्व एक-साथ गिर गया। ख्रुश्चेव के निष्कासन के बाद पोलित ब्यूरो ने उन्हें १२ हज़ार रूबल प्रतिमाह देने का निश्चय किया। इसके साथ ही एकान्त में बना वह मकान भी देने का निश्चय किया था, जिसमें प्राय: स्टालिन ठहरा करते थे।

श्री ब्रेजनेव ने पोलित ब्यूरो के निर्णय के विषय में उन्हें बताने के लिए किसी को भेजा, लेकिन स्वाभिमानी ख्रुश्चेव ने किसी भी पूर्व-सहयोगी से मिलने का निषेध कर दिया। इसके पश्चात् इस निर्णय को परिवर्तित करके उन्हें ४ हज़ार रूबल प्रतिमाह तथा मास्को से बीस मील दूर मकान देने का निर्णय किया।

श्री किरिलेङ्को को आगे लाने में ख्रुश्चेव की मुख्य भूमिका रही। वे कम्युनिस्ट पार्टी में श्री ब्रेज़नेव के बाद दूसरे महत्त्वपूर्ण व्यक्ति थे। श्री किरिलेङ्को ने एक बार ख्रुश्चेव से कहा था कि—''आप अभी भी सुखी हैं।'' इस पर ख्रुश्चेव ने तीखे स्वर में कहा—''आप मेरा मकान और पेंशन वापस ले सकते हैं। मैं अपने देश के लोगों से भीख माँगकर गुज़ारा कर लूँगा। लोग मुझे अवश्य कुछ-न-कुछ देंगे।''

इसके एक दिन बाद ही ख्रुश्चेव को दिल का दौरा पड़ा तथा एक वर्ष बाद ११ सितम्बर १९७१ को उनका निधन हो गया। दो दिन बाद उनका अन्तिम संस्कार हुआ, जिसमें पार्टी का कोई भी नेता सम्मिलित नहीं हुआ। यह है संसार का स्वरूप! ठीक कहा है किसी शायर ने—

शुहरत की बुलन्दी भी पलभर का तमाशा है।
जिस शाख पे बैठे हो, यह टूट भी सकती है॥

इसलिए संसार के स्वरूप को बताते हुए इसे अश्वत्थ कहा। अश्वत्थ पीपल वृक्ष को भी कहते हैं। पीपल का वृक्ष भी नश्वर है, किन्तु उस पीपल पर लगा पत्ता तो और भी शीघ्र नष्ट होनेवाला है। एक वर्ष में पककर तो पतझड़ में झड़ ही जाएगा, किन्तु तेज़ हवा इससे पहले भी इसे तोड़ सकती है। यही बात यहाँ कही। वैसे तो संसार ही नश्वर है, किन्तु मानव-शरीर तो पत्ते के समान और भी शीघ्र विनष्ट होनेवाला है, अत: चेतावनी देते हुए कहा—इस स्थिति में भी तुम्हें इन्द्रियों के विषय प्रिय लगते हैं, इससे अधिक पशुता क्या होगी?

अत: जितेन्द्रिय होकर इन्द्र बनो! विचार और तप का अत्यन्त पुरुषार्थ करके उस परम पुरुष को प्राप्त करो!

(४८)

सफलता की तीन सीढ़ियाँ

सत्येनावृता श्रिया प्रावृता यशसा परीवृता॥

—अथर्व० १२।५।२

ऋषिः—कश्यपः॥ **देवता**—ब्रह्मगवी॥ **छन्दः**—भुरिक् साम्न्यनुष्टुप्॥

अन्वयः—स्पष्ट है।

शब्दार्थ—(सत्येन) सत्य से **(आवृताः)** सब ओर से युक्त, घिरे हुए **(श्रिया)** लक्ष्मी से, धन से **(प्र-आ-वृताः)** और अधिक युक्त **(यशसा)** यश से, कीर्त्ति से **(परि)** चारों ओर से **(वृताः)** युक्त हम सब जीवनभर रहें।

व्याख्या—इस मन्त्र में कुल चार शब्द हैं—सत्य, श्री और यश, ये तीन शब्द और चौथा 'आङ्'। आवृताः, प्रावृताः और परिवृताः—इन तीनों क्रियाओं में धातु एक ही है, केवल आङ्, फिर प्र-आङ् और इसके पश्चात् परि, ये तीन उपसर्ग लगे हुए हैं, जो क्रिया के अर्थ की मात्रा के द्योतक हैं। 'आङ्' का अर्थ है समन्तात्—सब ओर सोच फिर अगली क्रिया 'प्रावृताः' में आङ् के पहले प्र उपसर्ग और जुड़ गया। भाव यह हुआ कि सत्य के बाद धन की मात्रा, जो उसकी व्यावहारिक सफलता का प्रमाण है और अधिक होनी चाहिए और तीसरी क्रिया 'परिवृताः' में परि उपसर्ग है, जिसका अर्थ है परितः—चारों ओर से, अर्थात् सत्य की अपेक्षा से धन की अधिकता रहे और इन दोनों की भी अपेक्षा यश की मात्रा चारों ओर से रहे, सत्य और धन का समस्त क्षेत्र यशस्वी बनानेवाला हो, अतः धातु के हिसाब से इन तीनों क्रियाओं को एक शब्द गिनकर मन्त्र में वस्तुतः चार शब्द ही हैं।

किन्तु चार शब्द के इस छोटे-से मन्त्र में गागर में सागर भर दिया है, सफल जीवन का पूर्ण चित्र खींचकर रख दिया है।

प्रायः लोक में एक व्यक्ति अभावग्रस्त परिवार में जन्म ले, जिसमें दो जून का रूखा-सूखा भोजन भी कठिनाई से उपलब्ध होता हो। रहने के मकान में भी किसी ऋतु वर्षा, सर्दी और गर्मी का सुख न हो। यही बालक होश सँभालने पर अपने बुद्धि-कौशल से लाखों रुपये कमा डाले। अच्छे-से-अच्छा खाने को उपलब्ध होने लगे। रहने को प्रत्येक ऋतु में सुख-सुविधा देनेवाली सुन्दर कोठी खड़ी कर दे। यातायात के लिए सुन्दर कार खरीद ले और इसके अतिरिक्त लाखों रुपये बैंक में जमा कर ले तो ऐसे व्यक्ति को सभी सफल व्यक्ति कहते हैं। किन्तु वेद कहता है इतने से किसी को सफल नहीं कहा जा सकता, जबतक कि वह विचारणीय मन्त्र की सत्यवाली शर्त को पूरा नहीं करता, क्योंकि सफलता

की कसौटी धन, वैभव, कार और कोठी नहीं हैं। सफलता की कसौटी एक ही है कि मनुष्य ईमानदारी से अपने जीवन को देखकर यह अनुभव करे कि मैंने जो कुछ कमाया है, सत्य के आधार पर। किसी को धोखा नहीं दिया, किसी को दबाया नहीं। ऐसा व्यक्ति अपने जीवन के अन्तिम क्षणों में बड़ी शान्ति से संसार को छोड़ता है। यह है सफल जीवन की पहचान और उसका आधार **सत्य** ही है।

अभी कुछ वर्ष पूर्व समाचारपत्रों में एक बड़ी महत्त्वपूर्ण बात इसी सम्बन्ध में प्रकाशित हुई। बङ्गाल के प्रसिद्ध न्यायाधीश श्री नील माधव वंद्योपाध्याय, जो सत्यनिष्ठा के लिए बहुत विख्यात थे, अपने को स्वस्थ बताकर जबकि वे एक रोग से पीड़ित थे, उन्होंने पाँच हज़ार रुपये का बीमा कराया। जीवन के अन्तिम समय में नीलमाधव अत्यन्त अशान्त और क्षुब्ध थे और उनके प्राण निकल नहीं पा रहे थे। उनके सम्बन्धियों ने इसका कारण पूछा तो उन्होंने कहा—'अब से पाँच वर्ष पूर्व बीमा के समय डॉक्टरी होने पर मैंने मधुमेह होने पर भी अपने रोग को छिपाकर अपने को स्वस्थ बताने का मिथ्या व्यवहार किया। बस, यह असत्य-आचरण ही मुझे इस समय अशान्त कर रहा है। बीमा-कम्पनी के अधिकारी को तुरन्त बुलावें ताकि मैं इस बीमा को रद्द करा दूँ। मैं नहीं चाहता कि इस प्रकार का पैसा मेरे वारिसों को मिले।'

बीमा-एजेण्ट को बुलाकर सब बात कही गई। एजेण्ट ने कहा—ऐसा तो होता ही रहता है, किन्तु माधव बाबू सन्तुष्ट नहीं हुए और बीमा रद्द करा दिया। प्रसन्न होकर कहा कि—'यह हर्ष की बात है कि मैं आपसे न्याय कर सका' और शान्ति से प्राण त्याग दिये। यह है जीवन की सफलता!

मनुष्य की उन्नति और अवनति की कसौटी भी सत्य है, जिसका साक्षी मनुष्य का अपना आत्मा है। यही महत्त्वपूर्ण बात श्री कृष्ण ने गीता में कही—

उद्धरेदात्मनात्मानन्नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैवात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥ —६।५

'अपनी आत्मा से अपने-आपका उद्धार करे। अपनी दृष्टि में अपने-आपको न गिरा ले। यदि सत्य पर चलता हो तो मनुष्य का आत्मा बन्धु के समान उसकी सहायता करता है, और यदि असत्य और अधर्म पर चलता हो तो उसका आत्मा ही उसका विरोधी बन जाता है।' संसार चाहे उसे महात्मा कहे, अन्दर से आत्मा इसे स्वीकार न करके अन्दर-ही-अन्दर यह कहता है कि तू महात्मा नहीं है!

विदुर ने महाभारत में कहा है—

"य आत्मनापत्रपते भृशं नरः स सर्वलोकस्य—गुरुर्भवत्युत।"

'जो व्यक्ति कोई भी काम करने से पूर्व यह देख लेता है कि कहीं

ऐसा काम न हो जाय कि मेरा आत्मा ही मुझे लज्जित करने लगे, वह समस्त संसार का गुरु होने योग्य है।'

किसी आंग्ल विचारक ने भी उत्तम कहा है—

Some will hate thee, Some will love thee,
Some will flatter, Some will slight,
Cease from man and look above thee,
Trust in God, and do the right.

'कुछ लोग तुमसे घृणा करेंगे, कुछ तुमसे प्रेम करेंगे, कुछ तुम्हारी झूठी प्रशंसा करेंगे, कुछ तुम्हारी निन्दा करेंगे, इसलिए तू मनुष्य की रञ्चमात्र परवाह न कर! ईश्वर पर भरोसा रख! अपने आत्मा के आदेशानुसार सचाई के साथ काम करते जाना चाहिए।'

इसलिए सत्यमय व्यवहार जीवन की पहली सफलता है। वेद और शास्त्रों में सत्य की बड़ी महिमा बखानी गई है। ऋग्वेद में कहा है— **"सत्येनोत्तभिता भूमिः"**—इस संसार को सत्य ने सँभाल रक्खा है। यदि इसमें से सत्य निकल जावे तो संसार चल नहीं सकता। लोग आजकल कहते हैं कि व्यवहार में झूठ बहुत बढ़ गया है। इसका यह अभिप्राय नहीं है कि सत्य की तुलना में झूठ अधिक हो गया है। सत्य आज भी बहुत अधिक है और झूठ बहुत कम। झूठे से झूठा व्यक्ति भी सारे दिन में तोड़-जोड़ के समय कुछ ही मिथ्या भाषण करता है, अन्यथा परिवार में, मित्रों में सत्य का व्यवहार ही करता है। समीप और दूर के सब व्यवसाय सत्य पर ही चल रहे हैं। हाँ, कहीं-कहीं कुछ गड़बड़ करनेवाले करते हैं, उसी से सन्देह का वातावरण बनकर व्यवहार में उलझनें उत्पन्न हो जाती हैं। संसार का विनाश क्या है ? संसार का व्यापार और व्यवहार विश्वासपूर्वक न चलना।

किसी उर्दू के शायर ने इसी बात को बड़े उत्तम ढंग से कहा है—

नहीं ज़रूर कि मर जायँ जाँनिसार तेरे।
यही है मरना कि जीना हराम हो जाए॥

अतः वेद ने कहा—यह पृथिवी सत्य पर टिकी है।

शतपथ ब्राह्मण में भी बहुत उत्तम कहा—**"स यः सत्यं वदति, यथाग्निं समिद्धं तं घृतेनाभिषिञ्चेत्। स भूयोभूय उद्दीपयति श्वः श्वः श्रेयान् भवति।"**—जो मनुष्य सत्य बोलता है, उसका जीवन घृत से प्रदीप्त अग्नि के समान उत्तरोत्तर प्रकाशित होता जाता है और जीवन में सफलता प्राप्त करता जाता है। **"अथ योऽनृतं वदति, यथाग्निं समिद्धं तमुदकेनाभिषिञ्चेत्।"**—और जो झूठ बोलता है, उसके जीवन की स्थिति जलती आग पर पानी डालने की-सी होती जाती है। अग्नि का प्रकाश मन्द होता जाता है और अन्त में आग बुझकर धुआँ-ही-धुआँ रह जाता है। इसी प्रकार मिथ्याचारी के आस-पास अविश्वास का ही वातावरण रहता है। महर्षि मनु ने कहा—

नहि सत्यात् परो धर्मो नानृतात् पातकं परम्।
नहि सत्यात् परं ज्ञानं तस्मात् सत्यं विशिष्यते॥ —५।६

'सत्य से बढ़कर कोई धर्म नहीं, झूठ से बढ़कर कोई पाप नहीं। सत्य से उत्तम कोई ज्ञान नहीं, अतः सत्य का स्थान सबसे विशेष है।'

अद्भिर्गात्राणि शुद्ध्यन्ति मनः सत्येन शुद्ध्यति। —मनु० ५।१०९

'जल से धोने से शरीर निर्मल होता है और मन सत्य के व्यवहार से शुद्ध होता है।' महाभारत में व्यास ऋषि ने तो बहुत प्रभावी ढंग से सत्य की प्रशंसा की—

अश्वमेधसहस्रञ्च सत्यञ्च तुलया धृतम्।
अश्वमेधसहस्राद्धि सत्यमेव विशिष्यते॥

'तुला के एक पलड़े में एक हज़ार अश्वमेध चढ़ा दें और दूसरे में अकेले सत्य को, तो एक हज़ार अश्वमेधों से अकेले सत्य का भार अधिक होगा।' आपाततः यह वर्णन कुछ अतिशयोक्तिपूर्ण लगता है, किन्तु विचारने पर सङ्गति ठीक बैठ जाती है, क्योंकि यज्ञ का यज्ञत्व सत्य से ही है। यदि सत्य न रहे तो फिर वह यज्ञ केवल प्रदर्शन और दम्भ रह जाता है, अतः सत्य का स्थान यज्ञ से श्रेष्ठ है। इसीलिए जीवन की पहली सफलता सत्य बताई।

दूसरी बात कही—"**श्रिया प्रावृताः**"—सत्यव्यवहार रखते हुए जो संसार का ऐश्वर्य आपको प्राप्त हो, यह आपके जीवन की दूसरी सफलता है। धन अपने-आपमें कोई बुरी और त्याज्य वस्तु नहीं है। धर्मात्मा के पास आकर धन धर्म का ही विस्तार करता है। कहीं धन के माध्यम से विद्यालय खुलेंगे, कहीं अस्पताल, कहीं अनाथ और विधवाओं का संरक्षण होगा, अतः सत्यमय व्यवहार के द्वारा प्राप्त धन मनुष्य की दूसरी सफलता है।

इसके पश्चात् तीसरी और पूर्ण सफलता के लिए यशस्वी जीवन परमावश्यक बताया। आपका सत्य का व्यवहार आपको यश नहीं देता तो उसमें कहीं त्रुटि है। वह सत्य नहीं, सत्याभास है, अतः भाष्यकारों ने सत्यभाषण के साथ कुछ शर्तें लगाई हैं और वे आवश्यक हैं। उनको ध्यान में रखकर आप सत्य बोलेंगे, तभी आपको यश मिलेगा और तभी वह सत्य धर्म के उच्चपद का अधिकारी होगा। सत्यभाषण के विषय में मनु ने कहा—

सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात्, न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्।
प्रियञ्च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः॥

—मनु० ४।१३८

सत्य बोलो, किन्तु मीठा बनाकर बोलो! तभी आपको यश मिलेगा अन्यथा लोग आपको कठोरभाषी होने का अपयश लगावेंगे। योगदर्शन के भाष्य में व्यास महर्षि ने लिखा है, सत्य का लक्ष्य अहिंसा है। यदि सत्यभाषण से हिंसा हुई तो वह धर्म नहीं, धर्माभास है। इसलिए मनु

ने कहा—सत्य बोलो, किन्तु मीठा बोलो! मधुरभाषण पर बल देने को पुनरावृत्ति की—"**अप्रियं सत्यन्न ब्रूयात्**"—कठोर सत्य मत बोलो! इससे आगे बहुत ही महत्त्वपूर्ण कहा—"**प्रियञ्च नानृतं ब्रूयात्**"—बात मीठी हो पर हो निराधार, ऐसा भी नहीं होना चाहिए। यह तो एक प्रकार से दूसरे को धोखा देने के तुल्य हुआ। इन सावधानियों के साथ जो सत्य बोला जाएगा, वही यश देगा।

इसी प्रकार परिश्रम और सत्य से कमाया हुआ धन भी आपको यश देनेवाला होना चाहिए। यदि वह यश का कारण नहीं है, तो उसमें त्रुटि है। आप व्यापार करते हैं, किन्तु सत्य के आधार पर। यदि सरकार की सेवाएँ हैं और ऐसे पद पर हैं कि यदि चाहें तो हज़ारों रुपये जेब में डालकर घर आ सकते हैं, किन्तु आप पूरी सावधानी से एक पैसे का भी अन्तर नहीं आने देते, निश्चित ही यह बड़ी बात है; किन्तु इतनी ईमानदारी से कमाए धन में से आप उत्तम कार्यों में उसे व्यय नहीं करते तो उससे आपको यश नहीं मिलेगा। लोग कहेंगे—है तो ईमानदार, किन्तु पत्थर है जो किसी के कष्ट को देखकर कभी द्रवित नहीं होता। अतः वेद में कहा—सत्य से कमाए धन को शुभ कार्यों में व्यय करोगे, तभी तुम्हें यश मिलेगा और यशस्वी बनने पर तुम्हें तीसरी सफलता भी प्राप्त हो गई। गृहस्थों को यह यश की भावना पद-पद पर बुराई से बचाती है। बुराई का विचार आते ही अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा का ध्यान आता है और हम उस कुसंस्कार को दबा देते हैं। यदि यह विचार न रहे तो मनुष्य को गिरने में कोई देर ही न लगे।

इस सम्बन्ध में किसी संस्कृत के कवि ने बहुत उत्तम कहा है—

यथा हि मलिनैर्वस्त्रैर्यत्रतत्रोपविश्यते।
तथा हि चलितवृत्तस्तु वृत्तशेषन्न रक्षति॥

'जैसे गन्दे कपड़ेवाला व्यक्ति चाहे जहाँ बैठ जाता है, उसी प्रकार दुश्चरित्र और बदनाम व्यक्ति को बुरा काम करने में कोई संकोच नहीं होता।'

आचार्य शुक्र ने कहा—

अकीर्तिरेव नरको नान्योऽस्ति नरको दिवि।

'बदनामी ही नरक है, अन्य नरक कहीं आकाश में नहीं है।'

गीता में कहा—

सम्भावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते॥ —२।३४

'सम्मानित व्यक्ति का अपयश होना मृत्यु से भी बुरा है।'

अतः मन्त्र में कहा—आपका सत्य और धर्मपूर्वक कमाया धन आपको यशस्वी बनावे, यही जीवन की पूर्ण सफलता है।

□□

(४९)

बुड्ढा जवान को निगल गया!

वि॒धुं द॑द्रा॒णं सम॑ने बहू॒नां युवा॑नं॒ सन्तं॑ पलि॒तो ज॑गार।
दे॒वस्य॑ पश्य॒ काव्यं॑ महि॒त्वाद्या म॒मार॒ स ह्यः समा॑न॥

—ऋ० १०।५५।५

ऋषिः—बृहदुक्थो वामदेव्यः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—निचृत्त्रिष्टुप्॥

अन्वयः—युवानं सन्तं विधुं समने बहूनां दद्राणं पलितः जगार। देवस्य महित्वा काव्यं पश्य ह्यः समान स अद्य ममार॥

शब्दार्थ—(**युवानं सन्तम्**) एक ऐसे नवयुवक को (**विधुम्**) विविध कामना करनेवाले को (**समने**) युद्ध में (**बहूनाम्**) [जो] बहुतों को (**दद्राणम्**) मार भगानेवाला है [उसे] (**पलितः**) एक वृद्ध (**जगार**) निगल जाता है। (**देवस्य**) प्रभु के (**महित्वा**) बड़े महत्त्ववाले (**काव्यम्**) काव्य को (**पश्य**) देखो [कि] (**ह्यः सम्-आन**) जो कल जी रहा था (**सः**) वह (**अद्य**) आज (**ममार**) मरा पड़ा है।

व्याख्या—इस मन्त्र में बड़े काव्यमय ढंग से संसार की क्षणभङ्गुरता दिखाकर परोक्षरूप में यह प्रेरणा की गई है कि इस संसार के सुख-दुःख, भय-शोकादि द्वन्द्वों की चक्की में पिसने से तू उसी की शरण में जाकर त्राण पा सकता है।

संसार में बड़े-बड़े विद्वान् हुए जिन्होंने सम्पूर्ण वैदिक और लौकिक वाङ्मय छान मारा। जिन्हें अपनी बहुज्ञता पर बड़ा अभिमान था, वे असहाय और विवश इस संसार से चले गए। राम के वैदुष्य का वर्णन करते हुए वाल्मीकि महर्षि ने लिखा—

सर्वविद्याव्रतस्नातो यथावत्साङ्गवेदवित्।
इष्वस्त्रे च पितुः श्रेष्ठो बभूव भरताग्रजः॥ —वा०रा० अयो० १।२०

'राम सब विद्याओं को पढ़कर तथा पूर्ण ब्रह्मचर्य-व्रत समाप्त कर विधिवत् स्नातक हुए। षडङ्ग-सहित वेद को भी पढ़ा। बाण और अस्त्र-शस्त्र सञ्चालन में, अर्थात् धनुर्वेद में अपने पिता से भी बढ़कर हो गए।'

धर्मकामार्थतत्त्वज्ञः स्मृतिमान् प्रतिभानवान्।
लौकिके समयाचारे कृतकल्पो विशारदः॥

'राम ने धर्म, अर्थ और काम के रहस्यों को समझ लिया। उनकी अद्भुत स्मरण-शक्ति थी। शास्त्रीय गूढ़ तत्त्वों को और दूसरों के विचारों को वे बहुत शीघ्र समझ लेते थे। लौकिक धर्म तथा समयोचित आचार-व्यवहार को वे भली प्रकार जानते थे और मर्यादानुसार अपने आचरण में लाते थे।' राम की वीरता, लोकोत्तर उदारता, व्यक्ति के स्वभाव और व्यवहार को परखने की आश्चर्यजनक क्षमता और सत्यवादिता को देखकर उस समय यह प्रसिद्ध था कि—

द्विःशरन्नाभिसंधत्ते द्विःस्थापयति नाश्रितान्।
द्विर्ददाति न चार्थिभ्यो रामो द्विर्नाभिभाषते ॥

'राम शत्रु का संहार करने के लिए दो बाण नहीं चढ़ाते, अर्थात् एक बाण से ही अपने शत्रु को समाप्त कर देते हैं। राम अपनी शरण में आए की योग्यता को देखकर एक बार ही उचित स्थान पर उसकी नियुक्ति कर देते हैं, अर्थात् व्यक्तियों को परखने की उनमें अद्भुत क्षमता है। राम याचक को एक बार में निहाल कर देते हैं, वह फिर भिखमङ्गा नहीं रहता, और राम जो एक बार कह देते हैं उसमें परिवर्तन नहीं होता।'

राम इतने प्रतापी थे कि उन्हें लोगों ने भगवान् तक बना दिया, किन्तु वेद कहता है उस नियन्ता के नियम को देखो, यहाँ सब विवश और नतमस्तक हैं—**अद्या ममार स ह्यः समान**—कल तक जो जीवित-जागृत था, जिसकी योग्यता और परिश्रम का सिक्का उस समय का संसार मानता था, आज वह मरा पड़ा है। बुड्ढा सफ़ेद बालोंवाला कालरूपी परमात्मा जवानों को निगले जा रहा है।

लक्ष्मण जैसा स्वाभिमानी, साक्षात् वीररस, जो किसी प्रतिद्वन्द्वी को कुछ समझता ही न था, उसने सीता-स्वयंवर के धनुष को देखकर हँसते हुए राम को कहा—यह भी कोई पराक्रम की कसौटी है?

देव श्री रघुनाथ किं बहुतया दासोऽस्मि ते लक्ष्मणो—
मेर्वादीनपि भूधरान्न गणयेज्जीर्णः पिनाकः कियान्।
तन्मामादिश पश्य पश्य च बलं भृत्यस्य यत् कौतुकम्।
प्रोद्धर्तुं प्रतिनामितुं प्रचलितुन्नेतुं निहन्तुं क्षमः ॥

'हे राम! मैं अकिंचन आपका सेवक हूँ। अधिक बढ़ाके तो बात क्या कहूँ, मैं मेरु आदि पर्वतों को भी कुछ नहीं समझता, फिर इस पुराने जीर्ण-शीर्ण धनुष की बात ही क्या है! मैं इसे उठा सकता हूँ, झुका सकता हूँ, लेकर घूम-फिर सकता हूँ और इसके टुकड़े-टुकड़े कर सकता हूँ।'

राम ने बाली के मरने पर किष्किन्धा का राज्य पाकर सीता की खोज में सुग्रीव का प्रमाद देखा तो लक्ष्मण को सुग्रीव की भर्त्सना करने को भेजा। लक्ष्मण तो ऐसे अवसरों के लिए तैयार बैठा रहता था। जाते ही एक घुड़की में सुग्रीव को प्रकम्पित कर दिया—

''**न सः संकुचितः पन्था येन बालिः पुरा गतः**''—'सुग्रीव! जिस मार्ग से कुछ ही समय पहले हमने बाली को भेजा है, वह मार्ग अब बन्द नहीं हो गया है।' ऐसे वीरों को भी वही बूढ़ा काल कवलित कर गया।

कृष्ण जैसे प्रतापी प्रत्युत्पन्नमति महापुरुष, जिन्होंने नितान्त विकृत भारत के चित्र को काट-छाँटकर मर्यादित किया, अन्त में जङ्गल में लेटे हुए एक बहेलिये के तीर से घायल होकर उन्होंने अपनी जीवनलीला समाप्त की।

सार यह निकला कि संसार से सबको जाना है। समय का एक-एक क्षण बहुत मूल्यवान् है, उसका सदुपयोग करो और प्रस्थान के आदेश पर प्रसन्नता से उसे क्रियान्वित करो! ❑❑

(५०)

सनातन की वैदिक परिभाषा

सनातनमेनमाहुरुताद्य स्यात्पुनर्णवः।
अहोरात्रे प्र जायेते अन्यो अन्यस्य रूपयोः॥

—अथर्व० १०।८।२३

ऋषिः—कुत्सः॥ **देवता**—अध्यात्मम्॥ **छन्दः**—अनुष्टुप्॥

अन्वयः—एनम् सनातनम् आहुः उत अद्य पुनः नवः स्यात्। अन्यः अन्यस्य रूपयोः अहोरात्रे प्रजायेते॥

शब्दार्थ—(**एनम्**) इसको (**सनातनम्**) सदा रहनेवाला, अनादि कालीन (**आहुः**) कहते हैं (**उत**) और तो भी यह (**अद्य**) आज, प्रतिदिन (**पुनः नवः**) फिर-फिर नया (**स्यात्**) होता है (**अन्यः**) एक (**अन्यस्य**) दूसरे के (**रूपयोः**) रूपों में, समान रूपों में ही (**अहोरात्रे**) ये दिन-रात (**प्रजायेते**) सदा उत्पन्न होते रहते हैं।

व्याख्या—इस पवित्र मन्त्र की व्याख्या अनेक दृष्टिकोणों से हो सकती है। किसी भी प्रकार से विचार कीजिये, मन्त्र के आशय को खोलने की चाबी "सनातनम्" की, अनादित्व की परिभाषा "पुनः नवः" फिर-फिर नया होना है। जो नित्य नया नहीं होता, वह सनातन नहीं हो सकता; वह जीर्ण हो गया, पुराना हो गया। वह आज चलने योग्य नहीं (Out of date) रहा।

ऋषि दयानन्द के कार्यक्षेत्र में अवतीर्ण होने के समय हमारे तथाकथित सनातनधर्म की भी यही दशा हो गई थी। उसमें पुनः नया होने की क्षमता नहीं रही थी। उस धर्म का स्वरूप हमें बाधाओं की नदी से पार उतारनेवाली नाव के समान नहीं रहा था, अपितु वह ऐसा पत्थर बन गया था जो पार जाने की इच्छावाले को वहीं डुबोने का कारण बनता था। इस दिशा में ऋषि दयानन्द ने जो प्रयत्न किया वह अद्‌भुत था और उसका अब तक भी ठीक-ठीक मूल्याङ्कन नहीं हुआ।

ऋषि चाहते थे कि धर्म के नाम पर बने ये सङ्कीर्ण दायरे समाप्त हों और सारी मानवजाति एक परिवार के समान परस्पर एक-दूसरे की सहायक बनकर अपने जीवन के लक्ष्य तक पहुँचे।

उस समय का सनातनधर्म चौके, चूल्हे और नहाने-धोने तक सीमित रह गया था। उसकी स्थिति को महात्मा मुन्शीराम (स्वामी श्रद्धानन्द जी) द्वारा लिखित उनके जीवन-चरित्र की एक घटना से समझ सकते हैं। घटना इस प्रकार है—

श्री मुंशीराम जी के पिता का नाम श्री नानकचन्द था और वे पञ्जाब

के जालन्धर ज़िला के क़स्बे 'तलवन' के रहनेवाले थे। वह उत्तर प्रदेश की पुलिस की सेवा में थे और उस समय बरेली में शहर-कोतवाल थे। इनके कोतवाल रहते ही महर्षि दयानन्द बरेली में पधारे थे। ऋषि के भाषणों में शान्ति-व्यवस्था का दायित्व श्री नानकचन्द शहर-कोतवाल का था। उस समय मुन्शीराम वाराणसी में कॉलिज में पढ़ते थे और उनको ईश्वर और धर्म में विश्वास नहीं था। नानकचन्द अपने पुत्र की इस प्रवृत्ति पर चिन्तित थे कि ऋषि दयानन्द के दर्शनों से उनके मन में यह विचार आया कि यह महात्मा मेरे पुत्र मुन्शीराम को ठीक मार्ग पर ला सकता है। श्री नानकचन्द ही प्रयत्नपूर्वक मुन्शीराम को ऋषि के दर्शन कराने ले गए। अस्तु, उन्हीं दिनों की एक घटना मुंशीराम जी ने अपनी जीवनी में लिखी है—

श्री नानकचन्द जी के बड़े भाई तलवन पञ्जाब से अपने भाई को मिलने बरेली में आए। नानकचन्द जी ने अपने घर में रसोई के काम के लिए एक पुरबिया ब्राह्मण नौकर रखा हुआ था। यह रसोइया अपने चौके की पूरी मर्यादा बड़ी चौकसी से निभाता था। रसोईघर को लीप-पोतकर केवल धोती पहनकर चौके में प्रवेश करता था। उसके चौके में किसी को प्रवेश करने की अनुमति नहीं थी। श्री नानकचन्द जी के भाई हुक्का पीते थे। प्रातः आठ-नौ बजे के लगभग रसोइया अपना चौका ठीक करके चूल्हे पर दाल चढ़ाकर कहीं काम से चला गया था। इधर नानकचन्द जी के भाई को हुक्का पीने की इच्छा हुई। उस समय किसी नौकर को न देखकर वे स्वयं चिलम में तम्बाकू रखकर चूल्हे में से आग लेने के लिए वस्त्र पहने ही चौके में घुस गए और चिलम में आग भरने लगे। इतने में रसोइया आया और उन्हें कपड़ों-सहित चौके में देखकर आगबबूला हो गया और कुछ अपमानजनक शब्द कहके डाँटने लगा कि तुमने मेरा सारा परिश्रम बर्बाद कर दिया और चौका भ्रष्ट कर दिया।

नानकचन्द जी के भाई को बहुत बुरा लगा और दुःखी होकर चारपाई पर आ बैठे। नानकचन्द जी घर आए और भाई को उदास देखकर कारण पूछा। भाई ने उत्तर दिया—'तुम अच्छे कोतवाल बने! तुम्हारे नौकर भी हमारा अपमान करते हैं!' और उन्होंने सारी घटना सुना दी। बात सुनकर नानकचन्द जी ने रसोइया को बुलाके धमकाया—'तुम्हें पता नहीं कि ये हमारे भाई हैं और इनका अपमान हमारा अपमान है?' इस फटकार को सुनकर पुरबिया बोला—'बाबूजी! झूठ हम बोला, चोरी हम कीन, और भी बहुत काम कीन, पन अपनो धर्म न दीन।' बस, उसका यह मुख्य धर्म जो झूठ बोलने से और चोरी करने से भी नष्ट न हुआ, वह वस्त्र उतारकर चौके में खाना पकानामात्र रह गया था, यह था सनातनधर्म का स्वरूप!

छोटी–मोटी बातों पर हिन्दू अपने भाई–बन्धुओं को बिरादरी से बहिष्कृत कर देते थे और लाचारी में वे धीरे–धीरे मुसलमान बन जाते थे।

नवाब छतारी 'लालख़ानी' कहलाते थे। अलीगढ़, बुलन्दशहर, तालिमनगर, बुढ़ांसी और धर्मपुर के नवाब भी लालख़ानी हैं। मैंने एक बार अलीगढ़ में नवाब छतारी से पूछा कि मुसलमानों में यह लालख़ानी कौन–सा फ़िर्क़ा है, जिसके आप अनुयायी हैं? नवाब साहब ने बताया कि हम वैसे मुसलमान नहीं हैं। हम रघुवंशी राजपूत हैं। मुसलमानों के शासनकाल में हमारे एक पूर्वज जिनका शुभ नाम "लालसिंह" था, वे एक काम से दिल्ली गए। उनके साथ उनके छोटे भाई कमालसिंह भी थे। ये दोनों बादशाह को भी मिलने चले गए। बादशाह श्री लालसिंह के पिताजी के मित्र थे और लालसिंह तो युवक ही थे। अपने पिताजी का परिचय भिजवाकर जब मिलने का समय माँगा तो बादशाह ने अनुमति दे दी और दोनों को बड़े प्रेम से बैठाया। गर्मी का मौसम था। बादशाह तरबूज़ खा रहे थे। उन्होंने अपने हाथ से तरबूज़ की फाड़ी (फाँक) काटकर और बीज निकालकर इन दोनों युवकों को भी दी और इन्होंने उनके अनुरोध पर वह तरबूज़ खा लिया।

छतारी लौटने पर जब इन युवकों ने बादशाह के सस्नेह मिलन और तरबूज़ खिलाने की चर्चा की तो बिरादरी में तूफ़ान खड़ा हो गया कि ये मुसलमान हो गए, जब इन्होंने एक मुसलमान का तराशा हुआ तरबूज़ खा लिया। बिरादरी के लोगों ने बिरादरी से बहिष्कृत कर दिया और लालसिंह को लालख़ाँ कहना प्रारम्भ कर दिया। बस, उनके वंशज होने के कारण लोगों में हम लालख़ानी कहलाए।

प्रसिद्ध फ्रांसीसी यात्री बर्नियर, जो १४ वर्षों तक दाराशिकोह और औरङ्गज़ेब का चिकित्सक बनकर भारत में रहा, उसने अपनी भारत–यात्रा के विवरण में एक घटना इस प्रकार लिखी है—

"एक बार उपनिषदों के विषय में कुछ विचार–विनिमय करने के लिए दाराशिकोह काशी के विद्वानों के पास गए। बादशाह के निमन्त्रण पर काशी के सभी शीर्षस्थ विद्वान् एकत्र हुए और दारा ने उनसे बात करके अपनी जिज्ञासा शान्त की। जब उनका विचार–विनिमय समाप्त हुआ तो काशी के सब विद्वानों को एकत्र देखकर मेरे मन में भी कुछ पूछने की इच्छा जागृत हुई। दाराशिकोह की अनुमति लेकर मैंने विद्वानों से पूछा—'आप जिस धर्म को मानते हैं, वह धर्म कैसा है?' पण्डितों ने उत्तर दिया—'वह सर्वोत्तम धर्म है।' बर्नियर ने आगे पूछा—'इस सर्वोत्तम धर्म में मैं सम्मिलित होना चाहूँ तो क्या आप मुझे अनुमति देंगे?' उन्होंने उत्तर में कहा—'यह तो हम नहीं करेंगे। तुम्हारे लिए वही धर्म ठीक है जो तुम मानते हो।'

यह था उस सनातनधर्म का स्वरूप जो एक असंस्कृत को संस्कृत नहीं कर सकता। जिसने अपने जीने का अधिकार खो दिया वह सनातन कहाँ रहा? उस समय का तथाकथित धर्म एक किनारे का दरिया था। धर्म के लक्षण **''यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः''** में से **अभ्युदय** निकल गया था। उन लोगों की दृष्टि केवल **निःश्रेयस्** पर टिकी थी।

ऋषि दयानन्द ने कार्यक्षेत्र में अवतीर्ण होते ही **''सनातन''** के विषय में वेद के मन्तव्य को समझकर धर्म का पूर्ण स्वरूप लोगों के सामने रक्खा। उन्होंने कहा—धर्ममार्ग की पहली पहचान **अभ्युदय** है, जिसमें सामान्य लौकिक उत्कर्ष से लेकर चक्रवर्ती राज्य तक सम्मिलित है। जितनी विद्या और बुद्धि है उससे सांसारिक सुख-समृद्धि जुटानी चाहिए, किन्तु सामग्री-अर्जन का प्रकार और उसका उपभोग इस प्रकार का होना चाहिए जो आत्मोन्नति में बाधक न हो। इन दोनों प्रकार की उन्नतियों के यथाविधि सम्पादन का ही नाम धर्म है।

सांसारिक उन्नति के मार्ग में जो बाधाएँ आवें, उन्हें नित-नये उत्साह से दूर करें। बाधाओं को दूर करनेवाले इन विहित उपायों का नाम ही धर्म है। इन उपायों को व्यवहार में लाते समय वही नवीनता अनुभव करनी चाहिए जो रात्रि व्यतीत होने पर अगले दिन प्रभात में काम करने के लिए उत्साह और उमङ्ग होती है। वेद ने सनातन की परिभाषा ही यह की है कि—**''अद्य स्यात् पुनर्णवः''**—जैसे आज के रूप में आया दिन नया होता है, उसे कोई नहीं कहता कि वह पुराना ही तो दिन है, वैसा ही सूर्य निकल रहा है, वैसी ही धूप है, यह वही पुराना घिसापिटा दिन है; अपितु रात्रि व्यतीत होने पर प्रभात में हम नये जोश से उसका स्वागत करते हैं। बस, यही नवीनता धार्मिक मार्ग में आई बाधाओं को दूर करने में भी होनी चाहिए।

मध्यकाल के हिन्दुओं ने जीवन की वह कला भुला दी थी, अतः ये क्षीण हो रहे थे, मर रहे थे। इनके बन्धु, सभी पुरुष और बच्चे नाना छल-प्रपञ्चों से मुसलमान और ईसाई बन रहे थे और ये असहाय टुकर-टुकर देख रहे थे। मुसलमानों के शासनकाल में बड़े-बड़े दिग्गज संस्कृत के विद्वान् दान, तीर्थ और जप-तप पर बड़े-बड़े पोथे तो रच रहे थे, किन्तु बलपूर्वक भ्रष्ट किये गए अपने इन बन्धुओं को शुद्ध करके पुनः अपने धर्म में लाने का कोई विधान नहीं बना सके। प्रति दस वर्ष की मर्दुमशुमारी में हिन्दुओं की संख्या जिस अनुपात में घट रही थी, उसके अनुसार ४५ वर्ष की मर्दुमशुमारी में हिन्दु समाप्त हो जाते और केवल इतिहास के पृष्ठों पर उनका नाम शेष रह जाता।

ऋषि दयानन्द ने परिस्थिति का अध्ययन करके इस नामशेष सनातनधर्म में प्राणप्रतिष्ठा की। धर्म के नाम पर जो-जो अधर्म की बातें इसमें प्रविष्ट हो गई थीं, उनका तीव्र खण्डन करके इनमें से विजातीय

सड़ा-गला हिस्सा काटके फेंक दिया और वेद-शास्त्रोक्त धर्म का सच्चा स्वरूप संसार के सामने प्रस्तुत किया। जो योरोपियन विद्वान् वेद के दूषित अर्थ करके अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे भारतीयों को ईसाई बनाने का स्वप्न देख रहे थे, उनकी आशाओं पर तुषारपात हो गया। १६ दिसम्बर सन् १८६८ में प्रो० मैक्समूलर ने भारत-सचिव, ड्यूक ऑफ़ आर्गाइल को पत्र में लिखा—The ancient religion of India is doomed and if Christianity does not step in, whose fault will it be.—'भारत का प्राचीन धर्म नष्टप्राय है और यदि ईसाई धर्म उसका स्थान नहीं लेता तो यह किसका दोष होगा?'

मैक्समूलर आदि अपनी विद्वत्ता के प्रभाव में लाकर अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे भारतीयों की दृष्टि में वेद को तुच्छ और हीन सिद्ध करके, वेद से उनकी श्रद्धा को हटाकर बाइबल पर जमाना चाहते थे।

२९ जनवरी सन् १८८२ को मैक्समूलर ने बाईराम जी मालाबारी को लिखा—"I wanted to tell...what the true historical value of his ancient religion is, looked upon, not from an exclusively European or christian, but from historical point of view. But discover in it, steam enjines and electricity and European philosophy and morality and you deprive it of its true character."—'मैं केवल पाश्चात्य वा ईसाई दृष्टि से नहीं परन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से बताना चाहता था कि पुरातन वेद-धर्म का सत्य ऐतिहासिक मूल्य क्या है, परन्तु जब इस वेद-धर्म में वाष्पयन्त्र, विद्युत् और पाश्चात्य दर्शन तथा आचार का आविष्कार करते हो, तो तुम इसका सत्यस्वरूप नष्ट करते हो।'

इनकी दृष्टि में वेद क्या है? यह भी एक पत्र में इस प्रकार लिखा—"Would you say that anyone sacred book is superior to all other in the world?...I say the New testament, after that I should place the Koran, which in its moral teachings, is hardly more than a later of the New testament, Then would follow...the old testament, The southern Budhist Tripitika...The Veda and The Avesta."—'संसार की सब धर्मपुस्तकों में नयी प्रतिज्ञा (ईसा की बाइबल) उत्कृष्ट है। इसके पश्चात् कुरान, जो आचार की शिक्षा में नयी प्रतिज्ञा का रूपान्तर है, रक्खा जा सकता है। इसके पश्चात् पुरातन प्रतिज्ञा, दाक्षिणात्य बौद्ध त्रिपिटिक, वेद और अवेस्ता आदि हैं।'

(भारतवर्ष का बृहत् इतिहास, भगवद्दत्त)

यह थी इनकी दूषित मनोवृत्ति! ऋषि के प्रचार के परिणाम पर भी ये क्या स्वप्न देख रहे थे? उसका नमूना भी देखिये—रूडल्फ हर्नलि क्वीन्स कॉलिज बनारस में प्रिंसिपल थे। जब संवत् १९२६ में ऋषि

दयानन्द काशी में प्रथम बार गए थे, तब ऋषि से कई बार मिले थे, ऋषि से वार्त्तालाप भी किया था। उन्होंने स्वामी दयानन्द पर एक लेख लिखा जिसका अपेक्षित अंश निम्न है—"He may possibly convince the Hindus that their modern Hinduism is altogether in opposition to Vedas,...If once they become—thoroughly convinced of this radical error, they will no doubt aband Hinduism at once...They cannot go back to the Vedic state, that is dead and gone, and will never revive, Something more or less new must follow. We will hope it may be Christianity."

(लाला० लाजपज राय द्वारा लिखित आर्यसमाज)

''वह (स्वामी दयानन्द) सम्भवत: हिन्दुओं को विश्वास दिला सकता है कि उनका वर्त्तमान हिन्दूमत वेदों के सर्वथा विरुद्ध है।...यदि एक बार उन्हें इस मौलिक भूल का पूरा विश्वास हो जाय तो वे हिन्दूमत को नि:सन्देह तत्काल त्याग देंगे। वे वैदिक परिस्थिति की ओर नहीं लौट सकते, वह मृत है और जा चुकी है और कदापि पुनर्जीवित नहीं होगी। कुछ-न-कुछ नूतनता अवश्य आवेगी। हम आशा करेंगे वह ईसाई मत होवे।''

ऐसे भयङ्कर समय में ऋषि ने धर्म के सनातन स्वरूप को समझाया और उसे उसके गौरवान्वित पद पर प्रतिष्ठित किया।

❑❑

(५१)

उसकी आँख से कोई नहीं बचा

यस्तिष्ठ॑ति॒ चर॑ति॒ यश्च॒ वञ्च॑ति॒ यो नि॒लाय॑ं॒ चर॑ति॒ यः प्र॒तङ्क॑म्।
द्वौ सं॑नि॒षद्य॒ यन्म॒न्त्रये॑ते॒ राजा॒ तद्वे॑द॒ वरु॑णस्तृ॒तीय॑ः॥

—अथर्व० ४।१६।२

ऋषिः—ब्रह्मा॥ **देवता**—वरुणः॥ **छन्दः**—त्रिष्टुप्॥

अन्वयः—यः तिष्ठति चरति यः च वञ्चति यः निलायं चरति, यः प्रतंकम्। द्वौ सन्निषद्य यत् मन्त्रयेते तत् तृतीयः वरुणः राजा वेद॥

शब्दार्थ—(**यः तिष्ठति चरति**) जो मनुष्य खड़ा है या चलता है (**यः च वञ्चति**) और जो दूसरों को ठगता है (**यः निलायं चरति**) जो छिपकर कुछ अवाञ्छनीय आचरण करता है (**यः प्रतंकम् चरति**) जो दूसरों पर अत्याचार करके उन्हें आतङ्कित करता है, (**द्वौ सन्निषद्य**) जो दो व्यक्ति एक-साथ बैठकर (**यन्मन्त्रयेते**) जो कुछ गुप्त मन्त्रणाएँ करते हैं, (**तत्**) उसे भी (**तृतीयः**) तीसरा होकर (**वरुणः राजा**) सर्वोत्कृष्ट सच्चा राजा परमेश्वर (**वेद**) जानता है।

व्याख्या—मन्त्र में दो महत्त्वपूर्ण उपदेश हैं। संसार का प्रत्येक व्यक्ति मूर्ख से मूर्ख, विद्वान् से विद्वान्, बुरे से बुरा, अच्छे से अच्छा, निर्धन से निर्धन और समृद्ध से समृद्ध खड़ा-लेटा, चलता-फिरता, उठता-बैठता अपने विचारों के समुद्र में ग़ोते खाता रहता है। अपने-अपने अच्छे और बुरे विचारों के अनुसार सुख-समृद्धि की प्राप्ति की योजनाएँ भी बनाता है। बुरे स्वभाव के व्यक्ति के मन में बहुधा ऐसी बातें भी आ जाती हैं, जिनमें वह धनादि की लिप्सा में दूसरों को शारीरिक हानि पहुँचाकर और लूटपाट करके भी अपनी कामना की सफलता के लिए प्रयत्नशील रहता है। भला व्यक्ति वैध उपायों से सांसारिक सुख-साधनों का संग्रह करे तो इस पर किसी को क्या आपत्ति हो सकती है! यह उसका अधिकार है कि वह अपनी बुद्धि और शक्ति का उपयोग करके वैभवशाली बने। बाधा और सङ्कट वहाँ खड़े होते हैं, जहाँ एक व्यक्ति मानवीय स्तर से नीचे गिरकर चोरी, डाका और हत्या तक करके गुलछर्रे उड़ाने की चेष्टा करता है। इस दुराशय को स्पष्ट करने के लिए मन्त्र के पूर्वार्ध में तीन क्रियाएँ दी गई हैं—"**वञ्चति**"—जो दूसरों को धोखा देता है, दूसरी—"**यो निलायं चरति**"—जो छिपकर घात करता है, और तीसरी क्रिया—"**प्रतंकम् चरति**"—जो अत्याचार और आतङ्क के द्वारा अपना स्वार्थ सिद्ध करता है। इसके आगे एक और होनेवाली दुष्प्रवृत्ति को स्पष्ट करने के लिए मन्त्र के उत्तरार्ध में "**द्वौ सन्निषद्य**

यन्मन्त्रयेते''—दो दुष्ट मिलकर गुप्त षड्यन्त्र करके जो परघात और परद्रव्यापहरण की योजना बनाते हैं, ऐसे व्यक्तियों को चेतावनी देते हुए कहा है कि वह ''**राजा वरुण**''—जो सर्वशक्तिमान् और कर्मानुसार फल देनेवाला प्रभु है, उसकी सत्ता को समझो!

संसार में जितनी भी दुष्कर्मों की प्रवृत्तियाँ हैं, उनके मूल में नास्तिकता है। यदि प्रभु के स्वरूप को ठीक-ठीक समझें तो एक आस्तिक मनुष्य के पाप करने का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता।

संसार में समस्त पाप, झूठ, चोरी आदि सुख की इच्छा से किये जाते हैं, हानि उठाने के लिए अथवा दुःख भोगने के लिए नहीं। पैसे के लालच में मनुष्य सोचता है कि टका-सी जीभ हिलाते ही हज़ारों के वारे-न्यारे हो जाएँगे। बस, वह झूठ का व्यवहार कर डालता है। चोर किसी मूल्यवान् वस्तु को किसी सम्पन्न घर से चुराता है, वह भी सुख-प्राप्ति के आकर्षण में। किन्तु विचारने की बात यह है कि क्या कभी पाप का फल भी सुख हो सकता है? पाप का परिणाम तो दुःख होता है। तो प्रश्न होता है कि फिर पाप करते क्यों हैं? इसका उत्तर यही है कि उन्हें प्रभु की सत्ता पर विश्वास नहीं है—क्या पता वह देखता भी है कि नहीं? इसके साथ ही प्रभु के विषय में भी मनुष्य अपने ज्ञान, स्मरण और शारीरिक शक्ति को देखकर कल्पना करता है कि प्रभु बहुत बलवाला है, तो उसकी बहुत-सी भुजाएँ होती होंगी। इसी आधार पर देवी-देवताओं की चार और आठ भुजाओं की कल्पना कर ली। प्रभु सब ओर देखता है, इसलिए चार मुखों की कल्पना कर ली। चार मुखों में ही तो चारों ओर देखनेवाली आँखें होंगी। यहीं तक नहीं, जो खाद्य वस्तु जिसे रुचिकर हुई, उसके लिए उसने सोचा यह प्रभु को भी पसन्द होगी और इससे वे बहुत प्रसन्न होंगे। इसलिए किसी ने अपने भगवान् पर पेड़ा चढ़ा दिया, मांसभक्षियों ने भैंसों और बकरियों को काटकर देवताओं पर चढ़ा दिया। स्मरणशक्ति के विषय में भी मनुष्य सोचता है कि असंख्य जीवों के कर्म भगवान् कहाँ तक याद रखता होगा? बस, इस सन्देह में बहककर और पाप करके भी मनुष्य अनुचित काम में प्रवृत्त हो जाता है। अथर्ववेद काण्ड ४ के १६वें सूक्त के मन्त्र ५ में प्रभु की स्मरणशक्ति के विषय में कहा है—''**संख्याता अस्य निमिषो जनानाम्**''—हे मनुष्यो! 'तुम अपनी स्मरणशक्ति से उसका अनुमान मत करो!' एक मनुष्य अपनी सारी आयु में जितनी बार आँखें झपकता है, उसका हिसाब भी वह प्रभु सुरक्षित रखता है। इसीलिए मन्त्र में ऐसे सभी जनों को चेतावनी दी है और गिनाके कहा है—वञ्चना, घात और आतङ्क के काम करते हुए तुम यह समझते हो कि तुम्हें देखनेवाला कोई नहीं है, परन्तु वह तुम्हारे प्रत्येक कर्म का साक्षी है और इसका फल तुम्हें अवश्य भोगना होगा।

स्वाधीनता के समय देश का विभाजन होने पर कुरुक्षेत्र के मैदान में जब शरणार्थियों के कैम्प लगे हुए थे तो उनको सान्त्वना देने के लिए आर्य प्रतिनिधि सभा पञ्जाब ने अपना प्रचार-कैम्प भी लगाया था। उस कैम्प में मुझे भी तीन भाषणों के लिए बुलाया। एक भाषण मैंने कर्म-व्यवस्था पर दिया। मेरे भाषण के अन्त में सरगोधा ज़िला के एक देहाती शरणार्थी ने मेरे विषय से सम्बन्धित अपने गाँव की एक घटना सुनाई जो मुझे बहुत अच्छी लगी। उसकी उपादेयता को जानकर मैं संक्षेप से उसे इस प्रसङ्ग में अङ्कित करता हूँ।

उसने बताया कि उसके गाँव का एक किसान बस्ती से एक-डेढ़ किलोमीटर के अन्तर पर अपनी भूमि पर अपने पशुओं के लिए दो कोठे बनाकर रहता था। एक बार शीत-ऋतु में रात्रि के १० बजे के लगभग एक पथिक आया और उसने रात को उसके पास ठहरने की इच्छा प्रकट की। इस किसान ने कहा—'भाई, विश्राम के लिए चारपाई और ओढ़ने-बिछाने को बिस्तर का प्रबन्ध तो हो सकेगा, किन्तु इस समय कुछ खाने की व्यवस्था होनी कठिन है।' यात्री ने उत्तर दिया—'मैं शाम को भोजन कर चुका हूँ; अब चलते-चलते थक गया हूँ और रात भी अधिक हो गई है, इसलिए केवल सोने की सुविधा चाहता हूँ।' यह सुनकर उस कृषक ने कोठे में एक और चारपाई पर बिस्तर लगाकर उसे सोने को कह दिया और स्वयं अपने पशुओं के प्रातः खाने के लिए चारा काटने लगा।

यात्री थका हुआ था। लेटते ही सो गया, किन्तु थोड़ी देर बाद ही वह घबराया हुआ-सा उठा और अपनी कमर टटोलकर, इधर-उधर देखकर सो गया। पन्द्रह-बीस मिनट बाद फिर परेशान-सा जागकर कमर पर हाथ मारने लगा तथा इधर-उधर देखने लगा। उसकी यह दशा देखकर किसान ने कहा—'तुम्हारी नींद इतनी जल्दी-जल्दी क्यों टूट जाती है? निश्चिन्त होकर सोओ! यहाँ कोई डर की बात नहीं है।' किसान की इस बात को सुनकर वह आश्वस्त होकर सो गया।

इसके बाद कृषक के मन में विचार आया कि इस यात्री के पास अवश्य कोई मूल्यवान् वस्तु है, जिसकी सुरक्षा की चिन्ता इसे बार-बार जगा देती है। फिर मन में आया, यहाँ तो आसपास इसकी चीख़-पुकार की आवाज़ सुननेवाला भी कोई नहीं है, क्यों न इसे ठिकाने लगाकर इसका माल छीन लिया जाय! बस, इस विचार के मन में आते ही पास में लकड़ी काटने की कुल्हाड़ी पड़ी हुई थी, उसे उठाकर पूरी शक्ति से उसके सिर पर प्रहार किया और बेचारा दो-तीन प्रहारों में ही समाप्त हो गया। उसकी कमर में बँधी हुई गाँठ में से पर्याप्त सोना और रुपये निकले। उस किसान ने धन लेकर समीप खेत में ही गढ़ा खोदकर उसे दबा दिया और बात समाप्त हो गई। एक-डेढ़ वर्ष के बाद उस धन

के आधार पर उसने अपने काम को विस्तार दिया और पाँच-सात वर्ष में लम्बे-चौड़े फ़ार्म का मालिक बन गया। आस-पास देहात में अच्छे-ख़ासे चौधरियों में उसकी गणना हो गई।

यह कभी-कभी अपने मन में सोचता था कि लोग कहते हैं पाप का फल परमात्मा देता है, किन्तु यह सुनी-सुनाई गप्प होगी। यदि ऐसी कोई व्यवस्था होती तो कुछ मेरे सामने भी आती। समय बीतता गया और चौधरी का दबदबा और प्रभाव अधिकाधिक बढ़ता गया।

एक दिन समीप के ग्राम की एक पञ्चायत में गया और वहीं उसे विवाद के निपटारे में रात्रि हो गई। भोजन भी वहीं किया। रात्रि को ११ बजे के लगभग उस काम से निवृत्त होकर वह अपने फ़ार्म को लौटा। चाँदनी रात थी। उसने अपने खेत में मार्ग के निकट एक मनुष्य की लाश पड़ी देखी। उसे देखकर वह चिन्तित हुआ कि इसे मारकर कोई मेरी ज़मीन में डाल गया है। कल जब पुलिस आवेगी तो इस कत्ल के लिए मुझे तङ्ग करेगी, अतः इस लाश को अपनी भूमि से दूर डाल आना चाहिए।

यह निश्चय करके उसने कौली भरकर लाश को उठा लिया और ज्यों ही कुछ दूर चला कि देहात में गश्त लगानेवाला एक घुड़सवार पुलिस-दल उसी मार्ग पर आ रहा था। चाँदनी रात में दूर से कुछ उठाकर ले-जाते हुए व्यक्ति को देखकर उन्होंने आवाज़ लगाई। यह आवाज़ सुनकर वह घबरा गया और लाश डालकर भागा। पुलिसवालों ने टॉर्च की रोशनी करते हुए घोड़े दौड़ा दिये और इसे धर-दबोचा। यह गिड़-गिड़ाते हुए बोला—'इसे मैंने नहीं मारा। मैं तो एक पञ्चायत से अपने फ़ार्म को जा रहा था। इस लाश को अपनी ज़मीन में देखकर मैं हत्या के सन्देह से बचने के लिए इसे अपनी भूमि से हटा रहा था।'

पुलिसवाले उसके इस तर्क को कब माननेवाले थे? उन्होंने कहा—'यह क़त्ल तुमने किया है और अपराध को दूसरे के मत्थे मढ़ने के लिए तुम इसे यहाँ से हटा रहे थे।' चौधरी को गिरफ्तार कर लिया और शव के साथ थाने में ले गए। रिपोर्ट दर्ज कराके उसे हवालात में बन्द कर दिया और लाश को पोस्टमार्टम के लिए भेज दिया।

अब चौधरी पर केस चला। उसने अपना पक्ष योग्य वकीलों से रखवाया। केस में पैसा पानी की तरह बहा दिया। सैशन कोर्ट ने चौधरी को अपराधी माना। फिर हाईकोर्ट में अपील की। चौधरी ने ज़मीन बेचकर योग्य-से-योग्य वकील किये, किन्तु कुछ न बना और हाईकोर्ट ने भी सैशन के फ़ैसले को बहाल रक्खा।

हाईकोर्ट ने भी जब वही निर्णय सुनाया तो चौधरी हँसा। इस पर लोग उसे हँसता हुआ देखकर पहले तो यह समझे कि फाँसी के निर्णय के आघात से इसका मस्तिष्क असन्तुलित हो गया है, किन्तु उन दर्शकों

में से एक ने चौधरी से पूछ ही लिया कि—'तुम इस भयङ्कर आदेश को सुनकर हँस क्यों रहे हो?' चौधरी ने उत्तर दिया—'निर्णय ठीक हुआ है।' चौधरी ने कहा—'यह हत्या तो मैंने नहीं की, किन्तु अब से लगभग १० वर्ष पहले मैंने एक हत्या की थी, जिसका मेरे अतिरिक्त किसी को ज्ञान नहीं है और मैं समझने लगा था कि यह बात श्रद्धालुओं ने वैसे ही प्रसिद्ध कर दी है कि भगवान् हमारे अच्छे-बुरे प्रत्येक कर्म का साक्षी है और उसका फल, करनेवाले को अवश्य भोगना पड़ता है। किन्तु आज के इस निर्णय से मुझे भगवान् और उसकी व्यवस्था पर विश्वास हो गया। जजों का इस हत्या के लिए मुझे अपराधी मानना तो ग़लत है, किन्तु मेरे मन में निश्चय है कि इस घटना के निमित्त से मुझे उस पाप का फल मिला है।' इस पर उसने पुरानी घटी सब बात लोगों को सुना दी।

महर्षि मनु ने ठीक यही लिखा है—

अधर्मेणैधते तावत् ततो भद्राणि पश्यति।
ततः सपत्नाञ्जयति समूलस्तु विनश्यति॥

'अधर्म से मनुष्य शीघ्र बढ़ता है, फिर अपने विरोधियों को भी जीतता है, किन्तु अन्त में उसका भी सर्वनाश हो जाता है।'

यहीं तक नहीं, मनु ने उस पाप के फल को प्राप्त करने की समय की सीमा भी बताई जो ज्ञात ऐतिहासिक घटनाओं पर पूरी ठीक बैठती है। मनु ने लिखा—

अन्यायोपार्जितं वित्तं दशवर्षाणि तिष्ठति।
प्राप्ते त्वेकादशे वर्षे समूलस्तु विनश्यति॥

'पाप से कमाया धन अधिक-से-अधिक १० वर्ष ठहरता है और ग्यारहवाँ वर्ष लगने पर समूल ब्याज-सहित नष्ट हो जाता है।'

अतः इस मन्त्र में इस प्रकार के घातपात के दुष्कर्मों में प्रवृत्त व्यक्तियों को चेतावनी दी है कि उस सर्वनियामक, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् की व्यवस्था पर विश्वास करके मर्यादा में रहो। वह संसार को चलाने के लिए दुष्टों के इन घातक प्रयत्नों को सफल नहीं होने देता। इस सम्बन्ध में किसी नीतिकार ने भी बहुत उत्तम कहा है—

सर्पाणां खलानाञ्च परद्रव्यापहारिणाम्।
अभिप्राया न सिध्यन्ति तेनेदं वर्तते जगत्॥

'साँप, दुष्टों और दूसरों के धन को लूटनेवालों की कामना को भगवान् पूरी नहीं होने देता। तभी यह संसार चल रहा है, अन्यथा नष्ट हो गया होता।'

अतः मन्त्र में छल, प्रपञ्च और आतङ्क से धन-संग्रह करनेवालों को ''राजा वरुण'' शब्दों से प्रभु को बताकर मार्गदर्शन किया कि संसार

में दुर्बल और अनाथों को प्रश्रय देते हुए चलो। इनको जो सताता है, वह स्वयं नष्ट हो जाता है। इस विषय में महर्षि व्यास के परामर्श का उल्लेख करके हम इसे समाप्त करते हैं—

दुर्बलस्य च यच्चक्षुर्मुनेराशीविषस्य च।
अविषह्यतमं मन्ये मा स्म दुर्बलमासदः॥

'दुर्बल मनुष्य, तपस्वी महात्मा और सर्प, इनकी दृष्टि अत्यन्त असह्य होती है, अतः इनके क्रोध से बचना चाहिए।'

मा स्म तात बले स्थित्वा भुञ्जीथा दुर्बलं जनम्।

'हे पुत्र! शक्तिशाली होकर दुर्बलों का शोषण मत करो!'

कृपणानाथ वृद्धानां यदश्रु परिमार्जति।
हर्षं संजनयन् नृणां स राज्ञां धर्म उच्यते॥

—महाभा० शान्ति० अध्याय ११

'आश्रयहीन, अनाथ और वृद्धों के जो आँसू पोंछता है, वह अपनी प्रजा को प्रसन्न रखता है, यही राजा का धर्म कहा जाता है।'

अतः मन्त्र में प्रभु को सब कर्मों का साक्षी और पाप-पुण्य का प्रदाता तथा सर्वशक्तिमान् समझकर पवित्र कर्म करने चाहिएँ, अन्यथा हाथों से लगाई गाँठें दाँतों से खोलनी होंगी।

❑❑

(५२)

जीवन-यज्ञ

यज्ञस्य चक्षुः प्रभृतिर्मुखं च वाचा श्रोत्रेण मनसा जुहोमि।
इमं यज्ञं विततं विश्वकर्मणा देवा यन्तु सुमनस्यमानाः॥

—अथर्व० २।३५।५

ऋषिः—अङ्गिराः॥ **देवता**—विश्वकर्मा॥ **छन्दः**—भुरिक् त्रिष्टुप्॥

अन्वयः—यज्ञस्य प्रभृतिः चक्षुः मुखं च वाचा श्रोत्रेण मनसा जुहोमि। इमं यज्ञं विश्वकर्मणा विततं देवाः सुमनस्यमानाः आयन्तु॥

शब्दार्थ—(**यज्ञस्य**) मानव-जीवनरूपी यज्ञ के (**प्रभृतिः**) भरण-पोषण का साधन (**चक्षुः**) दर्शनशक्ति है (**मुखं च**) और मुख भी है। (**वाचा श्रोत्रेण मनसा**) वाणी से, कान से और मन से (**जुहोमि**) मैं हवन ही करता हूँ। (**इमं यज्ञं**) यह मेरा जीवन-यज्ञ (**विश्वकर्मणा**) जगत्-रचयिता प्रभु ने (**विततं**) विस्तृत किया है, इसमें (**देवाः**) सब देव, दिव्यभाव (**सुमनस्यमानाः**) प्रसन्नतापूर्वक (**आयन्तु**) आवें, समाविष्ट हों।

व्याख्या—वेद में प्रभु को यज्ञ नाम से पुकारा है। उसका बनाया हुआ यह संसार भी यज्ञरूप ही है। उसके इस विशाल संसार में मेरा जीवनरूपी यज्ञ भी उसी ने रचा है, जो सौ वर्ष तक चलनेवाला है। मेरी योग्यता इसमें है कि मैं इस शरीर से कोई अयज्ञिय कार्य न होने दूँ। यज्ञ दैव्य कर्म है और वेद की भाषा में "**अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या**"—यह आठ चक्र और नौ द्वारोंवाली मेरी शरीररूपी देवपुरी है, अतः इस मन्त्र में मुख्य रूप से दो ही उपदेश हैं—पहला यह कि हम अपनी सम्पूर्ण ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों से जो जानें और करें वह यज्ञरूप में हो, वह व्यक्ति और समाज की भलाई के लिए हो; दूसरी बात यह कि उत्तम विचार और आचार के हम इतने अभ्यस्त हो जावें कि सम्पूर्ण दिव्यभाव अपने निवास के लिए हमारी इस शरीरपुरी को प्रसन्नता और उत्सुकतापूर्वक अपने निवास के लिए चुनें।

अब कुछ विस्तार से विचार कीजिए। वैदिक संस्कृति याज्ञिक संस्कृति है। इसमें प्रत्येक वस्तु की सार्थकता इससे आँकी जाती है कि उसके द्वारा संसार का कितना उपकार हो रहा है ? जहाँ शक्ति, योग्यता और ऐश्वर्य केवल अपने स्वार्थ तक ही सीमित हों, वेद की दृष्टि में वह निन्दनीय है। ऐसी प्रवृत्ति पाशवी है, दैवी नहीं।

यजुर्वेद के अठारहवें अध्याय में उपयोग की प्रायः समस्त वस्तुओं का परिगणन करते हुए "**यज्ञेन कल्पताम्**" और "**कल्पन्ताम्**" की

प्रार्थना की गई है। यह "**यज्ञेन कल्पन्ताम्**" क्रिया सारे अध्याय के मन्त्रों की टेक है। इस अध्याय में बाह्य प्रयोग की वस्तुओं के वर्णन करने के साथ शरीर-इन्द्रियों और अङ्गों का वर्णन करते हुए प्रार्थना की गई है कि शरीर का प्रत्येक अङ्ग उसी प्रकार जीवन-यज्ञ का साधन है जिस प्रकार द्रव्ययज्ञ में घी, सामग्री आदि साकल्य, अतः प्रत्येक की क्रियाशक्ति में उसी यज्ञिय भावना का पुट अनिवार्य रूप से होना चाहिए। हमारी इस स्थापना की पुष्टि में यजुर्वेद अध्याय १८ का २९वाँ मन्त्र देखिये—

आयुर्यज्ञेन कल्पतां प्राणो यज्ञेन कल्पतां चक्षुर्यज्ञेन कल्पतां श्रोत्रं यज्ञेन कल्पतां वाग् यज्ञेन कल्पतां मनो यज्ञेन कल्पतामात्मा यज्ञेन कल्पतां ब्रह्मा यज्ञेन कल्पतां ज्योतिर्यज्ञेन कल्पताम्। स्तोमश्च यजुश्च ऋक्च साम च बृहच्च रथन्तरञ्च। स्वर्देवा अगन्मामृता अभूम प्रजापतेः प्रजा अभूम वेट् स्वाहा।

मन्त्र के शब्द स्पष्ट और सरल हैं, अतः अर्थ लिखने की आवश्यकता नहीं। सार यह है कि मनुष्य का समस्त क्रियाकलाप यज्ञमय होना चाहिए। यदि यह यज्ञ की भावना न हो तो फिर मनुष्य के सब काम व्यक्ति और समाज में राजसी भावनाओं के द्वारा विषय-विकार और सङ्घर्ष को ही जन्म देंगे।

कुपात्र के योग से विद्या-जैसा अमृत भी विष बन जाएगा। ऐसे व्यक्ति के अध्यात्म के नाम पर किये गए कार्य भी विकार ही उत्पन्न करेंगे।

महाभारत के अश्वमेध पर्व में एक नेवले की कहानी के द्वारा इस तथ्य को बहुत रोचक ढङ्ग से प्रकट किया गया है।

अश्वमेध यज्ञ की समाप्ति पर यज्ञ में भाग लेनेवाले विद्वानों और महात्माओं को बहुत बड़ी धनराशियाँ और उपभोग की वस्तुएँ दक्षिणा में दी गईं। उस समारोह को सभी अभूतपूर्व और अनुपम बता रहे थे। प्रायः धर्म के नाम पर सम्पन्न होनेवाले ऐसे समारोहों में यज्ञ करनेवालों के मन में सात्त्विकता नहीं रहती और अहङ्कार की भावना उत्पन्न हो जाती है। वे चारों ओर की प्रशंसाओं को सुनकर फूलके कुप्पा हो जाते हैं। स्पष्ट है ऐसी स्थिति में यज्ञ का लक्ष्य जो आत्मतोष और आत्मोत्कर्ष है, वह लुप्त हो जाता है और केवल वाहवाही और प्रदर्शन की भावना उत्पन्न हो जाती है। कुछ इसी प्रकार के भाव युधिष्ठिर के मन में भी उठ रहे थे। इतने में ही, जबकि चारों ओर से जय-जयकार हो रही थी, एक विशाल और विकराल नेवला ऊँचे स्वर में मनुष्य की वाणी में बोला—(नेवला न मनुष्य-वाणी में बोलता है, न आधा सोने और आधा चमड़े के शरीरवाला होता है, किन्तु कहानी के द्वारा यह समझाया गया है कि धार्मिक कार्यों में महत्त्व मात्रा का नहीं, भावना का होता

है। यदि भावना ही समाप्त हो गई तो वह केवल दिखावा है। उसका आध्यात्मिक प्रभाव क्या होगा, इस स्पष्टीकरण के बाद अपेक्षित भाग श्लोकों में पढ़िये)—

तर्पितेषु द्विजाग्र्येषु ज्ञातिसम्बन्धिबन्धुषु।
दीनान्धकृपणे वापि तदा भरत सत्तम॥

—महाभा० आश्वमेधिक पर्व अध्याय ९०।३

—श्रेष्ठ ब्राह्मणों और सभी भाई-बन्धुओं, अन्धों और धनहीनों को युधिष्ठिर ने धन देकर जब सर्वथा सन्तुष्ट कर दिया।

घुष्यमाणे महादाने दिक्षु सर्वासु भारत!
पतत्सु पुष्पवर्षासु धर्मराजस्य मूर्धनि॥

—जब चारों ओर उस महादान की घोषणाएँ हो रही थीं और महाराज युधिष्ठिर के सिर पर पुष्पवर्षा की जा रही थी, तभी—

नीलाक्षस्तत्र नकुलो रुक्मपार्श्वस्तदानघ!
वज्राशनिसमं नादममुंचद्वसुधाधिप॥

—तभी नीली आँखोंवाला और सुनहरे पार्श्व-भागवाला नेवला बिजली के गर्जने के समान कड़ककर मनुष्य की वाणी में बोला—

सक्तुप्रस्थेन वो नायं यज्ञस्तुल्यो नराधिपाः।
उञ्छवृत्तेर्वदान्यस्य कुरुक्षेत्रनिवासिनः॥

—हे राजाओ! तुम्हारा यह महान् समारोह कुरुक्षेत्र-निवासी एक निर्धन, किन्तु उदार धार्मिक गृहस्थ के एक प्रस्थ (लगभग एक सेर) सत्तुओं की तुलना का भी नहीं है जिसकी कि तुम प्रशंसा के पुल बाँध रहे हो।

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा नकुलस्य विशाम्पते।
विस्मयं परमं जग्मुः सर्वे ते ब्राह्मणर्षभाः॥

—हे राजन्! नेवले की इस बात को सुनकर सब ब्राह्मण चकित हो गए और उससे सारी बात पूछने लगे।

अविलुप्यागमं कृत्स्नं विविधैर्यज्ञियैः कृतम्।
यथागमं यथान्यायं कर्त्तव्यं च तथा कृतम्॥

—इस समारोह में सभी काम शास्त्रविधि के अनुसार किये गए हैं। न्याय और कर्त्तव्य का कहीं अतिक्रमण नहीं होने दिया।

पूजार्हाः पूजिताश्चात्र विधिवच्छास्त्रदर्शनात्।
मन्त्राहुतिहुतश्चाग्निर्दत्तं देयममत्सरम्॥

—इस यज्ञ में विधि के अनुसार पूजनीयों की पूजा की गई है और विधान के अनुसार ही पवित्र मन्त्रों से यज्ञ में आहुतियाँ दी गई हैं।

तुष्टा द्विजातयश्चात्र दानैर्बहुविधैरपि।

—अनेक प्रकार के धन-धान्य के दान से सब ब्राह्मणों को सन्तुष्ट किया गया है।

यदत्र तथ्यं तद्ब्रूहि सत्यं सत्यं द्विजातिषु।

—इसलिए हे नकुल! सब विद्वानों के सम्मुख जो बात ठीक-ठीक है, वह बताओ।

नेवले ने उत्तर दिया—

यन्मयोक्तमिदं वाक्यं युष्माभिश्चाप्युपश्रुतम्।
सक्तुप्रस्थेन वो नायं यज्ञस्तुल्यो द्विजर्षभाः॥

—मैंने जो कहा और आप सबने सुना कि आपका यह समारोह एक सेर सत्तू के दान की तुलना का भी नहीं, यह मैंने कोई मिथ्या नहीं कहा है।

स्वर्गं येन द्विजः प्राप्तः स-भार्यः ससुतस्नुषः।
यथा चार्धं शरीरस्य ममेदं काञ्चनी कृतम्॥

—उस प्रस्थ-भर सत्तूदान का यह फल हुआ कि ब्राह्मण तो सपरिवार स्वर्ग में गया और मेरा आधा शरीर सोने का हो गया।

साररूप में घटना इस प्रकार हुई कि कुरुक्षेत्र में एक धर्मपरायण अति साधारण स्थिति का गृहस्थ रहता था। एक बार अकाल पड़ने पर सर्वत्र अन्न की कठिनाई होने से एक-दो समय तो उसके परिवार को निराहार ही रहना पड़ा। फिर भी यत्न करके यह एक प्रस्थ जौ कहीं से लाया और उसकी पत्नी ने उनको भूनकर सत्तू बना लिया। परिवार में पति, पुत्र और वधू तथा स्वयं के हिसाब से चार भाग करके सबको खाने के लिए कहा। ज्यों ही वे खाने को उद्यत हुए कि—"**अथागच्छद् द्विजः कश्चिदतिथिर्भुञ्जतां तदा**"—एक विद्वान् तपस्वी अतिथि वहाँ आ गया। इन्होंने प्रसन्नतापूर्वक उसका स्वागत किया और घर के मुखिया ब्राह्मण ने अपने भाग के सत्तू उसे खाने को दिये। वह भी बहुत भूखा था; उन्हें एक-साथ खा गया, किन्तु उसकी तृप्ति नहीं हुई। यह देखकर उस ब्राह्मण की पत्नी ने अपने भाग के सत्तू उसे दिये। वह अतिथि उन्हें भी खाकर भूखा ही रहा। तब उनके पुत्र ने अपने भाग के सत्तू उसे अर्पित किये। वह अतिथि उन्हें भी खाकर भूखा ही रहा। अन्त में उस ब्राह्मण की पुत्रवधू ने भी अपने हिस्से के सत्तू उस अतिथि को दिये और वह तृप्त हो गया। इसके पश्चात् कुल्ला करके और आशीर्वाद देकर वह ज्यों ही निकला कि मैं सत्तू की गन्ध से आकृष्ट होकर बिल से बाहर आया। बाहर आने पर उस अतिथि के कुल्ले का मिट्टी-मिला गँदला पानी मेरे शरीर के जितने भाग पर लगा, उतना मेरा शरीर सोने का हो गया। मानो यह उसका उच्छिष्ट और कीचड़भरा पानी मेरे शरीर पर

नहीं लगा, अपितु मैंने यज्ञान्त स्नान किया है। भूखे को भोजन देना एक पवित्र यज्ञ है। यह उसी का फल है। नेवले ने आगे कहा कि मेरी बड़ी इच्छा थी कि फिर किसी यज्ञ में ऐसा संयोग बन जाय तो मैं सारा सोने का होकर मरूँ। बहुत प्रतीक्षा के बाद मैंने युधिष्ठिर के इस यज्ञ की ख्याति सुनी और मैं बड़ी उत्सुकता से इस यज्ञ में स्नान करके सोने का बनने के लिए आया था—

यज्ञं त्वहमिमं श्रुत्वा कुरुराजस्य धीमतः।
आशया परया प्राप्तो न चाहं काञ्चनीकृतः॥

—किन्तु खेद है कि मेरा शरीर स्वर्णमय नहीं हुआ। इसीलिए मैं कहता हूँ कि—

सक्तुप्रस्थेन यज्ञोऽयं सम्मितो नेति सर्वथा।
सक्तुप्रस्थलवैस्तैर्हि तदाहं काञ्चनीकृतः॥

—युधिष्ठिर का यह यज्ञ प्रस्थभर सत्तुओं के दान की तुलना का भी नहीं है।

मैंने इस कहानी को संक्षिप्त और बुद्धिसङ्गत बनाकर इसलिए यहाँ उद्धृत किया है कि यज्ञ और दान का महत्त्व उसकी मात्रा पर नहीं है, अपितु भावना पर है। एक निर्धन अपना पेट काटकर यदि किसी सुपात्र, भूखे की भूख मिटाता है तो इसका महत्त्व एक अमीर के बिना असुविधा उठाए हुए लाखों के दान से भी बढ़कर है। इसी प्रकरण में एक महत्त्वपूर्ण पद्य महाभारत में निम्न है—

द्रव्यागमो नृणां सूक्ष्मः पात्रे दानं ततः परम्।
कालः परतरो दानात् श्रद्धा चैव ततः परा॥

—धर्मपूर्वक धन कमाना मनुष्यों के लिए बहुत उत्तम बात है। उससे भी उत्तम अच्छे कार्य में उसका उपयोग है। इससे भी महत्त्व की बात है कि आवश्यक अवसर पर किसी की सहायता की जावे और इससे भी बढ़कर है कि वह सहायता श्रद्धापूर्वक विनीतभाव से की जावे। यह यज्ञ का विशुद्ध रूप है।

इस विषय में किसी उर्दू शायर ने भी बहुत उत्तम बात कही है—

हम तो बिक जाते हैं उन अहले-करम के हाथों।
करके अहसान भी जो नीची नज़र रखते हैं॥

इसी से मिलती-जुलती बात महाकवि भर्तृहरि ने कही है—

प्रदानं प्रच्छन्नं गृहमुपगते सम्भ्रमविधिः,
प्रियं कृत्वा मौनं सदसिकथनञ्चाप्युपकृतेः।
अनुत्सेको लक्ष्म्यां निरभिभवसाराः परकथाः,
सतां केनोद्दिष्टं विषममसिधाराव्रतमिदम्॥

'किसी पात्र की चुपचाप सहायता करना, अपने घर कोई आवे तो उसका हार्दिक सत्कार, किसी का उपकार करके दूसरों से उसकी चर्चा न करना, यदि किसी ने अपनी कोई सहायता की हो तो भरी सभा में उसकी सराहना करना, धन पर कभी घमण्ड न करना, दूसरों की चर्चा-प्रसङ्ग में कभी उनकी निन्दा न करना, श्रेष्ठ व्यक्तियों का यह व्यवहार-मार्ग जो तलवार की धार पर चलने के समान कठिन है, किसने बनाया है?'

इन्हीं शुभकर्मों का नाम वास्तविक यज्ञ है। हवन में भी आहुतियों के लिए जो मन्त्र बोले जाते हैं, उनमें इन्हीं भावों का समावेश है। यदि उन व्यावहारिक मूल्यों की ओर बिना ध्यान दिये जलती अग्नि पर घी-सामग्री डालने का नाम ही यज्ञ समझते हैं, तो यह कर्त्ता में दम्भ और घमण्ड ही उत्पन्न करेगा। यही कारण है कि ८५ प्रतिशत कर्मकाण्डी दुरभिमानी होते हैं। वे छटाँकभर घी और आध पाव सामग्री अग्नि में डालकर समझते हैं कि हमने स्वर्ग में सीट रिज़र्व करा ली है। दूसरे हमारी तुलना क्या करेंगे? ऐसे कर्मकाण्डियों को लक्ष्य करके ही उपनिषद् में कहा—"**प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा:**"—संसार-सागर को पार करने के लिए ये चप्पू बहुत दुर्बल हैं। इनमें दृढ़ता उस याज्ञिक भावना से ही आवेगी।

वैसे भी विचारने की बात है कि आपने यह हवन करने का व्रत अपने कल्याण के लिए धारण किया था या मुहल्लेवालों पर रोब जमाने के लिए?

अत: प्रस्तुत मन्त्र में उसी पवित्र यज्ञ के रूप की चर्चा की गई है।

मन्त्र में पहला उपदेश है कि मैं चक्षु की दर्शन-शक्ति से प्रभु के अद्भुत रचना-कौशल को देखकर उसका विश्वासी बनूँ। सुन्दर युवा और युवतियों को देखकर हमें उसकी कारीगरी का सिक्का मानना चाहिए कि उसने इतने घटिया सामान से भरे पुतले में भी सौन्दर्य का निखार और चमत्कार उत्पन्न कर दिया है। क्या ही बढ़िया किसी शायर ने कहा है—

वो ख़ुद कैसा है जिसने इन हसीनों को बनाया है?
इन्हें जब देखते हैं हम, तो उसकी याद आती है।

मैं इस चक्षु के प्रकाश से दूसरों को मार्ग बताऊँ। मैं इनकी सहायता से ज्ञानोपार्जन करके अपना और दूसरों का कल्याण करूँ। '**मुखं च वाचा श्रोत्रेण जुहोमि**'—मैं मुख में निवास करनेवाली वाणी से, उसमें रहनेवाले कानों से हवन ही करता हूँ। मैं वाणी से मधुर भाषा बोलूँ। पर-निन्दा राक्षसी वृत्ति है। राक्षस तो यज्ञ का ध्वंस करते हैं। समाज और घर निन्दा और चुग़ली से उजड़ जाते हैं। निन्दा की गन्दगी पसन्द करना काकवृत्ति है। एक संस्कृत के कवि ने कहा है—

न विना परिवादेन दुर्जनो रमते जनः।
काकः सर्वरसान् भुङ्क्ते विना मेध्यन्न तृप्यति॥

'बुरा व्यक्ति जबतक दूसरे की निन्दा न कर ले, उसे शान्ति नहीं मिलती। कौआ चाहे षड्रस व्यञ्जन खा ले, किन्तु जबतक वह अपनी चोंच गन्दगी में न डुबोए, उसकी तृप्ति नहीं होती।' वाणी से पर-निन्दा न करना बहुत बड़ा दैवीगुण है। इस विषय में भी संस्कृत के कवि ने बहुत उत्तम कहा है—

यदीच्छसि वशीकर्तुं जगदेकेन कर्मणा।
परापवादशस्येभ्यो गां चरन्तीन्निवारय॥

'यदि केवल एक काम से ही संसार को तू अपने वश में करना चाहता है, तो दूसरों की निन्दारूपी फ़सल को चरने में रुचि रखनेवाली वाणीरूपी गौ को रोक ले!'

कानों से भी भद्र सुनना यज्ञ करना है। कान ज्ञानार्जन का आँख से भी बढ़कर साधन है। जन्मान्ध संसार के बहुत बड़े विचारक और विद्वान् हुए हैं, किन्तु जन्म से बहरा, गूँगा भी होगा, क्योंकि भाषा तो कानों से शब्द सुनकर उनकी अनुकृति पर ही बनती है। संसार में एक भी उदाहरण नहीं है कि कोई बहरा और गूँगा भी विद्वान् हुआ हो, अतः कानों से शुभ सुनना यज्ञ करना है।

आगे मन्त्र में कहा—"**इमं यज्ञं विश्वकर्मणा विततम्**"—यह मेरा जीवन-यज्ञ उत्तम साधन-सम्पन्न प्रभु ने विस्तृत किया है जो सौ वर्ष तक चलेगा, अतः इसमें "**देवाः सुमनस्यमाना आयन्तु**"—सब दिव्यभाव प्रसन्नतापूर्वक निवास करें।

यही मेरे जीवन-यज्ञ की सफल पूर्णाहुति होगी।

□□

(५३)

प्रभु पर भरोसा करो!

यं स्मा पृच्छन्ति कुह सेति घोरमुतेमाहुर्नैषो अस्तीत्येनम्।
सो अर्यः पुष्टीर्विजइवा मिनाति श्रदस्मै धत्त स जनास इन्द्रः॥

—ऋग्वेद २।१२।५

ऋषिः—गृत्समदः॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

अन्वयः—यं घोरं पृच्छन्ति स्म कुह स इति, उत ई एनं आहुः न एव अस्ति इति। स अर्यः पुष्टीः विज इव आमिनाति हे जनासः! अस्मै श्रत् धत्त स इन्द्रः।

शब्दार्थ—(**यम्**) जिस (**घोरम्**) अद्भुत भयङ्कर के विषय में (पृच्छन्ति स्म) लोग प्रश्न किया करते हैं कि (**कुह स इति**) "वह कहाँ है" (**उत ई एनम्**) और जिस इसी के विषय में (**आहुः**) बहुत-से कहते हैं कि (**न एव अस्ति**) वह है ही नहीं (**सः**) वही (**अर्यः**) प्रतिकूल चलनेवाले स्वार्थी पुरुष के (**पुष्टीः**) सब सांसारिक वैभव को (**विज इव**) भूकम्प के समान (**आमिनाति**) नष्ट कर देता है। (**हे जनासः**) हे मनुष्यो! (**अस्मै श्रत् धत्त**) इस परमेश्वर पर श्रद्धा करो—भरोसा रक्खो (**स इन्द्रः**) वही परमैश्वर्यवान् प्रभु है।

व्याख्या—मन्त्र में मुख्य रूप से चार बातें कही गई हैं; पहली—जिसे तुम संसार का कर्त्ता, धर्त्ता और संहारक ईश्वर कहते हो वह कहाँ है? दूसरी बात—कुछ लोग उसके अस्तित्व को ही स्वीकार नहीं करते, वे कहते हैं वह है ही नहीं। तीसरी बात—ऐसे नास्तिकों पर जब सङ्कट आता है और उनकी बुद्धि और शक्ति से कुछ नहीं बनता, तब वे चकित रह जाते हैं, और चौथी बात है—हे लोगो! वही ज्ञान, ऐश्वर्य और शक्ति का महान् केन्द्र है, उस पर भरोसा और विश्वास करो। अब एक-एक बात पर विस्तार से विचार कीजिए। पहली दोनों बातें मिलती-जुलती हैं, अतः उन्हें एक-साथ लेते हैं। जो लोग आँखों से दीखने पर ही प्रभु की सत्ता को स्वीकार करना चाहते हैं, वे निम्न तथ्यों पर विचार करें—क्या रूप से ही किसी वस्तु की सत्ता आँकी जाती है? यह कोई नियम नहीं है। वायु का कोई रङ्ग-रूप नहीं है, तो क्या वायु नाम की कोई वस्तु है ही नहीं? मन, बुद्धि, सुख-दुःख, भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी, काल, दिशाएँ और आकाश ये सभी वस्तुएँ आकाररहित हैं, तो क्या ये नहीं हैं? ऐसा कोई भी नहीं मान सकता। परमात्मा सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापी और अन्तर्यामी है, अतएव वह निराकार है। हेतु यह है कि

साकार वस्तु सीमाबद्ध रहेगी और जो चीज़ सीमित होगी उसके गुण और कर्म भी सीमित ही रहेंगे। जिसकी शक्ति सीमा में होगी वह सर्वशक्तिमान् कैसे हो सकता है? यह ठीक है कि प्रत्येक निराकार सर्वशक्तिमान् नहीं होता, किन्तु सर्वशक्तिमान् को अवश्य निराकार होना चाहिए। ईश्वर अजन्मा और जगत्कर्त्ता है। साकार पदार्थ तो स्वयं परमाणु-संयोग से बना है, वह जगत् का आदिकारण नहीं हो सकता। ईश्वर अमृत है, परन्तु साकार पदार्थ सावयव होने से नाशवान् है। ईश्वर अनन्त है। अनन्तता भी दो प्रकार की होती है—एक देश-योग से और दूसरी काल-योग से, परन्तु साकार पदार्थ सावयव और जन्य होने से कालयोग और देशयोग से भी सान्त ही रहेगा। कोई भी साकार पदार्थ अनन्त नहीं हो सकता। इस कारण से भी ईश्वर साकार नहीं हो सकता। ईश्वर निर्विकार है, जबकि साकार पदार्थ सावयव होने से ६ प्रकार के विकारों से युक्त रहते हैं। वे ६ विकार निम्न हैं—जायते, अस्ति, विपरिणमते, वर्धते, अपक्षीयते, विनश्यति, अर्थात् उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि, परिणाम, घटना और विनाश। ईश्वर निराकार होने से इन विकारों से प्रभावित नहीं होता। ईश्वर सर्वाधार है। साकार पदार्थ एकदेशी होने से सर्वाधार नहीं हो सकता, अपितु साकार होने से उसे स्वयं आधार की आवश्यकता होगी। प्रभु को साकार माननेवालों की मान्यताओं से यह तथ्य सुतरां प्रकट है। कोई मानता है कि ईश्वर सिंहासन पर विराजमान है और उस सिंहासन के आधार देवता हैं। कोई मानते हैं कि भगवान् क्षीरसागर में शेष की शय्या पर शयन करते हैं। कोई भगवान् का स्थान वैकुण्ठ मानते हैं।

साकार की मान्यता ने उसे एकदेशी बना दिया और फिर उसके कार्य-सम्पादन के लिए सहायक अपेक्षित हुए। किन्हीं ने कहा वह फ़रिश्तों से अपने काम कराता है। पैग़म्बर की मान्यता का भी यही आधार है। क्या इस सम्बन्ध में कुछ भी विवेक से काम लिया? पैग़म्बर का अर्थ सन्देशवाहक होता है। सन्देश कुछ दूरी से लाया जाता है। क्या कोई बता सकता है कि मनुष्य में और प्रभु में कितनी दूरी है जिसके कारण सन्देशवाहक की आवश्यकता हुई? यहीं तक नहीं, पैग़म्बरों पर भी वही दूरी फ़रिश्तों के द्वारा प्रकट होती है। इस तरह तो परमात्मा को एक असमर्थ और असहाय की स्थिति में रख दिया।

ईसाइयों ने साकार मानकर उसका बेटा बना लिया और उसे परमात्मा के दक्षिण पार्श्व में जा बिठलाया।

क्या हास्यास्पद स्थिति है!

दक्षिण और वाम भाग सीमित वस्तु के होते हैं और सीमित पदार्थ नाशवान् होता है। हमारे पौराणिक भाइयों ने उसका सिंहासन, उसके गण, उसकी स्त्री और पुत्रों की कल्पना कर ली और उसे अच्छा-ख़ासा

गृहस्थी बना दिया। परमात्मा अपनी ही गृहस्थी के झमेले में उलझ गया। परिणाम यह निकला कि कर्मों के साक्षी और उनके अनुसार फल-प्राप्ति-संस्कारों के मिट जाने से संसार में पाप बढ़ गया। उनके मन में बैठ गया कि परमात्मा चौथे और सातवें आसमान पर अथवा वैकुण्ठ और क्षीरसागर में है, तुम अवसर से क्यों चूकते हो? किसी मुसलमान शायर ने लिखा भी—

ज़मीं पे हो अपनी हिफ़ाज़त करो।
ख़ुदा तो मियाँ आसमानों में है॥

यह सब बिगाड़ साकार-मान्यता के कारण हुआ है, क्योंकि जीव फल देनेवाली शक्ति से सदा आतङ्कित रहता है। जहाँ पुलिस हो, वहाँ कोई भी उसके डर से अमर्यादित काम नहीं करता। यदि इसी प्रकार सर्वशक्ति-सम्पन्न कर्मफल-प्रदाता परमात्मा पर भी मनुष्य की आस्था दृढ़ हो जावे तो वह कभी पाप नहीं कर सकता। इसलिए यह सब गड़बड़-घोटाला प्रभु-स्वरूप को ठीक न समझने के कारण ही हुआ है।

अतः ईश्वर की सत्ता को, संसार के नियमों और व्यवस्थाओं को देखकर जानो। जड़-प्रकृति किसी शक्तिमती चेतन सत्ता के आधार पर ही नियम में बँधी चल रही है।

अतः जो ये प्रश्न करते हैं कि वह कहाँ है? इसका उपयुक्त उत्तर यह है कि वह कहाँ नहीं है? वह अणु-अणु और कण-कण में व्याप्त है। जो कहते हैं कि वह है ही नहीं, वे तब मानते हैं जब उनकी यत्न करने पर भी सब योजनाएँ इच्छित फल नहीं देतीं, क्योंकि उस व्यवस्था का नियन्त्रण-केन्द्र वही है। इसीलिए मन्त्र में तीसरी युक्ति दी—"**स अर्यः पुष्टीः विज इव आमिनाति**"—वह नियम-भञ्जक गर्वोन्नतों की पुष्टियों, मनसूबों को ऐसे नष्ट-भ्रष्ट कर देता है, जैसे भूकम्प विशाल अट्टालिकाओं को क्षणों में चरमराकर भूमिसात् कर देता है। क्वेटा (बिलोचिस्तान) का भयङ्कर ऐतिहासिक भूकम्प केवल ३० सेकण्ड ही आया था और उसी ने एक धक्के से आलीशान इमारतों को पृथिवी पर बिछा दिया। इसी प्रकार की प्रसिद्ध दुर्घटना 'टाइटनिक' जलपोत की हुई थी। उस पोत को उस समय के वैज्ञानिकों ने बड़े प्रयत्न से सुरक्षित बनाया था। उसकी दृढ़ता के लिए बड़े-बड़े दावे किये गए। उन दावों के आकर्षणों में हज़ारों सैलानी जोड़े बड़ी तैयारी के साथ अनेक प्रकार की सुख-सामग्री लेकर उस यान में बैठे, किन्तु वही कहावत चरितार्थ हुई, "तेरे मन कछु और है, विधना के कछु और।" समुद्र में तैरते हुए टाइटनिक के पैंदे में बर्फ़ के एक तोदे ने छेद कर दिया और यह छेद उसके डुबाने का कारण बना। इस दुर्घटना से वे वैज्ञानिक स्तब्ध रह गए और संसार में हाहाकार मच गया। उस समय के प्रसिद्ध उर्दू

शायर 'अकबर' ने लिखा था—

टैटनिक टुकड़े हुआ टकरा के आइसबर्ग से।
दब गया साइन्स योरुप का पयामे-मर्ग[१] से॥
भूलता जाता है योरुप आसमानी बाप को।
बस ख़ुदा समझा है उसने बर्क़[२] को और भाप को॥
बर्क़ गिर जाएगी इक दिन और उड़ जाएगी भाप।
देखना 'अकबर' बचाए रखना अपने-आपको॥

उस सर्वनियन्ता और कर्मफलप्रदाता की शक्ति की तुलना में मनुष्य की शक्ति और योग्यता की क्या गणना है!

अपने-अपने समय के नेता और डिक्टेटर, जिनके सङ्केत के बिना राष्ट्र में कुछ भी नहीं होता था, इतिहास में उनके अन्त की कथाओं का उल्लेख है। समय आने पर वे एक अति साधारण मनुष्य के समान समाप्त हो गए। हमारी इस स्थापना की पुष्टि हमारी आँखों के सामने ही घटी रूस के डिक्टेटर निकिता ख़ुश्चेव के पतन और जीवनलीला-समाप्ति की कहानी है।

इतिहास में ऐसी-ऐसी निष्ठुर घटनाएँ बहुत हुई हैं, जो मनुष्य को किसी व्यवस्थापिका शक्ति को स्वीकार करने के लिए बाध्य करती हैं। इतने-इतने प्रभावोपेत जाज्वल्यमान व्यक्तित्व भी कैसे एकाएक बुझ जाते हैं कि आश्चर्य होता है! ठीक ही कहा किसी शायर ने—

शुहरत की बुलन्दी भी पलभर का तमाशा है।
जिस शाख़ पे बैठे हो, यह टूट भी सकती है॥

इसी मन्त्र में चौथी और अन्तिम बात कही—"**हे जनासः!**"—हे मनुष्यो! "**सः इन्द्रः**"—वह परमैश्वर्य-सम्पन्न प्रभु इस संसार का नियामक है। "**अस्मै श्रत् धत्त**"—उसके न्याय-नियमों की सत्यता को समझकर उस पर भरोसा करो। इस विश्वास से तुम दर्प और अहङ्कार के नशे से बचे रहकर जीवन-लक्ष्य की ओर अग्रसर हो सकते हो।

□□

---

१. मृत्यु-सन्देश; २. बिजली।

पं० शिवकुमार शास्त्री

मूल्य: ₹ 150
ISBN 978-81-7077-096-1
9788170770961

विजयकुमार गोविन्दराम हासानन्द